# श्रीभागवत पत्रिकाके ४३ वें वर्षकी
# विषय सूची


| विषय | संख्या – पृष्ठ |
|---|---|
| अभूतपूर्व स्वागत एवं प्रवचन— | २–४० |
| अन्धगज न्याय— | ३–६६ |
| असत्संगके दोष— | ७–१६४ |
| अभिधेय विचार—कर्म— | ९–१९६ |
| अभिधेय विचार—भक्ति— | ११–२४६ |
| अभिधेय विचार—ज्ञान— | १०–२२२ |
| आकाशमें मुक्का मारना— | ४–८३ |
| कलियगमें कृष्णनाम जप साधाना— (१२वीं धारा)—१–१७, १३वीं धारा—२–३२, १४वीं धारा—३–६१, १५वीं धारा—४–९१, १६वीं धारा—५–१११, १७वीं धारा—६–१३५, १८वीं धारा—७–१५९, १९वीं धारा—८–१८७, २०वीं धारा—९–२०६, २१वीं धारा—१०–२३४, २२वीं धारा—११–२५७, २३वीं धारा—१२–२८१ | |
| कृष्ण दास्य कैसे प्राप्त हो— | ५–१०२ |
| कोहिनी द्वारा गुड़ खाना— | ६–१३३ |
| कौआ और कोयल— | १–११ |
| कुछ प्रश्न— | ७–१५७ |
| कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्डके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर— | ८–१८१ |
| कुकर्मीकी कानी कौड़ी— | ८–१९१ |
| गीताकी वाणी— | १–९ |
| गोवर्धनाष्टक— | ३–४९ |
| ग्रन्थ-समीक्षा— | ६–१३८ |
| ग्रन्थ-चक्रवर्ती—श्रीमद्भागवत— | १२–२७२ |
| गोबर और दूधका न्याय— | २–३६ |
| गोवर्द्धनाष्टकम्— | ८–१७० |
| गुरुके ऊपर गुरुगिरी— | ९–२१३ |
| ग्रन्थ-चक्रवर्ती—श्रीमद्भागवत— | ११–२५० |
| गिलहरीका सेतुबन्धन— | ११–२६२ |
| चातुर्मास्य व्रत— | ५–११६ |
| चार्वाक मतका जन्म—रहस्य— | ९–१९९ |
| चौरासी कोस ब्रज-मण्डलकी परिक्रमा और ऊर्जाव्रत— | ७–१६६ |
| जीवोंके प्रति दयाका रहस्य— | २–३० |
| जन्माष्टमी— | ६–१४४ |
| तत्त्व-परिचय | १२–२७६ |
| त्रिदण्डी स्वामी भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीका पुलिस लाइनमें अभूतपूर्व स्वागत एवं प्रवचन— | २–४० |
| दशमूल निर्यास— | १–४ |
| धर्मघट— | ८–१७९ |
| नदी सूखनेपर पार होऊँगा— | १२–२८३ |
| प्रचार प्रसंग— | २–४४, ४–९५, ६–१४२, ५–११८ |
| फिलीपिन्सकी राजधानी मनिलासे फेक्स— | १०–२३७ |
| बुद्धिकी त्रासदी— | ६–१३९ |
| बगुला पकड़ना— | ७–१६५ |
| भगवद्भजन ही मनुष्य जीवनका कर्तव्य है— | २–४१ |
| मर्कट वैरागी— | १२–२६८ |
| मुनियोंका मतिभ्रम— | १–१२, २–३७, ३–५६, ४–८४ |
| मुंडेररहित छतसे पतंग उड़ाना— | ५–१०३ |
| मनुष्यके कुकर्म भगवानकी लीलाएँ नहीं हैं— | १०–२२४, ११–२५४ |
| विशुद्ध-भजन— | ६–१२५ |
| वैष्णव अपराध कितना भयंकर होता है— | ९–२१० |
| विरह संवाद— | ९–२१५ |
| शिक्षाष्टक— | ४–७७ |

| विषय | संख्या – पृष्ठ |
|---|---|
| शरणागति— | ७–१६८, ८–१७२, ११–२६३ |
| संत (सज्जन) के लक्षण— | |
| कृपालु— | २–२८, |
| कृत-द्रोह— | ३–५१, |
| सत्यसार— | ४–७५, |
| सम— | ५–१००, |
| निर्दोष— | ६–१२४, |
| वदान्य— | ७–१४७, |
| मृदु— | ८–१७१, |
| अकिञ्चन— | ९–१९५, |
| सर्वोपकारक— | १०–२१९, |
| शान्त— | ११–२४४, |
| कृष्णैकशरण— | १२–२६७ |
| सम्बन्ध विचार— | ७–१४९ |
| साधन— | ३–५२ |
| सदाचार— | ८–१७६, ९–२०३, १०–२२९ |
| श्रीव्यासपूजा महोत्सव— | १२–२८४ |
| श्रीरामचन्द्रस्तोत्रम्— | १–१ |
| श्रीश्रीनृसिंहदेवस्य लीला सारः— | २–२५ |
| श्रीरामानुजाचार्यके उपदेश— | १–२२ |
| श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराजजीका नित्यलीलामें प्रवेश— | ३–७२ |
| श्रीश्रीचैतन्याष्टकम्— | ४–७३ |
| श्रीनाम और नाम भजनकी प्रणाली— | ४–८६ |
| श्रीस्वप्नविलासामृताष्टकम्— | ५–९७ |
| श्रीनाम और श्रीनामभजनकी प्रणाली— | ५–१०४ |
| श्रीजगन्नाथदेवका प्राकट्य— | ५–१०८ |
| श्रीराधाष्टमी व्रतम्— | ६–१२१ |
| श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीका संकीर्त्तन आन्दोलन— | ६–१३१,७–१५४ |
| (श्रीकृष्ण)-प्रणाम-प्रणयाख्या-स्तवः— | ७–१४५ |
| वैष्णव स्मृति— | १–३ |
| श्रीराधाष्टमी पर ब्रजमण्डलमें श्रद्धालुओंकी गहमागहमी— | ७–१६५ |
| श्रीचैतन्यदेवकी अनुपम वाणी— | ८–१७३ |
| श्रीस्वयम्भगवत्ताष्टकम्— | ९–१९३ |
| श्रीश्रीदयितदासदशकम्— | १०–२१७ |
| श्रीमनःशिक्षा— | ११–२४१ |
| श्रीनवद्वीपाष्टकम् | १२–२६५ |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३ विक्रम संवत् २०५५–५६ चैत्र मास, सन् १९९९, ३ मार्च — ३१ मार्च { संख्या १

## श्रीरामचन्द्रस्तोत्रम्

*(पद्मपुराण)*

*देवा उचुः—*

*जय दाशरथे सुरार्त्तिहञ्जयताद्दानववंशदाहकः। जय देव वराङ्गनागण—व्यपकर्षादिकरारिदारकः।।५६।।*
*तव यद्दनुजेन्द्रनाशनं कवयस्तत् कथयन्तु चोत्सुकाः। प्रलये जगतां ततीः पुनर्ग्रससे त्वं भुवनेश लीलया।५ ७।।*

*अनुवाद—*

(श्रीरामचन्द्रके राज्याभिषेकके पश्चात्) देवताओंने हाथ जोड़कर उनका स्तव करना आरम्भ किया—देवताओंका दुःख दूर करनेवाले हे दशरथनन्दन राम! आपकी जय हो, हे राम! आपने असुरकुलका विनाश किया है। आपने देव-रमणियोंपर अत्याचार करनेवाले अतिदुष्ट तीनों लोंकोंके शत्रु रावणका वध किया है। आपकी जय हो। कविजन आपकी इस दैत्य-राक्षसोंको वधकी कथाका प्रीतिपूर्वक वर्णन करें। हे भुवनेश्वर! यह जगत आपकी ही लीला है; इस लीलाके अन्तमें प्रलयकालके उपस्थित होनेपर आप ही पुनः इस जगत् समूहको ग्रास कर लिया करते है।।५६-५७।।

*जय जन्मजरादिदुःखकैः परिमुक्त प्रवलोद्धरोद्धर। जय धर्मकरान्वयान्वुधौ कृतजन्मन्नजरामवाच्युत।।५८।।*
*तव देववरस्य नामभिर्बहुपापाश्च गताः पवित्रताम्। किमु साधुद्विजवर्यपूर्वकाः सुतनुं मानुषतामुपागताः।।५९।।*
*हरविरिञ्चिनुतं तव पादयोर्युगलमीस्पित कामसमृद्धिदम्। हृदि पवित्रयवादिक चिह्नितैः सुरचितं मनसा स्पृहयाम् ते।।६०।।*
*यदि भवान्न दधात्यभयं भुवो मदनमूर्ति तिरस्करकान्तिभृत्। सुरगणाश्च कथं सुखिनः पुनर्ननु भवन्ति घृणामय पावन।।६१।।*
*यदा यदास्मान् दनुजा हि दुःखदास्तदातदा त्वं भुवि जन्मभाग्भव।*
*अजोऽव्ययोऽपि प्रवरोऽपि सन् विभो स्वभावमास्थाय निजं निजार्चितः।।६२।।*
*मृत सुधासदृशोरघनाशनैः सुचरितैरवकीर्य महीतलम्। अमनुजैर्गुणशंसिगीरीडितस्त्वमत आशु पुनः प्रविशेः पदम्।।६३।।*
*अनादिराद्योऽजररूपधारी हारी किरीटी मकरध्वजाभः। जयं करोतु प्रसभं हतारिः स्मरारि संसेवित पादपद्मः।।६४।।*
*भवत्कृतं मदीयैवैं गुर्णग्रथितमद्भुतम्। स्तोत्रं पठिष्यति मुहुः प्रतिनिशि सकृन्नरः।।७१।।*
*मदीयचरणद्वन्द्वेभक्तिस्तेषाञ्च भूयसी। भविष्यति मुदा युक्तं स्वान्तं पुंसां तु पाठतः।।७३।।*

*अनुवाद—*

हे रामचन्द्रजी! आप जन्म, जरा आदि दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हैं। आपकी जय हो। आपने अत्यन्त प्रचण्ड राक्षसोंका विनाश कर उनका उद्धार किया है। हे अजर, अमर, अच्युत! आपने सूर्यवंश रूप समुद्रमें जन्म ग्रहण किया है। आपकी जय हो।।५८।।

हे देवश्रेष्ठ! आपका नाम उच्चारण कर अनेकानेक पापी तक पवित्र हो चुके हैं, अर्थात् उद्धार लाभ कर चुके हैं, फर जिन्होंने सर्वदा पुण्य–साधक कर्मोंमें निरत रहनेवाले साधु और ब्राह्मणस्वरूप श्रेष्ठ मनुष्यका जन्म पाया है, उनकी तो बात ही क्या है।।५९।।

हे रघुनाथ! अभिलषित फलको देनेवाले, ब्रह्मा और शिव आदिके द्वारा नित्य वन्दित और पवित्र जौ आदि चिह्नोंसे युक्त आपके युगल चरणकमलोंको अपने हृदयमें धारण करनेकी तीव्र लालसा हो रही है।।६०।।

हे भुवनमोहन! हे सुन्दर विग्रहवाले! यदि आप पृथ्वीको अभयदान न करें, तो हे दयामय पावन! देववृन्द कैसे सुखी रह सकेंगे।।६१।।

हे सर्वेश्वर! हे विभो! अजन्मा, अव्यय एवं अपने स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेपर भी जब दैत्यगण अतिशय उपद्रव करने लगेंगे, तब आप कृपा कर पृथ्वी पर जन्म लेंगे और उस रूपमें मृत व्यक्तियोंके लिए संजीवनी–सुधाकी तरह पापोंको ध्वंस करनेवाले अनेक गुणोंसे सुशोभित अलौकिक चरित्र द्वारा समग्र जगत्में पूजित होकर पुनः अपने वैकुण्ठ धाममें प्रवेश करेंगे।।६२–६३।।

हे रघुवर! आप सबके आदि हैं। आपका आदि कोई नहीं है। आप अजर (जरारहित) रूपधारी हैं। आपका रूप कन्दर्पके समान है, जो हार–किरीट आदि आभूषणोंसे सुशोभित है। महादेव आपके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं। आपने निखिल शत्रुओंका संहार किया है, आपकी जय हो।।६४।।

महायशस्वी रघुनन्दन श्रीरामचन्द्र देवताओंके स्तवसे बड़े आनन्दित हुए और उनके प्रति कृपाकटाक्षसे बोले—देवताओ! आप लोगोंने मेरे गुणोंसे युक्त जो मेरा स्तव किया है, उसे जो मनुष्य प्रातःकालमें अथवा सन्ध्याकालमें केवल एक बार भी पाठ करेगा, उसका हृदय सर्वदा आनन्दसे युक्त होकर मेरे चरणकमलोंके प्रति एकान्तरूपसे आसक्त रहेगा।।७१–७२।। ❑❑❑

# वैष्णव–स्मृति

*—श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'*

भारतीय आर्य जिस विशेष शास्त्रके विधानोंके अनुसार अपनी व्यावहारिक क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं, उसीको साधारणतः स्मृतिशास्त्र कहते हैं। सकाम कर्मीगण जिन विधानोंको धर्म मानकर पालन करते हैं, मुक्ति चाहनेवाला ज्ञानी–सम्प्रदाय उन विधानोंको सकाम कर्मियोंकी तरह ग्रहण नहीं करता। ज्ञानी कर्म और कर्मफलको अनित्य और दुःखजनक जानकर कर्म–फल–साधक विधानोंके प्रति उदासीन रहता है तथा वैराग्य–साधक विधानोंको ही पाप–पुण्यसे अतीत व्यावहारिक विधान मानता है। इसलिए ये लोग व्यवहारकुशल कर्मियोंको अर्थी एवं अपनेको परमार्थी बतलाते हैं। परन्तु कर्म और ज्ञानसे अतीत भक्तजन ज्ञानियोंमें भी फल भोगकी वासना लक्ष्यकर दोनोंको ही 'अर्थी' की संज्ञा देते हैं तथा वासनारहित शान्त वैष्णवोंको ही एकमात्र परमार्थी स्वीकार करते हैं। साधारण इन्द्रिय–सुखसे लेकर मुक्ति तक किसी भी प्राकृत फलके उद्देश्यसे के किए गए समस्त प्रकारके अनुष्ठान प्राकृत चेष्टाके अधीन और स्वार्थमय होते हैं।

### *अर्थी और परमार्थी लोगोंके स्मृति–विधान एक नहीं है*

भगवद्भक्तकी निखिल चेष्टाएँ कृष्ण प्रीतिके उद्देश्यसे विहित होती हैं। किन्तु कर्मी और ज्ञानियोंकी इससे विपरीत अपने सुखके उद्देश्यसे साधित होती हैं। अर्थी और परमार्थी दोनोंके उद्देश्योंमें महान अन्तर होता है। अतएव जैसा कहा जा सकता है कि अभक्त और भक्तोंके व्यवहारिक विधान भिन्न–भिन्न हैं। फलकी कामना करनेवाला कर्मी–ज्ञानी और कामनारहित भक्त—सबपर एक ही प्रकारका विधान थोपा नहीं जा सकता। अभक्तोंके विधान उनके निजी कल्याणके लिए होते हैं और भक्तोंके विधान कृष्णसेवाके लिए होते हैं। एकका उद्देश्य है स्व–सुखका भोग और दूसरेका अप्राकृत कृष्ण–सेवा।

### *हारीत–स्मृति और भक्तिके अनुकूल पुराणोक्त विधान वैष्णवोंके ग्रहणीय है*

समस्त स्मृतियोंमें हारीत–स्मृति वैष्णवोंके लिए विशेष आदरणीय है। स्मार्त समाज स्मृतियोंके सिवा पुराणोंमें उल्लिखित विधानोंका भी आदर करता है। वैष्णवजन भी स्मृतियों तथा पुराणोंके उन विधानोंको स्वीकार करते हैं, जो भक्तिके अनुकूल होते हैं। मध्यकालीन कुछ व्यावहारिक स्मार्त पण्डितोंने स्मार्त समाजके लिए कतिपय स्मृति–निबन्ध लिखे हैं। तत्कालीन वैष्णव आचार्योंने भी अपने सम्प्रदायके लिए विविध शास्त्रोंसे प्रमाण संग्रह कर वैष्णव जीवनोपयोगी विधानोंका संकलन किया है।

बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके आदेशानुसार सनातन गोस्वामीने विशुद्ध शास्त्रोंका अवलम्बन करके 'हरिभक्तिविलास' नामक वैष्णव–स्मृति–ग्रन्थका संकलन किया है, जिसे बादमें गोपालभट्ट गोस्वामीने सम्पादित किया है। इसके लगभग अर्द्ध शताब्दी बादमें बंगालमें ही श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्यने स्मार्त समाजके प्राकृत व्यवहारोंके निर्वाहके लिए 'अष्टाविंशति–तत्त्व' के नामसे कतिपय निबन्ध लिखे हैं। इस स्मृति ग्रन्थमें इन्होंने अनेक स्थलोंपर हरिभक्तिविलाससे अपना पृथक मत स्थापित करनेकी चेष्टा की है।

इन दोनों स्मृति ग्रन्थोंके सिवा उस समय भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें उन उन स्थानोंके लिए व्यवहारोपयोगी अनेक स्मृतिग्रन्थ लिखे गये हैं।

यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि जब स्मृति–लेखकोंका मूल आधार एक है, तब उनके रचित स्मृति ग्रन्थोंके विधान–सम्बन्धी सिद्धान्तोंमें

अन्तर क्यों दीख पड़ता है? उत्तर है, वैष्णव स्मृतिकार भगवद्भक्त थे और कर्मफलवादी स्मृति–लेखक नितान्त भोगपरायण थे। कर्म–फलवादी स्मार्तोंको भगवानकी उपासनामें न तो नित्य रुचि होती है न विश्वास ही। अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट विधानोंमें निरपेक्ष विधानोंका उल्लेख असम्भव है। यही कारण है कि दोनों प्रकारकी स्मृतियोंमें निर्दिष्ट विधानोंमें काफी मतभेद है।

### *स्मार्त विधानोंका पालन करनेसे वैष्णव नहीं हुआ जाता*

हिन्दू समाज व्यावहारिक स्मार्त विधानोंका आनुगत्य करनेके लिए बाध्य होनेपर भी शुद्ध वैष्णव ऐसा करनेके लिए बाध्य नहीं है। कहीं कहीं पर गृहस्थ वैष्णवोंके लिए स्मार्त विधानोंको अक्षुण्ण रखकर वैष्णव स्मृतिका पालन असंभव सा प्रतीत होता है। किन्तु यह गृहस्थ वैष्णवोंकी दुर्बलताका ही परिचय है। जिस समय सत् शिक्षाके प्रभावसे वे अपने सत्शास्त्रोंकी तथा अपनी मर्यादाकी उपलब्धि करेंगे, उस समय वे किसी भी अवस्थामें वैष्णव–स्मृतिका अनादर नहीं कर सकेंगे। परमार्थी जनको वैष्णव–स्मृतिके अनुसार अपने कृष्ण–संसारका निर्वाह करना उचित है।

यदि वैष्णव समाज अपने आचार्योंका ठीक–ठीक अनुसरण करता हुआ जीवन–यात्राका निर्वाह करे, तो जगतमें कोई विशृंखलता फैलनेकी संभावना नहीं है। कभी कभी व्यावहारिक स्मार्त लोक विष्णुभक्तिके प्रति कटाक्ष कर अपनी मूढ़ताका परिचय देते हैं। उनका ऐसा व्यवहार उनकी संकीर्णताका ही द्योतक है, न कि उदारताका। कालके प्रभावसे आजकल सर्वत्र ही परमार्थ–निष्ठाके प्रति शिथिलता दीख पड़ती है, फिर भी अप्राकृत विचार–सम्पन्न परम महान वैष्णवोंके लिए परमार्थ विचाररहित स्मार्तोंका आनुगत्य शोभा नहीं देता। वैष्णव स्मृतिका भलिभाँति अनुगमन करना ही उनके लिए उचित है—हमारा यह विशेष अनुरोध है। ❑

# *दशमूल–निर्यास*

*—ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर*

*आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्तिं रसाब्धिं*
*तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृति कवलितांस्तद्विमुक्ताश्च भावात्।*
*भेदाभेदप्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्धभक्तिं*
*साध्यं तत्प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्र स्वयं सः।।*

उन गौरचन्द्रका मैं भजन करता हूँ, जिन्होंने ऐसी शिक्षा दी है। शिक्षा इस प्रकार है कि आम्नाय अर्थात् वेद ही एकमात्र प्रमाण है। वेद हमें नौ प्रकारके प्रमेयों अर्थात् विषयोंकी शिक्षा देते हैं।

***पहला विषय***—श्रीहरि ही एकमात्र परम तत्त्व हैं। नव–जलधर–कान्ति सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण ही 'हरि' शब्दके वाच्य हैं। उपनिषद जिनको ब्रह्म बतलाते हैं, वे श्रीहरिके चिद्विग्रहकी आभामात्र हैं। वह श्रीकृष्णसे पृथक् कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। योगीजन जिन्हें परमात्मा कहते हैं, वे श्रीहरिके अंश हैं, जिनके दृष्टिपात करनेसे ही प्रकृतिने इस चराचर विश्वकी सृष्टि होती है। अतएव श्रीहरि एकमात्र प्रभु हैं और ब्रह्मादि सभी उनके दास हैं।

***दूसरा विषय***—वे श्रीहरि सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। वे अन्तरंग रूपमें चिच्छक्ति, बहिरंगा रूपमें मायाशक्ति ओर तटस्था रूपमें जीवशक्ति हैं। चिच्छक्ति द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं जीवशक्ति द्वारा अनन्त कोटि जीवोंकी सृष्टि की

है। उस पराशक्तिके सन्धिनी, सम्बित् और ह्लादिनी—ये तीन प्रभाव हैं।

*तीसरा विषय*—वे श्रीकृष्ण हरि ही अखिल रस-समुद्र हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच प्रकारके रस हैं। इनमें मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीकृष्णकी व्रजलीलामें मधुर रस विशुद्ध रूपमें अवस्थित है। श्रीकृष्णमें चौसठ गुण सुशोभित हैं, जैसे—(१) अत्यन्त मनोहर अंग, (२) सर्वसुलक्षणोंसे युक्त, (३) सुन्दर, (४) महातेजस्वी, (५) बलवान, (६) किशोर वयस, (७) विविध प्रकारके अद्‌भुत भाषाविद्, (८) सत्य वाणी बोलनेवाले, (९) मृदुभाषी, (१०) वाक्‌पटु, (११) बुद्धिमान, (१२) सुपण्डित, (१३) प्रतिभाशाली, (१४) रसिक, (१५) चतुर, (१६) निपुण, (१७) कृतज्ञ, (१८) सुदृढ़व्रत, (१९) देशकाल पात्रके सम्बन्धमें सुविज्ञ, (२०) शास्त्र दृष्टियुक्त, (२१) पवित्र, (२२) जितेन्द्रिय, (२३) स्थिर, (२४) संयमी, (२५) क्षमाशील, (२६) गम्भीर, (२७) धीर, (२८) सम, (२९) वदान्य अर्थात् उदार, (३०) धार्मिक, (३१) शूर, (३२) करुण, (३३) मानद, (३४) दक्षिण अर्थात् अनुकूल, (३५) विनयी, (३६) लज्जायुक्त, (३७) शरणागत पालक, (३८)सुखी, (३९) भक्तसुहृद, (४०) प्रेमके अधीन, (४१) मंगलमय, (४२) प्रतापी, (४३) कीर्तिशाली, (४४) सबका प्रिय, (४५) सज्जनोंका पक्ष ग्रहणकारी, (४६) नारी मनोहारी, (४७) सबके आराध्य, (४८) ऐश्वर्यशाली, (४९) श्रेष्ठ और (५०) ऐश्वर्ययुक्त। ये ५० गुण भगवान श्रीकृष्णमें समुद्रकी तरह अगाध और असीम रूपमें ओर जीवोंमें बिन्दु-बिन्दु रूपमें वर्तमान हैं। इन ५० गुणोंके अतिरिक्त अन्य ५ गुण जो श्रीकृष्णमें पूर्णरूपसे हैं और शिवादि देवताओंमें आंशिक रूपमें विराजमान हैं, वे ये हैं—(१) सदा स्वरूपमें स्थिति, (२) सर्वज्ञ, (३) नित्य-नवीन, (४) सच्चिदानन्द घनीभूत-स्वरूप और (५) सर्व सिद्धियोंसे सेवित। परव्योमनाथ नारायण आदिमें और भी पाँच गुण अधिक रूपमें विराजित हैं। वे पाँच गुण कृष्णमें भी पूर्णरूपसे रहते हैं, किन्तु शिव आदि देवताओंमें अथवा जीवोंमें वे गुण नहीं होते। वे पाँच गुण ये हैं— (१) अविचिन्त्य महाशक्तित्व, (२) कोटि ब्रह्माण्ड विग्रहत्व, (३) सर्व अवतार बीजत्व, (४) हतशत्रु सुगतिदायक, (५) आत्माराम मुनियोंके आकर्षकत्व। ये पाँच गुण नारायण आदिमें वर्तमान रहनेपर भी श्रीकृष्णमें अद्भुतरूपसे विराजमान हैं। इन साठ गुणोंके अतिरिक्त श्रीकृष्णमें और भी चार गुण प्रकाशित हैं, जो नारायणमें भी प्रकाशित नहीं हैं। (१) सर्वलोक चमत्कारिणी लीलाकल्लोल समुद्र, (२) शृंगार रसके अतुलनीय प्रेम द्वारा सुशोभित तथा अपने प्रिय पात्रोंके मंगलस्वरूप, (३) तीनों लोकोंको आकर्षित करनेवाली मुरलीकी तान, (४) चराचर विश्वको चकित और मुग्ध कर देनेवाली अतुलनीय रूपश्री। इन चौसठ गुणोंसे युक्त श्रीकृष्ण निखिल रसामृतसमुद्र स्वरूप हैं।

*चौथा विषय*—पहलेके तीन विषयोंमें भगवत् तत्त्वका उल्लेख है, चौथे, पाँचवे और छठे विषयोंमें जीव तत्त्वका वर्णन है। चौथेमें जीवके स्वरूपका विवेचन है। जीव श्रीहरिकी पराशक्तिके तटस्थ विक्रमसे महादीपसे अनन्त क्षुद्र दीपोंकी उत्पत्तिकी तरह—विभिन्नांश रूपसे प्रकटित हुआ है। जीव चित् स्वरूप और चिद्धर्मयुक्त होनेपर भी अत्यन्त क्षुद्र और पराधीन है। पराधीन स्वभाव होनेके कारण कृष्णसे विमुख होनेपर मायाके अधीन हो पड़ता है। ईश्वर और जीवमें भेद यह है कि दोनों चित्स्वरूप तो हैं, परन्तु ईश्वर स्वभावतः विभुचित् वस्तु हैं, वे मायाके प्रभु हैं और माया उनकी नित्य दासी है। परन्तु जीव मुक्त अवस्थामें भी स्वभावतः मायाके अधीन होने योग्य हैं तथा अणुचित् होते हैं; जीव कृष्णके अधीन रहनेपर मायासे मुक्त होते हैं। शुद्धजीव चिद्विग्रहयुक्त होते हैं, इनमें पूर्वोक्त पचास

गुण चिन्मय होते हैं। शुद्ध जीवमें मायिक धर्म मायिक गुण नहीं होते।

***पाँचवा विषय***—जीव कृष्णरूप चित्–सूर्यके किरणकण हैं। अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण वे परतन्त्र होते हैं। कृष्ण–परतन्त्र होनेसे उन्हें दुःख नहीं होता; उस समय वे परामानन्द भोग करते हैं। परन्तु भोगकी कामना करनेसे कृष्ण विमुख हो, वे मायाबद्ध हो पड़ते है तथा मायाके दुर्निवार कर्मचक्रमें पड़कर जड़ जगतमें मायिक सुख–दुःख भोग करते हैं। मायाका कर्मचक्र पुण्य–पाप, सुख–दुःख और उच्च–नीच अवस्थाजनक होता है। उसे कभी स्वर्ग आदि लोक और कभी नरक आदि भोग करते हुए चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है।

***छठा विषय***—मायाके चक्रमें बद्ध होनेपर भी जीव स्वरूपतः चित्स्वरूप है, अतएव मायासे मुक्त होनेके योग्य है। किन्तु किसी मायिक उपायके द्वारा, किसी शुभ कर्मके द्वारा मायाको दूर करना सम्भव नहीं होता। मैं जीव चित्कण हुँ और माया मेरे लिए हेय है, ऐसा ज्ञान होनेपर भी ज्ञान–वैराग्य द्वारा मायासे मुक्ति नहीं होती। अपने गुप्त और लुप्तप्राय कृष्णदास्यभावके उदय होनेके साथ–साथ मुक्तिरूप अवान्तर फल उपस्थित होता है। अपना स्वभाव उदित होनेपर ही मायापराधीन स्वभाव दूर होता है। अपना निजस्व अत्यन्त लुप्तप्राय है, उसे कौन जाग्रत करता है? कर्म, ज्ञान और वैराग्यकी चेष्टा ऐसा करनेमें असमर्थ है। अतएव जिनका किसी सौभाग्यसे स्व–स्वभाव जाग्रत हुआ है, उनके संग–प्रभावसे जीवका गुप्त–प्राय स्व–स्वभाव जाग्रत हो सकता है। इस विषयमें दो घटनाओंका प्रयोजन होता है। जो स्व–स्वभाव जाग्रत करना चाहते हैं, वे पूर्व भक्ति–उन्मुखी सुकृतिके प्रभावसे किंचित् परिमाणमें शरणापत्ति–लक्षणा श्रद्धा लाभ करते हैं, यही पहली घटना है। उसी सुकृतिके बलसे उनको किसी उपयुक्त साधुका संग प्राप्त होता है—यही द्वितीय घटना है। सच्चे साधु वे हैं, जो सौभाग्यवश दूसरे साधुके संगसे अपने स्वभावको जाग्रत कर सके हैं। सत्संगके प्रभावसे हरिनाम आदिका अनुशीलन करते–करते भावोदय और पीछे क्रमशः प्रेमोदय होता है। प्रेम जिस परिमाणमें उदित होता है, मुक्ति भी उसी परिमाणमें आनुषंगिक फलके रूपमें स्वयं आ उपस्थित होती है।

***सातवाँ विषय***—पहलेसे लेकर छठे विषय तककी सत्संगमें आलोचना होनेसे सम्बन्ध ज्ञान उदित होता है। सम्बन्ध–ज्ञानका भेद सातवाँ विषय है। जिज्ञासु जीव ऐसा प्रश्न करता है— (१) मैं कौन हूँ? (२) मैं किसका हूँ? इस विश्वके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? इन तीनों विषयोंकी भलिभाँति आलोचना कर देख पाता है कि जीवरूप मैं—अणुचैतन्य और कृष्णका नित्य दास हूँ तथा अखिल जगत् उस श्रीकृष्णका भेदाभेद प्रकाश है। कृष्ण ही एकमात्र सम्बन्ध हैं। विवर्तवाद आदि तर्क निरर्थक और अवैदिक हैं। कृष्णकी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा जीव–समूह और अखिल ब्रह्माण्ड उनसे (कृष्णसे) नित्य पृथक् और अपृथक् हैं। इस ब्रह्माण्डमें मेरी नित्य स्थिति नहीं है, यह बन्दीगृह मात्र है। इस ज्ञानसे अनन्य कृष्णभक्तिमें श्रद्धा अर्थात् दृढ़ विश्वास होता है।

***आठवाँ विषय***—सम्बन्ध ज्ञान हो गया है, सत्संगके भावसे अनन्यभक्तिके प्रति श्रद्धा भी हो गयी है, अब क्या करनेसे कृष्ण प्रसन्न होंगे—ऐसा सोचकर सद्गुरुके पास सदुपाय जिज्ञासा करते हैं। श्रद्धालु व्यक्तिको भक्तिका अधिकारी जानकर सद्गुरु उसे शुद्ध कृष्ण भक्तिकी शिक्षा देते हैं। शुद्ध कृष्णभक्तिका लक्षण यह है—

*अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*
*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।*

(भ. र. सि. १/१/९)

अनुकूल भावके साथ सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलारसका अनुशीलन ही उत्तमा अर्थात् शुद्धा भक्ति है।

जीवनकी समस्त क्रिया, सम्बन्ध और भावोंको भजनके अनुकूल कर भक्त्यङ्गका अनुशीलन करना ही कर्तव्य है। इसलिए भजनके प्रतिकूल क्रिया, सम्बन्ध और भावोंका वर्जन कर जीवन यात्राका निर्वाह करते हुए भजन करना ही आनुकूल्य भाव है। इसके लिए भजन क्रियामें कुछ निर्बन्धिनी मतिकी आवश्यकता है। जीवका स्वस्वरूप उदय करवानेके लिए भजन करना आवश्यक है। भजन निर्मल हो—इस उद्देश्यसे उसमें भजनोन्नतिके अतिरिक्त और कोई भी दूसरी अभिलाषा या आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। इसलिए भोगवाच्छा तकका परित्याग करना आवश्यक है। जीवनयात्रा निर्वाहके लिए ज्ञान चेष्टा और कर्मचेष्टा अवश्य होगी; परन्तु कर्म और ज्ञानके उन समस्त अंगका परित्याग करना चाहिए, जो शुद्धभक्ति-वृत्तिको आवृत करते हैं। निर्भेद ब्रह्मज्ञान और भक्ति-लक्षणरहित कर्मोंसे सर्वथा दूर रहना चाहिए।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनके भेदसे भक्तिके नौ अंग होते हैं। पुनः इन सब अंगोंके मुख्य-मुख्य उपांगोंके भेदसे भक्तिके चौसठ अंग कहे गये हैं। उनमेंसे कुछ विधि-लक्षण हैं और कुछ निषेध लक्षण। विधि लक्षणोंमें हरिनाम, हरिधाममें वास, हरिरूप-सेवन, हरिजन-सेवा और हरिभक्तिके शास्त्रोंकी चर्चा—ये पाँच भक्ति अंग मुख्य हैं। अपराध वर्जन, यत्नपूर्वक अवैष्णवसंग त्याग, अपनेमें गुरु-बुद्धिको बढ़ानेके लिए बहुत शिष्य न करना, नाना-ग्रन्थोंका कलाभ्यास और व्याख्यान वर्जन, पार्थिव हानि-लाभमें हर्ष-शोकका त्याग, शोक मोहादिके वशमें न होना, अन्यान्य देवताओं और शास्त्रोंकी निन्दा न करना, विष्णु और वैष्णवोंकी निन्दा न सुनना, प्रतिकूल रूपमें ग्राम्यवार्ताका अनुशीलन न करना, प्राणिमात्रको उद्वेग न देना—इन दस प्रकारके निषेधोंका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। कृष्णनाम, रूप, गुण, लीलाका कीर्तन भक्तिके अन्यान्य अंगोसे श्रेष्ठ है। ऐसी साधन-भक्ति शास्त्र आज्ञानुसार साधित होनेपर वैधी-भक्ति कहलाती है। दृढ़ श्रद्धाके साथ साधते साधते भावभक्तिका उदय होता है। साधन भक्ति और भी एक प्रकारकी होती है, वह असाधारणा होती है, जिसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति रागमयी भक्ति स्वतःसिद्ध होती है। उसे देखकर किसी सुकृति सम्पन्न व्यक्तिको उस रागमयी भक्तिके प्रति लोभ पैदा होता है और उसी लोभसे उसमें प्रवत्त होता है। ऐसे व्यक्तियोंकी साधन भक्तिको रागानुगा भक्ति कहा जाता है। इसमें शास्त्रयुक्तिकी अपेक्षा नहीं रहती है। एकमात्र सेवा प्राप्तिकी लालसा ही उसका कारण होती है। ये दोनों प्रकारकी साधन भक्तियाँ ही अभिधेय तत्त्व हैं।

***नवाँ विषय***—प्रयोजन स्वरूप कृष्ण तत्त्व ही नवाँ विषय है। श्रद्धापूर्वक अनन्य भक्तिका अनुशीलन करते हुए साधन करते-करते कृष्णके विषयमें भावोदय होता है। ऐसी दशामें वैध साधनकी सारी चेष्टाएँ भावके साथ मिलकर भावमयी हो पड़ती हैं। वही भाव अधिकारीके भेदसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसाश्रित प्रेमदशाको प्राप्त होता है, शान्त-रस व्रजसे बहुत दूर रहता है। व्रजमें 'दास्य' प्रेमसे रसकी प्रक्रिया होती है। उल्लासमय भावविशेषका नाम रति है। उसमें कृष्णके प्रति अनन्य ममता युक्त होनेसे वह प्रेममय हो पड़ता है। इसी रसका नाम 'दास्य' रस है। दास्य रसमें संभ्रम अधिक मात्रामें होता है। इस ममतामें संभ्रमशून्य विश्रम्भ अर्थात् विश्वास उदय होनेपर उसे 'प्रणय' कहा जाता है। इसका नाम 'सख्य' रस है। यदि इस रसमें अतिरिक्त स्नेह संयुक्त हो तो उसे 'वात्सल्य' रस कहते हैं। वात्सल्य रसके समस्त गुण अभिलाषमय होनेपर वही 'श्रृंगार' रसका रूप धारण करता है। श्रृंगार रस सर्वोत्तम रस है। व्रजमें वास कर राधाकृष्णकी किसी सखीके अनुगत पाल्यभावसे सेवा करना ही रसका आस्वादन करना है। कृष्ण

सच्चित्–स्वरूप हैं और उनसे अभिन्न तत्त्व आनन्द ही—श्रीमती राधिकाजीकी सखियाँ उनके भावविशेष हैं; अतः वे कायव्यूह हैं। वे सखियाँ पराशक्तिका कायव्यूह होनेसे स्वरूप–शक्तिगत तत्त्व हैं। प्रेमरूप प्रयोजन प्राप्त कर जीव निर्मल होते ही उन सखियोंकी परिचारिकायोंकी श्रेणीमें आ जाता है। श्रीराधाकृष्ण–सेवानन्द–सुख नित्य सम्भोग (अनुभव) करता है। यही जीवके लिए चरम प्रयोजन है। चित्तत्त्वका यही परम विचित्र–भाव है। निर्भेद–ब्रह्ममें लयरूप मुक्तिमें ऐसा विचित्र आनन्द नहीं होता। श्रीरूप गोस्वामी प्रदत्त भक्तिका क्रम इस प्रकार है—

*आदौ श्रद्धा ततः साधु–सङ्गोऽथ भजन–क्रिया।*
*ततोऽनर्थ–निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।*
*अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।*
*साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।।*

(भ. र. सि. १/४/१०)

*स्याद्गाढेऽयं रतिः प्रेम्ना प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्।*
*स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि।।*
*बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव च।*
*सा शर्करा सिता च सा यथा स्यात् सितोपला।।*

(उज्ज्वलनीलमणि स्थायिभाव प्र. ४४)

पहले श्रद्धा, फिर उससे साधुसंग, साधुसंगसे भजन–क्रिया, भजन–क्रियासे समस्त अनर्थ–निवृत्ति, अनर्थ निवृत्तिसे रुचि, आसक्ति और क्रमशः भावका उदय होता है, भावसे प्रेम होता है। भावका दूसरा नाम—रति है। रति गाढ़ी होनेपर प्रेम कहलाती है। प्रेम गाढ़ा होनेपर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और महाभाव तक उन्नत होता है। जैसे गन्ना, रस, गुड़, खाँड, शक्कर, सिता और सितोपल क्रमशः एक से एक बढ़कर स्वादिष्ट होता है, ठीक उसी प्रकार प्रेमकी प्रक्रियामें भी क्रमशः एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने श्रीरूप और सनातनको जो शिक्षाएँ दी थीं, उसीको दशमूल कहते हैं। यह छोटी–सी पुस्तक उसी दशमूलका निर्यास अर्थात् सार तत्त्व है। जो श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा ग्रहण कर शुद्ध वैष्णव होना चाहते हैं, वे सबसे पहले इस दशमूल निर्यासका सेवन करेंगे। श्रीगुरुदेव उन्हें इसी निर्यासमें सारे तत्त्वोंको दिखलायेंगे। श्रद्धासे गुरुपदाश्रय, श्रीगुरुचरणसे भजन–शिक्षा, भजनके द्वारा समस्त प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति, पश्चात् निष्ठा आदिसे भावका उदय होता है। भजनका पहला अंग—दशमूलका सेवन करना है। गुरुदेव शिष्यको दशमूल–निर्यास पिलाकर उसका पंच संस्कार करेंगे। दशमूल पान करनेके पश्चात् भजन नहीं करनेसे अनर्थ निवृत्ति नहीं होगी। अनर्थ चार प्रकारके होते हैं—(१) स्वरूप–भ्रम, (२) असत् तृष्णा, (३) अपराध और (४) हृदय दौर्बल्य। जीव अपने स्वरूपको भूल कर दूसरे रूपका अभिमान कर मायिक हो पड़ा है, अतएव स्वरूप–भ्रम पहले ही दूर होना आवश्यक है। स्वरूप भ्रम एक दिनमें दूर नहीं होता, बल्कि कृष्णानुशीलनके साथ–साथ धीरे–धीरे दूर होता है। 'मैं कृष्ण–दास हूँ'—यह अभिमान ही जीवका स्वरूपज्ञान है। इसी अभिमानके साथ कृष्णका अनुशीलन करना ही यथार्थ कृष्णानुशीलन है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे स्वरूप–ज्ञानका उदय होता है। शिष्य विशेष प्रयत्न करके आत्म–स्वरूप ज्ञात होंगे, अन्यथा पहला अनर्थ दूर नहीं हो सकता। पहला अनर्थ जितने परिमाणमें दूर होता रहेगा, असत् तृष्णारूप द्वितीय अनर्थ भी साथ ही साथ उतने ही परिमाणमें दूर होता जायेगा। जड़–शरीरकी विषय–भोगकी पिपासा ही असत्तृष्णा है। स्वर्ग–सुख, इन्द्रिय–सुख, धन–जनका सुख ये सभी असत्तृष्णा हैं। अपना स्वरूप जितना ही स्पष्ट होगा, इतर वस्तुओंके प्रति उतने परिमाणमें वैराग्य अवश्य ही होगा। साथ ही नामापराध दूर करनेके लिए विशेष यत्न करना आवश्यक है। 'नामापराध' छोड़कर नाम करनेसे प्रेमधन बहुत ही शीघ्र प्राप्त होता है। आलस्य, इतर विषयोंके वशमें होना, शोक आदिके द्वारा चित्त–विभ्रम, कुतर्क द्वारा शुद्ध भक्तिसे

दूर होना, अपनी सम्पूर्ण जीवनशक्तिको कृष्ण-अनुशीलनमें अर्पण करनेमें कार्पण्य, जाति-धन-विद्या-रूप-बलके अभिमानसे दैन्य-स्वभाव ग्रहण न करना, अधर्म प्रवृत्ति या उपदेश द्वारा परिचालित होना, कुसंस्कार शोधन करनेमें प्रयत्न न करना, क्रोध, मोह, मात्सर्य, असहिष्णुताजनित दया परित्याग, प्रतिष्ठाशा और शठता द्वारा व्यर्थ ही अपनेमें वैष्णवका अभिमान करना, कनक-कामिनी और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषासे अन्य जीवोंके प्रति अत्याचार—ये सब कुछ हृदय-दौर्बल्यसे पैदा होते हैं। जो लोग दशमूलको सिद्धान्त (कठिन विषय) समझकर अवहेलना करेंगे, उनकी कृष्णभक्ति कभी भी सिद्ध नहीं होगी। श्रीगुरुदेवके समीप उपस्थित होनेपर योग्य शिष्यको श्रीश्रीचैतन्य-सम्प्रदायमें पंच संस्कार देनेके पहले ही यह ग्रन्थ पढ़ाना आवश्यक है। ऐसा होनेसे अनुपयुक्त व्यक्ति श्रीश्रीमहाप्रभुके पवित्र और निर्मल सम्प्रदायको दूषित और कलंकित न कर सकेंगे।

❑

# गीताकी वाणी

*—श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज*

पूर्व लेखमें स्थित-प्रज्ञ व्यक्तिका लक्षण बतलाया गया है। देह और मनके धर्मको छोड़कर आत्मधर्ममें सम्पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित होना ही स्थितप्रज्ञ होना है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, शोक-मोह, कामना अदि शारीरिक और मानसिक धर्मोंका परित्याग करनेसे स्थितप्रज्ञ हुआ जा सकता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंको अपनी इच्छाके अधीन रखकर समस्त क्रियाओंको करता है। भोगी पुरुषकी इन्द्रियाँ विषयोंके प्रति आसक्त हो जाती हैं। किन्तु स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपने प्रयोजनके अनुसार स्वेच्छासे अपनी इन्द्रियोंका संचालन करते हैं। कोई भी विषय उनकी इन्द्रियोंको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहे गये महाभागवतोंके लक्षण सम्बन्धी—

*त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-*
*स्मृतिरजितात्म-सुरादिभिर्विमृग्यात्।*
*न चलति भगवत्पादारविन्दात्*
*लवनिमिषार्द्धमपि यः वैष्णवाग्र्यः।।*

इस श्लोककी आलोचना करनेसे पता चलता है कि महाभागवत वैष्णव ही यथार्थतः स्थितप्रज्ञ होते हैं, क्योंकि अपनी इन्द्रियोंको भगवानकी सेवामें नियुक्त करनेसे वे स्वभावतः स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं। इन्द्रियोंको बलपूर्वक दमन करनेकी चेष्टासे स्थितप्रज्ञ नहीं हुआ जाता, यह बात अगले श्लोकमें स्पष्ट कर दी गयी है। अर्थात् रोगी व्यक्ति विषयोंको भोगनेमें आसक्त होनेके कारण उनसे निवृत्ततो रहता है, परन्तु उसकी भोग-पिपासा नष्ट नहीं होती। रोग दूर होनेपर फिर भोग करूँगा—ऐसी कामना उसके हृदयमें प्रबल रहती है। किन्तु परमात्म-वस्तुके दर्शनसे वैसी वासनाएँ समूल ध्वंस हो जाती हैं। वैष्णवोंकी इन्द्रियाँ कृष्णप्रीतिमें सर्वथा संलग्न रहेनेके कारण उनकी अपने सुखकी कामनाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। आत्मसाक्षात्कारके बिना विषयोंके प्रति आसक्तिका कभी नाश नहीं होता। कोई-कोई अपनी इन्द्रियोंको बलपूर्वक दमन करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु मनका दमन न कर सकेनेके कारण उनका असंयत मन दूसरी-दूसरी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर खींच लेता है। किन्तु भगवानके नाम, रूप, गुण और लीला आदिके श्रवण, कीर्तनमें नियुक्त किया हुआ चित्त सहज ही इतर अभिलाषाओंका परित्याग कर भगवत्सेवा-सुख अनुभव कराकर विषयभोग-पिपासाको दूर कर देता है।

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे काम

उत्पन्न होता है। कामनानुसार विषयेंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा काममें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध उत्पन्न होनेसे कर्तव्याकर्त्तव्यका विवेक नष्ट हो जाता है। अविवेकसे स्मृतिभ्रंस और स्मृतिभ्रंससे बुद्धिका नाश हो जाता है। उससे फिर सर्वतोभावेन विनाश हो जात है। अर्थात् वह संसार सागरमें डूब जाता है। इसीलिए योगी पुरुष विषय–सुखकी कामना नहीं करते। उनकी इन्द्रियाँ उस सर्पके समान निस्तेज और अक्षम हो जाती है, जिसके विषके दाँत उखाड लिए गए हों। विषयोंके प्रति ऐसे लोगोंका न तो अनुराग ही होता है और न विद्वेष ही। अर्थात् अनुराग—भोगकी कामना और विद्वेष—त्याग करनेकी चेष्टा, ये दोनों कर्म और ज्ञानके कार्य हैं। भगवद्भक्त कर्म और ज्ञानसे दूर रहते हैं। वे केवल भगवत्सेवामें निमग्न रहते हैं। इसलिए उनमें विषय भोगकी चेष्टाका सर्वथा अभाव होता है। उनमें जो चेष्टा होती है उसे वे भगवानकी सेवामें लगा देते हैं न कि ज्ञानीकी तरह अनिष्टकारक समझकर उसका त्याग करते हैं। राग–द्वेषसे शून्य होकर विषयोंको भगवत्सेवाके लिए ग्रहण करेनेसे आत्माकी प्रसन्नता सहज ही साधित होती है और आत्माकी प्रसन्नतासे शीघ्र ही सभी दुःखोंका अन्त हो जाता है तथा बुद्धि स्थिर हो जाती है। विषय और इन्द्रियोंको भगवत्सेवामें नियुक्त करना ही युक्त अवस्था है। इसके विपरीत आत्मसुखकी चेष्टा ही 'अयुक्त' अवस्था है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीरूपगोस्वामीके निकट इन दोनों अवस्थाओंका वर्णन किया था जिसका उल्लेख श्रीरूपगोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें किया है—

*प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।*
*मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गुः कथ्यते।।*
*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।*
*निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते।।*

जगत्की प्रत्येक वस्तु द्वारा श्रीहरिकी सेवा होती है। सभी वस्तुएँ नश्वर हैं और उनमें आसक्त रहनेसे विषयोंसे निवृत्ति नहीं हो सकती—ऐसा समझकर हरिसेवाकी वस्तुओंको भी त्याग देना—निर्विशेषवादी ज्ञानियोंकी ऐसी चेष्टाको फल्गुवैराग्य या अमुक्त अवस्था कहते हैं। विषयोंमें आसक्ति–शून्य होकर केवल शरीर धारणके उपयोगी वस्तुओंको स्वीकार कर सभी वस्तुओं और अपने इन्द्रियोंको कृष्णसेवामें नियुक्त करना ही युक्तावस्था या युक्त वैराग्य है। यही वैराग्य अथवा अवस्था भगवद्भक्तोंकी स्वाभाविक अवस्था या वैराग्य है। अभक्त लोगोंमें आत्मभावनाका अभाव होनेसे उनमें शान्तिका भी अभाव होता है।

*कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त।*
*भुक्ति मुक्ति सिद्धि कामी सकलई अशान्त।।*

श्रीमन्महाप्रभुने अतीव प्राञ्जल भाषामें इन बातोंका तात्पर्य समझाया है। अन्तःकरणके वशीभूत नहीं होनेसे आत्म–चिन्तन नहीं किया जा सकता। विषयोंमें आसक्त चित्त आत्मचिन्तनसे उदासीन रहनेके कारण सर्वदा अशान्त रहता है। और अशान्त व्यक्ति कभी भी यथार्थ सुखका अनुभव नहीं कर पाता। जिस पुरुषका चित्त विषयोंकी ओर दौड़ता है उसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसलिए इन्द्रियाँ वशीभूत न होनेसे अनिष्ट होनेकी सम्भावना होती है। तत्त्वज्ञ पुरुष समस्त कर्मोंका परित्याग करनेका अधिकारी होता है। किन्तु अज्ञ पुरुष विषयोंमें निमग्न हो जाता है।

जीव दो प्रकारका होता है—ज्ञानी और अज्ञानी। अज्ञानीकी रात्रि ज्ञानियोंके लिए दिन होता है और अज्ञानियोंका दिन ज्ञानियोंके लिए रात होती है। आत्मज्ञानसे युक्त बुद्धि ही अज्ञानी पुरुषके लिए रात है, क्योंकि वे इस विषयमें सोते रहते हैं अर्थात् अज्ञानी पुरुषोंमें आत्मज्ञान लाभ करनेकी चेष्टा नहीं होती। किन्तु ज्ञानी पुरुषोंके लिए वही दिन है। क्योंकि भगवत्–तत्त्वके विषयोंमें वे सजग रहते हैं। अज्ञानी पुरुष विषयोंमें आसक्त होकर सर्वदा विषयोंकी सेवा करते करते शोक–मोहसे उत्पन्न सुख–दुःखोंका अनुभव

करते-करते क्रमशः अधोगति लाभ करता है। और स्थितप्रज्ञ पुरुष विषयोंसे दूर रहकर आत्मज्ञानका अनुशीलन करते-करते परम विषय भगवानको प्राप्त होकर नित्यसुखका अधिकारी होता है।

अतएव जैसे समुद्रमें असंख्य नद-नदियोंका जल प्रवेश करनेपर भी उससे समुद्रमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही आत्मानुशीलनमें निरत पुरुषोंका चित्त सर्वदा भगवत्-चिन्तनमें निमग्न रहनेके कारण सांसारिक विषय उनके निकट आनेपर भी वे उनमें आसक्त नहीं होते। अतः उनके चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। ऐसे पुरुषोंमें भोग वासनाएँ न होनेके कारण वे शान्ति प्राप्त करते हैं। चित्तकी इसी अवस्थाका नाम ब्राह्मी अवस्था है।

अपनी इन्द्रियोंको भगवत्कथा श्रवण-कीर्तन और भगवत्सेवामें नियुक्त करनेसे भोग-वासनाओंको दूर करना सहज होता है और यही यथार्थ ब्राह्मी स्थिति है। ऐसी स्थिति प्राप्त हुए व्यक्तिका ज्ञान अज्ञान द्वारा कभी आवृत्त नहीं होता, यह कभी भी मोहान्ध कूपमें नहीं गिरता। ❑

*द्वितीय अध्याय समाप्त।*

# कौआ और कोयल

कौआ बहुत परिश्रमसे घास-फूस संग्रह करके यत्नपूर्वक रहनेके लिए घोसला बनाता है। कोयल उसी घोसलेका आश्रय लेकर बड़ी होती है। अपने रहनेके लिए परिश्रम नहीं करती। पंख निकल आने पर वह डाल-डाल पर मुकुलका भोजन कर पंचम स्वरसे गान करती है।

शुद्ध भक्त भी कोयलकी भाँति कर्मी वैज्ञानिक द्वारा रचित और आविष्कृत विविध वैज्ञानिक वस्तुओंको भगवानकी सेवामें लगाते हैं। जैसे विद्युत पंखा, ट्रेन, मोटरगाड़ी, हवाई जहाज, टेलिफोन, टेलिग्राम, फोटोग्राफ, लिथोग्राफ, सिनेमाग्राफादि जितने भी यन्त्र हैं, उन्हें बनानेमें भक्त अपना समय व्यर्थ नहीं करते बल्कि सभी वस्तुओंको भगवानके नाम-प्रचारमें प्रयोग करते हैं। इसे देखकर जगतके कर्मी लोग क्षोभित होते हैं। सोचते है कि हमने इतने परिश्रमसे आविष्कार किया और भक्त इसके फलका आस्वादन कर रहे हैं, वास्तवमें उनका क्षोभ करना उचित नहीं है। बल्कि उन्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि आज हमाारा परिश्रम सार्थक हुआ जिससे प्रभुकी सेवा हो रही है। यदि प्रभुकी सेवा न होती तो हमारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता। इन्हीं वस्तुओंको भोगी लोग अपने भोगमें लगाकर कामाग्निको वर्धित करते हैं। जिससे बनानेवाले वैज्ञानिकको भी उसके फलभोगमें साझीदार बनना पड़ता है। परदुःखदुःखी शुद्ध भक्तगण वैज्ञानिककृत द्रव्योंको हरिनाम प्रचारमें लगाते हैं, जिससे आविष्कारक, शिल्पी, वैज्ञानिक सभीकी सुकृति बनती है। शुद्ध भक्तोंकी कृपासे वे अक्षय फलके अंशीदार होते हैं। भक्त यदि शिल्पी और वैज्ञानिकोंको इस प्रकार हरिनाम प्रचारमें नियुक्त न करते तो इस प्रकार सार्वजनिक भुवन मंगल और प्रत्येक वस्तुकी सार्थकताका सम्पादन अर्थात् सद्व्यवहार नहीं होता। ❑

# मुनियोंका मतिभ्रम

*—श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज*

(डा. राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित अँग्रेजी गीता–भाष्यकी समालोचना)

श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोकमें ही परम सत्य तत्त्ववस्तुका निरपेक्ष निरूपण हुआ है—

*जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्*
*तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।*
*तेजोवारिमृदां यथाविनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा*
*धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।*

(श्रीमद्भा. १/१/१)

श्रीवेदव्यासने वेदोंका विभाग किया, पुराणोंको प्रकाशित किया, वेदान्त और महाभारत जैसे ग्रन्थोंकी रचना की, परन्तु फिर भी उनको शान्ति न मिली तो वे बड़े चिन्तित हुए। देवर्षि नारदजीकी प्रेरणासे जब उन्होंने सामधिस्थ होकर परम सत्य वस्तुके निर्मल तत्त्वका दर्शन किया तब कहीं उन्हें शान्ति मिली थी। श्रीमद्भागवत उसी समाधिलब्ध परम सत्य तत्त्ववस्तुकी अनुभूतिकी अभिव्यक्ति है। देवर्षि नारदकी प्रेरणासे पुरुषोत्तम भगवानके अप्राकृत तत्त्वका एवं उनके नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर वैशिष्ट्य आदिका प्रकाश करनेके लिए ही व्यास देवने 'श्रीमद्भागवत' रूप अमल पुराणकी रचना की है।

श्रीव्यासदेव बदरीकाश्रमके निकट शम्याप्रास नामक स्थानमें समाधि अवस्थामें भगवान पुरुषोत्तमको और उनके पीछे लज्जितभावसे स्थित उनकी आश्रिता देवी मायाको देखा। उन्होंने जीवोंकी सम्मोहन अवस्था और भगवानकी मायातीत अवस्थाको भी देखा। इस प्रकार अप्राकृत अनुभूति सम्पन्न होकर उन्होंने परम तत्त्वको 'स्वराट्' कहा है। अर्थात् परम पुरुष भगवानको सम्पूर्ण स्वाधीन घोषित किया है। स्वाधीन कहनेका तात्पर्य यह है कि परम पुरुषके ऊपर दूसरा कोई नहीं है अथवा उनके समान भी कोई नहीं है। मायिक ब्रह्माण्डमें ब्रह्माको सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु ब्रह्मा भी जो आदि कवि हैं, उस स्वराट पुरुषके अधीन तत्त्व हैं, क्योंकि स्वराट् पुरुषने ही ब्रह्माको सृष्टिके प्रारम्भमें वेदान्त–ज्ञान प्रदान किया था। उस स्वराट् पुरुषके विषयमें जब बड़े–बड़े देवता और मुनि भी मोहित हो जाते हैं, तब दूसरोंकी बात ही क्या है? 'धीमहि'—शब्दका तात्पर्य यह है कि जिन लोगोंने गायत्री मन्त्रकी सिद्धि प्राप्त की है, केवल वे ही स्वराट्–पुरुषको तत्त्वतः समझ सकते हैं। गायत्री मन्त्रका जप कौन कर सकता है? रजस्तमो गुणके अधीन व्यक्तियोंको गायत्री मन्त्रकी सिद्धि नहीं हो सकती। अथवा ये लोग कभी भी गायत्री जपका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित ब्राह्मण–वृत्तिसे युक्त व्यक्ति ही गायत्रीके अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारी व्यक्ति उस मन्त्रका जप करते करते परम ब्रह्मकी उपलब्धि करने परमपरात्पर पुम्षके दर्शनोंके योग्य होते हैं। यह योग्यता प्राप्त होनेपर ही मायातीत नाम, धाम ओर परिकर वैशिष्ट्यके साथ वैकुण्ठाधिपति अधोक्षज वस्तुकी अहैतुकी एवं अप्राकृत सेवासे अधिरूढ़ भाव प्राप्त होनेपर वासुदेवका दर्शन होता है। प्राकृत मनीषिवृन्द आरोह पथ (अपने जड़ीय प्रयत्नों) द्वारा भगवत्तत्त्वका दर्शन करनेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु उनकी सारी चेष्टाएँ ठीक वैसे ही व्यर्थ हो जाती हैं, जैसे जलको मथकर घी ओर बालूकी घानीसे तेल पानेकी आशासे किया

गया परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। वे किसी भी दिन भगवानकी दर्शन पानेमें असमर्थ होकर भगवानको मनुष्य और मनुष्यको भगवान मानकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसके सिवा कोई-कोई मायातीत भगवानको चिन्मात्र उपलब्धकर मायिक वैशिष्ट्यके विपरीत केवल निर्विशेष ब्रह्म मानने लगते हैं।

किन्तु श्रीमद्भागवतके उपरोक्त श्लोकमें इस निर्विशेष भावनाका खण्डन कर परम सत्य वस्तुके व्यक्तित्वकी स्थापना की गयी है। वे अप्राकृत व्यक्ति भगवान ऐसे शक्तिसम्पन्न हैं, कि वे ब्रह्माको भी ज्ञान देते हैं। ब्रह्माने उनसे ही वेद-ज्ञान प्राप्त कर भौतिक जगत्की सृष्टि की है। अतः यह सिद्ध होता है कि मायिक सृष्टि होनेसे पहले भी वेद ज्ञान वर्तमान था। इसीलिए उसे अपौरुषेय कहा जाता है। इस अप्राकृत ज्ञानका नामन्तर ही सम्वित् तत्त्व है। विष्णु पुराणमें सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी तत्त्वका विशद वर्णन है। ये तीनों तत्त्व जिस शक्तिसे प्रकट होते हैं, उसका नाम चित्शक्ति अथवा अंतरंगा शक्ति या आत्ममाया है। गीतामें भी इस आत्म-मायाका उल्लेख पाया जाता है। त्रिगुणात्मिका माया अर्थात् भगवान्की अविद्या रूपिणी बहिरंगा शक्ति और आत्ममाया शक्ति एक नहीं है। ये पृथक् पृथक तत्त्व हैं। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' उपनिषद् मन्त्रके अनुसार भगवानकी पराशक्ति भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित होती है, जिनमें तीन प्रधान हैं, चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। जीवशक्तिको जड़शक्तिसे श्रेष्ठ जान लेनेपर ही हम लोग आत्म-माया और गुण-मायाका भेद उपलब्ध कर सकते हैं।

आत्म-मायामें जड़ा-प्रकृति जैसे विकार नहीं होते अर्थात् जड़ा प्रकृतिमें भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है, परन्तु परा-पकृतिमें इसकी कतई सम्भावना नहीं होती। परा-प्रकृति द्वारा प्रकटित जीव जब तक भौतिक शरीरमें वास करते हैं, तब तक वे जड़ शरीरमें आत्मबुद्धि करते हैं। परन्तु भौतिक शरीरसे परा-प्रकृति (आत्मा) के निकल जानेपर भौतिक शरीरका परिणाम सहज ही अनुमेय है। रज्जुमें सर्पभ्रम, तपे हुए बालूके ऊपर जलभ्रम, एवं जलमें काँचभ्रम—यह सब दोष जड़ा प्रकृतिमें ही सम्भव हैं, चेतन शक्तिमें ऐसे-ऐसे भ्रमोंकी सम्भावना बिल्कुल ही नहीं होती। जड़का मूल्य इसलिए है कि उसमें चेतन वस्तु वर्तमान चेतन है। जड़का वैशिष्ट्य भेद वैशिष्ट्यका है। अतएव जड़ पदार्थकी विचित्रताओंका मूलाधार विपरीत प्रतिफलन मात्र है। सूर्यका प्रकाश जलके ऊपर पड़नेसे उससे जो आभा निकलती है, उस आभाकी ही सृष्टि स्थिति ओर प्रलय है। सूर्यके प्रकाशकी सृष्टि और लय आदि नहीं है। इस प्राकृत उदाहरणसे ही हम समझ सकते हैं कि चेतन वस्तुकी सृष्टि नहीं है और लय नहीं है। परन्तु चेतनके विपरीत प्रतिफलन रूप जड़-वैशिष्ट्यकी ही सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं। उसमें भी जो स्थिति दीख पड़ती है वह इन्द्रजालकी तरह अभी है, तो अभी नहीं है। अतः जड़मायासे अतीत नाम, धाम, रूप, गुण और परिकर-वैशिष्ट्य सहित स्वतः प्रकाशमय तत्त्व ही परम सत्य वस्तु हैं।

जीव-सत्ताको तटस्था-शक्ति कहा जाता है। क्योंकि चंचल जीव कभी जड़ा शक्तिके अधीन होता है, तो कभी परा-शक्तिके आश्रित होता है। किन्तु जो अक्षय पुरुष कभी भी शक्तिके अधीन नहीं होते, जो उस शक्तिके अधीश्वरके रूपमें नित्य विराजमान हैं, वे कूटस्थ पुरुष परम ब्रह्म भगवान वासुदेव ही—अद्वय ज्ञान परम सत्य हैं। उस परम सत्यसे ही समस्त शक्तियोंका परिचय पाया जाता है। इसलिए वे शक्तिमान तत्त्व हैं। 'स्वराट्' और 'परम'—इन दोनों तत्त्वोंके संयोगसे ही परतत्त्व सर्वकारणोंके कारण, शाश्वत, आदि पुरुषके रूपमें परिचित होते हैं। वे अप्राकृत पुरुष कभी मायाके

अधीन नहीं होते—यह श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकसे प्रमाणित होता है—

*एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।*
*न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया।।*

(श्रीमद्भा. १/११/३८)

भगवत्तत्त्वकी यह विशेषता है कि वे मायिक जगतमें अवतरण करके भी मायिक गुणोंसे संयुक्त नहीं होते। उसी प्रकार भगवद्भक्त जन भी मायाके प्रति आकृष्ट नहीं होते। जैसे भगवान नित्य हैं, मुक्त और शुद्ध हैं, उनके भक्त भी चाहे वे किसी भी अवस्थामें क्यों न रहें—नित्य मुक्त और शुद्ध होते हैं। किन्तु चेतन राज्यके अपरिपक्व पथिक कभी–कभी भगवानको मनुष्य और मनुष्यको भगवान मानकर भयंकर भूल करते हैं। किन्तु उनके कहनेसे ही भगवान वैसा हो नहीं जाते।

मेरे एक परिचित ब्रह्मचारीजी हैं। वे एक दिन डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन महोदयसे मिले थे। डा. राधाकृष्णन आजकल भारतके उपराष्ट्रति है। उस भेटके दौरानमें ब्रह्मचारीजीको भगवद्गीता नामक एक पुस्तक उपहारमें मिली थी। यह पुस्तक श्रीगीताका अँग्रेजी भाष्य है, जिसके लेखक स्वयं डा. राधाकृष्णन हैं। आजकल बाजारमें यह पुस्तक दस रुपयेमें खूब बिकती है। एक दिन बह्मचारीजी मुझसे मिलने आए। बातचीतसे मालूम हुआ, ब्रह्मचारीजी उस पुस्तकको पढ़ कर सन्तुष्ट नहीं हो सके हैं। क्योंकि उक्त पुस्तकमें अप्राकृत अनुभूतिके अभावमें अनेक ऐसी बाते लिखी गयी हैं, जो सात्वत–समाजमें किसी दिन भी आदरणीय नहीं हो सकती हैं। श्रीमद्भागवतका उपरोक्त 'मुह्यन्ति यत् सूरयः' श्लोक प्रत्यक्ष रूपमें यहाँ प्रतिफलित होता है। ब्रह्मा, शिव, वरुण आदि देवगण भी जिस परम तत्त्वके सम्बन्धमें मोहित हो जायँ, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ब्रह्मचारीजीको सबसे खेद डा. राधाकृष्णनकी गीताके पृष्ठ २५४ में नवे अध्यायके ३४ वे श्लोकका अर्थ पढ़कर हुआ है। उन्होंने बड़े ही दुःखित होकर मुझसे उक्त पुस्तककी समालोचना करनेके लिए अनुरोध किया। बहुत कुछ उनके अनुरोधसे ही मै उस ग्रन्थकी समालोचनामें प्रवृत्त हो रहा हूँ। उक्त ३४वें श्लोकके भाष्यमें डा. राधाकृष्णनने इस प्रकार लिखा है—

'It is not the person Krishna to whom we have to give ourselves up utterly but the Unborn, Beginningless Eternal who speaks through Krishna.'

डा. राधाकृष्णन जैसे विश्वविख्यात दार्शनिकके साथ हम तर्क–वितर्कमे पड़ना नहीं चाहते। फिर भी ब्रह्मचारीजीके अनुरोधसे उक्त पुस्तकमें जो सब विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हुए हैं, उन्हें दिखलानेके लिए मैं बाध्य हुआ हूँ। भारतके उपराष्ट्रपति होनेके नाते ही नहीं, अपितु एक विश्व–विख्यात दार्शनिक विद्वान् और हिन्दू–दर्शनके प्रधान आचार्य होनेके नाते डा. राधाकृष्णके प्रति हमारी अटूट श्रद्धा है। केवल यही नहीं, वे नैष्ठिक ब्राह्मण और ब्रह्मवादी पारमार्थिक भी हैं। प्रवाद है—'पण्डितोंसे शत्रुता भली है, किन्तु मूर्खोंसे मित्रता भली नहीं।' इससे हम लोगोंको और साहस होता है। पण्डित व्यक्ति विपक्षमें होनेपर भी समझ–बूझकर प्रतिवाद करते हैं, परन्तु मूर्ख व्यक्ति मित्र होनेपर भी बहुधा विपरीत फल होता है। अतः हम डा. राधाकृष्णनके अँग्रेजी गीताभाष्यका तीव्र प्रतिवाद करनेसे डरते नहीं हैं।

एक प्रवाद है—सातों काण्ड रामायण पढ़नेपर भी सीता किसके बाप हैं? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो वह निश्चय ही हास्यास्पद है। उपरोक्त गीता भाष्यमें ऐसे ही विरूद्ध बातोंको देखकर हम बड़े दुःखित हुए है। उन्होंने लिखा है कि व्यक्ति कृष्णमें प्रपत्ति नहीं करनी होगी, बल्कि प्रपत्ति करनी होगी—श्रीकृष्णके अन्तर विराजमान अनादि एवं अज तत्त्वके प्रति। इसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है

कि डा. राधाकृष्णन श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके अन्तरमें विराजमान तत्त्वको (?) पृथक मानते हैं। अर्थात् डा. राधाकृष्णनके मतानुसार श्रीकृष्णमें भी देह और देहीका भेद वर्तमान होता है (वास्तवमें श्रीकृष्णमें देह-देहीका भेद नहीं होता)। अतएव श्रीकृष्णके शरीरकी प्रपत्ति ग्रहण न करके श्रीकृष्णके अन्तर्यामीकी प्रपत्ति ग्रहण करने योग्य है—यही उनका विचार है। इस नवीन आविष्कारके लिए हम श्रीराधाकृष्णनको उपरोक्त रामायणकी श्रेणीका समझते हैं। क्योंकि गीताका एकमात्र चरम प्रतिपाद्य विषय परात्परतत्त्व श्रीकृष्णके चरणोंमें शरणागतिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परन्तु डा. राधाकृष्णनको इस मूल विषयमें ही आपत्ति है। गीताकी चरम कथा है—

*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।*
*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।*

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते है कि बिना किसी आपत्तिके ही उनके (श्रीकृष्णके) चरणोंकी प्रपत्ति ग्रहण करनी चाहिए। 'शरणं'—शब्दका अर्थ 'शरणापत्ति' से है। एवं डा. राधाकृष्णनने शरणागतिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, हम उसे उद्धृत कर रहे हैं—

Prapatti has the following accessaries, (1) Good will to all (anukulyasya samkalpa), (2) Absence of ill will (Pratikulya /Vivarjanam), (3) Faith that the Lord will Protect (rakshishyatiti Viswaso), (4) Resort to him as savior (goptritvey varnam tatha), (5) Sense of utter helplessness (Karpanyam), (6) Complete surrender (atmanikshepa).

—(Introductory essay of Gita. Page 62)

यह छः प्रकारकी शरणागति एकमात्र कृष्ण अथवा विष्णुके सम्बन्धमें ही प्रयुज्य है। क्योंकि शरणागतिका उल्लेख केवल वैष्णव-तन्त्रों या शास्त्रोंमें ही पाया जाता है। डा. राधाकृष्णनने 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' का अर्थ 'सबके प्रति समदर्शन' बतलाया है। किन्तु सबके प्रति शरणागति क्या सम्भव है? शरणागति एकमात्र भगवानके व्यक्तित्वके प्रति ही सम्भव है। संसारके लोगोंके प्रति अथवा जीवोंके प्रति शरणागति कोई क्रियात्मक तत्त्व नहीं है। डा. राधाकृष्णनसे पहलेके समस्त आचार्यों और गोस्वामियोंने 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' का अर्थ 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं' लगाया है। अतएव उन बड़े-बड़े प्रामाणिक आचार्योंका उल्लंघन करके कोई भी विद्वान व्यक्ति डा. राधाकृष्णनकी बातोंको माननेके लिए तैयार न होगा। उन्होंने जब 'Faith in Lord' शब्दोंका व्यवहार किया है, तब उन्होंने भगवानको ही लक्ष्य किया है। अतएव भगवानको लक्ष्यकर फिर बीचमें निर्विशेष ब्रह्मको खड़ा कर देना—यह उनकी समझसे युक्तिसंगत कैसे हुआ—कुछ समझमें नहीं आता। क्या अर्जुनने 'शिष्यस्ते अहं' 'मां प्रपन्नम्'—आदि वाक्योंसे साक्षात् कृष्णको ही लक्ष्य नहीं किया है? निर्विशेष ब्रह्म तत्त्वकी आलोचना उस समय तक तो आरम्भ ही नहीं हुई है और जब गीतामें कृष्णने अपनेको (कृष्णको) निर्विशेष ब्रह्म-तत्त्वकी प्रतिष्ठा बतलाई है, तब मूल तत्त्व गुणी-पुरुष श्रीकृष्णको छोड़कर उनके आश्रित गुण तत्त्वरूप निर्विशेष ब्रह्मके प्रति शरणागति, भला युक्तिसंगत कैसे हो सकती है? निर्विशेष निराकारके प्रति प्रपत्ति कतई सम्भव नहीं है—पूर्ण अयुक्तिसंगत है। निर्विशेषवादी चाहे जितना भी सिर क्यों न पीटें, अंत तक मायिक सविशेष स्त्री-पुत्रादिके प्रति ही उनकी प्रपत्ति हो पड़ती है।

मायाकी विक्षेपात्मिका शक्तिके प्रभावसे बहुधा दुष्टवादी लोग अपनी वाक् चातुरीसे भगवानको साधारण लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रख सकते हैं—इस बातको हम भागवतीय सिद्धान्तके द्वारा जान पाते

हैं। पण्डितोंके ऊपर कलिका जैसा प्रभाव होता है, उसे श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—

*कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं*
*त्रिलोक–नाथानत–पादपङ्कजम्।*
*प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं*
*यक्षन्ति पाषण्ड–विभिन्न–चेतसः।।*

(श्रीमद्भा. १२/३/४३)

अर्थात् परीक्षित्! कलियुगमें लोगोंका चित्त इतना विकृत हो जाता है, इतना भटक जाता है कि वे तीनों लोकोंके अधीश्वर ब्रह्मा आदि देवगण जिनके चरणकमलोंकी निरन्तर वन्दना करते हैं, उन जगतके परम गुरु भगवान श्रीहरिकी आराधनासे भी विमुख हो जाते हैं। डा. राधाकृष्णनने भी साधाराण पण्डितोंकी तरह 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' का अर्थ Good will for all लिखा है।

भक्तिके क्षेत्रमें श्रद्धा अर्थात् प्रपत्ति ही प्रथम सोपान है। प्रपत्तिका एकमात्र अर्थ है—अपनेको भगवानका सेवक मान लेना। इस प्रपत्तिको ग्रहण करनेके लिए डा. राधाकृष्णन जैसे महा महापण्डित और ज्ञानीको अनेक तपस्या करनी पड़ेगी—यही गीताका सिद्धान्त है। डा. राधाकृष्णनने जिस प्रकारकी शरणागतिका उल्लेख किया है, वह वैष्णव तन्त्रोंकी कथा है। अतएव षड्विधा शरणागति एकमात्र भगवानकी विष्णुकी आराधनाके सम्बन्धमें ही प्रयुज्य है। श्रीविष्णुकी आराधना करनेवालोंका ही नाम 'वैष्णव' है। 'आनुकूल्यस्य' शब्दका अर्थ है—भगवानकी अर्थात् भगवान श्रीकृष्णकी रोचमाना सेवा। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते'। संसारमें ऐसो एक भी व्यक्ति नहीं है, जो कृष्णका अनुशीलन नहीं कर रहा हो; कोई अनुकूल रूपमें कृष्ण अनुशीलन करता है, तो कोई प्रतिकूल रूपमें, किन्तु कृष्णानुशीलन करते हैं सभी। जो लोग प्रतिकूलभावसे कृष्णानुशीलन करते हैं, वे अभक्त हैं और जो अनुकूल रूपसे अनुशीलन करते हैं, वे भक्त हैं। वास्तवमें अनुकूल अनुशीलन करनेवाले ही बुद्धिमान हैं। अभक्त दलोंके नेतृवृन्द प्रतिकूल भजनकारी कंस, जरासंध आदि जैसे प्राकृत पण्डित हैं।

श्रीगीताका मूल सिद्धान्त है—भगवान श्रीकृष्णके शरणागत होना। यह बात स्वयं श्रीकृष्ण भगवानने कही है। किन्तु बड़े खेदका विषय है कि डा. राधाकृष्णन इस मूल सिद्धान्तको उलट कर यह कहना चाहते हैं कि—'Surrender not to the Person Krishna.' श्रीगीताको अवलम्बन कर अपनी जड़ पाण्डित्य–प्रतिभाके बलपर, गीताके वक्ता स्वयं श्रीकृष्णको मूढ़तावश मनुष्य समझना ठीक उसी प्रकार है, जैसे वेदोंका आश्रय कर नास्तिक्यवाद ग्रहण करना। इस प्रकार वेदकी आड़में नास्तिक्यवाद–दर्शनको सीधा–सीधी प्रतिकूल कृष्णानुशीलनके सिवा और कहा ही क्या जा सकता है।

इस प्रकार वेदोंकी आड़में नास्तिक्यवादके प्रचारके पक्षपाती डा. राधाकृष्णन जैसे पण्डितोंको भगवान श्रीकृष्णने जैसा सम्मान दिया है, उसे हम श्रीगीताके ७/१५ श्लोकमें देख पाते हैं—

*न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः।*
*माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।*

प्रतिकूलरूपमें कृष्णानुशीलनकारी कंस, जरासंध आदि असुरवृन्द एवं प्रतिकूल रूपमें भगवद्गीताका अनुशीलन करनेवाले मायिक पण्डितगण—दोनों एक समान है। इस प्रकार प्रतिकूल अनुशीलन करनेवाले असुरोंका ज्ञान मायाद्वारा चुराया गया होता है अर्थात् उनका ज्ञान शुद्ध नहीं होता है। कंस, जरासन्ध आदि सब प्रकाण्ड–प्रकाण्ड विद्वान् थे, किन्तु प्रतिकूलरूपमें कृष्णानुशीलन करनेके कारण वे सभी असुर कहलाये हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा और उनके आचरणसे यह शिक्षा मिलती है कि अनुकूलरूपमें गीताका

अनुशीलन करना ही हमारा कर्तव्य है। जब श्रीचैतन्य महाप्रभु दक्षिणमें भ्रमण कर रहे थे, उस समय वे श्रीरंगम् क्षेत्रमें भी पधारे थे। वहाँपर उन्होंने श्रीरंगनाथके मन्दिरके प्रांगणमें एक सरल ब्राह्मणको बड़े प्रेमसे श्रीगीताजीका पाठ करते देखा। यद्यपि उनका उच्चारण अशुद्ध होता था तथापि उसके नेत्रोंसे निरन्तर आँसू गिर रहे थे, सारा शरीर पुलकित हो रहा था। ऐसा देख कर महाप्रभु बड़े आनन्दित हुए। वे उस ब्राह्मणकी प्रशंसा करने लगे। ब्राह्मणके पड़ोसी लोगोंकी धारणा यह थी कि उक्त ब्राह्मण गीताका पाठ कैसे कर सकता है? किन्तु महाप्रभुजीने दिखला दिया कि श्रद्धावान व्यक्ति ही गीता-पाठका यथार्थ अधिकारी है। कोरा पाण्डित्य गीता-पाठका यथार्थ अधिकार प्रदान नहीं कर सकता। ❑

(क्रमशः)

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

*—डा. सत्यपाल गोयल*

### *द्वादश धारा*

कृत्रिम भाव प्रदर्शनकी आवश्यकता ही क्या है? कृष्ण नामका स्मरण स्वतः ही कृष्णप्रेम प्रदान करता है। जिस प्रकार अग्निका स्पर्श ज्ञानसे हो या अज्ञानसे उसका स्वभाव धर्म जलाना है उसी प्रकार जिस दिनसे रसनापर कृष्ण नामका जप प्रारंभ हुआ समझ लो उसी दिनसे कृष्ण प्रेमका अंकुर आ गया—उसे प्रतिष्ठारूपी हाथीसे संरक्षित करना और जितने भी दुष्ट तत्त्व (काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, घृणा, इर्ष्या, अहंकार, मान, अपमान, आलस्य) हैं उनसे भी सावधान रखना है। उसके लिये परम वैराग्यस्वरूप श्रीलरघुनाथदास गोस्वामीजीके सुझावके अनुसार कृष्ण-प्रेमी सतोंकी सेवा करते हुए क्रमशः हृदयमें (व्रजलीला परिकरोंके आनुगत्यमें उनकी कृपा बलसे) उत्पन्न होगा। मञ्जरी भावसे ही कृष्ण सेवा उत्तम रहती है तभी तो वैष्णवजन विशेषकर रूपानुगभजन पद्धति अनुसार साधनरत प्रेमीभक्त मंजरी भावसे ही सेवा याचना करते हैं उन पर श्रीराधाजी तथा उनकी कायव्यूहरूपा गोपीजन कृपाकर सेवाका अवसर प्रदान करती हैं। कृष्णभक्तिके क्षेत्रमें ईससे उत्तम कोई विधि नहीं है—यही प्रयोजनीय है।

श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवने सर्वप्रथम इस प्रेमा भक्तिका अपने अनुगतों (षड्गोस्वामियों) में संचारकर रागात्मिका भक्तिके स्थानपर रागानुगा भक्तिपर अधिक बल दिया जिसको यथास्थान स्पष्ट किया जायेगा।

श्रीकृष्ण नामजप साधकको सद्वैष्णवोंके साथ प्रीतिजनक क्रियाओंके साथसाथ अपने अन्तर्मनको भी विचार शब्द करते रहना चाहिए। दुर्वासानाएँ बहुत शीघ्र मन और इद्रियोंको अपनी ओर आकर्षित करती हैं क्योंकि अनन्त कोटि जन्मोंसे जीव विषय भोगोंके जालमें फँसा हुआ है, उसके सूक्ष्म शरीर पर कम्प्यूटरकी तरह वैचारिक भोगमयी तष्णाओंके अंकुर उगे रहते हैं जो जन्म जन्ममें उसे (जीव को) उन्हे भोगने के लिये लालायित करते रहते हैं। कृष्णको भूल जानेके कारण ही माया उसको संसारके भौतिक सुखों (जो अन्ततः दुःखके कारण हैं) में बांध देती हैं—

*कृष्ण नित्यदास जीव ताहा भूलि गेल।*
*सेई दोषे माया तार गलाय बांधिल।।*

(चै. च. २/२२/।७)

मनुष्योंका भोगोंके प्रति बलात् आकर्षणका एक मुख्य कारण यह भी है कि उसका फलास्वादन प्रत्यक्ष होता है जब कि कृष्ण प्रेमका आस्वादन चित्तके शुद्ध होनेपर होता है। भोगोंकी वासना जीवके संसार बंधनको दृढ़तर करती है और कृष्णनाम साधना उसके नित्य स्वरूपको जाग्रतकर कृष्ण प्रेम रस आस्वादन कराती है।

प्रारंभमें साधकको तात्कालिक भोगोंसे विमुख होकर कृष्ण आराधनामें यत्किंचित कष्टकी अनुभूति अवश्य होती है, परन्तु जब श्रीराधिकाजीकी कृपासे हृदयमें ब्रज प्रेमका स्रोत फूटता है तब आनन्द ही आनन्दकी अनुभूति होती है। संसारकी समस्त उपलब्धियोंके लिये भी प्रारंभमें अनेक कष्टोंको झेलना पड़ता है। यथा विद्या अध्ययन करने, किसी उद्योगको स्थापित करने, रोगकी चिकित्सा करानेमें भारी मुसीबतोंका सामना करना पड़ता है। परन्तु जब इनके फल प्राप्त होते हैं तब जागतिक उपलब्धियाँ ऊचाइयों पर पहुँचा देती हैं। धार्मिक दृष्टिसे इन ऊचाइयोंका महत्व नगण्य है। केवल उदाहरणके लिये ही यहाँ उल्लेख मात्र किया गया है। ज्वरकी औषधि कड़वी होती है परन्तु फल स्वास्थ्य लाभ होता है। उसी प्रकार कृष्णनाम साधनामें प्रारंभमें भोगोंसे उपरत होनेमें (अभ्यासवश) कष्ट होता है किन्तु जब कृष्णप्रेमकी सिद्धि होती है तब संसारके विषय भोग नीरस, कष्टमय तथा निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं।

परम प्रयोजनीय उस आनन्दकी पुष्टिके लिए इस अनित्य संसारका कोई भी उदाहरण सही नहीं बैठता है—आंशिक रूपमें ही उस अक्षय सुखका इंगित मात्र कर पाते हैं।

### *साधकोंके त्याज्य वेग*

कृष्णनाम साधकोंको भजन सिद्धिमें बाधक निम्न षड्वेगोंपर नियंत्रण करना चाहिए—

*वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वा वेगमुदरोपस्थ वेगम्।*
*एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथ्वीं स शिष्यात्।।*
(श्रीउपदेशामृत—१)

अर्थात् जो धीर पुरुष अपनी वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग, जननेन्द्रियका वेग (उपस्थ) आदि षड्वेगों पर नियंत्रण कर लेता है, वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करनेकी योग्यता रखता है।

उक्त वेगोंमेंसे किसी एक वेगके रहने पर भी कोई साधक भजनमें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है। साधारण अर्थमें वेग गतिको कहते हैं और इन्द्रियोंके सन्दर्भमें ज्ञानेन्द्रियोंका अति चंचल होना वेग कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ चंचल होकर कर्म इन्द्रियोंको उत्तेजित करती है। प्रारंभमें ज्ञानेन्द्रियोंमें विषयों (रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द) का प्रवेश (अनुभूति लहरके रूपमें होता है। पश्चात् समुद्रका रूप धारणकर मनुष्यको उसमें आकण्ठ डुबो देता है।

यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ गतिमान या वेगाभिभूत रहेंगी तो भजनमें सिद्धि तो दूर मन भी अत्यन्त चंचल होकर अस्थिर रहेगा, भौतिक उद्देश्योंकी उपलब्धि हो या भजन सिद्धिका मार्ग हो मनकी स्थिरता, एकाग्रता परम आवश्यक है। मनकी एकाग्रता, क्रियाशीलता तथा भावात्मकता इन तीनोंका संगम ही कृष्णनाम जप साधनामें प्रार्थनीय है। अनेक साधकोंको कहते सुना जाता है कि हम श्रीनाम जप करने बैठते हैं, तो मन कहीं और चलायमान रहता है तथा हाथसे माला गिर जाती है। इसका सीधा–सीधा अर्थ है कि मनने नाम जपसे ज्यादा उस विषयको महत्व दे रखा है, जिसको कि वह नाम जपके समयमें भी नहीं छोड़ना चाहता है। यदि आप नाम जप करते समय कलकत्ताकी किसी घटना या संबंधीके विषयमें सोच रहे तो निश्चित ही मानिये आप शरीरसे अपने घरमें रहते हुए भी आपका सूक्ष्म शरीर कलकत्तामें है नाम जप गौण हो गया।

इस चित्तवृत्तिसे रहते हुए शुद्ध नाम तो क्या नामाभास भी नहीं हो रहा है क्योंकि नामाभास से भी पापोंकी निवृत्ति तथा सुखपूर्वक मुक्ति हो जाती है यथा—

*भक्ति बिना मुक्ति नहे भागवते कय।*
*कलिकाले नामाभासे सुखे मुक्ति हय।।*
(चै. च. २/२५/२९)

*एक नामाभासे तोमार पाप दोष जावे।*
*आर नाम हैते कृष्णचरण पाइबे।।*
*नामाभास हेते हय सर्व पाप क्षय।*
*नामाभास हेते हय संसारेर क्षय।।*
(चै. च. ३/३/५८-५९)

कहनेका आशय यह है कि साधकको अपने मनको संकल्पके साथ नाम भजनमें लगाना चाहिए। मन तभी चंचल होता है जब हम अन्य अन्य उपलब्धियोंको अधिक महत्व देते हैं। मनका मूल कार्य है चिन्तन करना। इस चिन्तनका विषय सांसारिक भी हो सकता है और कृष्ण भक्ति प्रधान भी हो सकता है। मन विषयका चिन्तन करता है बुद्धि उसपर विवेचन करती है तथा चित्त उसपर प्रगाढ़तासे ध्यान करता है, अहंकार उसे प्राप्त करनेका लोभ जगाता है। परन्तु भजनके क्षेत्रमें बुद्धि और अहंकार गौण रहने चाहिए। मन और चित्तका निवेश ही सक्रिय रहता है यह सब साधनाके प्रथम और द्वितीय स्तर तक ही रहता है। तृतीय अवस्था सिद्धि समाधिकी अवस्था रहती है, जिसमें सूक्ष्म शरीरसे भी ऊपर उठकर साधक अपने सिद्ध स्वरूपसे लीलामें प्रवेशकर कृष्ण प्रेमकी अनन्त अनुभूति करता है। हमारी इंद्रियोंके पाँच विषय हैं। आँखका विषय है—रूप, कानका शब्द, नाकका गंध, जीभका रस तथा त्वचाका स्पर्श।

एक बार जो आनन्दघन श्रीश्यामसुन्दरकी रूपराशिका दीवाना हो गया फिर उसकी आँख किसी और रूपकी आकांक्षा नहीं रखती है। फिर उसे सर्वत्र अपने श्यामकी ही छवि दिखायी पड़ती है। उनके विरहमें निरंतर अश्रुपात होता रहता है। उसकी श्याममयी भावना हो जाती है। जित देखो उत श्याम मयी है। उनकी रूपराशि पर जिनका मन लुब्ध हो जाता है तो विश्वका कोई सौन्दर्य साधकके मनको अपनी ओर नहीं खींच सकता। भगवान श्रीकृष्णके ६४ गुणोंमेंसे चार गुण उनमें विशेषत्व लिए हुए हैं जिनका पारावार नहीं है, यथा—रूपमाधुर्य, मुरलीमाधुर्य, गुणमाधुर्य एवं लीलामाधुर्य। यदि श्यामकी रूपमाधुरीमें किसीका मन और आँखे अटक गयी तो फिर साधक इस जगत तथा इस जगतके सम्बधोंका नहीं रहता। उसका स्वरूप नित्य कृष्ण दासत्व प्रकट हो जाता है। आवश्यकता है मनको नाशवान विषय भोगोंसे निकालकर कृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला और धाममें अटकाने की। उसकी अटकन कहीं भटकाती नहीं है। न चाहने पर भी मनका निवेश उन्हींमें रहता है—जो उसका हो गया वह किसीका नहीं रहा।

### *वाणीका वेग*

पूर्व कथित षड्वेगोंमें प्रधान वेग वाणीका है। यही कारण है कि श्रीलरूप गोस्वामी पादने श्लोकमें 'वाचो वेग' को ही प्रथम स्थान दिया है। वाणीके वेगमें वाचालता श्रवण गोचर होती ही है परन्तु मौन रहकर भी सांकेतिक भाषामें कहना भी अपने वेगकी तृप्ती करना है। प्रधान रूपसे वाणी द्वारा भक्तिशास्त्र विरोधी वार्तालाप करना, निरंतर सांसारिक विषय भोग, स्त्री प्रसंग, हास्य परिहास, असत्य भाषण, अधिक बोलना, निरर्थक तर्क वितर्क करना, साध्न भजनकी आलेचना ना करना आदि वाणीके वेगकी सीमामें आते हैं।

मनुष्य है तो उसमें अभिव्यक्तिकी इच्छा प्रबल होती है। इसीलिये संस्कृत भाषामें व्यक्ति शब्दकी अवतारणा हुई है अर्थात् जो स्वयंकी इच्छा स्थिति और उपलब्धियोंको व्यक्त कर सके उसे व्यक्ति कहते हैं। मनुष्यको छोड़कर अन्य शरीरधारी मूक

चेतन और आच्छादित चेतनकी श्रेणीमें आते हैं। कष्टों और विषयोंकी अनुभूति किसी न किसी रूपमें सभी प्राणियोंमें होती है। भगवानको भी मनुष्य योनि ही अधिक प्रिय है अन्य योनियाँ तो भोग योनियाँ है—

*सब मम प्रिय मेरे उपजाये।*
*तिनमेऊ मनुज बहुत मोहि भाये।।*
(श्रीरामचरितमानस)

वाणी ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयंको अभिव्यक्त कर सकता है। अतएव सर्वप्रथम वाणीके वेगपर नियंत्रण करनेकी आवश्यकता है। यह वाणी ही साधकको पतनोन्मुख करनेमें प्रथम सोपान है। जब बोलनेका चस्का लगता है तो वाचक बोलता ही चला जाता है उस समय उसे यह भी भान नहीं रहता है कि सामनेवाला उसकी बातोंमें रुचि ले रहा है अथवा नहीं। वाणी वेगमें सबसे ज्यादा हानि बोलनेवाले साधककी ही होती है। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही व्यवहार जगतमें वाणीका वेग सराहनीय नहीं है। साधकको चाहिए कि व्यर्थ ग्राम्यवार्ता न करके उस समयका सदुपयोग श्रीकृष्णनाम जपमें करें। गृहत्यागी वैराग्यवान साधकोंके हितमें श्रीमन्महाप्रभुजीने श्रीरघुनाथदास गोस्वामी पादको लक्ष्य कर कृष्ण भजन शिक्षार्थ कहा था—

*ग्राम्य कथा ना शुनिबे ग्राम्य वार्ता ना कहिबे।*
*भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे।।*
*अमानी मानद हइया कृष्ण नाम सदा लबे।*
*ब्रजे राधाकृष्ण सेवा मानसे करिबे।।*
(चै. च. ३/६/२३४–३५)

अधिक बोलनेवाला प्रायः असत्य भाषण करता है। अपने मित्र, संबंधी एवं बंधुवर्गकी आलोचना करता है। फलतः अपने चारों ओर शत्रुओंकी भीड़ एकत्रित कर लेता है। उसका अधिकांश समय पर छिन्द्रान्वेषणमें जाता है या अपने पक्षमें तर्क कुतर्क प्रस्तुत करनेमें जाता है। अतएव किसी साधकके लिये वाणीके वेगपर नियंत्रण करना प्राथमिक आवश्यकता है। अधिक बोलनेका अर्थ वाणीकी शक्तिको क्षीण करना है—यह शक्ति दो रूपमें क्षीण होती है। एक तो वाणीकी सत्यता (वाक्सिद्धि) नष्ट होती है, दूसरे अधिक बोलनेसे वायुरन्ध्रोंमें कमजोरी आती है तथा मनुष्य उच्च रक्तचाप रोगसे पीड़ित रहने लगता है। साधकको सदैव मितभाषी, सार्थक तथा शास्त्रसम्मत बोलना चाहिए। गीतामें दीर्घ सूत्रीको अधम कहा गया है। वही व्यक्ति श्रेष्ठ होता है जो अपनी बात सहज और साररूपमें प्रस्तुत कर सामनेवालेके मनमें अपनी बातको बैठा सके।

### *मनका वेग*

वेगोंमें दूसरा स्थान मनके वेगका है, मनका वेग एक ऐसा वेग है जिसपर नियंत्रण करना दूभर तो है परन्तु असंभव नहीं है। यदि आप नामजप कर रहें तथा आपका मन बाजारमें किसी दुकानपर क्रय–विक्रय कर रहा है, तो निश्चित मानिये आप भजन नहीं कर रहे हैं, अपितु सूक्ष्म शरीरसे आप क्रय–विक्रय कर रहे हैं तथा आप पूरी तरहसे भजन न करके क्रय विक्रयकी क्रियामें तल्लीन है। कहावत है जहाँ मन वहाँ तन। मनका विषय केवल संकल्प–विकल्प कर विषयका चयन कर बुद्धिको अर्पित कर देना है। मनकी प्रधान स्थिति यह है कि वह एक समयमें एक ही ओर लगता है और जब लग जाता है तो बार–बार साधककी चित्तवृत्तिको वहीं ले कर खड़ा कर देता है। निरंतर उस विषयसे संबंधित संकल्प–विकल्पमें उलझा रहता है। मनकी इस गतिका साधकको साधना क्षेत्रमें भरपूर लाभ उठाना चाहिए। जब वह एक समयमें एक ही चिंतन करनेमें समर्थ है तो साधकको चाहिए कि वह मनको निरंतर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला चिंतनमें उलझाये रखे। क्रमशः मन नामके अधीन हो जायेगा फिर हटाये नहीं हटेगा। साथ ही साधकको अपने

मनसे प्रतिकूल विचारोंको चेष्टापूर्वक दूर रखे अर्थात् जो भक्ति तथा कृष्णप्रेममें वृद्धि करनेवाले हो उन्ही विचारोंको प्रश्रय दे। ऐसा करना कठिन कार्य नहीं है। भजनकी तीव्र लालसा तथा भोगोंके प्रति वैराग्य क्रमशः भजनानुकूल भावोंकी भित्तिको दृढ़ करते हैं।

*आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।*
*रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।*
*आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षडविधा शरणागति।।*

अर्थात् भजन परायण साधकको प्रतिकूलका त्यागकर सदैव अनुकूल संकल्पोंको ही ग्रहण करना चाहिए तथा अपने विश्वासको दृढ़कर भगवानके चरणोंमें विशुद्ध शरणागति लेनी चाहिए। यद्यपि संकल्पका ग्रहण करना शुद्धा भक्तिका अंग नहीं है, क्योंकि भजन करना जीवका स्वाभाविक नित्य धर्म है, उसे संकल्प ग्रहणसे जोड़ना उसकी अनित्यताको दर्शाता है। अतएव भोगनिष्ठ मनकी चंचलताको साधनाके समय नियंत्रित करनेके उद्देश्यसे ही शुद्ध भक्तिमय संकल्प होना चाहिए।

चित्तवृत्तियोंका निरोध परमावश्यक है जो निरंतर अभ्यास तथा वैराग्यसे ही संभव है। अतएव दृढ़ संकल्पके अभावमें न तो अभ्यास ही सम्भव है और न ही वैराग्य ही। प्रारम्भमें संकल्पमें दृढ़ता कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु कृष्ण भजनमें सिद्धिके लिये ऐसा आवश्यक है।

श्रीमद्गीतामें भी मनकी एकग्रताके निमित्त भगवान श्रीकृष्णने अभ्यास और वैराग्यपर बल दिया है। महर्षि पंतजलिने भी कुछ इस प्रकारकी व्यवस्था दी है। भगवान श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला और धामका निरंतर चिंतन, स्मरण, जप एवं कीर्तन ही अभ्यास है तथा जागतिक भोगोंकी असारताके प्रति उदासीन भाव ही वैराग्य है। यही कारण है कि एक निश्चित संख्यामें प्रतिदिन नाम जपका विधान है। ताकि उतने समय तक मनका निरंतर अभ्यास बना रहे। संख्याके प्रति प्रतिबद्ध न रहने पर मन स्वछन्द हो जाता है और उसके पास जन्म जन्मांतरोंसे जो विषयसुख लालसाके संस्कार है उसमें ही बंधा रहता है, वे प्रबल हो जाते हैं। मनके उन संस्कारोंको ही विदीर्ण करनेके लिये प्रतिदिन नाम जप करना एक अर्हता है किन्तु बंधन नहीं है। यदि उसे मायाका बंधन काटकर अपने अंशी कृष्णका प्रेम पाना है तो साधन-भजन अपने गुरु या शास्त्रोंके अनुसार करना ही चाहिए।

निरंतर नाम जप करने तथा कृष्णकी लीलाओंमें आवेश बने रहनेपर मन संतुलित हो जायेगा तो भोगोंकी नश्वरताकी प्रतीति होने लगेगी। मन तो एक ही होता है परन्तु जब मनमें दो इच्छाओंका गहन टकराव एक साथ तीव्रतासे होता है अथवा उनमेंसे किसी एकसे चयन करनेमें झंझट सी रहती हो, तब ऐसा भासने लगता है कि मन दो है। अतएव एक व्रती, एक संकल्प, एक इच्छा, एक मार्ग, एक गुरु, एक समय, एक ही नाम, एक आसन आदिका प्रश्रय मनके वेगका शमन करता है। उसकी चंचलताका हरण करता है। भोगोंमें आसक्ति ही मनकी चंचलताका कारण है। जिस दिन यह तय कर लिया कि कृष्ण ही एकमात्र आराध्य हैं और उनकी सेवा, प्रेम और नामका जप ही मेरा प्राण है, उस दिन विश्वकी कोई शक्ति, आकर्षण, लोभ, कामना हमें उनमें प्रेम पैदा होनेसे रोक नहीं सकेगी। यदि हम अपनी समस्त आसक्तिको बटोरकर अपने प्राण प्रियतम श्रीयुगलकिशोरके चरणोंमें अर्पित कर दें तो मन अन्य विषयोंकी ओर जायेगा ही नहीं।

देखिये प्रातः स्मरणीय ब्रज गोपियोंका मन एक ही था तभी तो किसी श्यामनिष्ठ ब्रजगोपीने उद्धवजीके निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाको नकार दिया—

ऊधौ मन न भयो दस बीस
एकहु तो सो गयो श्याम संग, को आराधे ईश

अर्थात् हे उद्धवजी! आप तो निर्गुण, निराकार

निर्विशेष, ब्रह्मकी उपासनाकी बात करते हैं। मनसे आराधना की जाती है और मन भी प्रत्येक मनुष्यका एक ही होता है। वह जो एक मन था वह तो श्यामके रंग में रंगा हुआ था जो उन्हींके साथ चला गया केवल शरीरसे हम ब्रजमें रह रही हैं। दस बीस मन होते तो किसी दूसरे मनसे आपके निर्दिष्ट ब्रह्मकी साधना कर लेती। यहाँ भी एकाग्र मनका ही कथन है।

जिस प्रकार व्रजगोपियोंका मन व्रजके प्राणस्वरूप श्रीकृष्णके चरणोंमें लगा हुआ था। उसका दशांश भी हम अपने मनको व्रज गोपियोंके आनुगत्यमें श्यामसे जोड़ दे तथा भोगोंकी ओरसे मोड़ दें, सभी संबंधोंको तोड़कर एकमात्र कृष्णको ही अपना स्वामी, मित्र, पुत्र अथवा प्रेमी बना लें तो कुछ समयमें ही हमारा मन श्याममय हो जायेगा व्यवहार और साधनामें व्यभिचारी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। बस जिसके हो गये हो गये फिर उसमें जितने भी गुण दोष हो उसपरसे दृष्टि नहीं हटानी है। आज इसके कल उसके और परसों उसके यही व्यभिचार है। जो किसी एकका न हो सका वह किसीका नहीं हो सकता वह परम स्वार्थी होता है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कभी श्यामको चाहा तो कभी कामिनियों (काम) को सराहा ऐसा होनेपर भक्तिराज्यमें सिद्धिकी जरा भी संभावना नहीं है। गुरु–वैष्णवोंके नित्य सत्संग और सेवा साधनासे मन श्यामके रंग में रंग जाता है। दिल देनेसे पहले प्रेमीका सर्वांग चिंतन कर लेना चाहिए ताकि फिर दोष ढूंढनेका मन न रहे। जब किसी विशेष स्वार्थको सामने रखकर प्रेम किया जाता है, तो वह प्रेम सर्वांगी नहीं होता है, स्वार्थ पूरा होने पर समाप्त हो जाता है। ❑

(क्रमशः)

# श्रीरामानुजाचार्यके उपदेश

*—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति मयुख भागवत महाराज*

प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर गुरु–परम्पराकी महिमायुक्त नामावलीका कीर्तन करो। नित्य–क्रियाके बाद शक्तिके अनुसार गूरु–वर्ग की तथा भगवान्‌की सेवा–पूजा करो। गुरुजनोंके निकटसे हठात् उठकर चला जाना महाअपराधजनक है। यदि कोई वैष्णव तुम्हारे पास आ रहे हों तो तुम आगे बढ़कर उनकी अभ्यर्थना करना न भूलो। और लौटते समय कुछ दूर तक उनका अनुगमन भी अवश्य करो। ऐसा न करनेसे अपराध होता है।

वैष्णवोंके अधीन रहकर उनकी सेवाके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करो। अवैष्णव व्यक्तियोंकी सेवा करनेसे, उनका संग करनेसे, उनके घर आने–जानेसे अथवा जीविकाके लिये उनपर निर्भर रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ही तुम्हारा पतन हो जायेगा। भगवत् मन्दिर अथवा उसका चूड़ा जहॉ कहीं से भी दिखाई पड़े, भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम करों। वैष्णवोंकी छाया कदापि लंघन न करो।

यदि कोई निम्नाधिकारी वैष्णव तुमको पहले अभिवादन करें, तो तुम कभी भी उनकी उपेक्षा न करो। किसीकी निंदा न करो। किसी वैष्णवके अधिक निद्राल स्वभाव, अलसता और नीच कुलमें जन्म आदि दोषोंको जानकरके भी दूसरोंको न बतलाओ। उनके दोषों को गुप्त रखकर उनके गुणोंको ही व्यक्त करो। जो 'तत्त्व–त्रय' और 'उनका–रहस्य' नहीं जानते, उनका चरणोदक पान न करो। अपनेको वैष्णवोंके बराबर न समझो।

भक्त और भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त दूसरी–दूसरी इतर अभिलाषाओंसे रहित भगवत्तत्त्वविद्

तथा भक्तिधनसे युक्त महाजनोंको देहधारी परमात्माके समान मानकर उनकी सब प्रकारसे सेवा करो। जन्म या अन्य किसी भी प्राकृत दृष्टिकोणसे उनका दर्शन न करो। बल्कि ऐसा सोचकर कि–वे मेरा कल्याण करनेके लिये ही मेरे पास आये हैं—उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करो और उनसे आत्म–कल्याणकी बातें जिज्ञासा करो। भगवत् सान्निध्यसे पवित्र हुए तीर्थोंमें भगवत्–प्रसाद ग्रहण करनेमें आगा–पीछा न करो। विश्वासहीन व्यक्तियोंके सामने भी उनके सेवनमें कोई दोष नहीं है। भगवत् प्रसाद परम पवित्र वस्तु है। उसका सेवन करनेसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं। 'इसे अमुक व्यक्तिने निवेदन किया है, इसलिये यह विशुद्ध प्रसाद नहीं है—ऐसा भूलकर भी न सोचो।

वैष्णवोंके सामने अपनी प्रसंशा न करो अथवा किसीको लज्जित न करो। सर्वदा गुरुदेव और वैष्णवोंकी सेवामें नियुक्त रहो। प्रतिदिन नियमित रूपमें कुछ समय तक महाजनों अथवा अपने गुरुदेवके द्वारा लिखे गये पारमार्थिक विषयोंका श्रद्धापूर्वक पाठ करो। देहात्मबुद्धि तथा अत्यासक्तिका परित्याग करो। कुसङ्गसे सर्वदा दूर रहो। वैष्णव–वेशधारी कपट व्यक्तियोंसे बचो। सन्तोंकी निंदा करने वाले लोगोंके साथ वार्तालाप न करो। असत्संग के दोषोंको सत्संगरूपी निर्मल जलसे धो डालो। गुरुदेवकी निंदा करने वाले मनुष्य–शरीरमें विचरण करने वाले बाघोंके प्रति दृष्टिपात तक न करो। जो लोग शरणागतिके अतिरिक्त अन्यान्य उपायोंसे मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश करते हैं, उनका सङ्ग न करो, आदर्श शरणागतिका जीवन बितानेवाले सन्तोंके साथ निरन्तर निवास करो।

यदि तुम्हें ऐसा भान हो रहा है कि अमुक वैष्णवने मेरा अपकार किया है, तो उसके प्रति द्वेषभाव न रख कर अपनेको संयत रखो। यदि तुम भगवान्को प्राप्त करना चाहते हो, तो वैष्णवोंकी निरनतर सेवा करो। उत्तम कुलमें पैदा हुए सदाचार सम्पन्न व्यक्तिका अन्न ग्रहण करना चाहिए। शास्त्रविहित कर्त्तव्योंका पालन केवल मात्र भगवान्की सेवाके उद्देश्यसे ही करना चाहिए। भगवान्के प्रेमी–भक्तों की सेवाको अपना प्राण समझो। उनके द्वारा तुम्हारे जीवनका परम प्रयोजन प्राप्त होगा। कोई भी ऐसा कार्य न करो जिससे उन्हें असन्तोष हो। अन्यथा तुम्हारी पारमार्थिक मृत्यु हो जायगी। जो लोग भगवान्की अर्च्चा–मूर्तिको पत्थर समझते हैं, गुरुदेवको मरणशील मानव मानते हैं, वैष्णवोंमें जाति–बुद्धि रखते हैं, समस्त पापोंको धों देनेवाले विष्णु या वैष्णवोंके चरणामृतको साधारण जल मानते हैं, मंत्रों को साधारण शब्द मात्र समझते हैं तथा अन्य देवताओंको सर्वेश्वर विष्णुके समान मानते हैं–ऐसे व्यक्ति नारकी हैं, इनका संग कदापि नहीं करना चाहिए।

विष्णुकी पूजासे वैष्णव–पूजाका माहात्म्य बढ़ कर है तथा वैष्णवोंके प्रति किया गया अपराध विष्णुके प्रति किये गये अपराधसे अधिक गुरुतर होता है। विष्णुके चरणोदकसे वैष्णवोंका चरणोदक अधिक पवित्र होता है।—इन बचनोंको हृदयमें दृढ़तापूर्वक धारण कर वैष्णव–सेवामें निरन्तर नियुक्त रहो।

शरणागत व्यक्ति अपने भविष्यके लिए तनिक भी चिन्ता न करेंगे। क्योंकि इस विषयमें भगवान्का ही सम्पूर्ण हाथ है। यदि कोई अपनेको शरणागत मान कर भी भविष्यके लिये चिन्ता करता है, तो उसकी शरणागति झूठी और हास्यास्पद है। उसकी वर्त्तमान अवस्था उसके पहले किये हुए कर्मोंका फल है—ऐसा समझकर उसे प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहना चाहिए। वैष्णवोंको उसके वर्त्तमान या भविष्यके लिये कभी भी उद्विग्न नहीं होना चाहिए। बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रह कर श्री गुरुदेवके चरणोंमेगं शरणागत होकर भगवान्का अनन्य भजन करना चाहिए। ❑

## 'श्रीभागवत–पत्रिका' मासिक–पत्रके सम्बन्धमें

*प्रपत्र—४ नियम—८*


| | | |
|---|---|---|
| १. | प्रकाशन स्थान— | श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ. प्र.) |
| २. | प्रकाशन अवधि— | मासिक |
| ३. | प्रकाशकका नाम— | श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी |
| | पता— | श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ. प्र.) |
| | नागरिकता— | भारतीय |
| ४. | सम्पादकका नाम— | श्रीमान् हरिप्रिय ब्रह्मचारी 'विद्याभूषण' |
| | पता— | श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ. प्र.) |
| | नागरिकता— | भारतीय |
| ५. | मुद्रक— | श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा। |
| ६. | उन व्यक्तियोंके नाम और पते जो इस पत्रके स्वामी हैं तथा जो समस्त पूंजीके एक प्रतिशतसे अधिकके हिस्सेदार हैं— | श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति। |

मैं नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी एतत् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वासके अनुसार ऊपर दिये गए विवरण सत्य हैं।

*मार्च ९९* *ह. नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी*


## वैष्णव व्रत तालिका

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ चैत्र | ३१ मार्च | बुधवार | पूर्णिमा। |
| २७ चैत्र | ११ अप्रैल | रविवार | श्रीवृन्दावनदास ठाकुरजीका तिरोभाव। |
| २८ चैत्र | १२ अप्रैल | सोमवार | वरुथिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३२ से पहले पारण। |
| २ वैशाख | १६ अप्रैल | शुक्रवार | अमावस्या। |
| ४ वैशाख | १८ अप्रैल | रविवार | अक्षय तृतीया, श्रीश्रीजगन्नाथदेवकी चन्दनयात्रा, श्रीबद्रीनारायणका द्वारोद्घाटन, श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका प्रतिष्ठा दिवस। (कलकत्ता अंचलके लिए १९अप्रैल) |
| १० वैशाख | २४ अप्रैल | शनिवार | श्रीजाह्नवा देवी एवं श्रीसीता देवीका आविर्भाव, श्रीमधु पण्डितजीका तिरोभाव। |
| १२ वैशाख | २६ अप्रैल | सोमवार | मोहिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२६ से पहले पारण। |
| १५ वैशाख | २९अप्रैल | बृहस्पतिवार | श्रीनृसिंह चतुर्दशी व्रत, अगले दिन पूर्णिमा, ९–२५ से पहले पारण, श्रीनिवास आचार्यका आविर्भाव एवं श्रीमाधवेन्द्र पुरीका तिरोभाव। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
विक्रम संवत् २०५५–५६ वैशाख मास, सन् १९९९, १ अप्रैल — ३० अप्रैल { संख्या २

## श्रीश्रीनृसिंहदेवस्य लीला–सारः

*अथाचार्य–सुतस्तेषां बुद्धिमेकान्त–संस्थिताम्।*
*आलक्ष्य भतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद् यथा।।२।।*
*कोपावेश चलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे।*
*क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रहादमतदर्हणम्।।३।।*

*अनुवादः*—जब षण्डामर्कने देखा कि प्रह्लादके संसर्गसे सभी दैत्य बालकोंकी बुद्धि भगवान्‌में स्थिर हो रही है, तब वे बड़े घबराये और तुरन्त दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पास जाकर सारा वृतान्त कह सुनाया।।२।।

इस असह्य और अप्रिय संवादको सुनकर हिरण्यकशिपुका शरीर क्रोधके मारे काँपने लगा। अन्तमें उसने प्रह्लादको जानसे मार डालनेका निश्चय कर लिया। प्रह्लाद यद्यपि तिरस्कारके योग्य न थे, तथापि हिरण्यकशिपु कठोर वाणियों द्वारा उनका तिरस्कार करते हुए कहने लगा।।३।।

*न केवलं मे भवतश्च राजन्, स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।*
*परेऽवरेऽमी स्थिर–जङ्गमा ये, ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।।७।।*
*यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।*
*क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते।।१२।।*
*एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा, सुतं महाभागवतं महासुरः।*
*खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्, स्तंभं तताडातिबलः स्वमुष्टिना।।१४।।*
*स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन्, स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम्।*
*नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्नृमृगेन्द्र–रूपम्।।१८।।*
*प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना, बधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम्।*
*एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो, नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः।।२३।।*
*विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिर्ब्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम्।*
*द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया, नखैर्यथाहि गरुडो महाविषम्।।२९।।*

—श्रीमद्भागवत ७म स्कन्ध, ८म अध्याय

*एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्म–रुद्र–पुरःसराः। नापैतुमशकन्मन्यु–संरम्भं सुदुरासदम्।।१।।*
*साक्षात् श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम्। अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शंकिता।।२।।*
*प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके। तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम्।।३।।*
*तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः। उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः।।४।।*
*स्वपादमूले पतितं तमर्भकं, विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः।*
*उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं, कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम्।।५।।*
*स तत्–करस्पर्श–धुताखिलाशुभः, सपद्यभिव्यक्त–परात्मदर्शनः।*
*तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ, हृष्यत्तनुः क्लिन्न–हृदश्रुलोचनम्।।६।।*

—श्रीमद्भागवत ७म स्कन्ध, ९म अध्याय

***फल–श्रुतिः***

*वैशाखस्य चतुर्दश्यां सौरिवारेऽनिलर्क्षके।*
*आद्यावतारः सिंहस्य प्रदोष–समये द्विजाः।।६३।।*
*तस्यां सम्पूज्य विधिवत् नरसिंहं समाहितः।*
*जन्म–कोटि–सहस्रैस्तु पापराशिः सुसञ्चितः।।६४।।*
*दह्यते तत्क्षणादेव तूलराशिरिवाग्निना।*
*दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा नमस्कृत्य प्रणिपत्य च भक्तितः।।६५।।*
*स्तुत्वा विमुच्यते पापैर्निर्मोकेण भुजङ्गवत्।।६६।।*

—स्कन्द पुराणान्तर्गत उत्कलखण्डम् १६ अध्याय

***अनुवादः***—मूर्ख! मेरा तनिक–सा क्रोध करने पर लोकपाल सहित तीनों लोक काँप उठते हैं, फिर तू किसके बल पर इस प्रकार निर्भय होकर मेरी आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है।।६।।

प्रह्लादजीने कहा—राजन्! मैं जिस बलसे बली हूँ, वे केवल मेरे ही बल नहीं बल्कि आपके और

संसारके समस्त बलवानोंके बल भी वे ही हैं। ब्रह्मासे लेकर तिनके तक छोटे-बड़े, चर-अचर सबको भगवान्‌ने ही अपने बलसे वशमें कर रक्खा है।।७।।

हिरण्यकशिपुने कहा—अभागे! तूने मेरे सिवा किसी दूसरेको जगत्‌का स्वामी बतलाया है? यदि ऐसा है, तो देखूँ तेरा वह जगदीश्वर कहाँ है? यदि वह सर्वत्र है, तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीख पड़ता?।।१२।।

इस प्रकार वह महाबलवान हिरण्यकशिपु परम भागवत प्रह्लाद को बार-बार कठोर वचनोंसे फटकारता रहा। अन्तमें क्रोधमें भरकर हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और बड़े जोरसे उस खंभेके ऊपर एक घूँसा मारा।।१४।।

खम्भेके भीतरसे निकले हुए उस अद्‌भुत प्राणीको अच्छी तरहसे देख कर वह सोचन लगा—अहो! यह न तो मनुष्य है और न ही पशु, फिर यह नरसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक प्राणी है?।।१८।।

निश्चय ही महामायावी भगवान् हरिने मुझे मार डालनेके लिये ऐसा ढंग रचा है। परन्तु इससे मेरा हो ही क्या सकता है—ऐसा कहते-कहते और विकट गर्जन करता हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु हाथमें गदा लेकर नृसिंह भगवान पर टूट पड़ा।।२३।।

परन्तु जिस प्रकार सर्प चूहेको पकड़ लेता है, उसी प्रकार नृसिंह भगवान्‌ने बड़े वेगसे उस हिरण्यकशिपुको, जिसके शरीर पर इन्द्रके साथ युद्धमें उनके वज्राघातसे खरोंच तक न आयी थी, जो बड़ी फूर्तीसे पैतरे बदल तीव्र गतिसे आक्रमण कर रहा था, पकड़ लिया और उसे दरवाजे पर ले जाकर अपनी जाँघोंके ऊपर रख कर खेलमें ही अपने नखोंसे वैसे ही चीर डाला जैसे गरुड़ महाविषधर सर्पको चीर डालता है।।२४।।

इस प्रकार क्रोधाविष्ट होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम नृसिंह भगवान्‌के पास जानेमें ब्रह्मा और शिव आदि सभी देवता असमर्थ हो गए।।१।।

तब ब्रह्माजीने पास ही खड़े प्रह्लादको भगवान्‌के निकट यह कह कर भेजा कि वत्स! अब तुम्हीं उनके पास जाओ और अपने पिताके प्रति क्रुद्ध हुए भगवान् नृसिंहदेवको शान्त करो।।३।।

हे राजन्! परम भागवत बालक प्रह्लादने 'जैसी आज्ञा' कहकर और धीरे-धीरे भगवान्‌के समीप जाकर हाथ जोड़ पृथ्वी पर गिर कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।।४।।

नन्हेंसे बालकको अपने चरणोंके पास पड़ा हुआ देख कर नृसिंह भगवान्‌का हृदय दयासे द्रवित हो उठा। उन्होंने उसे उठाकर उसके सिर पर काल-सर्पसे भयभीत पुरुषोंको अभयदान करनेवाला अपना करकमल रख दिया।।५।।

भगवान्‌के कर-कमलोंके स्पर्शसे उनके सारे अशुभ-संस्कार दूर हो गये और तत्काल ही परमात्मदर्शनसे उनका सारा शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें प्रेमकी धारा प्रवाहित होने लगी, आनन्दके मारे आँखोंसे आँसू बहने लगे। उन्होंने परमानन्दमें मग्न होकर भगवान्‌के चरणकमलोंको हृदयमें धारण किया।।६।।

### *फल-श्रुति*

यह नृसिंहदेवका आद्यावतार वैशाख महीनेकी शुक्ला चतुर्दशी, शनिवारके दिन स्वाति नक्षत्रमें सायंकालमें हुआ था।।६३।।

उस दिन एकाग्र और पवित्रचित्त होकर विधिपूर्वक नृसिंह भगवान्‌की पूजा करनेसे तत्काल सहस्र कोटि जन्मोंकी एकत्रित पाप-राशि ठीक वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे आगसे रुईका ढेर जल कर क्षणभरमें भस्म हो जाता है।।६४।।

नृसिंहदेवके भक्तिपूर्ण दर्शन, स्पर्श, नमस्कार, प्रणाम और उनके स्त्रोतका पाठ करनेसे पाप-बन्धन वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे साँपकी केंचुली छूट जाती है।।६५।। ❑

# संत (सज्जन) के लक्षण

## कृपालु (१)

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

सज्जन पुरुषोंको अर्थात् संतोंको पहचानना बड़ा कठिन होता है। भगवद्विमुख जीव तो इस कार्यमें बहुधा भूल ही करते हैं। वे अधिकतर संतोंको असंत और असंतोंको संत समझ कर बड़े–बड़े अपराध कर बैठते हैं। इसका कारण सुस्पष्ट है—वे संतोंके लक्षणसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। वे अपने अनर्थपूर्ण दर्शनसे 'सज्जन' या 'संत' शब्दका कुछ दूसरा ही लक्षण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु श्रीमन्महाप्रभुने सनातन गोस्वामीको संतके जो लक्षण बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं—

*कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार, सम।*
*निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिंचन।।*
*सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैकशरण।*
*अकाम, निरीह, स्थिर, विजित–षड् गुण।।*
*मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी।*
*गंभीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी।।*

(चैतन्यचरितामृत)

वैष्णवका सबसे पहला लक्षण यह है कि वे कृपालु होंगे। श्रीगौरहरि संतोंके उपास्य और कृपालुओंके मूलाधार एवं मूल पुरुष हैं। गौर–विमुख दुर्जन व्यक्तियोंमें कृपालुता तथा अन्यान्य २५ गुणोंका अभाव होता है। श्रीमद्भागवत (५।१८।१२) में कहते हैं—

*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।*
*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः मनोरथेनासति धावतो बहिः।।*

अर्थात्, जिस मनुष्यकी भगवान्में केवला भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वह तो तरह–तरहके सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।

जिसकी भगवान्में अप्राकृत भक्ति या सेवन वृत्ति है, वह समस्त गुणोंका अधिकारी होता है। हरिसेवासे विमुख व्यक्तियोंमें भगवद्भक्तोंके वे गुण आ ही कहाँ से सकते हैं? क्योंकि उनका मन सद्गुणोंकी खान श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन छोड़कर सदा विषयोंकी ही ओर दौड़ता रहता है। इसलिए यदि हरि–विमुख–जनोंमें कहीं सद्गुणोंका आभास दिखलाई भी पड़े, तो वे गुण उसमें नित्य निवास नहीं करते, बल्कि वे ही गुण कुछ दिनोंमें दोष बन जाते हैं।

दयानिधि गौरहरि दयाके समुद्र हैं। उनके शुद्ध भक्तजन ही यथार्थ कृपालु होते हैं। औरोंमें कृपालुताकी छाया दिखलाई पड़ने पर भी वह दया दया नहीं, बल्कि वास्तवमें केवल निष्ठुरता मात्र है।

करुणावरुणालय श्रीगौरहरिने जीवों पर नौ प्रकारकी दया की है। दयानिधिकी दया प्राप्त कर श्रीदामोदर–स्वरूप गोस्वामीने गौरहरिकी इन नौ प्रकारकी दयाका वर्णन किया है। उनकी यह दया अप्राकृत–पूर्ण, नित्य, शुद्ध, मुक्त और चैतन्य रसमयी होती है। अतः वह कभी भी जीवका कोई मन्द उदय नहीं करती। ये नौ प्रकारकी दया इस प्रकार हैं—

(१) अन्तःकरणके समस्त प्रकारके खेद–रूपी धूलिको उड़ा देनेवाली दया—बद्धजीव अन्याभिलाष, कर्म–आच्छादन तथा ज्ञान–आवरण—इन तीन श्रेणीके दुःखोंकी धूलसे आच्छादित होकर अपना यथार्थ कल्याण भूलकर भगवद्विमुख हो गया है।

दयानिधि गौरहरि उनके प्रति करुणासे आर्द्र होकर उनके ऊपर जमी हुई आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक खेद रूप धूलिराशिको अनायास ही उड़ा कर उन्हें अपनी त्रितापनाशिनी चरण-सेवाका अधिकार प्रदान करते हैं।

(२) शास्त्रीय विवादोंको दूर करनेवाली दया—बद्धजीव अन्याभिलाष, कर्मावरण और ज्ञानाच्छादनरूप त्रिविध मलोंसे युक्त होता है। प्राकृत जगत्में इन तीन प्रकारके मलोंसे युक्त तीन प्रकारके पुरुष अपनेको गुरु या महाजनके रूपमें प्रसिद्ध कर बद्धजीवोंके हृदयको और भी अधिक दूषित और भगवद् विमुख कर देते हैं। इस प्रकार बद्ध जीव अपने-अपने विचारों और प्राकृत मर्यादासे अन्धा होकर अपने हृदयको तर्क और विवादसे पूर्ण रखता है। दयानिधि गौरहरिने ऐसे-ऐसे तथाकथित महाजनों और शिक्षकों एवं शास्त्रोंके समस्त विवादोंको परमार्थ के लिये नितान्त तुच्छ और बाधक बतलाया है। शास्त्रीय विवादोंमें फंसा हुआ जीव अपने प्रति कभी भी यथार्थ दया नहीं कर सकता। श्रीगौरहरिको एकमात्र दयानिधि स्वीकार कर लेने पर समस्त प्रकारके शास्त्रीय विवाद दूर हो जाते हैं।

(३) अमन्द उदय करानेवाली दया—बद्धजीवो! तुम लोग शुद्ध भक्तिका अनुशीलन करो। उससे आत्मा प्रसन्नता लाभ करेगी। कृष्णकी सेवा ही जीवको विमल आनन्द प्रदान कर सकती है। सेवन-धर्मका उद्देश्य कोई प्राकृत वस्तु होनेसे वह ज्ञान, कर्म अन्याभिलाष हो पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभुने इनका त्याग करनेका उपदेश दिया है। परमार्थ-प्राप्तिके लिये भक्ति-पथके सिवा दूसरा पथ नहीं है—इसकी सम्यक उपलब्धि ही अमन्दोदया दया है। अमन्दोदया दया उस दयाको कहते हैं, जो कभी भी मन्दका उदय न करे।

(४) निर्मला दया—श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा जीवात्माके ऊपर लगा हुआ समस्त प्राकृत मल दूर हो जाता है तथा वह निर्मल हो जाता है।

(५) अप्राकृत रस-दात्री दया—मायाकी सेवाको दुःसङ्ग जानकर उसका वर्जनकर सत्सङ्गमें कृष्ण सेवा करनेसे जड़ीय रस तिरोहित हो जाता है और अप्राकृत रसका प्रादुर्भाव होता है।

(६) शमता प्रदान करनेवाली दया—जड़ीय-रसके तिरोहित होने पर कृष्णभक्ति द्वारा रसोदय होनेपर भक्त समदर्शी होता है।

(७) शुद्ध आनन्द देनेवाली दया—कृष्ण-विस्मृति रूपी धूल साफ होने पर निर्मल और शुद्ध सेवक कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी दयासे शुद्ध आनन्द प्राप्त करते हैं।

(८) आनन्दोन्मादकारिणी दया—शास्त्र-विवाद दूर होने पर कृष्ण-तत्त्वका रसोदय होता है तथा रसोदय होने पर ह्लादिनी शक्तिकी कृपासे जीव अप्राकृत आनन्दसे उन्मत्त हो उठता है।

(९) कृष्णकी माधुर्य-मर्यादामें स्थित करानेवाली दया—श्रीकृष्णकी अप्राकृत सेवा करते-करते जीव हिंसा-द्वेषसे शून्य होकर सर्वत्र ही कृष्ण भावका दर्शन कर कृष्णकी-माधुर्य-मर्यादामें स्थिर हो जाता है।

श्रीचैतन्यदेवके सेवक दयासागर श्रीचैतन्य महाप्रभुके निकट उक्त नौ प्रकारकी दया प्राप्त कर कृपालु होते हैं। यदि वे कृपालु न हों तो दयासागर श्रीगौरहरि उनको अपनाते नहीं हैं।

कोई-कोई ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि श्रीगौरहरि अन्याभिलाषी, कर्मी या ज्ञानियोंके ऊपर दया नहीं करते, परन्तु एकमात्र शुद्ध हरिभक्तों पर ही दया करते हैं ऐसा क्यों? उन्होंने अभक्तजनोंके दुर्व्यवहारोंका अनुमोदन क्यों नहीं किया है? क्या इससे उनके 'दयानिधि' नाममें दोष नहीं स्पर्श करता? प्राकृत सहजिया अपनेको मौखिक रूपमें गौरहरि, नित्यानन्द प्रभु तथा दयासागर श्रीनरोत्तम ठाकुर तथा मूर्त्तिमाान दयामय श्रीवैष्णवजनोंका अनुगत बतलाकर भी प्रकाश्यरूपमें कपटताका आश्रयकर स्वार्थ प्रचारमें बड़े निपुण होते हैं। उन्होंने पूर्वोक्त नौ प्रकारकी दयाका कोई अंश क्यों नहीं प्राप्त किया?

इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि ऐसा पूर्व–पक्ष उपस्थित करने वाले महाशय भगवान् और भक्तको दयामय माननेके लिये शायद प्रस्तुत नहीं हैं। बल्कि अपने आपात मधुर इन्द्रिय–सुखोंकी प्राप्तिमें सहायता करने वालोंको ही यथार्थ दयालु मानते हैं। जो उनके इन्द्रिय–सुखकी प्राप्तिमें तनिक भी बाधक सिद्ध होंगे, उनको वे अपना परम शत्रु समझेंगे। ऐसे लोगोंको वे भक्त या भगवान् माननेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं। किन्तु यथार्थ बात तो यह है कि उनके कल्पित गौर–हरि—भगवान नहीं हैं, वे तो केवल उनके भोग–विलासमें सहायक—क्रीड़ा–पुतली मात्र हैं। सज्जन कृपालु होते हैं। असत्–सङ्गका त्याग करनेके कारण वे अपने प्रति अत्यन्त दयायुक्त होते हैं। दूसरी तरफ, जो लोग जड़ीय विचारसे दया परवश होकर इन्द्रिय–सुखमें ही व्यस्त रहा करते हैं एवं जड़ीय प्रतिष्ठाके लिये कपटताका आश्रयकर मूर्खजनोंके निकट भोगमय संसारको हरिसेवामय बतलाते हैं, वे कृपालु नहीं हैं। जो लोग इन्द्रिय–सुखोंमें आसक्त दुर्बल जीवोंको भोगमय संसारमें और भी अधिक आसक्त करनेके लिये यथार्थ–धर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हें, जो कटु सत्य बोलकर किसीका अप्रिय बननेकी इच्छा नहीं करते, जो मूर्ख लोगोंका नेता बननेके लिये सदा प्रयत्नशील होते हैं, वे कभी भी सज्जन नहीं हो सकते हैं, वे कभी भी कृपालु नहीं हो सकते हैं। कृपालु होनेके लिये किसी भी अवस्थामें सत्यका अच्छादन करना उचित नहीं। मुखसे शुद्ध–सेवक कहकर दयामय वैष्णवोंकी अमर्यादा करना कुमतका आचरण करना दयालुता नहीं है, वह तो दया–शून्यताका परिचय है। सज्जन सर्वदा कृपालु होते हैं। ❑

# जीवोंके प्रति दयाका रहस्य

*—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

'जीवोंके प्रति दया' वैष्णव–धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। जीवोंके प्रति दया करना वैष्णवजनका एक स्वभाव है। जिनमें यह स्वभाव देखा न जाय, वे सहस्त्र–सहस्त्र बाह्य चिन्होंको धारण करने पर भी वैष्णव नहीं हो सकते। शचीनन्दन गौरहरिने समस्त धर्मोंका सार बतलाया है—जीवके प्रति दया, नाममें रुचि और वैष्णवोंकी सेवा। ये वैष्णव मात्रके लिये पालनीय हैं। जीवके प्रति वैष्णवकी दया वैष्णवके अन्तःकरणमें ही रहती है, उसका बाह्य परिचय क्या है, इसे भलीभाँति जान लेने पर उक्त उपदेशका तात्पर्य समझा जा सकता है। इस प्रबन्धका उद्देश्य इसी बाह्य परिचयका विवेचन प्रस्तुत करना है।

### *दया मूढ़ जीवोंके प्रति होती है*

'जीवोंके प्रति दया'—यह उपदेश केवल बद्ध जीवोंके सम्बन्धमें ही लागू है। बद्ध जीवोंमें भी जो कृष्ण–सान्मुख्य प्राप्त कर चुके हैं, उनके प्रति दया नहीं, मैत्रीपूर्ण व्यवहार करनेका उपदेश है। अतएव बद्धजीवोंमें भी जो बालिश अर्थात् मूढ़ हैं, उनके प्रति ही दया करनी चाहिए। जीवोंका दुःख देख कर अन्तःकरणमें जो प्रवृत्ति उदित होकर जीवके अनुकूल आर्द्रता उत्पन्न करती है, उसका नाम 'दया' है।

### *दुःख और उसका मूल कारण*

दुःख तीन प्रकारके हैं—आत्मनिष्ठ, लिङ्गदेहनिष्ठ और स्थूलदेहनिष्ठ। अविद्याके बन्धनसे जीव अपना स्वरूप भूल जाता है। इससे जीव अपना स्वरूप—नित्य कृष्णदास्य भूल जाता है। यही जीवोंका आत्मनिष्ठ दुःख है। यह आत्मनिष्ठ दुःख ही जीवोंका मूल दुःख है।

मायाद्वारा बँध कर जीव मायिक अहंकार, बुद्धि, चित्त और मन, इनको 'मैं और मेरा' मान लिया है। यहीं उसका लिंग शरीर है। जड़ीय पदार्थोंमें 'मैं' और 'मेरा'–बुद्धिको मायिक अहङ्कार कहते हैं। जड़ीय

पदार्थमें ज्ञान आदिकी चर्चा ही—मायिक बुद्धि है। जड़ीय ज्ञान संग्रह कर धारणा करनेका नाम मायिक चित्त है। जड़ीय धर्मका मनन और चिन्तन करनेका नाम मायिक मन है। यह जीवोंकी लिङ्गदेहनिष्ठ दुःखकी अवस्था है। इसी समय जड़ीय पाप और पुण्य उदित होते हैं। पाप और पुण्य जितना ही अधिक होता है, जीव उतना ही अधिक स्व-स्वरूपसे दूर होता जाता है तथा मायिक संसारमें फँसता जाता है।

मायिक जगतमें जीवोंके पांचभौतिक शरीरको स्थूल शरीर कहते हैं। स्थूल शरीरके अभाव, दुःख, दण्ड आदि जीवके स्थूल शरीरनिष्ठ दुःख हैं। पाप-आचरण भी दुःख ही हैं। पुण्य-आचरण आत्माके स्वस्वरूपसे अत्यन्त दूरवर्ती क्रिया होनेके कारण शुभ माने जाने पर भी दुःख ही है।

***जीवके ऊपर दया करना वैष्णवका स्वभाव है***

कृष्णोन्मुख जीव पूर्वोक्त तीन प्रकारके दुःखोंसे छुटकारा पाकर कृष्णनुशीलन-सुख भोग करते हैं। उनको स्वयं जितनी ही अधिक असुविधा होती है, दूसरे दुःखी जीवोंके दुःखसे उनको उतना ही अधिक दुःख होता है। वे सोचते हैं—'ये जीवसमूह इतना क्लेश क्यों भोग रहे हैं? मैं इनके तीनों प्रकारके दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करूँगा।' ऐसा सोच कर अपना कोई स्वार्थ न रहने पर भी वे सबके घर-घर उपस्थित होकर उनके हृदयमें कृष्णानामके प्रति रुचि उत्पन्न करानेकी चेष्टा करते हैं। यह वैष्णवमात्रका स्वभाव है।

*महन्त-स्वभाव एइ तारिते पामर।*
*निज कार्य नाहिं तबु जान तार घर।।*

वे घर घरमें जाकर भिक्षा माँगते हैं—

(श्रद्धावान जन हे!)

*नदिया गोद्रुमे नित्यानन्द महाजन।*
*पातियाछे नाम हट्ट जीवेर कारण।।*
*प्रभुर आदेशे भाई माँगि एइ भिक्षा।*
*बल कृष्ण, भज कृष्ण, कर कृष्ण शिक्षा।।*
*अपराध-शून्य हये लह कृष्णनाम।*
*कृष्ण माता, कृष्ण पिता, कृष्ण धन-प्राण।।*
*कृष्णेर संसार कर छाड़ि अनाचार।*
*जीवे दया, कृष्णनाम-सर्व धर्म सार।।*

(गीतावली)

गाँव-गाँवमें, घर-घरमें जाकर इस प्रकार शिक्षा देते-देते यदि एक वर्षमें एक भी जीवको मायाके जालसे उद्धार किया जाय और उसे कृष्ण-भजनमें प्रवृत किया जा सके, तो वैष्णवजन अपने इस कार्यसे बड़े आनन्दित होते हैं। बड़े सौभाग्यसे जीवमें कृष्णोन्मुखी वृतिका उदय होता है। इस दशामें जीवकी सहायता करना ही वैष्णवोंके हृदयगत जीवके प्रति दयाका एकमात्र परिचय है। वैष्णवका प्रधान कार्य है—जीवको कृष्णके उन्मुख करना। जहाँ स्थूल शरीरका रोग दूर करना अथवा जहाँ क्षुधा निवृत्ति ही प्रधान उद्देश्य होता है, वहाँ वैष्णवताका अभाव समझना चाहिए। क्योंकि उससे क्षणिक अर्थात् सामयिक उपकार होता है, नित्य उपकार नहीं होता। परन्तु जहाँ उन कार्यों द्वारा कृष्णोन्मुखी वृत्तिकी सहायता होती है, वहाँ उन कार्योंमें भी वैष्णवोंकी स्वतः प्रवृत्ति होती है।

***उत्तम या मध्यम वैष्णवजन ही सर्वोच्च दया करनेके अधिकारी हैं—दूसरे नहीं।***

मध्यमाधिकारी या उत्तमाधिकारी वैष्णव होने पर, यह 'जीवके प्रति दया प्रवृत्ति' क्रमशः प्रबल होती है। कनिष्ठ-वैष्णवोंमें यह प्रवृत्ति पहले नहीं रहती। परन्तु उत्तम वैष्णवोंकी कृपासे जब उनका कनिष्ठत्व दूर होकर मध्यामाधिकारका उदय होने लगता है, उसी समय वे वैष्णव-पदवाच्य होते हैं एवं 'जीवके प्रति दया' उनके हृदयमें उदित होती है। सर्वोच्च वैष्णवोंके हृदयमें 'जीवके प्रति दया' अत्यन्त प्रबल होती है। वे भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! संसार भरके समस्त जीवोंके पापोंको स्वयं ग्रहण कर उनके बदले मैं स्वयं नरकका भोग करूँगा। आप कृपाकर समस्त जीवोंका संसार रोगसे उद्धार कीजिए।

*"जीवेर पाप लये मुई करि नरक भोग।*
*सकल जीवेर प्रभु घुचाओ भव रोग।।"*

❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

हमारे श्याम सुन्दर तो बिना गुण दोष विवेचनके ही अपने चाहनेवालोंको चाहने लगते हैं—

*"बिना प्रेम रीझत नहीं,*
*नटवर नंद किशोर"*

यह तो रही प्रेमकी बात। शुद्ध प्रेममें तो स्वाभाविक एकाग्रता रहती है। परन्तु साधनाके प्रारंभिक पायदानोंपर एकाग्रताकी परम आवश्यकता है।

योग शास्त्रोंके अनुसार भ्रसिका प्राणायाम (जिसमें तेजीके साथ दोनों नासिका रन्ध्रों से श्वास प्रश्वास को ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है) से दिमागकी तथा शरीरकी नाड़ियोंका शोधन होनेसे प्राणों पर नियंत्रण होता है, जिससे चित्तकी चंचलता कम होकर मन एकाग्र होनेमें प्रचुर सहयोग मिलता है। परन्तु भ्रसिका प्राणायामको निरंतर अधिक समय तक नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार पूरक, कुंभक तथा रेचक क्रिया में संतुलन बनाकर प्राणों पर नियंत्रण करनेसे कुछ समयके अभ्याससे मन एकाग्र होने लगता है।

सहज रूपमें उपांशु और वाचिक नाम जप करते समय मुखसे निकलने वाली ध्वनि (नाम ध्वनि) को श्रवण करते हुए जप करनेसे भी मन एकाग्र होने लगता है। नाम जप स्वयं ऐसी विधि है जिसे अन्य किसी यौगिक क्रियाकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वाचिक तथा उपांशु नाम जपकी ऐसी विधियाँ हैं जिससे दो चार मिनटमें ही मानसी जपमें स्थिरता आ जाती है। आवश्यकता केवल यह है कि जपके समय भगवान श्रीकृष्णके नामके साथ–साथ उनके रूप, गुण, लीला और धामका भी चिंतन स्मरण और मनन करते रहना चाहिए। इससे जप सर्वथा कृष्णमय हो जाता है। प्रारंभमें मन अस्थिर रहता है, किन्तु अभ्याससे एकाग्रता आने लगती है।

### क्रोधका वेग

क्रोध वेगके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके रहते सर्वनाश से नहीं बचा जा सकता। क्रोधी साधक कभी भी अपने साधन पथको तय नहीं कर सकता है। क्रोधमें विवेकका नाश हो जाता है, उसका सहजत्व जाता रहता है। उसका स्वार्थ उसे घेरे रहता है। क्रोधी साधककी धीरे–धीरे धर्म ग्रंथों, संत वचनों तथा गुरु वाक्योंमें आस्था गिरने लगती है। वह "जीवे दया नामे रुचि" की मान्यताको भूल जाता है। बदलेकी भावना अथवा अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये व्यक्ति निकृष्ट–से–निकृष्ट कर्म करनेके लिये उद्यत हो जाता है।

क्रोधकी उत्पत्तिका मूल कारण, कामनाकी पूर्ति न होना अथवा पूर्तिमें किसी अवरोधका होना है। कामनाकी सिद्धि न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। आवश्यकतासे अधिक स्वाभिमान व्यक्तिको घमण्डी बना देता है। जो इस भावनाके वशीभूत रहते हैं कि मैं बहुत बड़ा विद्वान हूँ, बड़ा साधक हूँ, लोग मुझे सम्मान दें तथा प्रतिष्ठा दें, मेरी प्रत्येक बात मानें, ऐसे लोग छोटी–छोटी बातों पर भी अपना आपा खो बैठते हैं, प्रायः ऐसे लोग उच्च रक्त चापके शिकार हो जाते हैं।

कम शयन, कम भोजन एवं इंन्द्रियोंकी भोग लालासाकी पूर्ति न होने पर भी क्रोध या चिड़चिड़ापन बना रहता है, जो उच्च रक्त चाप (HIGH BLOOD PRESSURE) को जन्म देता है। अतएव साधकों को उचित मात्रा में भोजन एवं शयन करना अपरिहार्य है। ऐसा न होने पर क्रोधका वेग बना रहता है। भोगलालसाको विचारके द्वारा शमन करना चाहिए।

संकल्प–विकल्पकी मात्रा जितनी अधिक होगी, हमारे लक्ष्य क्षमतासे जितने ही अधिक होंगे, हमारा असंतोष उतना ही अधिक बना रहेगा। साधक यदि

कृष्ण भजन एवं प्रेमकी कामनाको छोड़कर अन्य-अन्य कामनाओंके प्रति शून्य हो जाये, सदैव महाप्रभु चैतन्य देवकी शिक्षाके अनुरूप दैन्य भावका पोषण करे तथा भक्ति भावका गोपन करे, तो क्रोध कभी आ ही नहीं सकता है।

परम भागवत श्रील कृष्णदासकाविराज गोस्वामी के शब्दोंमें—

*आत्मेन्द्रिय प्रीति वांछा तारे बलि काम।*
*कृष्णेन्द्रिय प्रीति वांछा धरे प्रेम नाम।।*
*कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।*
*कृष्ण सुख तात्पर्य हय प्रेम त प्रबल।।*

(चै. च. १।४।१४१-४२)

गोस्वामी पाद श्रीकृष्ण दास कविराजजीने कितने सहज रूपमें काम और प्रेमका परिष्कृत रूप समझा दिया है। अपनी इन्द्रियोंकी तुष्टिके लिये यदि कृष्ण सेवा भी की जाय तो वह कामका रूप धारण कर लेती है। जिस सुखके लिये साधक कृष्ण सेवा करता है, उसकी पूर्ति न होने पर निश्चित ही क्रोध उत्पन्न होगा।

अतएव भक्ति मार्गमें क्रोध साधकको भजन से गिराता है। उसे श्रीकृष्णके प्रीत्यर्थ ही सब कुछ करना चाहिए तथा असफल अथवा सफल होने पर भी प्रसन्न रहना चाहिए। उसे सर्वदा भगवद्भावमय रहना चाहिए। इससे निश्चय ही क्रोध वेग पर शासन संभव है। ऐसा करने पर क्रमशः भक्तिभाव दृढ़ होता जाता है तथा अन्य वेगों पर भी नियंत्रण बना रहता है। कर्मकाण्डी विधि मार्गको कर्मकाण्ड कह सकते हैं—यह उनके स्थूल दृष्टिका ही परिणाम होगा? कृष्ण प्रीतिके लिये विधि मार्गकी कोई भी प्रक्रिया बाह्यदृष्टिसे कर्म जैसी प्रतीत होने पर भी वह शुद्धा भक्ति ही के अन्तर्भुक्त है। कर्मकाण्डमें फलभोगकी वासना होती है, जब कि कर्म जैसी दीखने वाली कृष्ण सेवामें वासना न होकर अधिक रूपमें अपने प्रेष्ठका सुख ही निहित होता है, जो सर्वथा भक्तिपरक है, कर्म नहीं।

भावका अर्थ दृष्टिकोण से बदल जाता है। एक पिता अपनी छोटी बच्चीके मुखका चुम्बन स्नेह प्रदर्शनके लिये करता है, किन्तु उसको वैसा करता हुआ देखकर कोई विषय लोलुप व्यक्ति काम वासना ही समझेगा। यही कुछ चिंतन कर्म और भक्ति के अन्तर्गत है।

### *जीभका वेग*

श्रीकृष्ण नाम साधक को जीभके वेग पर भी नियंत्रण रखना चाहिए। रसका (जीभ का स्वाद) लोभ भक्ति पथमें पतनकी ओर ले जाता है। साधक भजन क्रियासे हटकर निरंतर जीभ रसकी पुष्टि में इधर-उधर भटकता रहता है। वैरागी साधकोंको तो जीह्वा वेग और भी अधिक पथ भ्रष्ट कर देता है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीजी ने कुछ इस प्रकार कहा है—

*वैरागी हइया करे जिह्वार लालस।*
*परमार्थ जाय तार हय रसेर वस।।*
*वैरागीर कृत्य सदा नाम संकीर्त्तन।*
*शाक पत्र फल मूले उदर भरण।।*
*जिह्वार लालसे येइ इति उति धाय।*
*शिश्नोदर परायण कृष्ण नाहि पाय।।*

(चै. च. ३।६।२२३-२५)

वैरागी भक्तोंको ही रसके वस नहीं होना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। भक्ति राज्यमें दो पथ हैं—एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग; अर्थात् गृहस्थ भक्त और विरक्त भक्त। परन्तु एक तीसरा मध्यका मार्ग है—प्रवृत्तिमें निवृत्ति अर्थात् गृहस्थी में भी विरक्त मार्ग। भजन वैराग्यके बिना संभव नहीं है। गृहस्थ भक्तोंको भी पूर्वकथित सभी वेगों पर नियंत्रणकी आवश्यकता है। देखा जाय तो गृहस्थ भक्तोंकी एक लम्बी श्रृंखला है। कलिकाल में तो वैरागी वेश धारण कर भजन करना इतना सहज नहीं है। कुछ भी कहें छः वेगोंके रहते, वैरागी साधक हो या साधक गृहस्थ वह भक्ति राज्यकी सीमाको भी स्पर्श नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्त करना तो दूर की बात है, वह इन वेगोंके तोषणके लिये ही अपना सम्पूर्ण समय अतिवाहित

करेगा, उसे नाम जपका समय ही नहीं मिलेगा और न ही उसकी निष्ठा नाम जपमें रहेगी। वह अन्दर बाहरसे विषयोंका ही चर्वण करता रहेगा।

श्रीजगदानन्द पण्डितजीने भी अपने 'प्रेमविवर्त' नामक ग्रंथमें वैरागी जनोंके लिये कुछ इसी प्रकारका परामर्श दिया है यथा—

*वैरागी भाई ग्राम्य कथा ना शुनिवे काने।*
*ग्राम्य वार्ता न कहिबे जबे मिलिवे आने।।*
*स्वप्नेओ ना कर भाई स्त्री दर्शन।*
*गृहे स्त्री छाड़िया भाई आसियाछ बन ।।*
*यदि चाहो प्रणय राखिते गौरांगेर सने।*
*छोट हरीदासेर कथा थाके जेन मने।।*
*भाल ना खाइबे आर भाल ना परिबे।*
*हृदयेते राधाकृष्ण सर्वदा सेविबे।।*

(प्रेमविवर्त)

जिन लोगोंने संसारके प्रति उदसीन होकर वैराग्यको धारण कर लिया है, वे सज्जन अपने कानोंसे ग्राम्य कथा अर्थात् भगवत् चर्चाको छोड़कर अन्य बातें न सुनें। यदि कोई आपसे मिलने आये तो आप भी उससे ग्राम्य कथा न करें अर्थात् जितना संभव हो हाँ और ना में ही उत्तर दें, न कि स्वयं या दूसरोंके साथ घटित घटनाओं पर ही कथोपकथन करें। ऐसा करनेसे मनके कुसंस्कारोंका भोजन प्राप्त होकर वे पुष्ट होते हैं। हमें मनके चिंतनकी धाराको बदलना है। उसे बदलनेके लिये उसे वही दिखाना एवं सुनाना है जिससे श्रीहरिके चरणोंमें प्रीति दृढ़ हो। प्रत्यक्ष तो क्या? स्वप्न में भी चित्रपटके स्त्रीके दर्शन नहीं करना चाहिए। आप लोग अपनी स्त्री तथा गृहका त्यागकर एकान्तमें वास करने आये हैं। यदि आप श्रीगौरांगके चरणोंमें प्रेम रखना चाहते हैं, तो छोटे हरिदासकी कथाको मनमें रखिये। कभी भी रसपूर्ण राजसी भोजन एवं वस्त्रोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए। कुछ लोग स्वयंकी इंन्द्रियोंकी तृप्तिकी लालसासे ठाकुरजीको सम्पूर्ण राजसी भोजन अर्पित करते हैं, यह भी अनुचित है। इसमें भावकी प्रधानता स्वयंकी तृप्ति है, न कि ठाकुर जी की प्रीति। यदि कभी ऐसा अवसर आ जाय कि कथित प्रकारका अर्पित भोग, प्रसादके रूपमें ग्रहण करना अपरिहार्य हो जाय तो उसका किञ्चितमात्र ग्रहणकर प्रसादकी अवज्ञासे बचना चाहिए, उसका सम्मान करना चाहिए, क्योंकि प्रायः राजसी एवं विषयी लोगों द्वारा अनेक प्रकारकी वासनापूर्तिके उद्देश्यसे ठाकुरजीको भोग अर्पित किया जाता है।

प्रश्न उठ सकता है कि जब ठाकुरजी ऐसे पदार्थ ग्रहण कर सकते हैं तब उनके साधकोंको उसे प्रसाद रूपमें ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिए? ठाकुरजी तो सबके हैं, वे तो सबकी भावनाओंकी रक्षाके लिये उसे ग्रहण करते हैं, परन्तु न वे किसी विधि निषेधके बंधनमें है और न ही वे साधक हैं। साधकों को प्रायः उन्हीं वस्तुओंको ठाकुरजीको अर्पित करना चाहिए जो सहज एवं सात्विक हो।

भक्ति पथमें बाधक वेगोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें (८।१९।२४) में भी कुछ इसी प्रकार मार्ग प्रशस्त किया गया है—"जो कुछ प्रारब्ध से मिल जाय उसीसे संतुष्ट हो जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अपना जीवन सुखसे यापन कर सकता है। परन्तु अपनी इंन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला तीनों लोकोंका राज्य भोगने पर भी दुःखी ही रहता है, क्योंकि उसके हृदयमें असंतोषकी आग धधकती रहती है।"

सभी शास्त्र क्रोध पर नियंत्रण की बात कहते हैं। श्रीमद्भगवत गीतामें भी क्रोधके संबन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने निम्न सावधानियाँ दी हैं—

*तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।*
*वशे हि यस्येन्द्रयाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।*
*ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।*
*संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।*
*क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।*
*स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।*

(२।६१–६३)

अर्थात् साधकको चाहिए कि वह उन सम्पूर्ण इंन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और धामका चिंतन करे। क्योंकि जिस पुरुषकी इंन्द्रियाँ वशमें

होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमे आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे उन अभिलषित विषयोंकी कामना होती है और कामनामें विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधसे अत्यंत मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भावसे स्मृतिभ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेपर बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे वह साधक अपनी स्थितिसे गिर जाता है।

कहनेका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधकको अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। हिरण, भृंग, हाथी, मछली तथा पतंगा एक एक रस या इन्द्रीयके वशीभूत होकर अपना जीवन मृत्युके जाल में डाल देते हैं, फिर मायासे भ्रमित मनुष्योंकी गति क्या होगी, जो पांचों ज्ञानेन्द्रियोंके वशमें रहते हैं।

कृष्णनाम साधकको वाणीके वेग, मन के वेग, जीभका वेग तथा क्रोधके वेग पर शासन करना चाहिए। साधक संसारके विषयोंको भी भोगता रहे तथा कृष्णभजन भी करता रहे—दोनों एक साथ नहीं चल सकते, यथा दक्षिण और उत्तर दिशामें एक साथ नहीं चला जा सकता। यदि चलना है तो निश्चित ही किसी एक दिशाका चयन करना होगा। जीवन धारण करनेके लिये जितने अन्न, वस्त्र, जलकी आवश्यकता है, उतने तक ही सीमित रखना चाहिए। गृहस्थ एक सीमा तक परिग्रह कर सकता है, परन्तु गृहत्यागी साधक यदि कलकी चिंतासे पीड़ित है तो वह भगवत् विश्वासी भक्त नहीं हो सकता।

### *उदरका वेग*

प्राणी मात्रको स्थूल देहके पोषणके लिये भोजन तथा जलकी आवश्यकता रहती है। बिना भोजनके शरीर स्थिर नहीं रह सकता। लौकिक और पारलौकिक दोनों ही उद्देश्योंके लिये शरीर आवश्यक होता है। जहाँ तक हरि भजनका प्रश्न है, वह मनुष्य देहमें ही संभव है। यह देह दुर्लभ है। यदि देवताओंको भी भजन करना है तो उन्हें मनुष्य शरीर धारण करना पड़ेगा, क्योंकि अन्य-अन्य योनियाँ भोग योनियाँ हैं, केवल मनुष्य योनि ही कर्म एवं भोग यानि है।

भोजन द्वारा शरीरमें पहुंचने वाले पदार्थ चार प्रकारके होते हैं (१) चर्व्य, (२) पेय, (३) चोष्य तथा (४) लेह्य। इनमें भी शाकाहार, फलाहार तथा मांसाहारकी दृष्टिसे तीन प्रकारका होता है। कुछ लोग शाकाहार तथा फलाहारको एक ही मानते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। फलाहार का उपयोग अधिकतर व्रतोपवास आदिमें किया जाता है, जबकि शाकाहारका सम्बन्ध दैनिक भोज्य सामग्रीसे होता है।

नुकीले पंजे वाले प्राणी पूर्णतः मांसाहारी होते हैं, शृङ्ग धारण करने वाले पशु शाकाहारी (मूल रूपसे तृण, घास, पत्तोंका भोजन करते हैं) कुछ पशु शाकाहारी तथा मांसाहारी होते हैं परन्तु मनुष्योंको पूर्णतः शाकाहारी या फलाहारी रहनेका विधान है। वनवासी एवं राजपरिवार मांसका प्रयोग करते रहे हैं यह उनकी अज्ञानताका ही द्योतक है।

गुणोंके आधार पर सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक—तीन श्रेणीका भोजन होता है। श्रीमद्भगवद् गीतामें इसका विवेचन इस प्रकार किया गया है—

*आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।*
*रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।*
(१७।८)

अर्थात् आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।

उक्त प्रकृत्तिके सात्त्विक तथा संतुलित रूपमें ग्रहण किये गये पदार्थ ही भगवद् भजनमें सहायक होते हैं।

*कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।*
*आहारा राजसस्येष्ठा दुःखशोक कामयप्रदाः।।*
(१७।९)

अर्थात् कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूक्ष, दाहकारक और दुख चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात् भोजन राजस

पुरुषको प्रिय होते हैं।

उक्त प्रकारके भोज्य पदार्थ भजन साधकके शरीरमें अम्ल, पित्त आदिकी वृद्धि कर शरीरको रोगी बनाकर भजनमें शिथिलता उत्पन्न करते हैं—इनका अधिक या निरंतर उपयोग वर्जित है।

*यात यामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।*
*उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।*
(१७।१०)

अर्थात् जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्ध–युक्त वासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

भजनशील साधकको प्रत्येक वस्तु अपने इष्ट एवं गुरुको अर्पित कर ही ग्रहण करना चाहिए। इससे वह वस्तु शुद्ध होकर हृदयमें भक्ति भावका पोषण करती है। जो वस्तुएँ कृष्णको अर्पित किये बिना ग्रहण की जाती हैं वे मल और मूत्र भक्षणके समान होती है, संसारके काम विकारमें वृद्धि करने वाली होती हैं, साधनासे च्युत करनेवाली होती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हमने तो मनसे अर्पण कर दिया—ऐसी धारणा भावुकता मात्र है। मानसी अर्पण केवल शुद्ध चित्त सिद्ध साधकोंकी ही प्रक्रिया है जिसमें वस्तुका स्वरूप भी भावमय तथा चिन्मय होता है। ❑

# गोबर और दूधका न्याय

गोबर और दूध दोनों ही वस्तुएँ गायसे ही उत्पन्न होती है। गायसे ही प्राप्त होने पर भी ये दानों एक जातीय वस्तुएँ नहीं हैं। किन्तु कोई–कोई मुर्ख व्यक्ति कुयुक्तिका प्रदर्शन करते हुए यह कहते हैं कि गोबर और दूध दोनों एक जातीय वस्तुएँ हैं। जब दोनों वस्तुएँ गायके ही शरीरसे उत्पन्न होकर निर्गत हुई हैं, तो दोनोंको एक जातीय क्यों नहीं कहा जायेगा? कुछ लोग तो मूर्खताकी सीमा भी पार कर जाते हैं और यह कहनेमें जरा भी झिझकते कि गोबर दूधसे ही उत्पन्न एक वस्तु विशेष है।

जिस प्रकार गोबर और दूधको एक समझना मूर्खता है। उसी प्रकार वैष्णवकी कृपा और वञ्चना को, वैष्णवके हरिभजनपरायण पुत्र और हरिविमुख पुत्रको, सद्गुरुके यथार्थ शिष्य और शिष्यनामधारी कपट व्यक्तिको एक समझना मूर्खता और विडम्बना है।

श्रीअद्वैताचार्यके पुत्र श्रीअच्युतानन्द, जो कि श्रीचैतन्य महाप्रभुके एकान्तिक भक्त थे तथा उनके अन्यान्य पुत्र, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके विचारोंका विरोध किया था—इन दोनों श्रेणीके लोग बाह्य दृष्टिसे श्रीअद्वैताचार्यके ही पुत्रके रूपमें परिचित होते हैं, तथापि इन दोनों श्रेणियोंके लोगों द्वारा एक ही आदर्शका प्रदर्शन नहीं होता है।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामीके शिष्य श्रीईश्वरपुरी और श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरणमें दोष देखने वाला, गुरुके ऊपर गुरुगिरि करनेकी दाम्भिकतासे युक्त, निर्विशेषवादी रामचन्द्रपुरी बाह्य दृष्टिसे एक ही गुरुके शिष्यके रूपमें परिचित होनेपर भी इनकी चित्तवृत्ति सम्पूर्ण पृथक् थी।

सद्गुरु या महाभागवत वैष्णव शिष्यके ऊपर शासन कर कृपा करते हैं, किन्तु अन्याभिलाषी शिष्यनामधारी व्यक्तिको अर्थ और सम्मान देकर उसकी वञ्चना करते हैं। ये दोनों ही बातें एक ही गुरुदेवसे प्रकट हुई हैं, किन्तु इन दोनोंके फल बिल्कुल अलग है।

कर्म ज्ञान, योग और भक्तिके विचार एक ही शास्त्रमें लिखित होनेपर भी तीनोंके फल एक नहीं हैं। भक्तिका फल है—भगवानके चरणोंमें प्रीति प्राप्त करना, जो कि जीवोंके लिए चरम मंगल है। कर्मका फल है—विषय भोगरूपी जालमें बँधना तथा ज्ञान और योगका फल है—आत्माका विनाश। जो कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और योगकाण्डको भक्तिके बराबर समझते हैं, जो श्रीगुरु–वैष्णव द्वारा वञ्चना और कृपाको एक समझते हैं श्रीगुरुदेवके अन्याभिलाषी कपट शिष्य और निष्कपट शिष्यको समान समझते हैं, उनका विचार गोबर और दूधको एक समान माननेकी भाँति मूर्खतापूर्ण है। ❑

# मुनियोंका मतिभ्रम

*—श्रीअभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त*

*[डा॰ राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित अँग्रेजी गीता–भाष्यकी समालोचना—*
*पूर्व–प्रकाशित वर्ष ४३, संख्या १, पृष्ठ १५ से आगे]*

श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने इस समस्याका समाधान किया है कि एक निरक्षर व्यक्ति भी अप्राकृत शब्द ब्रह्मको समझ सकता है, यदि उसमें भगवानके प्रति शरणागति या प्रपत्ति पूर्णमात्रामें हो। अन्यथा प्रपत्तिके अभावमें कोई भी, चाहे वह लाख विद्वान् ही क्यों न हो, गीताको समझनेका अधिकारी नहीं है। इस प्रकारसे गीता–पाठ करने पर ही जीव 'स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप' हो जाता है। ब्राह्मणको अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गीताका पाठ करते देख कर श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उससे पूछा कि गीताका कौन–सा अंश पाठ कर उसके नेत्रोंसे इस प्रकार अश्रु गिर रहे हैं? ब्राह्मणने यथार्थ दीनतासे युक्त होकर उत्तर दिया—'भगवन्! मैं निरा मूर्ख व्यक्ति हूँ। मैं गीतापाठका अभिनय मात्र करता हूँ। यथार्थ में पढ़ना–लिखना बिलकुल ही नहीं जानता। निरक्षर होने पर भी मैं अपने गुरुकी आज्ञा मान कर गीताजीके अठारहवें अध्यायका नित्य–प्रति पाठ किया करता हूँ। गुरुदेवकी आज्ञाका उल्लंघन न हो जाय इसीलिये जैसे भी हो उनकी आज्ञाका पालन करना अपना नितान्त कर्त्तव्य मानकर पाठ करनेका अभिन्य मात्र करता हूँ। असलमें मैं गीता–पाठ क्या जानूँ?' इस पर श्रीमहाप्रभूजीने पुनः पूछा—'तब आप गीताका पाठ करते–करते रोते क्यों हैं?' ब्राह्मणने और भी नम्रतासे कहा—'मैं जभी श्रीगाताजीका पाठ करने बैठता हूँ, तभी भगवान् श्रीकृष्णका पार्थसारथी रूप मेरे हृदयमें आविर्भूत हो जाता है। भगवान्के उस मनोहर रूपका दर्शन कर मुझे उनकी भक्त वत्सलताकी कथा स्मरण होने लगती है और उस स्मरणके प्रभावसे ही मेरी ऑखोंसे बरबरस ऑसू बहने लगते हैं।'

बड़े–बड़े विद्वान् मायावादी अद्वयज्ञान भगवान् के साथ एकीभूत होकर (उनमें मिल कर) भगवान् होनेके लिये ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् अपने भक्तोंके आज्ञाकारी सारथी कैसे हो सकते हैं—इस समस्याका समाधान उनके क्षुद्र मस्तिष्क द्वारा सीावन? नहीं होता। वास्तवमें भगवान्के साथ जीवका जो नित्यसिद्ध सम्बन्ध होता है, उसके द्वारा और भी बहुत कुछ सीाव? है। यह बात मायावादियोंको हजार समझाने पर भी वे समझते नहीं। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।।' (श्वे॰ उ॰)—इस श्रुतिमंत्रके अनुसार जिसकी भगवान् और गुरुदेव दोनोंमें पराभक्ति है, केवल उन्हींके निकट श्रुतिमंत्र प्रकाशित होते हैं—दूसरोंके निकट नहीं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उस गीता–पाठक ब्राह्मणकी शुद्ध अनुभूति लक्ष्यकर उसका आलिङ्गन किया और उसे सांत्वना दी कि उसीका गीता–पाठ यथार्थतः सिद्ध हुआ है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी स्वीकृतिका मूल्य बड़े–बड़े विश्वविद्यालयोंकी कोटि–कोटि उपाधियोंके मूल्यसे अत्यन्त अधिक है—इसे कौन अर्वाचीन स्वीकार न करेगा? इस स्वीकृति द्वारा यह स्पष्ट है कि प्राकृत विद्या–बुद्धि द्वारा गीताका पाठ नहीं होता। बल्कि भक्त आचार्य–परम्परासे जो अप्राकृत अनुभूति प्राप्त होता है; वही अनुभूति गीताकी एकमात्र अनुभूति है—अन्यथा वह 'श्रम एव हि केवलम्' होता है। भगवान् अप्राकृत हैं; उनकी वाणी भी अप्राकृत होती है एवं वह अप्राकृत वस्तु अप्राकृत गुरु–परम्परा द्वारा ही लभ्य है;—शास्त्रोंका यही तात्पर्य है।

*अतः श्रीकृष्ण–नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।*
*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।*

जब तक जड़ीय भाव दूर नहीं होता, तब तक अप्राकृत श्रीकृष्णके नाम, धाम, लीला और

परिकर–वैशिष्ट्य कदापि इन्द्रियोंकी पकड़में नहीं आते। सेवोन्मुख भक्तही ही रसना द्वारा? भगवानका नाम उच्चरित होता है, उनका रूप आँखोंसे दृष्ट होता है तथा उनकी गुण–लीलाकी कथाएँ श्रुत होती हैं।

*प्रेमाञ्जनच्छुरित–भक्ति विलोचनेन*
*सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।*
*यं श्यामसुन्दरमचिन्त्य–गुणस्वरूपं*
*गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।।*

(ब्रह्मसंहिता)

जो २४ घंटोमेंसे २४ घंटे ही भगवान्‌के प्रति अप्राकृत प्रेमयुक्त होकर उनकी सेवामें निमग्न रहते हैं, केवल वे ही भगवान्‌का अप्राकृत श्यामसुन्दर रूप अपने हृदयमें निरन्तर अनुभव कर सकते हैं। इस विषयमें डा॰ राधाकृष्णन जैसे बड़े–बड़े कर्मवीर और धर्मवीरका प्रवेशाधिकार नहीं है—शास्त्रोंका यह गूढ़ तात्पर्य है। भगवान्‌को तत्त्वतः जाननेका अधिकार एकमात्र भक्तजनोंको ही है—इसमें दूसरोंका अधिकार नहीं है—

*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।।*

(गीता १८/५५)

अतएव राधाकृष्णन जैसे विद्वान व्यक्तिके लिये यह जानना आवश्यक है कि श्रीकृष्णके अन्दर श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई नहीं है। उनमें देह–देहीका भेद नहीं है। 'अद्वयज्ञान' श्रीकृष्ण ही Absolute परमत्त्व हैं—गीताका यही तात्पर्य है। इसलिये श्रीकृष्णके अन्दर एक पृथक् तत्त्वका अविष्कार कर डा॰ राधाकृष्णन स्वयं ही द्वैतवादी (?) हो पड़े हैं। जो तत्त्व प्रत्येक जीवोंके हृदयमें व्याप्त और विराजमान है, वह तत्त्व स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं—और कोई नहीं; इस विषयमें कृष्ण ही स्वयं प्रमाण हैं। वे गीतामें कहते हैं—

*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।*
*इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव–समन्विताः।।*

(गीता ११।८)

*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो*
*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।*
*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो*
*वेदान्तकृद् वेद–विदेव चाहम्।।*

(गीता॰ १५।१५)

अतएव जो विद्वान् हैं या लिख–पढ़ कर बुद्धिमान् हुए हैं, वे जानते हैं कि समस्त पदार्थोंके मूल जन्मदाता हैं—स्वराट्‌पुरुष। भगवान् श्रीकृष्ण ही एक मात्र Beginningless आदि पुरुष हैं—'पुरुषं जिनका जड़ीय भाव दूर हो गया है तथा अप्राकृत भाव उदित हो गया है, केवल वे ही श्रीकृष्णको 'जन्माद्यस्य यतः'—सूत्रका मूलसूत्र जानते हैं। भावशुद्धि न होनेसे बहु सहस्त्र सिद्धिप्राप्त मुनिगण भी कृष्णको जाननेमें असमर्थ होते हैं, उनका मतिभ्रम हो जाता है।

*'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।'*

(गीता ७।१)

भगवान् श्रीकृष्णका नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर–वैशिष्ट्य सब कुछ एक तत्त्व है—ये सब पृथक–पृथक तत्त्व नहीं हैं, उनके सम्पर्कका सब कुछ एक तत्त्व है।

*नामश्चिन्तामणिः कृष्णचैतन्य रस–विग्रहः।*
*पूर्ण शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।।*

भगवान् श्रीकृष्ण स्वंय तो चिन्तामणि हैं ही, उनका सब कुछ चिन्तामणि है; उनके भीतर और बाहरका सब कुछ पूर्ण है, शुद्ध है, नित्य है, मुक्त है और उनसे अभिन्न है। इसे यथार्थ विद्वान् व्यक्ति ही समझनेमें समर्थ हैं। मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, ऐसे व्यक्ति भगवान्‌को इस प्रकार जाननेमें असमर्थ हैं।

अद्वैतवादी अद्वयज्ञानकी बात समझते नहीं। इसीलिये डा० राधाकृष्णनने अपने कपोलकल्पित अद्वयज्ञानमें द्वैतज्ञानकी स्थापना की है। यदि डा॰ राधाकृष्णन यह कहना चाहते हों कि निराकार ब्रह्म ही श्रीकृष्णके अन्दरसे प्रपत्ति अर्थात् शरणागतकी कथा बोल रहे हैं तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि निराकार ब्रह्म भी कथा कहते हैं—बोलते हैं—वे ऐसा स्वीकार करते हैं।

अब यदि निराकार ब्रह्म बोलनेमें समर्थ हैं, तब कथा बोलनेके लिये निराकार ब्रह्मकी जिह्वा भी स्वीकार करनी होगी। अतएव यदि ऐसा स्वीकार

किया जाता है, तो उनका निराकारवाद ही ध्वंस हो पड़ता है। जो व्यक्ति बोल सकता है, वह चल-फिर भी सकता है—यह शास्त्र द्वारा प्रमाणित है और जो चल-फिर सकता है, बोल सकता है, वह अवश्य ही इन्द्रियवान् (इन्द्रियसे युक्त) है। इसलिये उसका भोजन, शयन, अन्य सब कार्य ही सिद्ध हैं। इसलिए वह Beginningless, *Eternal* वस्तु निराकार नहीं है—इस बातको डा॰ राधाकृष्णन कैसे अस्वीकार करेंगे?

डाक्टर राधाकृष्णनने अपने Introductory essay के पृष्ठ ६२ में लिखा है—

"When we are emptied of our self (?) God takes possession of us. The obstacles to this God-possessions are own virtues, pride, knowledge, our subtle demands, our unconscious assumptions and prejudices"

अतएव उनकी ही युक्ति द्वारा हम उनको ऐसा कह सकते हैं कि डा॰ राधकृष्णनने अपनी अनवधानताके लिये तथा पूर्व-संस्कारोंके वशीभूत होकर ही श्रीकृष्णमें देह-देहीका भेद दर्शन किया है। वे अब भी जड़ीय अहंकारसे मुक्त नहीं (Emptied of self) हैं। अतएव स्वोपार्जित Virtues, pride, knowledge एवं subtle demands एवं unconscious assumptions and prejudices सब कुछ जैसाका तैसा ही है। वे निश्चय ही मायावाद संस्कारसे परिचालित हुए हैं। इसीलिये वे पारम्पर्य-तत्त्वको समझ नहीं सके हैं। और एक दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करने पर हम खूब जोर देकर कह सकते हैं कि मायावादके आदि-पिता श्रीपाद शंकराचार्यने 'जगत् मिथ्या' प्रमाणित कर संन्यास, वैराग्य आदि वैशिष्ट्यों पर ही अधिक जोर दिया था। उन्होंने मिथ्याभूत जगतके ऊपर आधिपत्य स्थापन करनेमें समय नष्ट नहीं किया। यदि शंकराचार्य मायावाद-दर्शनका आधुनिक विपर्यय पाते तो वे अवश्य ही बड़े लज्जित होते। डा॰ राधाकृष्णन अपने पूर्व-संस्कार द्वारा बरबस पारिचालित हो रहे हैं—इसे हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। क्योंकि स्वयं ही अपने Introuctory essay (Page 25) में लिखा है—

"The emphasis of the Gita is on the supreme as the personal God who creates the perceptible world by His Nature (Prakiti). He resides within the heart of everyh being. Hi is the enjoyer and lord of sacrifices. He stirs our heart to devotion and grants our prayers. He is the source and restrainer of valuer. *He entres into personal relations with us in worship and prayer.*"

श्रीमद्भागवतका ऐसा तात्पर्य स्वीकार करके भी डा॰ राधाकृष्णनने भगवान् श्रीकृष्णमें देह-देहीका भेद माना है, यह उनके पूर्व संस्कार और जड़ा विद्या का ही फल है। इसके अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है? Supreme Absolute अद्वयज्ञान तत्त्वमें देह-देहीका भेद मानना—यह कैसा अद्वैतवाद है? इच्छा-द्वेष द्वारा प्रभावित होने पर स्वर्गमें आना पड़ता है; इसलिये उस इच्छाद्वेष रूप प्रवेश-पथमें जो Cult of pride and prejudice उत्पन्न होती है उसीका नाम माया है। "कृष्ण-वहिर्मुख हञा भोगवांछा करे। निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे।।" जब भगवान् ही स्वयं समस्त शरीरोंमें विराजमान क्षेत्रज्ञ हैं, तब उनके शरीरमें भला दूसरा कौन बैठेगा? भगवानने गीतामें भगवानके व्यक्तित्वके विषयमें जिन-जिन वैशिष्टयों को स्वयं ही स्वीकार किया है, डा॰ राधाकृष्णनने अपनी जड़ीय पाण्डित्य प्रतिभा द्वारा उसे खण्डन करनेका व्यर्थ प्रयास किया है। इस प्रकारकी कुचेष्टा द्वारा जगत्में विद्या-प्रसारके बदले वे अविद्याका ही प्रचार कर रहे हैं। उनके जैसे महान् व्यक्तिके लिये ऐसा करना उचित नहीं हुआ है।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों ही अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं—यह बात डा॰ राधाकृष्णन नहीं जानते हैं—कहनेसे हम लोग ही हास्यास्पद होंगे। इसलिये भगवान् जब आते हैं, तब वे किस प्रकार मायिक हो जाते हैं, इसे हम समझ नहीं पाते हैं।

गीताजीमें स्पष्ट ही लिखा है कि भगवान आत्ममाया द्वारा आविर्भूत होते हैं और अपनी प्रकृति या अपने स्वाभावमें ही अवतीर्ण होते हैं। और क्योंकि स्वयं जैसे हैं, वैसे ही (आकार और स्वाभाव आदिमें) आते हैं, क्योंकि उनमें देह–देहीका भेद नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी प्रांजल भाषामें लिखा गया है कि भगवानका जन्म और उनके कर्म सब कुछ जड़से अतीत होता है। तथा वे शाश्वत, आदि पुरुष, परब्रह्म और परम पवित्र हैं—ऐसा भी स्पष्ट ही लिखा हुआ है। जीव–'ब्रह्म' मायाद्वारा आच्छादित होता है—इसे हम भी स्वीकार करते हैं; किन्तु परम ब्रह्म यदि माया द्वारा आच्छादित हो जाय, तो माया ही परब्रह्मसे परतत्त्व हो पड़ती है?

(क्रमशः)

# त्रिदण्डी स्वामी भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीका पुलिस लाइनमें अभूतपूर्व स्वागत एवं प्रवचन

***मथुरा***

हाल ही में एक दर्जनसे अधिक देशोमें भगवान श्रीकृष्ण एवं सनातन धर्मका प्रचार कर लौटे गौड़ीय वेदान्त समितिके उपसभापति आचार्य त्रिदण्डी स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजका पुलिस लाइन स्थित मन्दिरमें जिलेके आला अफसरोंने, हार्दिक अभूतपूर्व स्वागत कर उनके बताये हुये मार्ग पर चलनेका संकल्प लिया।

श्रील महाराजका सक्षिप्त परिचय कराते हुये, पुलिस अधीक्षक E.O.W. मेरठ, श्री श्यौदान सिंहने कहा—श्रीमहाराज वर्तमानमें भारत वर्षके एक मात्र ब्रज सन्त शिरोमणि हैं, जो कि आज संसार भरमें भारतीय संस्कृति एवं भगवान् श्रीकृष्णका प्रचार कर भारतको विश्व गुरुका सम्मान दिला रहे हैं।

श्रील महाराजने पुलिस लाइन स्थित मन्दिर परिसरमें अपने प्रवचनमें सनातन धर्म एवं विदेशोंमें हुये प्रचार प्रसारके सम्बन्धमें प्रकाश डाला। उन्होंने कहा—परमात्मा तथा जीवात्माके बीच पारस्परिक सम्बन्धको भगवद् प्रीति या प्रेम कहते हैं। भगवान्के प्रति जीवका यह प्रेम अभाव ही समस्त दुःखोंका कारण है। इसी कारण समस्त संसार दुःखमय है, विदेशोंमें तो और भी बुरा हाल है। वहाँ जीवमात्रमें ही आपसी प्रेम नहीं है। बच्चा यह नहीं जानता है कि उसका पिता कौन है। बुजुर्गोंका सम्मान नहीं है। वे घरसे दूर ओल्ड हाउसमें रहते हैं।

उन्होंने कहा—सुखमयी जीवन जीनेके लिये हमें भारतीय प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृतिकी ओर मुड़ना होगा। हम कहीं भी, कैसे भी रहें, उच्चाधिकारी हों या पुलिसके सिपाही हों भगवान्को नित्य निरन्तर स्मरण करते रहना है तथा शरीरकी समस्त इन्द्रियोंको भगवान्के रूप, गुण, लीला एवं कथाओंमें निमग्न रखना है।

विदेशोमें हुये प्रचारके सम्बन्धमें उन्होंने कहा कि वहाँ भौतिकतासे त्रस्त एवं अत्याधुनिकतामें लिप्त विदेशी लोग, सनातन धर्म एवं चैतन्य महाप्रभुकी प्रेममयी वाणीका लाभ उठाकर जीवनके वास्तविक मूल्योंके प्रति जागरूक हो रहे हैं। धार्मिक सभाओंमें आनेवाले लोग भगवान्के प्रचार–प्रसारसे प्रभावित होकर धूम्रपान, शराब, मांसाहार एवं व्यभिचारको पूर्ण रूपसे त्यागकर शाकाहारी आदर्श जीवन जीनेके लिये अग्रसर हो रहे हैं।

श्रीमहाराजने बताया कि भगवान् श्रीकृष्णके प्रति विदेशियों की बढ़ती हुई अलौकिक श्रद्धा उनको अपना देश छुड़ाकर भगवानकी जन्म एवं क्रीड़ास्थली मथुरा–वृन्दावन धाममें आकर भारतीय हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यताको अपनानेके लिये प्रेरित कर रही है। यदि यह क्रम इसी प्रकार चलता रहा तो आनेवाले समयमें भगवान श्रीकृष्णके भक्तोंमें भारतीयोंकी अपेक्षा

विदेशी अधिक होंगे। विदेशोंमें हम जहाँ भी गये वहाँ उन्होंने हमारा आत्मभावसे स्वागत किया। वे लोग दीक्षा एवं श्रीकृष्ण महामन्त्र लेकर श्रीकृष्ण प्रेम एवं वैराग्यकी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं।

प्रवचनके मध्यमें पहुँचे, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक श्रीराजीव कृष्ण एवं उनकी धर्मपत्नी आयकर उपायुक्त श्रीमती मीनाक्षी सिंहने महाराजको माल्यार्पण कर स्वागत किया। वरिष्ठ पुलिस अधीक्षकने महाराज की आगामी विदेश यात्राके बारेमें जानकारी ली तथा धर्मपत्नी श्रीमती मीनाक्षी सिंहने महाराजका कुशल क्षेम पूछा। एस.पी. सिटी श्री ओ.पी. सागरने सपरिवार श्रीमहाराजका स्वागत कर आशीर्वाद लिया। अपर पुलिस अधीक्षक वीर बहादुर सिंह, पुलिस अधीक्षक इ.ओ.डब्ल्यू. मेरठ, श्रीश्यौदान सिंह एवं उनकी धर्मपत्नी, आर.आई. श्रीशील कुमार, सूबेदार विजय सिंह, सूबेदार हप्पू आदि पुलिस कर्मियोंने महाराजका स्वागत कर आशीर्वाद लिया। प्रवचन आदि कार्यक्रमकी सभी व्यवस्था पुलिस लाइन मन्दिरके पुजारी प. राजेश शर्माने तथा सहयोग नरेश कुमार (नीरज डेरीवाले) ने किया। ❑

# भगवद्भजन ही मनुष्य जीवनका कर्तव्य है

*—श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज*

*(फिजी देशमें दिया गया एक प्रवचन)*

कृष्णकी लीलाकथाओंको श्रद्धापूर्वक सुननेसे वे कानोंके माध्यमसे हृदयमें प्रवेश कर सदाके लिए बैठ जाते हैं, हृदयको निर्मलकर देते हैं। वे उन्नत उज्ज्वल रसको प्रदान कर देते हैं, जिसके वे स्वयं अधीन हैं। श्रवणसे हृदयकी सारी ग्रंथियाँ मिट जाती हैं—

*भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चिद्यन्ते सर्वसंशयाः।*

अर्थात् श्रवणरूप भजन द्वारा अविद्यामय हृदयग्रन्थि और सभी संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उसके सारे संदेह मिट जाते हैं। हरिकथा इतनी शक्तिशाली है। किन्तु इन कथाओंका श्रवण श्रद्धापूर्वक निष्कपट हृदयसे करना चाहिए।

हम करोड़ों जन्मोंसे भगवानको भूलकर, अपनी आत्माको भूलकर, संसार चक्रमें पड़े हैं। हम समझ रहे हैं कि हम बड़े सुखी हैं। कुत्ते तथा सूअर जो गंदी नालीमें रहते हैं एक बारमें १५-१६ संतान उत्पन्न करते हैं। उनके शादी ब्याहकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। उनको सुबहसे शाम तक धन उपार्जनके लिए बाहर नहीं जाना पड़ता। वह शूकरी कहती है कि मैं मनुष्योंसे अधिक सुखी हूँ।

भगवानको भूलकर हम भी यही सोचते हैं कि हम बड़े सुखी हैं। यह मेरा व्यक्तिगत विचार नहीं है, बल्कि समस्त प्रामाणिक शास्त्र भी यही कहते हैं। ये शास्त्र परम सत्य हैं। शास्त्र कृष्णका ही स्वरूप है, परन्तु कृष्णसे भी अधिक दयालु है। क्योंकि कृष्णका साक्षात् दर्शन तब तक नहीं हो सकता जब तक कोई अनर्थ और अपराधोंसे मुक्त न हुआ हो। परन्तु भागवत आदि शास्त्ररूपी भगवानको अनर्थयुक्त अवस्थामें भी पढ़ा जा सकता है और उसके द्वारा कृष्णका दर्शन किया जा सकता है। ऐसे शास्त्रोंका यही आदेश है—

*नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं*
*प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।*
*मयानुकूलेन नभस्वतेरितं*
*पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्माहा।।*

अर्थात् यह नर शरीर सभी फलोंका सार है, अतएव आद्य है। यह सुलभ और सुदर्लभ है। भवसागरसे पार होनेके लिए यह नौकाके समान है। गुरु ही इसके कर्णधार हैं। मेरी कृपारूप अनुकूल वायुको प्राप्त कर भी, जो इस भवसागरसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करते हैं, वे आत्मघाती हैं।

मनुष्य जीवनका एकमात्र कर्त्तव्य है भगवानकी भक्ति। पुत्र परिवार आदिको भी भक्ति मार्ग पर लाना ही उनका परम कल्याण करना है। अन्यथा जीवनको

धिक्कार है। जगतके कल्याणके लिए कभी–कभी भगवान राम, कृष्ण, महाप्रभुके रूपमें आते हैं, कभी–कभी अपने भक्तोंको भी भेजते हैं। शुकदेव गोस्वामी भगवानके परिकर हैं। परीक्षित महाराजको सुनानेके छलसे जगतमें उन्होंने भागवतका प्रकाश किया। यदि भागवत नहीं होता तो जगत अधूरा रह जाता अर्थात् जगतका यथार्थ कल्याण नहीं होता। धर्मराज्यमें भगवानकी वाणी गीता प्राथमिक पुस्तक है जिसमें जीवकी नित्यता तथा भगवद्भक्तिकी कर्तव्यता और श्रेष्ठताका वर्णन हुआ है। भागवत ही धर्मक्षेत्रकी अंतिम पुस्तक है, इसमें प्रेमका संदेश है। कैसे कृष्णने ब्रजमें प्रकट होकर पशु–पक्षी आदिसे भी प्रेम किया तथा ब्रजवासियोंको अपने प्रेमानंदमें विभोर कर दिया, इसका उसमें वर्णन है।

एकबार कृष्णके पुत्र प्रद्युम्न, चारुभानु, साम्ब आदि जंगलमें खेलने गए। उन्हें वहाँ बड़ी प्यास लगी। खोजते खोजते उन्हें एक बड़ा कुँआ मिला जिसमें एक बहुत विशाल गिरगिट बैठा था। वह इतना बड़ा था कि पानी लेनेकी भी जगह नहीं थी। बच्चोंने उसे निकालनेकी चेष्टा की, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। वे कृष्णके पास आए तथा उनसे सारी बातोंका वर्णन किया। कृष्ण उस कुँएके पास आए और अपना चरण उस गिरगिटको स्पर्श करा दिया। स्पर्श होते ही उसमेंसे एक अत्यन्त रूपवान दिव्य पुरुष निकला। उसने कृष्णकी परिक्रमा की, स्तव–स्तुति की और भक्तिकी याचना की।

बच्चोंको शिक्षा देनेके लिए कृष्णने उस युवकसे पूछा—"आप कौन हैं? किस कारणसे आपको यह गिरगिट योनि प्राप्त हुई है? कबसे आप इसको भोग रहे हैं?" उस दिव्य पुरुषने उत्तर दिया—"मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग हूँ। मैं महादानीके रूपमें प्रसिद्ध था। आकाशमें जितने तारे हैं तथा पृथ्वी पर जितने धूलिकण हैं मैंने उनसे अधिक गौएँ दान की थीं। दुधारु गायको रेशमी वस्त्र उढ़ाकर उनके सींग सोनेसे तथा खुर चाँदीसे मढ़वाकर बछड़े सहित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान करता था। एक दिन एक दानकी हुई गाय वापस आ गई और मैंने भूलसे उसे दूसरेको दान कर दिया। उस गायका असली स्वामी आया और बोला कि जिस गायको अभी आपने दानमें दिया, यह मेरी है जिसे मैंने पहले आपसे ही दानमें प्राप्त की थी। आप उसे पुनः किस प्रकार दूसरेको दानमें दे सकते हैं? इसे मुझे लौटा दीजिये।" दूसरा ब्राह्मण गाय देनेको तैयार नहीं हुआ। मैं बड़े धर्म–संकटमें पड़ गया। मैंने उन दोनोंसे बड़ा अनुनय– विनय किया और कहा कि मैं आपको बदलेमें एक लाख गायें दूँगा आप यह गाय मुझे दे दें। मुझसे अनजानेमें यह अपराध हो गया है। वे दोनों ही ब्राह्मण मेरे प्रस्तावको अस्वीकार कर चले गये। इसके फलस्वरूप मुझे यह गिरगिट योनि प्राप्त हुई है।"

राजा नृगको कृष्णका दर्शन प्राप्त हुआ। उसका एक कारण था। उन्होंने सोनेके सिंहासन पर रख कर भागवतकी एक हस्तलिखित प्रति दान की थी। उसीके फलस्वरूप उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन मिला तथा उनके चरण स्पर्शसे गिरगिट योनिसे मुक्ति मिली। लाखों गायोंका दान भी उनका उद्धार न कर सका। भगवानके स्वरूप शास्त्रकी ऐसी महिमा है।

आज कल लोग प्रचुर धनराशि खर्च करके अस्पताल बनवाते हैं, जिसमें सब प्रकारके लोगोंकी चिकित्सा होती है। एक डकैत किसी डकैतीमें गोली लगनेसे घायल होकर चिकित्साके लिए वहाँ लाया गया तथा वह ठीक हो गया और ठीक होनेके बाद बदला लेनेकी भावनासे उसने उन व्यक्तियोंको मार डाला जिन्होंने उसपर गोली चलाई थी। अब इस पापका भागीदार वे भी होंगे जिनके अस्पतालमें उसकी चिकित्सा हुई थी। पुण्यमें भी पाप होता है। यज्ञकी अग्निमें भी कितने ही प्राणी मर जाते हैं, उसमें भी पाप छिपा है। इन पापोंसे हम नहीं बच सकते। पुण्य, दानादिसे भी सुख नहीं होता। केवल भगवानकी भक्तिमें ही सुख है।

पिता वही है जो अपने बच्चोंको भक्तिकी शिक्षा दे। माँ वही है जो बच्चोंको भगवानकी भक्ति सिखाए। जब रामचन्द्रजी वनको जा रहे थे तब लक्ष्मणजीने अपनी माँ सुमित्रासे कहा, "भैया और भाभी वनको

जा रहे हैं। उनकी सेवा कौन करेगा? यदि आप आज्ञा दे दें तो उनकी सेवा करनेके लिए मैं भी उनके साथ चौदह वर्षके लिए वनको जाऊँ।" माता सुमित्रा ने उत्तर दिया—

*पुत्रवती युवती जग सोई।*
*रघुपति भगतु जासु सुत होहि।।*

आज मेरा तुम्हें गर्भमें धारण करना सार्थक हुआ कि रामकी सेवाके लिए तुम वनको जा रहे हो। समस्त पुण्योंका सर्वश्रेष्ठ फल यही है कि श्रीसीतारामके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेम हो। यह है माताके चरित्रका उदाहरण।

जो पुत्र संसारमें आकर केवल दुःख ही देता है वह मूत्रके समान हैं। पति वही है जो अपनी पत्नीको भगवद्भक्तिमें लगाए। जो पत्नी पतिको सम्मार्गमें लगाए उसीका विवाह करना सार्थक है। गुरु वही है जो भगवानका भजन करता है तथा शिष्योंको भजनमें लगाता है। जिस गुरुके साथ रहनेसे भगवानका भजन नहीं होता, उसको छोड़कर दूसरा सद्गुरु करना चाहिए।

*गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्*
*पिता न स स्याज्जननी न स स्यात्।*
*दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्*
*न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्।।*

वह गुरु गुरु नहीं है, वह स्वजन स्वजन नहीं है, वह पिता पिता नहीं है, वह जननी जननी नहीं है, वह देवता देवता नहीं है, वह पति पति नहीं है, जो समुपेत मृत्युसे रक्षा नहीं कर सकता है।

जो हृदयमें प्रेम नहीं दे सकता, कृष्ण सेवा नहीं दे सकता जो शिष्योंको अपनी सम्पत्ति समझता है, ऐसे गुरुका तत्क्षण परित्याग करके सदगुरुका पदाश्रय करना चाहिए। गुरु वही है जो प्रेमाभक्ति देकर राधाकृष्णके चरणोंमें पहुँचा दे।

एक समय पिता-पुत्रमें लड़ाई हो गई। पिता है—हिरण्यकशिपु और पुत्र है—प्रह्लाद। पिता कहते हैं, "पहले काम सीखो फिर खाओ। पहले 'क' होता है फिर 'ख'। प्रजाओं पर शासन सीखो राजनीति सीखो।" पुत्र कहता है—"नहीं पिताजी, भगवानका नाम करनेसे, उनका भजन करनेसे सुखपूर्वक निर्वाह हो सकता है।" पिताने कहा—यदि काम नहीं करेगा तो क्या खायेगा?" पुत्रने उत्तर दिया—"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। अजगर क्या कोई काम करता है या पक्षी कुछ काम करके भोजन पाते हैं? जो कुछ भी प्राप्त होता है वह पूर्व जन्मोंके कर्मोंके कारण ही प्राप्त होता है। इस जन्ममें यदि भगवद् भजन नहीं किया, भगवद् अनुभूति नहीं हुई तो जीवन व्यर्थ गया।" ये सब शिक्षाएँ प्रह्लाद महाराज अपने पिताको देते हुए कह रहे हैं—"बाल्यकालसे ही भगवानका भजन करना चाहिए। वृद्धावस्थामें जब रोग घेर लेंगे, शरीर साथ नहीं देगा, तब भजन नहीं होगा।"

यह शरीर किसीका साथ नहीं देता। हिरण्यकशिपु नहीं रहा, रावण नहीं रहा, जिसके लिए कहा जाता है—'एक लाख पूत सवा लाख नाती उस रावणके घर दिया न बाती'। मेघनाद जैसा शक्तिशाली पुत्र, मन्दोदरी जैसी पतिव्रता स्त्री, सोनेकी लंका, क्या नहीं था उसके पास। किन्तु उसके वंशमें कोई दीप जलानेवाला भी नहीं बचा।

जगतके लोगोंको इससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि वे कितना भी धन उपार्जन कर ले रावणके समान धनी नहीं हो सकते। हम सोनेकी लंका नहीं बना सकते। रावण, जो हवामें चल सकता था, पानीपर चल सकता था, अनेकों विद्याएँ जानता था, बिना प्रयासके स्वर्ग पहुँच जाता था, कोई भी रूप धारण कर सकता था, उसकी अपेक्षा हमारी सम्पत्ति, बुद्धि, शक्ति अतिक्षुद्र है। जब वही सुखी नहीं हो सका तो हम कैसे होंगे? हमारी बुद्धिमत्ता इसीमें है कि हम कुछ भजन कर लें।

भजन किसे कहते हैं, इसे समझना चाहिए। भजनके लिए भगवानसे सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिस प्रकार परिवारमें परस्पर सम्बन्ध होता है, पिताका पुत्रसे तथा अन्य संतानसे, पतिका पत्नीसे इत्यादि। यदि पुत्रको कोई असाध्य रोग हो जाय तो उसके लिए माता-पिता समस्त चेष्टा करके चिकित्सा करायेंगे। चाहे अपनी धन-सम्पत्ति बिक

जाए, पर चिकित्सामें कभी नहीं करेंगे। क्यों? क्योंकि पुत्रके प्रति ममता है, सम्बन्ध है। क्या पड़ोसी या अन्य किसीके पुत्रकी चिकित्सामें वे इतना व्यय वहन करेंगे? नहीं, क्योंकि वहाँ सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार भगवानसे भी सम्बन्ध होता है। वे हमारे स्वामी हैं, सखा हैं, प्रियतम हैं। इन सम्बन्धमेंसे एक सम्बन्ध गुरुसे प्राप्त करके भजन करना ठोस भजन होता है। सम्बन्ध ही भजनकी प्रथम सीढ़ी है।

शिक्षा प्राप्त करनेके लिए पाठशालामें प्रवेश लेना पड़ता है। हरिनाम दीक्षा गुरुसे ग्रहण करना ही भजन पाठशालामें प्रवेश है। तत्पश्चात् गुरु बतायेंगे कि कृष्णसे हमारा क्या सम्बन्ध है, हम जड़ शरीर नहीं आत्मा है तथा स्वरूपतः गोलोक वृन्दावनके निवासी हैं। अपने स्वरूपको भूलकर तथा कृष्णसे अपने सम्बन्धको विस्मृत कर हम यहाँ प्रपंचमें पड़े हैं। मंच पर अभिनय करनेके लिए कलाकार विभिन्न प्रकारके रूप धारण करते हैं, पर नाटक समाप्त होने पर वे पुनः अपने असली स्वरूपमें आ जाते हैं। जीव भी स्वरूपतः जीव शक्तिसे निकला है और कोई पुरुष, कोई स्त्री, कोई पशु या पक्षी प्रभृति देह धारण करता है। मुक्त हो जाने पर वह समझ जाता है कि कृष्ण ही एकमात्र जगतके पति, स्वामी, मित्र अथवा प्रियतम हैं। उचित पद्धतिसे अल्पमात्र भजन भी यथेष्ट है। यदि यथेष्ट नहीं है तो भजन करते-करते साधुसंग प्राप्त होगा और कालान्तरमें सदगुरु मिलेंगे तथा उनसे उचित पद्धति द्वारा भगवानसे सम्बन्ध लेकर भजन होगा।

हम भारत देशके वासी हैं। 'भा' का अर्थ है—प्रकाश। जो प्रकाशमें सदा रत है, वही भारतवासी है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकारमें न जाकर प्रकाशमें आओ। भारत प्रकाशका स्थान है। भक्ति ही वह प्रकाश है जो अन्य किसी देशमें नहीं है। ब्रह्मा आदिने इसका इस जगतमें प्रकाश किया। अज्ञानता ही अंधकार है। जड़ शरीर तथा जड़ीय वस्तुओंमें आसक्ति ही अज्ञानता है। प्रकाश है—विश्व-ब्रह्माण्डके नियन्ताकी भक्ति। यही भारतका भाव है।

❑

# प्रचार–प्रसंग

### *रोम (ईटली) १७–४–१९९९*

जगद्गुरु नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान उपसभापति एवं साधारण संपादक परमाराध्यतम ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने अपनी सातवीं विश्व यात्रामें गत ३ अप्रैल से ८ अप्रैल तक राजधानी दिल्ली और मुम्बई महानगरीके डी.एम. बजाज हाल तथा शहरके प्रसिद्ध रोटरी क्लबमें आयोजित विशाल धर्मसभाओंमें प्रभावी रूपसे प्रचार कर ९ अप्रैलको ईटली स्थित मिलान महानगरीके मालपेंसा (MALPENSA) हवाई अड्डे पर अपने परिकरों सहित शुभ पदार्पण किया। यहाँ हवाई अड्डे पर ईटलीके अतिरिक्त इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड तथा अन्य यूरोपिय देशोंसे आए भक्तोंने श्रीलमहाराजजीका माल्यर्पण करते हुए श्रीहरिनाम संकीर्त्तन द्वारा हार्दिक स्वागत किया। हवाई अड्डेसे परम वन्दनीय श्रील महाराजजीको उनके परिकरों सहित CURINO नामक स्थान पर ले जाया गया। पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमके अनुसार यहाँ दो दिन रूककर श्रीलमहाराजजी NOVARA, BOLAGNA, FIRENLE तथा PISA स्थित VIAREGGIO आदि नगरोंसे होते हुए १६ अप्रैलको रोम पहुँचे।

परम पूज्यनीय श्रील महाराजजीकी इन विदेश

यात्राओंका उद्देश्य है—भारतीय वैदिक संस्कृति और वेदोक्त सनातन धर्म एवं स्वयं भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके वैशिष्ट्य और अवदानका प्रचार-प्रसार तथा श्रीगौरसुन्दर द्वारा आचरित एवं प्रचारित इस विमल प्रेमधर्मके द्वारा न केवल व्यक्तिगत रूपसे मानवमात्रके जीवनमें अपितु विश्व स्तर पर शान्ति एवं विश्ववासियोंके हृदयमें प्राणीमात्रके प्रति सोहाद्रकी भावनाका बीज बोना। आज समग्र मानव जाति इस विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञानके अभाव हेतु भ्रमित हो पतनोन्मुख हो रही है। परस्पर अविश्वासके कारण एक दूसरोंके प्रति पारिवारिक और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रीति और ममताकी भावना नष्ट प्रायः हो गई है। परिणामस्वरूप विभिन्न राष्ट्र आपसमें लड़ रहे हैं। इस विषम परिस्थितिसे बचनेका एक मात्र उपाय है—आपसी ईर्ष्या और द्वैषकी भावनाका परित्यागकर भगवान्नामका जप और संङ्कीर्तन करना। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।

FIRENRE में पूज्यपाद भक्तिवैभव पुरी गोस्वामी महाराज भी पधारे हुए थे। भारतसे दूर विदेशोंमें हुई इस भेंटमें दोनों संत एक दूसरेको देख अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा दोनोंमें शुद्धभक्तिके सिद्धान्त और प्रचार आदि विषयोंका आदान प्रदान हुआ। यहाँ सन्ध्याका प्रवचन परमाराध्यतम श्रील महाराजजीने दिया। जिसमें उन्होंने परमपूज्य भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजके साथ अपने पारमार्थिक सम्बन्धका संक्षेपमें विवरण दिया तथा "अनर्पित चरिं चिरात्" श्लोकका उल्लेख करते हुए शुद्ध प्रेमाभक्तिका अत्यन्त हृदयस्पर्शी विश्लेषण किया। यहाँ प्रायः २०० भक्तोंका समूह श्रील महाराजजीके दर्शन हेतु एकत्रित हुआ था। अगले दिन पूज्यनीय महाराज जीने VIAREGGIO की ओर प्रस्थान किया।

VIAREGGIO में चार दिनका कार्यक्रम रखा गया था। समुद्रतटके निकट स्थित इस स्थानका अपना ही सौन्दर्य है। प्रतिदिन संध्याके प्रवचनोंमें परमाराध्यतम श्रील महाराजजीने यहाँ श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थसे श्रीरूप शिक्षा तथा श्रीसनातन शिक्षाका पाठ किया। ईटलीकी राजधानी रोंममें भी भक्तों तथा दर्शनार्थियोंका तातां लगा हुआ था। बहुतसे भक्तोंने प्रथम बार श्रील महाराजजीके दर्शनका सौभाग्य लाभ किया एवं उनके श्रीमुखसे वीर्यवती हरिकथा श्रवणकर अत्यन्त प्रभावित हुए। ईटलीमें २० भक्तोंने हरिनाम एवं दीक्षा मन्त्र ग्रहण किए। प्रतिदिन नियमित रूपसे श्रील महाराजजीके आनुगत्यमें शुद्ध भक्ति ग्रन्थोंका अनुशीलन, कीर्तन एवं आरती आदि शुद्ध भक्त्याङ्गोके पालन करनेमें सभी भक्तोंने उत्साहके साथ सहयोग किया।

ईटलीमें प्रचार सेवामें सहयोग देनेवाले भक्तोंमें श्रीलीला पुरुषोत्तम दासाधिकारी और उनकी सहधर्मणी श्रीमती कृष्णदेवी दासीका नाम अग्रगण्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देशोंसे आए हुए भक्तोंके साथ स्थानीय भक्तोंने भी प्रसाद वितरण आदि व्यवस्थाओंमें पूर्ण रूपसे सहयोग किया। श्रीमथुरापुरीसे ही श्रील महाराजजीकी प्रचार पार्टीमें श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी विद्यालंकार, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीधीरकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीपुण्डरीक ब्रह्मचारी और श्रीब्रजनाथ दासधिकारी सम्मिलित हैं। श्रीसुबलसखा ब्रह्मचारी प्रचार पार्टिमें सम्मिलित हुए। ईटलीमें हुए प्रवचनोंकी शृंखलामेंसे एक प्रवचनका सारांश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस संसारमें अनन्त कोटी जीव हैं। सभी जीव अपने अपने कार्योंके अनुसार चौरासी लाख प्रकारकी योनियोंमें विचरण कर रहे हैं। इनमेंसे चार लाख प्रकारके मनुष्य हैं। मनुष्योंमेंसे विरले ही कोई ईश्वरके प्रति विश्वासकर भजन करते हैं। ऐसे लाखों भजन परायण मनुष्योंमेंसे कोई विरले ही कृष्ण भक्त

होते हैं। लाखों कृष्ण भक्तोंमें से कोई विरले ही श्रीराधाकृष्णयुगलकी उपासना करते हैं। ऐसे साधकोमेंसे भी कोई विरले ही श्रीरूप गोस्वामी पाद उद्धृत 'अन्याभिलाषिताशून्य....' श्लोकके अनुरूप शुद्ध भक्तिके पथमें अग्रसर हो पाते हैं। ऐसे परम सौभाग्यवान साधकोमें से कोई विरले ही भाव अर्थात् रतिकी अवस्था लाभ करते हैं। ऐसे लाखों रति प्राप्त भक्तोंमें से कोई विरले ही प्रेमकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं तथा ऐसे प्रेमीजनोमें से कोई विरले ही श्रीराधादास्यको लाभ करते हैं।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु इसी परम दुर्लभ वस्तुको देनेके लिए अवतरित हुए थे। इस परम दुर्लभ प्रेमको लाभ करनेके लिए सर्व प्रथम यह समझो—"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास"। जीवमात्र ही कृष्णके नित्य दास हैं। श्रीकृष्ण विस्मरण ही इस जगत्में जीवके बन्धनका कारण हैं। जिस परम सौभाग्यवान जीवको श्रीरूपानुगधारामें उन्नत साधुओंका सङ्ग प्राप्त हो, उसे यह समझना चाहिए कि अब उसका सांसारिक बन्धन नष्ट होनेवाला है। ऐसे रसिक संतोके मुखसे निस्रत वीर्यवती हरिकथाको श्रवण करनसे उक्त परम दुर्लभ प्रेम श्रद्धाके रूपमें तत्क्षणात् ही प्राप्त हो जाता है। क्रमशः भक्तिरूपी लताका विकास होने पर यही श्रद्धा प्रेममें परिवर्त्तित हो जाती है। श्रीकृष्णसेवाकी वासना ही भक्तिलताका बीज है तथा श्रीकृष्णसेवाकी वासनाको ही बाह्य रूपसे श्रद्धाके रूपमें जाना जाता है। यदि हरिकथा श्रवण कर हृदयमें श्रीकृष्णसेवाकी वासना उत्पन्न न हो तो ऐसा श्रवण व्यर्थ है। उन्नत साधु सङ्गमें निरन्तर हरिकथा श्रवण करनेसे भक्तिलताका बीज अंकुरित होता है तथा हरिनाम एवं गुरुसेवा करते हुए हरिकथामें प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो जाती है। हरिकथामें रुचि नहीं होनेसे साधक बहुत ही विषम परिस्थितियोंमें फँस जाते हैं। न सांसारिक विषयोंमें रुचि रह जाती है और न ही हरिकथामें रुचि हो पाती है। हरिनाम जप करते समय जिह्वा और अंगुली तो क्रियाशील होती है किन्तु मन अन्यत्र कहीं रमण करता है। ऐसी अवस्थामें साधक पूर्णरूपसे गुरुका आनुगत्य नहीं कर सकनेसे वैष्णवोंकी निंदा करना आरम्भ करता है तथा वैष्णव अपराधमें फँस जाता है। इस विषयमें असावधान रहनेसे क्रमशः अपराध प्रवृति प्रबल हो पड़ती है और साधक वैष्णवापराध, सेवापराध तथा नामापराध करने लगता है। अपराध तालिकामें वैष्णवापराधका उल्लेख सर्वप्रथम क्यों किया गया? गुरु अवज्ञाका उल्लेख पहले क्यों नहीं किया गया? इसलिए कि साधारणतः सभी गुरुका बाहरसे सम्मान करते हैं किन्तु वैष्णवोंके प्रति अनादरकी सम्भावना बनी रहती है। अतः यदि कोई साधक जानते-समझते हुए वैष्णवोंका अपराध करता है तो वैष्णवापराधरूपी मत्त हाथी भक्तिलताको समूल ही उखाड़ फैकता है। अपराध यदि अनजानेंमें भूलसे हुआ हो तो परिणाम उतना भयंकर नहीं होता। तथापि दोनों ही परिस्थितियोंमें जिन वैष्णवोंके चरणोंमें अपराध हुआ हो, उन वैष्णवोंके चरणोंमें जाकर पश्चाताप पूर्वक उनसे क्षमायाचना करनी चाहिए। अन्यथा अपराध-भञ्जन नहीं होता तथा अज्ञान एवं अभिमानवशतः यह कुबुद्धि उपस्थित होती है कि मैं गुरुसेवा कर रहा हूँ। ऐसी अवस्थामें गुरुकृपासे वञ्चित होकर साधक गुरुके बाह्य स्थूल विचारोंको प्रधानता देता है। शिक्षागुरु और दीक्षागुरुमें भेद दृष्टि करने लगता है। इस प्रकार साधक शुद्धाभक्तिके पथसे विच्युत हो अधःपतित हो जाता है। इसलिए श्रद्धावान साधकको अत्यन्त सावधानीपूर्वक इन समस्त अपराधोंसे बचते हुए हरिनाम करना चाहिए। तथा किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

क्रमशः भक्तिलताके विकास हेतु साधकको गुरुके निकट गुरुप्रदत्त मन्त्रोंके साधनकी विधिकी

शिक्षा लेनी चाहिए। किसी कारणवश दीक्षागुरुसे यह जानकारी प्राप्त न हो तो शिक्षागुरुके निकट इन सब तत्त्वोंको भलीभाँति समझना चाहिए। श्रद्धा सहित निष्कपट होकर दीन-हीन भावसे उनके निकट प्रार्थना करने पर वे अवश्य ही मार्गदर्शन करेंगे। तत्पश्चात् श्रवणके अनुरूप मन्त्रके इष्टदेव, मन्त्रदेवतासे सम्बन्ध, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मनिवेदन—इन इन अंगोंका साधन करना चाहिए।

***मन्त्रके इष्टदेव***—गुरु मन्त्र और गुरु गायत्री साक्षात् गुरुके स्वरूप हैं। गौर मन्त्र और गौर गायत्री साक्षात् श्रीगौरांगका स्वरूप है। गोपाल मन्त्र साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन, गोपीजनवल्लभ हैं और कामगायत्री अखिलरसामृतसिन्धु मन्मथमन्मथ श्रीकृष्णका स्वरूप है।

***सम्बन्ध***—दास्य, सख्य, वात्सल्य अथवा मधुर रसोंमेंसे मन्त्रके ईष्टदेवके साथ अपने सम्बन्धकी उपलब्धि करनी चाहिए। भक्तिलताका विकास पूर्णता इसी सम्बन्धपर आधारित है। उदाहरणके लिए विवाहके पश्चात् यदि पत्नी अथवा पुत्रादि अस्वस्थ हो जाय तो उसकी चिकित्साके लिए पति पूर्ण चेष्टा करता है। यदि उसके लिए अपना धन समाप्त हो जाय तो ऋण लेकर भी चिकित्सा करता है। किन्तु अन्य किसी स्त्री अथवा पुत्रादि जिसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके लिए अधिकसे अधिक हृदयमें कुछ सहानुभूतिका भाव ही उदय होगा। इसी प्रकार मन्त्रके ईष्टदेवसे सम्बन्ध होनेपर वे समस्त प्रकारसे साधककी रक्षा एवं उसका पालन-पोषण करते हैं और इधर साधक भी सम्बन्ध होनेके साथ ही ईष्टदेवकी वास्तविक सेवा कर उनका साक्षात्कार कर पाता है।

***प्रपत्ति***—अर्थात् मन्त्रके ईष्टदेवपर पूर्ण विश्वास कि वे समस्त प्रकारसे मेरी रक्षा कर सकते हैं। वे सर्वशक्तिमान है। उदाहरणके लिए प्रह्लाद महाराज और हरिदास ठाकुरने अपने लिए तनिक भी चिन्ता नहीं की। सम्पूर्णरूपसे अपनेको भगवानकी इच्छापर छोड़ दिया।

***शरणागति***—इसके अन्तर्गत अनुकूलका ग्रहण और प्रतिकूलका परित्याग आदि छः अङ्गोंका पालन। अर्थात् पति-पत्नी, बंधु-बांधव यहाँ तक कि यदि गुरु भी भक्ति पथमें बाधक हो तो उनका दृढ़ता पूर्वक परित्याग करना होगा। जैसे बलि महाराजने शुक्राचार्यका त्याग किया था। स्वयंको तृणसे भी अधिक तुच्छ जानकर सर्वदा प्रभुकी कृपा पर निर्भर रहना।

***आत्मानिवेदन***—अर्थात् स्वयंको ईष्टदेवके चरणोंमें समर्पित करना।

इस प्रकार उपयुक्त साधनके द्वारा उन्नत साधु सङ्गमें श्रवण और कीर्तनरूपी जलसे सिञ्चन करने पर भक्तिलता क्रमशः विकसित होती है। साधकरूपी माली गुरु प्रदत्त भक्तिलता बीजको हृदयमें आरोपित तो करता है, किन्तु सिञ्चनके लिए जलकी व्यवस्था उसके हाथोंमें नहीं होती। जलके लिए उसे जलाशय कुंए अथवा नदीके पास जाना होगा तथा बड़ी सावधानीसे जलका निरीक्षण भी करना होगा। यदि माली दक्ष न हो और कर्म, ज्ञान तथा योगरूपी नमक मिश्रित जलसे यदि सिञ्चन करे तो भक्तिलताका बीज सूख जाएगा। इसलिए श्रीलरूप गोस्वामी और उनके अनुगत जन ही शुद्ध जलका स्रोत हैं। ऐसे भक्तोंके हृदयसे निरन्तर हरिकथारूपी अमृतकी अनन्त धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। 'तस्मिन् महन्मुखरिता'—उनसे प्रार्थना करने पर वे कृपापूर्वक शुद्ध जलकी एक धारा दे देगें, जिसके द्वारा माली भक्तिलता बीजका सिञ्चन कर सकता है।

यहाँ एक बात और समझनेवाली यह है कि

प्रारम्भसे ही श्रद्धा दो प्रकारकी होती है। शास्त्र शासनमयी और लोभमयी। शास्त्र शासनमयी अर्थात् "कृष्णका भजन नहीं करूंगा तो नरकमें जाना पड़ेगा" इस भयसे श्रीकृष्णकी उपासना करना। इस श्रद्धासे किया जानेवाला श्रवण कीर्तन एक प्रकारका होता है। इस श्रवण कीर्तनसे सिञ्चन करने पर भक्तिलता अधिकसे अधिक वैकुण्ठ गति ही लाभ करती है तथा इससे उत्पन्न प्रेम ऐश्वर्यमिश्रित वैकुण्ठीय प्रेम होता है। लोभमयी श्रद्धा अर्थात् श्रीकृष्णकी ब्रज सम्बन्धी लीलाओंको श्रवणकर ब्रज परिकरोंके आनुगत्यमें श्रीकृष्णकी वैसी ही सेवा करनेकी लालसासे प्रेरित होकर श्रीकृष्णका भजन करना। इस श्रद्धासे किया जानेवाला श्रवण कीर्तन एक प्रकारका होता है। इस श्रवण–कीर्तन रूपी जलसे सिञ्चन करने पर भक्तिलता वैकुण्ठको भी पार कर गोलोक वृन्दावन तक पहुंचती है तथा इससे उत्पन्न प्रेम माधुर्यमण्डित होनेके कारण श्रीकृष्णको वशीभूत कर लेता है। स्मरण रहे श्रीकृष्णकी इन माधुर्य लीलाओंको रसिक एक भावुक तत्त्वविद् उन्नत साधुओंके मुखसे श्रवण करने पर ही श्रीकृष्ण सेवाकी वासना हृदयमें जन्म लेती है। इसिलिए कहा गया है—

"साधु सङ्ग साधु सङ्ग सर्वशास्त्रे कय।
लवमात्र साधुसङ्ग सर्व सिद्धि हय"।।

❑

ALL GLORIES TO SRI SRI GURU & GAURANGA

## SCHEDULE & INFORMATION FOR MAHARAJA'S TOUR SUMMER 1999

| | | | |
|---|---|---|---|
| ITALY | 9 APRIL — 18 APRIL | BADGER | 31 MAY — 9 JUNE |
| MIAMI | 18 APRIL — 22 APRIL | WASHINGTON | 10 JUNE — 15 JUNE |
| COSTA RICA | 22 APRIL — 26 APRIL | NEW YORK | 15 JUNE — 21 JUNE |
| VENEZUELA | 26 APRIL — 30 APRIL | GERMANY | 21 JUNE — 28 JUNE |
| BRAZIL | 30 APRIL — 9 MAY | FRANCE (Toulouse) | 28 JUNE — 5 JULY |
| HOUSTON | 10 MAY — 17 MAY | ENGLAND | 5 JULY — 16 JULY |
| HAWAII (Honolulu) | 17 MAY — 19 MAY | HOLLAND | 16 JULY — 22 JULY |
| MAUII | 19 MAY — 26 MAY | INDIA (Delhi) | 22 JULY |
| LOS ANGELS | 26 MAY — 31 MAY | | |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
विक्रम संवत् २०५५–५६ ज्येष्ठ मास, सन् १९९९, ३१ मई — २८ जून { संख्या ३

## श्रीश्रीगोवर्द्धनाष्टकम्

*[श्रीमद्–रूप–गोस्वामि–विरचितम्]*

*श्रीगोवर्द्धनाय नमः*

***नीलस्तम्भोज्ज्वल रुचिभरैर्मण्डिते बाहुदण्डे छत्रच्छायां दधदधरिपोर्लब्ध सप्ताहवासः।***
***धारापात–ग्लपितमनसां रक्षिता गोकुलानां कृष्णप्रेयान् प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।१।।***

जो नील वर्णके खंभे सी अतिशय उज्ज्वल कान्तिसे मण्डित श्रीकृष्णके भुजदण्डके ऊपर छत्रकी भाँति सुशोभित हुए थे और जिन्होंने अघासुरके हन्तारकके कर–पल्लवमें एक सप्ताह काल तक निवास किया था, मेघ–समुदायकी मूसलाधार वारि–वर्षणसे व्याकुल हुए गोकुल और गोपकुलके रक्षक गिरिराज गोवर्द्धन हमारा सर्वदा कल्याण करें।।१।।

*भीतो यस्माद्परिगणयन् बान्धव–स्नेहबन्धान् सिन्धावद्रिस्त्वरितमविशत् पार्वती–पूर्वजोऽपि।*
*यस्तं जम्भद्विषमकुरुत स्तम्भ संभेदशून्यं स प्रौढ़ात्मा प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।२।।*
*आविष्कृत्य प्रकट–मुकुटोपमङ्गं स्थवीयः शैलोऽस्मीति स्फुटमभिदधत्तुष्टि–विस्फारदृष्टिः।*
*यस्मै कृष्णः स्वयमरसयद्वल्लवैर्दत्तमन्नं धन्यः सोऽयं प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।३।।*
*अद्याप्यूर्ज्जा–प्रतिपदि महान् भ्राजते यस्य यज्ञः कृष्णोपज्ञं जगति सुरभि सैरिभी क्रीड़याढ्यः।*
*शष्पालम्बोत्तम्–तटतया यः कुटुम्बं पशूनां सोऽयं भूयः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।४।।*
*श्रीगान्धर्वा–दयितसरसी पद्मसौरभ्य–रत्नं हृत्वा शङ्कोत्करपरवशैरस्वनं सञ्चरद्भिः।*
*अन्तःक्षोद प्रहरिककुलेनाकूलेनानुयातै–र्वातैर्जुष्टः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।५।।*
*कंसारातेस्तरिविलसितैरातरानङ्ग–रङ्गै–राभीरीणां प्रणयमभितः पात्रमुन्मीलयन्त्याः।*
*धौत–ग्रावावलिरमलिनैर्मानसामर्त्त्यसिन्धो–र्वीचित्रातैः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।६।।*
*यस्याध्यक्षः सकल–हठिनामाददे चक्रवर्त्ती शुल्कं नान्यद्व्रजमृगदृशामर्पणाद्विग्रहस्य।*
*घट्टस्योच्चैर्मधुकर रुचस्तस्य धाम–प्रपञ्चैः श्यामप्रस्थः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।७।।*
*गान्धर्वायाः सुरत कलहोद्दामतावावदूकैः क्लान्त श्रोत्रोत्पल–वलयिभिः क्षिप्त–पिंछावतंसैः।*
*कुंजैस्तल्पोपरि परिलुठद्वैजयन्ती–परीतैः पुण्याङ्गश्रीः प्रथयतु सदा शर्म गोवर्द्धनो नः।।८।।*
*यस्तुष्टात्मा स्फुटमनुपठेच्छ्रद्धया शुद्धयान्तर्मेध्यः पद्याष्टकमचटुलः सुष्ठु गोवर्द्धनस्य।*
*सान्द्रं गोवर्द्धनधर–पदद्वन्द्वशोणारविन्दे विन्दन् प्रेमोत्करमिह करोत्यद्विराजे स वासम्।।९।।*

*अनुवाद—*

श्रीपार्वती देवीके पूर्वज मैनाक–पर्वत जिस इन्द्रसे अतिशय भयभीत होकर अपने बन्धु–बान्धवों तकका स्नेह त्याग कर शीघ्रतापूर्वक समुद्रमें प्रवेश कर गये, जंभ दैत्यके शत्रु उन इन्द्रका गर्व भी जिन्होंने चूर्ण–विचूर्ण कर दिया है, वे परम प्रतिभाशाली गिरिराज श्रीश्रीगोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।२।।

अपने शरीरको विराट कर, अहङ्कारयुक्त होकर 'मैं शैलराज गोवर्द्धन हूँ'—ऐसा कह कर श्रीकृष्णने जिन पर्वतराजके निमित्त गोप–गोपियोंद्वारा निवेदित चतुर्विध भोज्य–पदार्थोंका भोजन किया था, वे परमधन्य गिरिराज गोवर्द्धन हमारा सर्वदा कल्याण करें।।३।।

कार्त्तिक मासकी शुक्ला प्रतिपदाको जिनका श्रीकृष्णद्वारा प्रकटित अन्नकूट यज्ञ आज तक भी सम्पादित होता आ रहा है, जिनकी गोदमें गाय और भैंस आदि पालतू पशु–वृन्द नित्य क्रीड़ाएँ करते हैं, बहुत से झरनोंके जल–सिंचनसे उत्पन्न नयी–नयी हरी–हरी घासोंको धारण कर जो पशुओंके परम बान्धव स्वरूप हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।४।।

श्रीराधाकुण्ड और श्यामकुण्डके कमल–पुष्पोंके सौरभरूप रत्नकी चोरी करके जो अतिशय भयभीत हैं और इसलिये निःशब्द तथा जल–बिन्दुरूप रक्षकों द्वारा खदेड़े जाते हैं अर्थात् शीतल–मन्द और सुगन्ध समीर द्वारा सर्वदा परिसेवित हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।५।।

जिनकी तरङ्गोंमें श्रीकृष्णने नाविक बनकर व्रजवनिताओंसे उतराईका पण (शुल्क) ग्रहण किया था, श्रीकृष्णको अपना–सर्वस्व समर्पण करने वाली गोप रमणियोंके प्रणयको बढ़ानेवाली उन मानसी–गङ्गाकी तरङ्गमालाओंसे जिनकी शिलाएँ निरन्तर प्रक्षलित होती हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।६।।

मरकतकी शिलाओंसे बँधे हुए घाटोंकी कमनीय कान्तिसे जिनका सानुदेश (ऊपरी भागका समतल-प्रदेश) श्यामवर्णका दीखता है, और समस्त घाटों पर स्थित जन-समुदायके अध्यक्ष श्रीकृष्ण जिनके सर्वश्रेष्ठ नायक होकर गोपियोंके देह-अर्पणके अतिरिक्त और कोई भी दूसरा पण ग्रहण नहीं करते, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।७।।

जिस कुञ्जमें कर्णोत्पल (कानोंके लिये कमल पुष्पके आभूषण) मुरझायें पड़े हैं, मृणाल-वलय और मयूर-पिच्छके कर्णफूल जहाँ बिखरे पड़े हैं और जहाँ शय्याके ऊपर वैजयन्ती माला भी विलुण्ठित है, उन कुञ्जोंसे जिनकी परम मनोहर शोभा हुई हैं, वे गिरिराज गोवर्द्धन हमारा कल्याण करें।।८।।

जो पवित्र चित्तसे दृढ़ श्रद्धायुक्त होकर श्रीगोवर्द्धनके इस मनोहर पद्याष्टकका पाठ करते हैं, वे श्रीगोविन्दके चरण-युगलमें प्रगाढ़ प्रेम-भक्ति लाभ कर गोवर्द्धन गिरिमें वास करते हैं।।९।।

# संत (सज्जन) के लक्षण

*—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती*

### *अकृत-द्रोह (२)*

इसके पहले हमने सज्जन पुरुषोंकी 'कृपालुता' गुणका विवेचन किया है। यहाँ पर उनके दूसरे गुण-'अकृत-द्रोह' के सम्बन्धमें लिखा जा रहा है। साधारणतः काय, मन और वाक्यसे किसीके प्रति हिंसा-द्वेष न करनको 'अकृत-द्रोह' कहते हैं। यथार्थ वैष्णवोंके भीतर बाहर कहीं भी हिंसा-प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि वे स्वभावतः कृपालु होते हैं। कृपा जैसे मनुष्यका भूषण है, हिंसा वैसे ही मनुष्यका दूषण है। वैष्णवजन दूसरोंके प्रति कृपालु होते हैं—हिंसा-परायण नहीं। यदि किसीमें हिंसा -द्वेष अर्थात् द्रोहाचार देखा जाय तो उसे कदापि वैष्णव नहीं कहा जा सकता है। किन्तु कुछ लोग इस गुणको परखनेमें भारी भूल करते हैं। वे यथार्थ कल्याण अथवा परोपकारकी वृत्तिको ही हिंसा अथवा द्रोह समझते हैं। यदि आवृत-सत्य परोपकारके लिये प्रकाशित किया जाय, तो उसे कृपा ही समझनी चाहिए। किन्तु अपकारकी भावनासे सत्यकी आड़में असत्यका प्रचार करना कृपाके नाम पर लोगोंके प्रति द्रोहाचरण है। यथार्थ वैष्णवजन ही सच्चे अकृत-द्रोह हैं। वे कभी किसीके प्रति हिंसा नहीं करते।

### *दो प्रकारकी हिंसाएँ*

हिंसा दो प्रकारकी देखी जाती हैं। एक प्रकारकी हिंसा वह है, जिसमें हिंसक व्यक्ति प्रकाश्य रूपमें काय, मन और वाक्यसे परहिंसाके लिये प्रयत्न करता है। हिंसा करनेवाले जीवको हिंसा-कार्यसे निवृत्त न करना—यह दूसरी प्रकारकी हिंसा है। वैष्णवजन जीवको अन्याभिलाष, कर्म और ज्ञानके मायिक आवरणसे मुक्त होकर शुद्ध हरिसेवा करनेके लिए उपदेश देते हैं; इसमें उनकी अकृत-द्रोहिताका यथार्थ परिचय मिलता है। अबोध अपरिणामदर्शी जीव ऐसा समझते हैं कि वैष्णव लोग अन्याभिलाषी, कर्मी और ज्ञानियोंके प्रति द्वेष करते हैं। किन्तु उनका ऐसा समझना भूल है। वैष्णवजन दया-परवश होकर जीवोंके यथार्थ कल्याणकी ही कामना करते हैं। वे किसीके प्रति भी हिंसाका आचरण नहीं करते। जो वैष्णव मायाबद्ध दुःखी जीवोंके दुःखसे द्रवित होकर दयापूर्वक उन्हें हरिसेवाका उपदेश प्रदान करते हैं—वे अकृतद्रोह हैं। दूसरी ओर जो लोग राजस और तामस गुणोंके अधीन होकर परहिंसामें तत्पर होते हैं, उन्हें सब लोग हिंसंक अवैष्णव कहते हैं।

शुद्ध वैष्णव–स्वभावमें ये दोनों प्रकारकी हिंसाएँ नहीं पायी जातीं।

### *मांस, मछली और अण्डा भक्षण हिंसा है*

अहिंसा परम धर्म है। परन्तु मांस, मछली और अंडा भक्षणके लोभसे नाना प्रकाके जीवोंकी प्रचुर परिमाणमें हिंसा की जाती है। धर्मकी आड़में नाना प्रकारकी अयुक्तिसंगत तर्कोंकी अवतारणा कर कुछ लोगोंको हिंसा प्रवृत्तिका समर्थन करते हुए भी देखा जाता है। दुर्बल प्राणियोंके प्रति अत्याचार नीतिशास्त्रके सर्वथा विरुद्ध है। नीतिविरुद्ध कार्योंके निरोधके लिये सुसभ्य मानव समाजमें तरह–तरहकी विधि–व्यवस्थाएँ और आईन–कानून तथा लौकिक धर्मशास्त्रसमूह प्रचलित हैं। जीव आत्मविस्मृत होकर भले–बुरेके ज्ञानसे रहित होकर इन नीतियोंका उल्लंघन करते हैं। इससे सभ्य समाजमें विशृंखलता फैलती है। किसी कृत्रिम उपाय द्वारा हिंसावृत्तिका निरोध नहीं किया जा सकता है। उसका निरोध तो एकमात्र हरिसेवा द्वारा ही हो सकता है।

### *वैष्णव और अवैष्णव नीतियोंमें अन्तर*

हिंसा करनेसे पाप लगता है। पापी व्यक्ति अशान्ति भोग करता है। इसलिये अवैष्णवोंको हिंसा करना उचित नहीं है। वैष्णव किसी भी प्राणीके प्रति हिंसा नहीं करते। जैसे बाँझ स्त्रीको पुत्र पैदा नहीं होता और जैसे जलसे दूध नहीं निकलता, उसी प्रकार वैष्णव व्यक्तिमें हिंसाका होना असंभव है। समाजके कल्याणके लिये धर्म–शास्त्र और नीति–विशेषज्ञोंने 'उपकारके बदले उपकार और हिंसा के बदले हिंसाकी' नीति वर्तनेकी अनुमति दी है। परन्तु उदार बुद्धिवाले वैष्णवोंकी शिक्षा यह है कि वैष्णवके प्रति हिंसा किये जाने पर भी वैष्णवजन उसे चुपचाप सह लेंगे।

### *दिग्विजयी पण्डितके प्रति जीवगोस्वामीकी अहिंसा–नीति*

जिस समय अपनी जड़ीय पाण्डित्य–प्रतिभाके अहंकारमें मत्त होकर दिग्विजयी पण्डितने परम संत श्रीरूप और श्रीसनातनसे जयपत्र लिखनेको कह कर वैष्णव–धर्मकी हिंसा की थी, उस समय आदर्श चरित्र उन दोनों गोस्वामियोंने अम्लान मुखसे—हँसते–हँसते जयपत्र लिख दिया था। यही है वैष्णवोंकी अकृतद्रोहिताका आदर्श। पुनः जब जीवगोस्वामीने अपने गुरु–हिंसक वैष्णव–विद्वेषी दिग्विजयी पण्डितके प्रति दया–परवश होकर अपनी असामान्य अहिंसा–वृतिका आदर्श दिखलाया था—उसकी बोलतीको बन्द कर उसे आगे वैष्णवापराध न करनेकी शिक्षा दी थी, उस समय श्रीजीव गोस्वामीके करुणापूर्ण हृदयसे हिंसाका दोष छू तक न गया था।

### *रामचन्द्रखाँके प्रति महात्मा हरिदास ठाकुरकी अकृतद्रोहिता*

जिस समय रामचन्द्रखाँ नामक एक धनी विप्रने श्रीहरिदास ठाकुरकी ख्यातिसे जल–भुन कर उनके प्रति हिंसावृत्तिका अवलम्बन किया—एक नव–यौवन सम्पन्ना परम सुन्दरी वेश्या द्वारा उनको पतित कराना चाहा, उस समय महात्मा हरिदास ठाकुरके हृदयमें रामचन्द्रखाँके प्रति किसी प्रकारसे भी प्रतिहिंसाकी भावना उदित न हुई। यही है वैष्णवोंकी अकृतद्रोहिताका आदर्श।

### *श्रीमन् महाप्रभु और वासुदेवकी अहिंसा*

जगाई–मधाईके प्रति भगवानकी कृपा, वेश्याके प्रति हरिदास ठाकुरकी दया और सार्वभौम भट्टाचार्यके प्रति श्रीमन्महाप्रभुकी कृपामें किसी प्रकारकी हिंसा नहीं है। वासुदेवकी समस्त पृथ्वीके लोगोंके पापोंके लिये स्वयं दण्ड ग्रहण करनेकी प्रार्थना, ईशा मसीहका अपनेको मारनेवालोंके प्रति भी क्षमा और दया—यह सब भगवान और उनके प्रियजनोंकी अहिंसा नामक चित्तवृत्तिका ही परिचय है। इसीलिये श्रीचैतन्य महाप्रभुने 'तरोरपि सहिष्णुना' श्लोककी अवतारणा की है, जिसकी कृष्णदास कविराज गोस्वामीने 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में निम्नलिखित

व्याख्या की है—

*तरु-सम सहिष्णुता वैष्णव करिबे।*
*भर्त्सना ताड़ने काके किछु ना बलिबे।।*
*काटिलेई तरु येन किछु ना बोलय।*
*शुकाइया मरे, तबु जल ना माँगय।।*
*येइ ये माँगये, तारे देय आपन धन।*
*धर्म-वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण।।*

तात्पर्य यह कि वैष्णवजनको वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होना चाहिये; ठीक वैसे ही जैसे वृक्षको काटे जाने पर भी वह कुछ भी नहीं कहता; जलके अभावमें सूख जानेपर भी कभी जल नहीं माँगता; माँगनेवालोंको अपने धन-फल, फूल, जलावन आदि देता है, धूपमें छाया प्रदान करता है तथा वर्षासे रक्षा करता है। ❑

# साधन

*—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

जीव विषय-भोगकी कामनाओंके वशीभूत होनेके कारण सुख पानेकी आशासे भगवद्विमुख होकर संसार-चक्रमें भ्रमण कर रहा है। संसार-सुखकी यह आशा जब तक क्षयोन्मुख नहीं होती, तब तक जीव किसी प्रकार भी भगवान्‌के प्रति उन्मुख नहीं होता। अत्यधिक सुकृतिके फलस्वरूप भगवत् कृपा होने पर ही संसार-वासना दुर्बल होती है और उस समय स्वाभाविक रूपमें ही साधु-संगमें रुचि होती है। सत्संगमें कृष्ण-कथाका अनुशीलन होते-होते श्रद्धा उत्पन्न होती है और क्रमशः अधिकतर गाढ़ी चेष्टाके साथ कृष्णका अनुशीलन होने पर भगवान्‌को प्राप्त करने का लोभ पैदा होता है। इसी समय शुद्ध चरित्रवान और तत्त्वज्ञ गुरुका चरणाश्रय कर भजनकी शिक्षा लेनी पड़ती है। भजनसे ही जीव भगवान्‌की कृपा प्राप्त करता है।

### *भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये ही साधनकी आवश्यकता है।*

मायाबद्ध दशामें भगवत्-कृपा लाभ करनेके लिये साधनकी आवश्यकता होती है। साधनके बिना कोई भी साध्य वस्तुको नहीं पा सकता है—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा है। जो लोग थोड़ी सी श्रद्धा प्राप्त कर लेने पर भी साधन-कार्यमें अलसता प्रकाश करते हैं, वे कृष्णकी कृपा प्राप्त नहीं कर पाते। उनका जन्म वृथा ही बीत जाता है। कृष्ण बड़े करुणामय हैं, उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये शास्त्र प्रकट किये है। वे स्वयं प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होकर शास्त्रका यथार्थ अर्थ समझाकर और युगधर्मका प्रचार कर जीवोंको भगवान्‌के प्रति उन्मुख करनेकी चेष्टा करते हैं। विशेषतः कलियुगमें तो उनकी कृपाकी सीमा नहीं है। इतने पर भी जो लोग भगवत्प्राप्तिके साधनमें प्रवृत्त नहीं होते, उनके कल्याणकी सम्भावना नहीं हैं।

### *साधनके तारतम्यसे सिद्धिमें तारतम्य*

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वतंत्र हैं; वे इच्छा करनेसे ही जीवको दर्शन दे सकते हैं। परन्तु जिनमें इतना भी आग्रह नहीं है कि थोड़ा-सा भी साधन करके भगवान्‌को लाभ कर सके, तो ईश्वर प्राप्तिके लिये जो उसकी तृष्णा है, वह तृष्णा नहीं, तृष्णाका आभास मात्र है। वह भगवद्दर्शन करके भी तथा उनको पाकर भी सुखी नहीं हो सकता। वह वैकुंठ लोकमें जाकर अत्यन्त तुच्छ संसारिक-भोगोंके आकर्षणसे वहाँसे लौट आवेगा। साधनका तात्पर्य है—भगवान्‌के प्रति तृष्णाको बढ़ाना। आग्रह और प्रयत्नके साथ साधन करते रहनेसे जिसकी कृष्णके प्रति जितनी अधिक तृष्णा बढ़ती है, वे उतने ही अधिक रूपमें कृष्णकी कृपा प्राप्त करते हैं। जब तृष्णा पूर्णमात्रा तक

पहुँच जाती है, तब कृष्ण किसी प्रकार भी अपनेको रोक नहीं पाते, वे तुरंत ही साधकके सामने प्रकट हो पड़ते हैं। अतः साधन जिस परिमाणमें जितनी ही श्रद्धापूर्वक होगा, सिद्धि उतनी नजदीक आती जायेगी।

### *साधन किसे कहते हैं?*

साधन किसे कहते हैं?—रूप गोस्वामी कहते हैं—

*'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साधनम्।'*

जीव स्वरूपतः भगवान्‌का दास है, भगवत्प्रेम जीवका नित्यसिद्ध धर्म है। जीवका वद्धावस्थामें वह नित्यसिद्ध–भाव विषय–प्रेमके रूपमें प्रकाशित होता है। जिस उपायसे प्रेमको विषयसे हटाकर भगवान्‌के प्रति लगया जाय अर्थात् हृदयमें नित्य–सिद्ध भगवत् प्रेमको प्रकट किया जाय, उसे साधन कहते हैं। शास्त्रोंमें नानाप्रकारके साधन बतलाये गये हैं। श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतिसिन्धु ग्रन्थमें समस्त साधनाङ्गोंको ६४ भागोंमें विभक्त किया है। श्रीमद्भागवतमें उन्हींको ९ भागोंमें विभक्त कर नवधा भक्ति कहा गया है। सभी साधनोंका सार है—हरि नाम। विशेषतः कलियुगमें तो हरिनामके बिना दूसरी गति ही नहीं है।

### *श्रीहरिनाम संकीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है*

पण्डितप्रवर वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्यने जब श्रीमन्महाप्रभुसे यह पूछा कि सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है, तो श्रीमन्महाप्रभुजीने हरिनाम–कीर्तनको ही सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया था—

*भक्तिसाधन–श्रेष्ठ–सुनिते हैल मन।*
*प्रभु उपदेश कैल नाम–संकीर्तन।।*

(चै.च. म. ६।२४१)

उन्होंने सनातन गोस्वामीको भी उपदेश दिया है—

*भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।*
*'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति।।*
*तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम–संकीर्तन।*
*निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन।।*

(चै. च. अ. ४।७०–७१)

कलियुगमें हरिनामके बिना जीवकी कोई दूसरी गति नहीं है। हरिनाम ही एकमात्र साधन है। दूसरे–दूसरे साधन हरिनामके सहायक माने जाते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें 'एक अंग साधे केह, साधे बहु अंग' अर्थात् कोई–कोई एक अंगका साधन कर और कोई कोई बहुतसे अंगोका साधन कर साध्यवस्तु प्राप्त करते हैं' आदि वचन दिखलायी पड़ते हैं, तथापि इसके द्वारा कोई यह न समझ ले कि हरिनामको छोड़कर किसी एक अंगका साधन करनेसे भी प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। हरिनामको श्रेष्ठ साधन समझकर अनन्य भावसे श्रीनामका आश्रय कर नाम–साधनके रूपमें दूसरे अंगोंको ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि शास्त्रमें ऐसी स्पष्ट आज्ञा है—

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*
*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।*

(वृहन्नारदीय ३८।१२६)

### *श्रीनाम साध्य और साधन दोनों हैं*

जो सौभाग्यशाली व्यक्ति श्रीमन्महाप्रभुके कृपापात्र हैं, वे निष्कपट होकर अनन्यरूपमें हरिनामका आश्रय करते हैं। हरिनामका साधन करते–करते सिद्धिकालमें वे नामको ही साध्यके रूपमें प्राप्त होते हैं, क्योंकि नाम ही साध्य हैं और नाम ही साधन हैं, नाम और नामी अभिन्न हैं।

### *श्रीनामकी साधनाके सम्बन्धमें कतिपय उपदेश*

श्रीनाम साधनके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। साधन इन्द्रियोंके द्वारा किया जाता है। इसलिये साधकोंकी इन्द्रियोंका मजबूत और कर्म–कुशल होना आवश्यक है। नियमित आहार और नियमित विहार करनेसे शरीर तन्दुरुस्त रहता है और साधन सुचारु रूपसे सम्पन्न होता है। दूसरी तरफ शुष्क वैराग्य करनेसे शरीरके प्रति अत्याचार होता है जिससे इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं और साधनके बदले अपने प्राणोंसे भी हाथ धोने पड़ते

हैं। इस विषयमें भगवान श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

*नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।*
*न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।*
*युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।*
*युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।*

इसका अर्थ यह है कि आवश्यकतासे अधिक भोजन करनेवाले, आवश्यकतासे कम भोजन करने वाले, अधिक सोनेवाले और बिलकुल न सोनेवाले व्यक्तिका शरीर और उसकी इन्द्रियाँ साधनके लिये अनुपयुक्त होती हैं। सुदृढ़ साधनके लिये शरीरका निरोग होना तथा इन्द्रियोंका पुष्ट होना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है, जब कि नियमित रूपमें आहार-विहार किया जावे और दूसरी-दूसरी आवश्यक चेष्टाएँ नियमित रूपमें हों। ऐसा होनेसे साधन सुचारु रूपसे चल सकता है। तात्पर्य यह कि अन्तरेन्द्रियरूप मनका—स्वरूपभ्रम, असत्तृष्णा, हृदयदौर्बल्य और अपराध—इन चार प्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करते हुए उसे श्रीनामके चिन्तन और स्मरणमें लगाना चाहिए तथा बहिरेन्द्रियोंकी अधिक भोजन, अधिक निद्रा और भोग-विलाससे रक्षा कर उन्हें भी श्रीनाम संकीर्त्तनमें लगा देना चाहिए। यही साधकका कौशल है।

### *भक्तिके अनुकूल-ग्रहण और प्रतिकूल-वर्जनमें दृढ़ता ही साधनका मूलाधार है*

साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह अत्यन्त दृढ़ता और लगनके साथ भक्तिके अनुकूल भावोंकों ग्रहण करे और साथ ही भक्ति-प्रतिकूल भावोंका वर्जन करे। संसारी जीवोंके सामने अधिकतर भजन प्रतिकूल-व्यापार उपस्थित होते हैं। इन प्रतिकूल व्यापारोंका दृढ़ता पूर्वक वर्जन नहीं करनेसे साधनमें नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिससे अभीष्ट-सिद्धिमें विलम्ब हो जाता है। आज इस भक्ति प्रतिकूल कार्यको कर लूँ, कलसे ऐसा नहीं करूँगा—ऐसा सोचना ठीक नहीं। यह हृदयकी दुर्बलता है। इससे कदापि मंगल नहीं हो सकता। जो विषय भजनके प्रतिकूल जान पड़े, उसे भगवत्कृपा अवलम्बनपूर्वक उसी समय छोड़ देना चाहिए। दृढ़ता ही साधनका मूल है दृढ़ताके अभावमें साधन पथ पर एक कदम भी अग्रसर नहीं हुआ जा सकता है।

### *साधन कार्यमें सत्सङ्गका स्थान*

सत्संग साधनका सबसे प्रधान सहायक है। बद्धजीवका हृदय अनर्थोंसे इतना भरपूर होता है कि बड़ी-बड़ी चेष्टाओंके बावजूद भी वे दूर नहीं किये जा सकते। परन्तु सत्संग इतना प्रभावशाली होता है कि इन समस्त अनर्थोंको वह अनायास ही खदेड़ देता है और हृदय-क्षेत्रको परम पवित्र कर वहाँ कृष्ण प्रेमको प्रकाशित करा देता है।

साधन कार्यमें सत्संग नितांत आवश्यक है। श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

*कृष्णभक्ति-जन्ममूल हय 'साधुसंग।'*
*कृष्ण-प्रेम जन्मे, तिहों पुनः मुख्य अङ्ग।।*
(चै. च. म. २२।८०)
*महत्-कृपा बिना कौनो कर्मे भक्ति नय।*
*कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय।।*
(चै. च. म. २२।५१)

### *निरन्तर श्रीनाम-ग्रहण और श्रीनामसे कृपाप्रार्थना*

नामपरायण शुद्धभक्तोंके संगमें रहकर नाम करनेसे सारे अपराध दूर हो जाते हैं और हृदयमें शीघ्र ही नाम तत्त्व उदित हो पड़ते हैं। श्रीमन्महाप्रभुके श्रीचरणोंमें हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसी कृपा करें कि हमें सत्संग प्राप्त हो जाय और हम उस सत्संगमें रह कर निरन्तर हरिनाम करते हुए शीघ्र ही नाम-रस प्राप्त कर सकें। हम श्रीनामकी कृपाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। ❑

# मुनियोंका मतिभ्रम

*—श्रीअभयचरणारविन्द भक्तिवेदान्त*

*(डा॰ राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादित अँग्रेजी–गीता–भाष्यकी समालोचना—पूर्व प्रकाशित वर्ष ४३, संख्या २, पृष्ठ ४० से आगे)*

यदि डा॰ राधाकृष्णन् अव्ययत्व, नित्यत्व, अजत्व आदि अप्राकृत गुणोंको केवल निर्विशेष ब्रह्मका ही गुण समझते हैं, तो इसका उत्तर श्रीमद्भागवतमें पाया जायेगा। अव्ययत्व, नित्यत्व और अजत्व सब अद्वयज्ञान परतत्त्वके समस्त चित्–प्रकाशोंके स्वतःसिद्ध गुण हैं—जैसे गीतामें—

***त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।***
***त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।***

जहाँ परम ब्रह्मको अक्षर परमब्रह्म कहा गया है, वहाँ 'ईश्वरः परमः कृष्णः' को ही परम ब्रह्म समझना चाहिए। श्रीकृष्णको कहीं भी क्षर जीवतत्त्वके समान नहीं बतलाया गया है। डा॰ राधाकृष्णन् ही क्यों, ब्रह्मा और इन्द्रादि बड़े–बड़े अधिकारिक देवता भी क्षरतत्त्व अर्थात् जीव कोटिके अन्तर्गत परिगणित है। उन्होंने (भगवानने) अपनी विभिन्न शक्तिओंके द्वारा अनन्त कोटि विश्व–ब्रह्माण्डको धारण कर रखा है। जैसे आग एक जगह स्थित रह कर भी अपनी नाना प्रकारकी शक्तिओंका परिचय दिया करती है, वैसे भगवान श्रीकृष्ण अपना पूर्ण व्यक्तित्व नित्यत्व, अव्ययत्व और अजत्व अक्षुण्ण रखते हुए भी जीव कोटि विष्णु कोटि, मायाशक्ति, चिच्छक्ति और तटस्था शक्ति आदि नाना प्रकारसे अपना विस्तार किया करते हैं। इससे उनके पूर्णत्वकी हानि नहीं होती। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते, यही उपनिषदका विचार है। कृष्ण शाश्वत पुरुष हैं और उनका नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर वैशिष्ट्य सब कुछ नित्य शाश्वत अव्यय तत्त्व है। 'पुरुष'–शब्दका अर्थ भोक्तासे है। भोक्ता कभी भी निराकार, नपुंसक नहीं हो सकता। वे निर्गुण होकर भी गुण–भोक्ता हैं। वे मायिक गुणसे रहित होकर भी चिद्गुणोंके भोक्ता हैं।

डाक्टर राधाकृष्णनने अक्षर शब्दका अर्थ अव्यय किया है। अर्जुनने भगवान् कृष्णको आदि पुरुष, अक्षर और परमब्रह्म आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया है। अतएव डा॰ राधाकृष्णन्ने किस विचारसे श्रीकृष्णमें देह–देहीका भेद माना है—समझमें नहीं आता। डा॰ राधाकृष्णन्ने अपनी पुस्तकमें (पृष्ठ २७५) अर्जुनका नाम देकर यह स्वीकार किया है कि श्रीकृष्ण ही स्वयं परमब्रह्म एवं भगवान् हैं; वे ही अद्वय ज्ञान भगवान् हैं, इत्यादि।

उपरोक्त पृष्ठ २७५ में डा॰ राधाकृष्णन्ने अर्जुनके नामसे कृष्णके सम्बन्धमें बेतुकी बातें लिखी हैं। जैसे—"Arjuna states that supreme (Sri Krishna) is both Brahman, Iswara, Absolute God." यदि डा॰ राधाकृष्णन् तत्त्व वस्तुके सम्बन्धमें ऐसी असम्पूर्ण धारणा रखते हैं कि भगवान ब्रह्मसे पृथक् हैं, तो वे गीताका पाठ कैसे करते हैं—यह कहना कठिन है। उनके मतानुसार भगवान या परमेश्वर श्रीकृष्ण मायिक तत्त्व हैं—ब्रह्म नहीं। इसलिये ऐसा अर्थ करने वालोंको श्रीकविराज गोस्वामीने बड़ा धिक्कारा है—

*ब्रह्म, आत्मा, भगवान्—कृष्णेर विहार।*
*ए अर्थ ना जानि, मूर्ख अर्थ करे आर।।*
(चै. च. आ. २।६०)

परन्तु हमलोग परम्पराके अनुसार अर्जुनको अथवा श्रील कविराज गोस्वामीको ही डा॰ राधाकृष्णन्से अधिक समीचीन स्वीकार करेंगे। इसका कारण यह है कि इस युगमें अर्जुनने ही साक्षात् रूपमें श्रीगीताकी

वाणियोंका श्रवण किया है और 'श्रीचैतन्यचरितामृत' को स्वयं राष्ट्रपति डा॰ राजेन्द्र प्रसादने प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। अर्जुनकी परम्पराके अनुसार जो गीता समझेंगे वे ही यथार्थ रूपमें गीता पढ़ते-सुनते हैं। इसके अतिरिक्त—'आर सब मरे अकारण'। श्रीगीतामें निर्विशेष ब्रह्मके सम्बन्धमें क्या कहा गया है, यह भी ध्यान देने योग्य है। निर्विशेष ब्रह्म भगवान्‌की अङ्गकान्ति हैं, यह शास्त्र सिद्ध सिद्धान्त है; जैसे सूर्यकी रश्मियाँ सूर्यकी अङ्गकान्ति हैं। सूर्य-रश्मि जैसे सूर्यके अधीन तत्त्व है, उसी प्रकार निराकार ब्रह्मज्योति भी श्रीकृष्णकी अङ्ग-कान्ति और उनके अधीन तत्त्व है—

*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।*
*शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।*

भगवान् श्रीकृष्ण ही निर्विशेष ब्रह्मके आधार हैं—गीतामें यह बात स्पष्ट रूपमें लिखी होने पर भी डा॰ राधाकृष्णन्‌को पसन्द नहीं आयी है। वे ऐसा कहनेके लिये बाध्य हुए हैं—

For I (Shri Krishna) am the abode of Brahman, the immortal and the Imperishable feternal law and absolute bliss.'

यदि श्रीकृष्ण निर्विशेष ब्रह्मके आधार हैं, तब निराकार ब्रह्मसे वे अत्यन्त बड़े और श्रेष्ठ हैं—इसे अस्वीकार करनेकी गुंजाइश नहीं है। घरके भीतर मच्छड़दानी होती है, मच्छड़दानीके भीतर घर नहीं होता। मेजके ऊपर दावत होती है, दावतके भीतर मेज नहीं होती। इतनी सहज और सरल बात तो साधारण बालक भी समझ सकता है; परन्तु डा॰ राधाकृष्णन्‌ने इस विषयमें क्यों बेतुकी बातें की हैं, यह समझना कठिन है। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण, शुद्ध, नित्य, मुक्त, शाश्वत पुरुष परमब्रह्म हैं;—गीतामें अनेकानेक प्रमाणोंके साथ इस बातकी पुष्टि की गयी है। परन्तु जैसे उल्लू सूर्यकी किरणोंको देख नहीं पाता, ठीक उसी प्रकार अपने वाक्‌जालसे उस भगवानरूपी सूर्यको ढक कर अपने पाण्डित्यपूर्ण भाष्यसे विद्याके बदले अविद्याका प्रचार किया है। हम इसका अनुमोदन नहीं कर सकते। व्यक्तिरेक रूपमें हो अथवा अन्वय रूपमें हो, परम पुरुष श्रीकृष्ण ही ब्रह्मके आधार हैं, इस विषयमें डा॰ राधाकृष्णन्‌ने बहुत कुछ इधर-उधर टाल-मटोल करनेका प्रयत्न किया है, परन्तु पकड़े गये हैं। यदि श्रीकृष्ण ही Absolute God ठहरते हैं, तब उनके भीतर फिर दूसरी कौन वस्तु हो सकती है, जिसके द्वारा डा॰ राधाकृष्णन ऐसा कह सकते हैं कि,—It is not the personal Krishna to whom we have to give owrselves up etc.

असल बात यह है कि, भगवान्‌की कृपा नहीं होनेसे भगवत्तत्त्व जाना नहीं जाता, यह बात डा॰ राधाकृष्णन्‌की पुस्तकसे पूर्णतया प्रमाणित होती है। मायावादी लोग भगवानके चरणोंमें महापराधी होते हैं। अतएव उनके निकट किसी दिन भी भगवान प्रकट नहीं होते—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः' (गीता ७।१५)। मायावादीको समस्त आचार्योंने अपराधी कहा है; परन्तु श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुने निर्विशेष या निराकर मायावादियोंको सीधे अपराधीकी संज्ञा दी है। "मायावादी-भाष्य सुनिले हय सर्वनाश"। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' ग्रन्थमें श्री चैतन्यमहाप्रभुजीने इस प्रकार कहा है—

*'प्रभु कहे—मायावादी कृष्णे अपराधी।*
*ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य कहे निरवधि।।*
*अतएव तार मुखे ना आइसे कृष्णनाम।*
*कृष्णेर 'नाम', कृष्णेर 'स्वरूप' दुइत समान।।*
*नाम, विग्रह, स्वरूप तिन एकरूप।*
*तीने भेद नाहि तीन चैतन्य-स्वरूप।।*
*'देह-देही' 'नाम नामी' कृष्णे नाहि भेद।*
*जीवेर धर्म, नाम, देह स्वरूप विभेद।।*
*अतएव कृष्णेर नाम-देह—विलास।*
*प्राकृत इन्द्रिय ग्राह्य नहे हय स्वप्रकाश।।*
*कृष्णेर नाम कृष्णेर गुण कृष्णलीलावृन्द।*

*कृष्णेर–स्वरूप सम, सब चिदानन्द।।*

(चै.च.म. १६।१२९–३५)

श्रीशङ्कराचार्यका अनुकरण करनेवाले जानबूझकर सम्प्रदायके खातिर जीवको परमब्रह्म भगवान्‌का अंश नहीं मानते। और वह अंश मायाद्वारा आवृत होता है, तथा वह अंश कभी भी पूर्णब्रह्म नहीं होता अथवा पूर्णब्रह्म ही—परम पुरुष हैं—यह सब मायावादी स्वीकार नहीं करते। उनके 'घटाकाश–पटाकाश' न्यायके विकृत विचारके अनुसार जीव मुक्त होने पर ब्रह्मके साथ एक हो जाता है तथा उस मुक्तावस्थामें किसीका भी व्यक्तित्व नहीं रहता। इस विचारसे परम ब्रह्म आदि पुरुष जब अपने नित्यविग्रहको इस जगत्‌में प्रकट करते हैं, उस समय वे मूढ़ लोग भगवान्‌को भी साधारण जीव समझ कर उनमें देह–देहीका भेद आरोपित कर अपराधी होते हैं। अतएव डा॰ राधकृष्णन्‌ने श्रीकृष्णमें जो देह–देहीका भेद आरोपित किया है, उससे वे जितने भी बड़े पण्डित क्यों न हों, वे 'माययापहृतज्ञानाः' हैं तथा श्रीमन्महाप्रभुके विचारसे महापराधी व्यक्ति हैं। अपराधी व्यक्ति कभी भी कृष्णके कृपा पात्र नहीं होते। अपराधी व्यक्तियोंको ही गीतामें 'मूढ़' कहा गया है; क्योंकि वे श्रीकृष्णकी अवज्ञा करते हैं और उनको साधारण मनुष्य मानकर उनमें देह–देहीका–भेद स्वीकार करते हैं। मायावादियोंके भगवद्–विद्वेषके प्रचारके विषमय फलसे, निरीश्वरवादियोंके उत्पातसे सम्पूर्ण जगत् आज नरक–सा हो गया है। इन अपराधियोंके कवलसे जीवोंका उद्धार करना ही चैतन्यमहाप्रभुके प्रचारका वैशिष्ट्य है। जो इस विषयमें निश्चेष्ट हैं, वे सब श्रीचैतन्य महाप्रभुके चरणोंमें अपराधी हैं। मायावादीगण अध्यात्मिकताका जितना भी ढोंग क्यों न रचें, उनके समान भौतिकवादी दूसरा कहीं भी नहीं मिल सकता। उनका वैराग्य—फल्गुवैराग्य जगत्‌को विपथगामी करता है। वाक्‌चातुरी द्वारा लोगोंको मोहित कर वे केवल मात्र पार्थिव लाभ, पूजा और प्रतिष्ठाके दास हो पड़े हैं। आजके जगत्‌का मुख्य उद्देश्य भौतिक उन्नति हो पड़ा है। चेतनका संवाद, चेतनका विश्वास उनके कर्ण–कुहरमें प्रवेश नहीं कर पाता। ऐसे–ऐसे छलपूर्ण धर्मोंको ही श्रीमद्भागवतमें 'कैतव–धर्म' कहा गया है। जो कैतवधर्मके प्रति आकृष्ट हैं, वे वंचक और वंचित सम्प्रदाय हैं। कहाँ मुक्ति और कहाँ भक्ति–उनकी आध्यात्मिकता' केवल एक वाक्‌चातुरी मात्र होती है। ये आध्यात्मिक धुरंधरगण कोटि–कोटि जन्मोंमें भी कृष्णको नहीं जान सकते हैं।

मायावादी जब कपटतावश भगवान्‌के नाम–कीर्त्तन या भागवत पाठके द्वारा प्रतिष्ठा संग्रह करते हैं, उस समय भी वे अपराधके प्रभावसे ब्रह्म, चैतन्य, परमात्मा आदि शब्दोंका उच्चारण करने पर भी कृष्ण नामका उच्चारण नहीं कर पाते। श्रीगीतामें सब जगह 'श्रीकृष्ण उवाच' का उल्लेख है। परन्तु मायावादी कृष्णनामको छोड़ कर और सब कुछ कहनेके लिए लिये प्रस्तुत हैं। ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा ये सभी नाम श्रीकृष्णको ही उद्देश्य करते हैं, फिर भी 'कृष्ण' ही परमब्रह्मका मुख्य नाम है—इसे समस्त शास्त्र स्वीकार करते हैं। अतएव मायावादी लोग यद्यपि कभी–कभी गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि और मुरारी आदि नामोंका उच्चारण करते हैं, तथापि उनको मुख्यनाम अथवा भगवान्‌से अभिन्न नही मानते तथा उस नामोच्चारणको तात्कालिक साधन मात्र ही मानते हैं। वैसे नामोच्चारणको वे लोग नामापराध नहीं स्वीकार करते। नामापराधके समय नाम–नामीको अभिन्न न मानकर कृष्णमें देह–देहीका भेद स्वीकार कर वे और भी अधिक अपराधी हो पड़ते हैं।

*अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।*
*परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।*

(गीता ९।११)

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए डा॰ राधाकृष्णनने लिखा है—The deluded desp se me

clad in human body not knowing my higher nature as Lord of all existence. अतः Lord of existence जो व्यक्ति हैं वे clad in human body अर्थात् मायिक आँखोंसे या प्राकृत आँखोंसे मनुष्यमात्र हैं और तात्विक या शास्त्रीय आँखोंसे सर्वकारण-कारण परमेश्वर हैं। यदि deluded या विभ्रान्त लोग भगवान् श्रीकृष्ण की अवज्ञा करते हैं—यदि यह सत्य है, तब डा॰ राधाकृष्णन् क्या उस दोषसे दूषित नहीं हुए? वे Lord of existence की साधारण मनुष्यके साथ तुलनाकर किस प्रकार अपराधी हो पड़े हैं, इसे वे स्वयं अनुभव करें। इतने बड़े पण्डित होकर भी जो deluded अर्थात् विभ्रान्त होते हैं, वे लोग ही 'माययापहृतज्ञानाः' हैं, भगवद् विद्वेषी हैं, या आसुरीभावोंसे युक्त हैं।

पूर्व-पूर्वके समस्त आचार्योंने श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् स्वीकार किया है। श्रीशंकराचार्यने भी स्वीकार किया है। इतना होने पर भी डा॰ राधाकृष्णन् यदि श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् नहीं मानकर साधारण जीव समझते हैं अथवा उनको असाधारण मनुष्य मानते हैं, तो वे विभ्रान्त deluded के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु से किसीको भी अधिक ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्णका विज्ञान समन्वित ज्ञान श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके निकट ही जानना होगा। क्या डा॰ राधाकृष्णनने श्रीचैतन्य महाप्रभुकी परम्परामें श्रीजीवगोस्वामीकी विचार-धाराका अनुशीलन किया है? हम लोग उनसे अनुरोध करते हैं कि वे श्रीजीवगोस्वामी प्रभुके 'षट्सन्दर्भ' का भलीभाँति अनुशीलन करें। उनके जैसे विद्वानोंको समझानेके लिये ही श्रीजीव गोस्वामी प्रभु अपने गुरुवर्ग द्वारा शक्ति संचारित पुरुष हैं। उनके जैसा विराट दार्शनिक पृथ्वी भरमें कहीं भी नहीं हैं, नहीं था और न होगा। हम आशा करते हैं, स्वयं एक दार्शनिक होनेके नाते डा॰ राधाकृष्णन् श्रीजीवगोस्वामीके वचनोंको कभी भी अस्वीकार न कर सकेंगे।

डा॰ राधाकृष्णन् श्रीकृष्ण-तत्त्व समझने जाकर किस प्रकार Perplexed हुए हैं, यह उनकी एक पुस्तकसे पता चलता है। वे श्रीकृष्णको भारत वर्षका एक ऐतिहासिक असाधारण मनुष्य कहना चाहते हैं, किन्तु श्रीगीतामें इसका तनिक भी अवकाश नहीं हैं। वे लिखते हैं—

"In the Gita Krishna is identified with the supreme lord, The unity that is behind the manifold universe, the changeless truth behind all appearances, transcendent over all and immanent in all. He is the manifested lord, making it easy for the mortls to know, for those who seek the imperishable brahman reach him no doubt but after great toll. he is called parmatma.

उन्होंने अपने विभ्रान्त होनेका कारण इस प्रकार लिखा है— hiw can we identify an histori. can individual with the supreme god? the representaton of an individual as indentical with the universal self is familiar to hindu thought. in the upanishads. we are inforned that the filly awakened soul which apprehends the true relation to the absolute-sees that it is essentially one with the latter and declares itself to be so. (Essay- Page 30)

Essentially one अर्थात् जीव और भगवान्के एकत्वकी उपलब्धि ही चरम कथा नहीं है। अवश्य शंकराचार्यजीने आसुरी भावापन्न लोगोंको यहाँ तक उपलब्धि करवानेके लिए ही ऐसा उपदेश दिया था। परन्तु इसके और आगे चेतन राज्य 'चेतनश्चेतनानाम्' का दर्शन है। चेतनराज्यमें प्रवेश कर पूर्ण चेतनका जो दर्शन होता है, उसे न पाने तक चेतन-वस्तुका ज्ञान असम्पूर्ण, असम्यक और अविशुद्ध होता है, जो अशुद्ध बुद्धिका परिणाम है। वैसे अपूर्ण और खण्ड-चेतनके ज्ञानके कारण बड़े बड़े दार्शनिक पुनः जड़ीय दार्शनिक पदसे च्युत हो पड़ते हैं तथा राजनैतिकवीर कर्म-जड़-वीर धर्म-अर्थ-काम-

परायण वीर आदि अनेक रूपोंमें सज्जित होकर प्रकाशित होते हैं।

डा० राधाकृष्णन्का उन पूर्ण–चेतनके साथ परिचय नहीं रहनेके कारण उनकी आँखोंके सामने विद्यमान रहने पर भी वे उनको (पूर्ण चेतनको) ऐतिहासिक व्यक्ति समझकर deluded हो रहे हैं। भारतीय दार्शनिकोंको भगवानके साथ जैसे एकत्वका विचार है, वैसे ही उनको भगवान्से पृथकत्वका विचार भी है एक ही वस्तु एक ही समयमें एकत्व और पृथकत्वके विचारमें प्रतिष्ठित है और वही विचार विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत अथवा अचिन्त्यभेदाभेद–तत्त्वके नामसे प्रसिद्ध है। यदि वह विचार प्रबल नहीं होता, तो सम्पूर्ण भारतके घर–घरमें कृष्णकी पूजा नहीं होती। ऐतिहासिक पुरुषके रूपमें कृष्णकी कहीं भी पूजा नहीं होती। बल्कि सर्वत्र भगवानके रूपमें ही श्रीकृष्णकी पूजा होती है। और उस भगवत्ताके रूपमें ही मध्यस्थ हैं—प्रामाणिक ग्रन्थ गायत्री और वेदान्तका2 अकृत्रिम भाष्य 'श्रीमद्भागवतम्'। डा० राधाकृष्णनसे भी अधिक बड़े–बड़े दार्शनिकों और मायावादियोंके आक्रमणके बावजूद भी भारतमें सर्वत्र कोटि–कोटि कृष्णके मंदिर युग–युगान्तरोंसे लेकर अबतक विद्यमान रहकर कृष्णको मनुष्य माननेवालोंको धिक्कार रहे हैं और भविष्यमें भी धिक्कारते रहेंगे। समस्त विष्णु–मन्दिर आचार्योंके अनुमोदित हैं। अतएव डा० राधाकृष्णके खातिर भारतवासी पाश्चात्य दार्शनिक–विचारोंके साथ कभी भी Compromise या मेल नहीं कर सकते।

भारतीय ऐतिहासिक गगनमें बहुतसे बड़े–बड़े ऐतिहासिक नक्षत्रोंका उदय होता आया है। उन बड़े–बड़े ऐतिहासिक पुरुषोंको छोड़कर केवल राम और कृष्णको ही भारतियोंने क्यों भगवान स्वीकार किया, इसका निरपेक्ष रूपसे विवेचन करनेके लिये पूर्व–पूर्वके आचार्योंको हम डा० राधाकृष्णन्की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली समझते हैं। ब्रह्मलोक–वासी और स्वर्ग लोकके निवासी भी कृष्ण–तत्त्वके सम्बन्धमें मोहित हो पड़ते हैं। अतएव मर्त्यलोक निवासी डा० राधाकृष्णन् अथवा उनके जैसे दूसरे लोग भी उस विषयमें मोह प्राप्त होंगे— इसे तो 'श्रीमद्भागवत' में ही 'मुह्यन्ति यत् सुरयः' श्लोकमें स्वीकार किया है। चर्तुदश ब्रह्माण्डमें 'भूलोक' तो सातवीं श्रेणीकी नगण्य विभूतिसम्पन्न एक वसुधा मात्र है।

परन्तु इस नगण्य वसुधामें भारतवर्ष ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है। क्योंकि भारतवर्षके मनीषिवृन्द प्राचीनकालसे पारमार्थिक विचारके सम्बन्धमें विश्वका पथ प्रदर्शन करते आये हैं। प्राचीनकालमें वे दूसरे–दूसरे उत्तम विभूतिसम्पन्न वसुधाओंके साथ परस्पर सम्बन्ध रखनेमें समर्थ थे। कह नहीं सकता, हो सकता है, भविष्यमें स्पूटनिकोंके द्वारा पुनः वैसा सम्बन्ध स्थापित हो जाय। परन्तु हमारे भारतका ऐसा दुर्भाग्य है कि हम अपने पूर्व–पूर्व आचार्योंकी बातें सुननेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं। श्रीकृष्णको ऐतिहासिक व्यक्ति तो स्वीकार करेंगे, परन्तु उनकी वाणियोंको स्वीकार न किया जा सके उसके लिये हर प्रकारसे कौशल आदि द्वारा वाक्यजाल विस्तार करते हैं। यही भारतके दुर्भाग्यका परिचय है। यथार्थ भगवान्को ताकके ऊपर रख कर नकल भगवान्के उत्पातका विस्तार करनेके लिए भारत इस समय जारोंसे प्रयत्नशील है—यही भारतके दुर्भाग्यका परिचय है। (क्रमशः) ❑

*श्वपचोऽपि महीपाल विष्णु–भक्तो द्विजाधिकः।*
*विष्णु भक्ति–विहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः।।*

हे राजन्! चण्डाल भी यदि विष्णुका भक्त हो, तो वह ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि जो संन्यासी विष्णुभक्ति–विहीन होता है, वह चाण्डालसे भी अधम होता है।

# कलियुगमें श्रीकृष्णनाम जप साधना

—डा० सत्यपाल गोयल

जो साधक उदर वेगसे पीड़ित होते हैं, उनका ध्यान प्रायः उदर भरणमें ही रहता है। प्रारम्भमें कुछ साधन भजन होता दीख पड़ता है परन्तु पश्चात्में भजनमें 'ओ' की मात्रा लगकर भोजन ही रह जाता है। अधिक या निरंतर खानेसे अथवा लवण, मिर्च, खट्टी, मधुर वस्तुओंका अनियमित एवं अधिक सेवन शरीरमें अजीर्ण, रक्त एवं चित्त विकार, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, स्मृतिभंग जैसे रोगोंको जन्म दे देते हैं जिससे निश्चित ही शरीर साधना बढ़ जाती है। भजन कम हो जाता है।

वृन्दावनमें एक वैरागी अपना गृह द्वार छोड़कर भजन करते थे। वे पेटु किस्मके थे। जहाँ भी पकवान, रसीले पदार्थोंका वितरण सुनते पहुँच जाते खानेको। एक बार संकेत वटके पास किसी धनाढ्य दम्पत्तिने मालपुओंका वितरण किया। वे वैरागी साधक ५-६ मील चलकर वहाँ पहुँच गये तथा छककर मालपुओंका सेवनकर अपनी कुटी पर लौट आये। रात्रिमें उनके पेटमें अफारा हुआ। परेशान हो गये। भजन साधन छूट गया। पासमें ही एक अन्य संत रहते थे। उन्होंने कहा—क्या मालपुओंके लिए ही घर छोड़ा—ये तो घर पर बहुत मिल जाते। चार छः मालपुए ज्यादा खानेके लिए १२ किलोमीटर चलकर गये। अब कष्ट भोग रहे हो, और नाम जप भी नहीं हो रहा है। तभी तो महाप्रभुजीने कहा है—

*वैरागी करिबे सदा नाम संकीर्तन।*
*मांगिया खाइया करे जीवन रक्षण।।*
*वैरागी हइया येवा करे परापेक्षा।*
*कार्य सिद्धि नहे कृष्ण करेन उपेक्षा।।*
*जिह्वार लालसा येइ इति उति धाय।*
*शिश्नोदर परायण कृष्ण नाहि पाय।।*

(श्रीचैतन्य चरितामृत)

साधक गृही हो या वैरागी सभीको उदर वेगसे दूर रहकर संतुलित आहार करना भजनमें सिद्धिके लिए आवश्यक है। वैरागी साधकोंको तो अयाचित वृत्तिसे जीवन यापन करना चाहिए। जो लोग उदर पूर्तिकी लालसामें ही अपने समयको अतिवाहित करते रहते हैं, उनके लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। आज भी व्रजधाममें अनेक शुद्ध चित्त परम सिद्ध पुरुष हैं, जो बाह्य आडम्बरसे दूर अयाचित वृत्तिसे रहकर अपना भजन साधन कर रहे हैं। उन्हें ऐसे व्ययसाध्य आयोजनोंसे कोई मतलब नहीं जिनमें पक्वान्नों तथा गरिष्ठ आहारोंकी व्यवस्था होती है, क्योंकि भजन साधन तथा धर्म प्रचारकी आड़में उनका सम्पूर्ण समय धन तथा भीड़ एकत्रित करने में ही निकल जाता है। संभवतः श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज इसीलिए साधुओंके बड़े-बड़े अखाड़ों तथा बृहत् आयोजनोंके विरुद्ध थे।

### *उपस्थ (जननेन्द्रिय) वेग*

इस पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक शरीरधारीमें यौन सुखकी इच्छा किंचितमात्रामें स्थित रहती है क्योंकि प्राकृतिक दृष्टिसे प्राणियोंमें यह पुनर्स्थापन प्रवृत्तिका द्योतक है परन्तु मनुष्योंमें यह प्रवृत्ति कम व अधिक पायी जाती है। अधिक प्रवृत्तिको ही आवेग कहा जाता है। सृष्टिमें वृद्धिका दायत्व भी सभीका नहीं है। यदि भोगोंमें रूचिकी प्रधानता दिखलायी पड़ती है, तो दूसरी ओर भोगोंके प्रति विरक्तता (वैराग्य) भी दृष्टिगोचर होता है। यदि सभीमें आधिक्य होता तो फिर वैराग्यवान इस पृथ्वीपर मिलते ही नहीं। आवेगोंका सीधा सम्बन्ध व्यक्तिकी मानसिकतासे होता है। व्यक्ति अपने जीवनमें जिस उपलब्धिको अधिक महत्व देता है, उसका मन और उस विषयसे सम्बन्धित इन्द्रियाँ

उसकी प्रवृत्तिको उधर ही मोड़ देती हैं। इस मोड़को ही उस विषयके प्रति आसक्ति कहा जाता है। यह आसक्ति ही वेगको जन्म देती है।

जननेन्द्रियका वेग यदि सन्तान उत्पत्ति तक ही सीमित हो तो उसे सांसारिक दृष्टिसे अनुचित नहीं कहा जा सकता है। किन्तु जब यह स्त्री लाम्पट्यका रूप धारण कर लेता है, तो इससे लोक ओर परलोक दोनों नष्ट हो जाते है। भजनमें जननेन्द्रियका आवेग गृहस्थों और वैरागियों दोनोंके लिए ही पतनका कारण है। स्त्रियोंमें भोगबुद्धिके रहते, भजनमें कदापि सिद्धि नहीं मिल सकती है। अनेकों संतों, साधुओं तथा आश्रमोंमें रहनेवाले ब्रह्मचारियोंका इस वेगके कारण घोर पतन होते देखा गया है। स्त्रियोंपर भजन–साधनका दयाभाव दिखाते–दिखाते उनके मोहजालमें अनेकों वैरागी भजन छोड़ बैठे हैं। यहाँतक कि उन्होंने अपने द्वारा निर्मित आश्रमों या गुरुसे प्राप्त आश्रमोंकी आहुति दे दी—यह उपस्थ वेगका ही परिणाम है। संसारमें अन्य वेगोंपर शासन कर लेना इतना कठिन नहीं है, जितना कि स्पर्श–सुखका वेग।

प्रारम्भमें विषय सुखकी इच्छा एक लहरके रूपमें मनमें प्रवेश करती है, बादमें समुद्रका रूप धारण कर लेती है। अतएव काम चिन्तन–किसी स्त्रीके रूपका चिन्तन, उससे विषय सुखकी लालसा, एकान्तमें मिलनकी तमन्ना, एक–ना–एक दिन दोनों पक्षों (स्त्री एवं पुरुष) का घोर विनाश कर देती है। प्रत्येक साधक भक्तको स्त्रियोंके सम्पर्कसे दूर रहना चाहिए। महाप्रभु चैतन्यदेवकी लीलामें श्रीछोटे हरिदासके माध्यमसे स्त्री सम्पर्कके परिणामको ही प्रकट किया है। महाप्रभुजीने भावी साधकोंको सावधान रहनेके उद्देश्यसे ही इस लीलाको प्रकट किया अन्यथा छोटे हरिदासजी तो उनके लीला परिकर हैं। तभी महाप्रभुजीको कहना पड़ा—

*प्रभु कहे वैरागी करे प्रकृति सम्भाषण।*
*देखिते ना पारि आमि ताहार वदन।*
(चै. च. अ. २/११७)

*शिश्नोदर परायण कृष्ण नाहि पाय।*
(चै. च. अ. ६/२२७)

बड़े बड़े सिद्ध पुरुषोंकी तपस्या भंग करनेका प्रयास भी इन्द्र आदि देवताओं द्वारा नारियोंके द्वारा ही किया गया। भक्त श्रीयवन हरिदासजीका भी पतन करनेके लिए वेश्याको उनके समीप भेजा गया। मुनि सौभरि मात्र मछलियोंके क्रीड़ा विलाससे अभिभूत होकर ५० कन्याओंसे विवाह कर हजारों वर्ष तक साधनासे च्युत रहे। महर्षि नारदजी भी स्त्रीलोभके वशीभूत होकर विवाह मण्डपमें पहुँच गये। अनेकों जीवन्त उदाहरण मिलते हैं।

*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते*
*स्तमो द्वारं योषितां संगीसंगम्।*
*महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता*
*विमन्यवः सुहृद साधवो ये।।*
(श्रीमद्भा. ५/५/२)

अर्थात् श्रीऋषभ देवजीने कहा—हे पुत्रो! महत् पुरुषोंकी सेवाको भगवत्प्राप्तिका द्वार कहते हैं और स्त्रीसंगी पुरुषके संगको संसारका द्वार अर्थात् विषयासक्त कहा गया है। जो सर्वत्र समचित्त है, प्रशांत हैं, क्रोधहीन हैं, सर्वसुहृत एवं साधु हैं, वे महत्पुरुष होते हैं।

यदि उपस्थ वेगका शमन करना है, तो स्त्रीका संग या उसके प्रति भोगकी कामना, आसक्ति, मोहका मनसे तो त्याग आवश्यक है ही, उससे भी अधिक त्याज्य है, स्त्री संगियोंका संग क्योंकि ऐसे कुपथगामी ही उस सुखकी नमक मिर्च लगाकर बातें कर, साधकके मनको स्त्री सुखकी ओर मोड़नेमें अधिक सहयोग करते हैं।

*न तथास्य भवेन्मोहो बंधश्चान्य प्रसंगतः।*
*योषित् संगाद्यथा पुंसो यथा तत्संगी संगतः।।*
(श्रीमद्भा. ३/३१/३५)

अर्थात् स्त्री संग तथा स्त्री संगीके संगसे पुरुषको जैसा मोह और संसार बन्धन होता है, उस प्रकारका बन्धन किसी औरके संगसे नहीं होता है। इसलिए

साधकको स्त्री संग तथा उसके संगीके संगसे बचना चाहिए।

नारीके शरीरमें रक्त, मांस, पीब, कफ, वात, पित्त, त्वचा, हड्डी तथा केशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ये ही वस्तुएँ कही सुतके थैलीमें रख दी गयी है और कहीं रेशमकी थैलीमें, यदि उक्त सभी पदार्थोंको अलग अलग या एक साथ मिलाकर आपको प्रस्तुत कर दी जाय तो आप नाक मुँह सिकोड़ कर उसकी सडांदसे दूर भाग जायेंगे। अतएव उसके स्वरूपको जानिए। सुख स्त्री या उसके शरीरमें नहीं है। अपितु हमारी एकतरफा भोग बुद्धि ही उसमें सुखके गोते लगाती है। अपनी पुत्रीके मुख चुम्बन या हाथका स्पर्श करनेमें किसी प्रकारका काम विकार नहीं होता है। परन्तु दूसरेकी पुत्री और स्त्रीको देखकर भोगबुद्धि तरंगे मारने लगती हैं। इस प्रकार नारीके रूपमें हमारी भोग बुद्धि ही उपस्थ वेगको जन्म देती है। उसमें असारता, नश्वरता, दुर्गन्धताका विचार कर मनको अपने इष्ट श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें लपेट दिया जाय तो नारीका रूप, विनाशकारी भासने लगेगा तथा श्रीश्यामसुन्दके चरण रसमय, सुखमय, शान्तिमय तथा प्रेममय लगने लगेंगे तथा हृदय पश्चातापकी अग्निसे धुं धुं करके जलने लगेगा—हाय! हाय! मेरा जीवन व्यर्थ ही इन हाड़-मांसकी पुतलियोंमें लगा रहा। मैंने अपना अमूल्य मानव जन्म निरर्थक इनके तुच्छ आकर्षणमें क्यों बिता दिया? क्यों नहीं सन्तोंके श्रीचरणोंमें बैठकर श्रीराधामाधवके युगलचरणोंकी सेवा की। निरन्तर विषयोंके प्रति उदासीन रहकर श्रीकृष्ण नाम जप करते रहनेसे उपस्थ वेग पर नियंत्रण पाया जा सकता है—एक बार दृढ़ निश्चयके साथ नाम जप प्रारम्भ करने भर की देर है।

प्रत्येक साधकको निम्न छः प्रवृत्तियोंसे भी दूर रहना परम आवश्यक है अन्यथा साधन मार्गसे भटक जाने या पतित हो जानेकी प्रबल सम्भावनाएँ हैं—

*अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।*
*जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्ति विनश्यति।।*

(उपदेशामृत २)

अर्थात् अधिक आहार करना, निरर्थक अधिक श्रम करना, अनावश्यक बातें करना, नियमबद्धताका अभाव, विषयी लोगोंका संग करना, विषयोंको भोगनेका लोभ इन छः कारणोंसे भक्तिका विनाश हो सकता है।

यद्यपि श्रीरूप गोस्वामीजीने उक्त छः कारणोंकी प्रबलताके परिप्रेक्ष्यमें इनसे साधककी भक्तिका विनाश होना बताया है। परन्तु यहाँ इस शब्द 'विनाश' का व्यञ्जित अर्थ लेना चाहिए। भक्ति देवी तो नित्य है। भगवानकी प्रेयसी होनेसे उनके अन्दर नश्वरता नहीं है। शब्दकी तीन शक्तियाँ होती है—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। अभिधा शब्दके स्थूल रूपको व्यक्त करती है, लक्षणा शक्ति प्रयुक्त किये गये शब्दकी लाक्षणिक अभिव्यक्ति करती है तथा व्यञ्जना शक्ति उसके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करती है। यहाँ विनाश शब्दका स्थूल अर्थ नहीं अपितु यहाँ भक्तिके विनाशसे ताप्तर्य साधककी प्रवृत्ति भजनकी ओरसे हटकर विषयोंकी ओर जानेसे है न कि भक्तिके विनाश होनेसे।

### *अत्याहार*

स्थूल रूपमें अत्याहारका सीधा अर्थ अधिक भोजन करनेसे है परन्तु यह भोजन तो इस अन्न पोषित शरीरसे सम्बन्ध रखता है। इसके संरक्षणमें लिए प्राणी मात्रको उसकी आवश्यकताके अनुरूप भोजन आवश्यक है। श्रील रूपगोस्वामीजीका ताप्तर्य इस श्लोकमें अधिक भोजनके साथ किसी अन्य प्रकारके आहारसे भी प्रतीत होता है क्योंकि वे उपदेशामृतके प्रथम श्लोकमें जिह्वा वेग तथा उदर वेगके सम्बन्धमें सावधान कर चुके हैं। पुनः उसीसे सम्बन्धमें किसी और प्रवृत्तिका उल्लेख करना उन जैसे महान विद्वान तत्वज्ञ संतके लिए आवश्यक

नहीं था। आहार दो प्रकारका होता है। एक इस स्थूल शरीरको पुष्ट करनेवाला तथा दूसरा आध्यात्मिक तुष्टि प्रदान करनेवाला। आध्यात्मिक साहित्यका अध्ययन मनन और चिन्तन करनेसे जो तुष्टि–पुष्टि होती है उसका मुकाबला स्थूल शरीरको पुष्ट करनेवाला आहार भी नहीं कर सकता।

आहार चाहे शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला हो या आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला हो—दोनोंका ही अधिक आहार अनेक विकार पैदा करते हैं। आज धर्म और पंथ कुकुरमुत्तेके छत्तोंकी तरह उग आये है। जिन्होंने अपने अपने प्रकारसे जीव, ब्रह्म और मायाके स्वरूप एवं स्थितिकी व्याख्या की है। उनमेंसे अधिकांश भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। अतएव आध्यात्म साहित्यका अधिक अध्ययन (विविध सम्प्रदायों एवं पंथोंसे सम्बन्धित) करना भी अन्तमें मानसिक विकार पैदा करके ईश्वरके अस्तित्व और उसको प्राप्त करनेवाले साधनोंके प्रति अनास्था उत्पन्न होने लगती है क्योंकि उनका अत्याहार अजीर्ण पैदा करता है।

अतएव साधकोंको चाहिए कि वे शरीरके पोषण करनेवाले आहारको सीमित रखनेके साथ साथ अपनी गुरु–परम्परासे प्राप्त साहित्यका ही अध्ययन कर भक्तिमार्गपर बढ़े—यही एक सुगम रास्ता है। अधिक आहारके सम्बन्धमें भगवान श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा है—

*नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।*
*न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।*
*युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।*
*युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।*

(गीता ६/१६–१७)

अर्थात् हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेका और न ही बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेवालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार करनेवालेका, कर्ममें यथाशक्ति चेष्टा करनेवालेका ओर यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

यहाँ युक्त आहारसे तात्पर्य कृष्णभजनके जो अनुकूल हो उस आहारसे है। अनुकूल वह है जो श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करनेमें सहयोगी हो। अतएव अपने आराध्यको अर्पित प्रसाद का ही शरीर रक्षणके उद्देश्यसे संतुलित मात्रामें आहार करना चाहिए। इसी प्रकार प्रचलित सभी सम्प्रदाय एवं पंथोंके साहित्यको भी नहीं पढ़ना चाहिए—इससे मतिभ्रम होकर अपनी भक्तिपोषक विचारधाराके प्रति अनास्था उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार अत्याहारसे अजीर्ण, वमन, कब्ज, अर्श आदि रोग पैदा होते है, उसी प्रकार अधिक ग्रन्थों तथा विज्ञान शास्त्रोंका अध्ययन भी मानसिक रोग उत्पन्न करता है। अतएव गुरु–परम्परासे प्राप्त ज्ञान या उनके द्वारा रचित सत्साहित्यका ही चिन्तन, अध्ययन, श्रवण व परस्पर चर्चा करनी चाहिए। इससे उसमें निष्ठा उत्पन्न होकर अपने आराध्यके चरणोंमें निश्चित ही प्रेम उत्पन्न होता है।

*यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।*
*न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।*
*तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।*
*ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।*

(गीता १७/२३–२४)

अर्थात् जो साधक शास्त्रविधि (गुरु प्रदत्त शास्त्रविधि) को त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण (साधना) करता है। वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगति व सुखको ही प्राप्त होता है। कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र (गुरु–परम्पराप्राप्त विचारधारा) ही प्रमाण है ऐसा जानकर साधकको शास्त्र विधिसे नियत कर्म (साधन) ही करने योग्य है।

गुरु वाणी ही शास्त्र वाणी होती है। उसके अनुकूल साधकको साधना करनेसे भजनमें सिद्धि

प्राप्त होती है। अन्य ग्रन्थोंमें परम्परागत शुद्धभक्ति तत्त्वका अभाव होता है।

स्त्री, मकान, भूमि, आभूषण, धन, कारखाने आदिका अधिक संग्रह-परिग्रह भी अत्याहारकी श्रेणीमें आता है। आवश्यकतासे अधिक अर्जन निश्चित ही दूसरोंके प्रति अन्याय एवं हिंसाका द्योतक है। क्योंकि इससे उनका अधिकार छिनता है तथा वे सुविधाओंके उपयोगसे वंचित रहते हैं। दूसरी ओर निरन्तर इनकी प्राप्तिमें किया गया उद्योग हरिभजनके लिए समय नहीं दे पाता है।

गृहस्थ भक्तोंके लिए कुछ सीमा तक संग्रह-परिग्रह परिवारके संरक्षण एवं पोषणके लिए आवश्यक होनेसे अत्याहारकी सीमामें नहीं आता है, क्योंकि गृहस्थ भक्तोंका सम्पूर्ण जीवन कृष्णको ही समर्पित रहता है। वह अपनी अर्जित धन-सम्पत्तिसे अपने आश्रित जनोंकी सेवाके साथ साथ भगवान, उनके गृहत्यागी भक्तों तथा धामकी सेवा करता है। परन्तु गृहत्यागी साधकोंके लिए किसी भी क्षेत्रमें (साधन-भजनको छोड़कर) संग्रह एवं परिग्रह विषके समान है। जिन वस्तुओंको त्यागकर उसने कृष्णसेवाका व्रत ग्रहण किया है। यदि वह उन वस्तुओंका संग्रह-परिग्रह करता है तो एक न एक दिन निश्चित ही संचित वस्तुएँ उसे संसारके विषय भोगोंकी ओर आकृष्ट कर लेगी। उसके अन्दर धनवान, सम्पत्तिवान, ऐश्वर्यवान साधु होनेका अहंकार घर बना लेगा। अहंकार बडा होनेके भावकी तुष्टि भर करता है, इससे उसके लोक-परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं। अतएव संचयी वृत्ति भी अत्याहारका ही रूप है। इससे बहुत सावधान रहनेकी जरुरत है। प्रारम्भमें इस संचय वृत्तिके पीछे भगवत्सेवाका भाव निहित रहता है। परन्तु विषय तो विषय हैं, कलिकालमें उसे कुछ न कुछ कलुषता अवश्य देंगे—यह इनका स्वभाव है। अत्याहारकी प्रवृत्तिसे ग्रस्त साधक शुद्ध भक्ति व कृष्णकृपा प्राप्त करनेमें अन्ततः असफल रहते हैं। गृहस्थ और वैरागी साधक दोनों ही संचय तथा अधिक उपार्जन की इच्छासे दूर रहें ताकि वे भक्ति पथमें सीढ़िया चढ़ते-चढ़ते फिसले नहीं। यदि कृष्णकृपा (प्रेम) प्राप्त करना है तो हमें आसक्ति रहित होकर संसारके विषयोंकी अधीनता अस्वीकार करनी होगी।

*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमपुयुञ्जतः।*
*निर्बन्ध कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते।।*
*प्रापञ्चिकतया बुद्धया हरि सम्बन्धि वस्तुनः।*
*मुमुक्षुभि परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।*

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१२५-१२६)

अर्थात् कृष्णकी प्राप्तिमें बाधक विषयोंके प्रति अनासक्त भाव अपनाकर तथा कृष्ण प्रेम प्रदान करनेवाले समस्त सम्बन्धोंमें चेष्टावान होकर कृष्ण सेवाके अनुकूल जो भी कुछ होता है, वह युक्त वैराग्य कहलाता है, परन्तु मुमुक्षु (मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला) कृष्ण सम्बन्धी वस्तुओंको जागतिक (नाशवान) समझकर उनका परित्याग करता है, जो फल्गु वैराग्य कहलाता है।

यहाँ फल्गुसे तात्पर्य कपटपूर्णसे अर्थात् बाह्य स्तर पर वैराग्य दिखाना तथा मनसे या छिपकर विषयोंका सेवन करना कपट वैराग्य या फल्गु वैराग्य कहलाता है। यदि साधक वस्तुतः कृष्ण प्रेम प्राप्त करना चाहता है तो वह गृही हो या त्यागी उसे शरीर रक्षणके लिए अल्पमात्रामें भोजन, जल व वस्त्रोंका उपयोग करना चाहिए। अन्यथा उनका अधिक संग्रह एवं उपयोग अत्याहारका पोषक ही माना जायेगा। ❑ (क्रमशः)

# अन्धगज न्याय

कुछ जन्मसे अन्धे व्यक्तियोंने किसी वृद्ध व्यक्तिके निकट 'हाथी' नामक एक अद्भुत प्राणीके सम्बन्धमें सुना था। इस प्रकार अद्भुत प्राणीको स्पर्श करनेकी उनको बड़ी इच्छा हुई । वे लाठीका आश्रय लेकर एक राजाके हाथीशालामें जाकर पहुँचे एवं माहुत (हाथीरक्षक) को अनुरोध कर उसकी सहायतासे कोई हाथीके पीठपर चढ़ गए, किसीने हाथीके सुंडको, किसीने पूछको तो किसीने पैरमें स्पर्श किया तथा अनुभव करने लगे। जो अन्धे व्यक्ति हाथीके सूंडको स्पर्श किये थे, उन्होंने हाथीको एक बहुत बड़ा सर्पाकृति निश्चय किया। जिन्होंने पैरमें स्पर्श किया था, वे उसको एक स्तम्भके समान समझें। जिन्होंने कानको स्पर्श किया था, वे हाथीको एक सुपके समान समझें। जो उसके पेटको स्पर्श किये थे, वे उसको एक नगाड़ाके समान समझे। इसप्रकार 'हाथी' के सम्बन्धमें अन्धोंकी कोई भी परिपूर्ण धारणा नहीं हुई।

जगतमें जो लोग विद्या, बुद्धि, पाण्डित्य वा प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा भगवानके स्वरूपके सम्बन्धमें सिद्धान्त करते हैं, उनकी धारणा भी इसी प्रकार असम्पूर्ण एवं विकृत होती है। भगवानको प्रत्यक्ष एवं अनुमान ज्ञानके द्वारा समझनेकी चेष्टा करनेसे ही 'मायावाद', 'सन्देहवाद' तथा नाना प्रकारके नास्तिक्यवादका उद्भव हुआ है। किन्तु चक्षुमान होकर अर्थात् भगवद्भक्तोंके निकट दिव्यज्ञान वा दीक्षा ग्रहणकर, जब भगवानके दर्शनका सौभाग्य होता है, तभी भगवानके परिपूर्ण स्वरूपकी उपलब्धि होती है। जो भगवद्भक्त नहीं है, वे तत्त्वान्ध हैं, वे भगवानके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी असम्पूर्ण, विकृत और भ्रान्त मत है। भगवानके दर्शन नहीं कर भगवानको 'निराकार', 'जड़साकार' आदि जो कुछ भी कहा जाता है, वह समस्त भूल है। इसलिए जिन्होंने भगवद्दर्शन किये है अर्थात् जो भगवद्भक्त, ऐसे महापुरुषोंकी वाणी श्रवणकर जब हमारे दिव्य चक्षु उन्मीलित होते हैं, तभी हम लोग भगवानके पूर्ण–स्वरूपकी उपलब्धि कर सकते हैं। ❑

*नातः परं कर्म–निबन्ध–कृन्तनं,*
*मुमुक्षतां तीर्थ–पदानुकीर्तनात्।*
*न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो,*
*रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा।*

(श्रीमद्भा. ६/२/४६)

जो लोग इस संसार–बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिए अपने चरणोंके स्पर्शसे तीर्थोंको भी तीर्थ बना देनेवाले भगवानके नाम संकीर्तनसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, जिससे पापोंका समूल ध्वंस हो सके। क्योंकि भगवानका आश्रय लेनेसे मनुष्यका मन फिर कर्मके पचड़ोंमें नहीं पड़ता। भगवन्नामके अतिरिक्त किसी भी दूसरे प्रायश्चित्तका आश्रय करनेसे मन रजोगुण और तमोगुणसे ग्रस्त ही रहता है तथा उससे पापोंका मूलरूपसे नाश नहीं होता।

# प्रचार प्रसंग

ब्राजील (हीओ डी अनेरिओ)

जगदगुरु नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत त्रिदण्डी स्वामी श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञानकेशव गोस्वामी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित "श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति" के वर्तमान उपसभापति एवं साधारण संपादक परमाराध्यतम ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत त्रिदण्डी स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज अपनी सातवीं विश्व प्रचार यात्राके लिए प्रथम चरणमें ईटलीके प्रमुख महानगरोंमें भारतीय वैदिक संस्कृति और सनातन धर्म तथा भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित युगधर्म श्रीहरिनाम संकीर्तन तथा इसके द्वारा प्राप्य विशुद्ध ब्रज भक्तिका सफलता पूर्वक प्रचारकर १८-अप्रैलको ईटलीकी राजधानी रोमसे संयुक्त राज्य अमेरिकाके FLORIDA राज्यकी विख्यात महानगरी MIAMI पधारे। अंतरर्राष्ट्रीय MIAMI हवाई अड्डे पर ३९ अमेरिकी भक्तों सहित विभिन्न दक्षिण अमेरिकी देशोंशे आए भक्तोंने कीर्तन करते हुए श्रील महाराजजीका हार्दिक अभिनन्दन किया। यहाँ पर परमाराध्यतम श्रील महाराजजी श्रीकृपाराम प्रभुके निवास स्थान पर ठहरे। श्रील महाराजजीकी पावन उपस्थितिसे घर भक्तोंसे भर गया तथा समस्त वातावरण भक्ति जनित आनन्दसे ओतप्रोत हो गया। MIAMI में चार दिनका कार्यक्रम रखा गया था। स्थानीय भक्तोंके अतिरिक्त बहुतसे नये भक्त लोग भी प्रवचनोंमें सम्मिलित हुए।

श्रील महाराजजीने अक्षय तृतीयाकी शुभ तिथिमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना तथा समितिके संस्थापक आचार्यकेसरी श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीकी अद्वितीय गुरु निष्ठा तथा उनके हृदगत गम्भीर भावोंका किञ्चित अवलोकन करते हुए बतलाया कि आचार्य केसरीने समितिका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' तथा समितिसे त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण करनेवाले सन्यासियोंका नाम श्रीभक्तिवेदान्त' इसलिए रखा कि जनसाधारण यह जाने और समझे कि वेदान्तका एकमात्र तात्पर्य शुद्धभक्ति है। श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका एकमात्र उद्देश्य है—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कृत 'आराध्यो भगवान ब्रजेश तनय....और श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत "आम्नाय प्राह तत्त्वम्' श्लोकके अनुरूप श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा प्रणालीका निभर्यतापूर्वक प्रचार व प्रसार। इस अवसर पर श्रील महाराजजीने उक्त दोनों बातोंकी विस्तृत व्याख्या एवं शुद्ध भक्तिके विचारोंकी विवेचना की। सद्गुरु चरणाश्रयकी महिमा, सद्गुरुके लक्षणों एवं भक्ति साधकके जीवनमें आनेवाली विभिन्न परिस्थितियोंका विवरण प्रस्तुत करते हुए चार दिनोंके कार्यक्रममें श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थसे श्रीसनातन शिक्षाका पाठ किया।

सभी भक्तोंके प्रसादादि व्यवस्थामें श्रीमान कृपाराम प्रभु तथा उनकी सहधर्मिणी श्रीमती एकान्तीदेवी दासीका सहयोग सराहणीय रहा।

महानगरी MIAMI से २२ अप्रैलको शिष्यों एवं अनुयायियोंके सहित श्रील महाराजजी दक्षिण अमेरिकी राष्ट्रोंकी यात्राके लिए सर्वप्रथम COSTRICA की राजधानी SANJOSE में पधारे। आन्तर्राष्ट्रीय SAN JOSE हवाई अड्डेपर इस बार श्रील महाराजजीका अभिनन्दन एक अविस्मरणीय घटना थी। अद्वितीय उत्साह एवं आनन्दके साथ भक्तोंने परमाध्यतम श्रील गुरुदेवका स्वागत किया। २-२ मृदंगों और करतालों, झम्प सहित तुमूल कीर्तन ध्वनिके साथ नृत्य करते हुए भक्तोंका समूह

अधीरतासे श्रील महाराजजीकी प्रतीक्षा कर रहा था। श्रील महाराजीकी दिव्य झाँकीका दर्शन करते ही मानों कीर्तन मण्डलीमें आनन्दका विस्फोट हो गया हो। शंख ध्वनि, पुष्पोंकी वृष्टि ओर माल्यार्पणके साथ सभी भक्तोंको श्रील महाराजजीके श्रीचरणकमलोंमें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करते देख, हवाई अड्डेपर उपस्थित यात्री तथा कर्मचारी वर्ग आश्चर्यचकित हो रहे थे। शायद इससे पूर्व अपने जीवनमें उन्होंने ऐसा दृश्य नहीं देखा था। यहाँके राष्ट्रीय दूरदर्शनके द्वारा यह घटना रिकार्डिंग की गई तथा दूरदर्शनके एक संवाददाताने श्रील महाराजजीसे उनके COSTRICA आनेके उद्देश्य इत्यादिके सम्बन्धमें प्रश्न भी किये। रातमें राष्ट्रीय समाचार प्रसारणमें श्रील महाराजजीके अभिनन्दन और उनसे हुई भेंटवार्ताको दूरदर्शनपर प्रसारित किया गया।

यहाँ पाठ कीर्तन आदिका कार्यक्रम श्रील प्रभुपाद कॉस्टरीका गौड़ीय मठ तथा स्थानीय प्रसिद्ध सभागृहमें आयोजित हुआ। इन आयोजनोंमें बहुत संख्यामें नए लोग भी आए। प्रवचनके अन्तमें प्रश्न करने भी और श्रील महाराजजीके उत्तरसे परम सन्तुष्ट हो जाते। पाँच दिनके इस सफल आयोजनमें श्रीमद्भागवतसे कलियुगके प्रारम्भमें नैमिषारण्यमें हुए सूत गोस्वामी एवं शौनकादि ऋषियोंके संवादका वर्णन करते हुए श्रील महाराजजीने 'स वै पुंसो परो धर्मो', 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाः' श्रृण्वतां स्वकथा कृष्णः', और 'नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु' आदि श्लोकोंकी विशद व्याख्या की। श्रील महाराजजीने बतलाया कि मनुष्य मात्रका परम कर्तव्य है कि वे श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी निरन्तरमयी भक्ति लाभ करें। यह भक्ति समस्त प्रकारसे सांसारिक कामनाओं और वासनाओंसे रहित, कर्म और ज्ञानादिसे अनावृत एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही सर्वेन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्णको सुखी करनेकी भावनासे प्रेरित होनी चाहिए। ऐसी विशुद्ध भक्तिके प्रभावसे स्वयं कृष्ण साधकके हृदयमें प्रकट होकर समस्त प्रकारके दुर्गण एवं मलिनताको दूरकर अपनी प्रेममयी सेवा प्रदान करते हैं।

श्रीजाह्नवा और सीतादेवीकी शुभाविर्भाव तिथिके अवसरपर श्रील महाराजजीने दोनों शक्तियोंकी अप्राकृत महिमाका वर्णन किया। कई श्रद्धालु भक्तोंने हरिनाम तथा दीक्षा मन्त्र भी ग्रहण किया। यहाँकी प्रचार इत्यादि समस्त व्यवस्थामें श्रीमान रमेश प्रभु तथा उनकी सहधर्मिणी श्रीमती राधासुन्दरी देवी दासीका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है।

२७ अप्रैलको परमाध्यतम श्रील महाराज SANJOSE से VENEJUELLA की राजधानी CARACAS पधारे। यह महानगर पर्वतोंके ऊपर ही बसा हुआ है। रात्रीमें चारों ओर महानगरकी विद्युत व्यवस्थाको देखकर लगता है कि मानो समस्त तारामण्डल धरती पर उतर आया हो अथवा अन्धियारी काली रातने टिमटिमाते हुए तारोंकी चादर ओढ ली हो। यहाँ चार दिनका आयोजन महानगरके बीचों बीच स्थित हिन्त्वा हॉटेल में किया गया। दो बड़ी धर्म सभाएँ भी हुई, जिसमें श्रील महाराजजीने मानव जीवनके उद्देश्य तथा वास्तविक सुखकी प्राप्तिके लिए शुद्ध रूपसे भगवद् आराधना एवं धर्मके सिद्धान्तके अनुसार जन्म आदि विषयोंपर प्रवचन दिया। प्रथम दिनकी सभामें CARACAS के न्यायमन्त्री भी उपस्थित हुए थे। अपने भाषणमें महोदयने श्रील महाराजजीको अनुचरोंसहित VENEZUELLA में आनेके लिए विशेष धन्यवाद दिया तथा विश्वभरमें भगवत्चेतना जाग्रत करनेके लिए श्रील महाराजजीके प्रयासकी भूरी–भूरी प्रशंसा की।

CARACAS में ही श्रीनृसिंह चर्तुदशीके परम पवित्र दिवसपर सभी भक्तोंने श्रील महाराजजीके आनुगत्यमें विधिवतरूपसे श्रीनृसिंहचतुर्दशीका व्रत पालन किया। सन्ध्यापर्यन्त उपवास रखा गया। शामको नृसिंहदेवके अभिषेकके पश्चात् श्रील

महाराजजीने श्रीनृसिंहदेवके आविर्भाव तथा भक्त प्रवर श्रील प्रह्लाद महाराजके अप्राकृत चरित्रका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन किया।

एक दिनका आयोजन श्रीराद्धांती प्रभुके मन्दिरमें हुआ। यहाँ पर श्रील महाराजजीने महाजनोंकी पदावलियोंसे 'गुरुदेव कृपाबिन्दु दिया' और 'गौरांग बलिते हबे' की व्याख्या की। संक्षेपमें भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेके लिए सर्वप्रथम श्रीगुरुपदाश्रयकी विधि है। गुरुनिष्ठा ही भक्तिका मेरुदण्ड हैं। सद्गुरु भगवद् परिकर होते हैं। इसलिए उनका संग मात्र प्राप्त होनेसे ही सर्वसिद्धि हो जाती है। उन्हींकी कृपासे भक्तिपथमें आनेवाली बाधाएँ तथा हृदयके अनर्थ और अपराध दूर होते हैं तथा साधक निरपराध चित्तसे शुद्ध हरिनाम ग्रहण करनेका अधिकारी होता है। अपराधयुक्त चित्तसे कोटि कोटि बार 'हा गौरांग' 'हे कृष्ण' पुकारने पर भी चित्त द्रवित नहीं होगा। दीन-हीन भावसे नित्यानन्दप्रभुके अभिन्न प्रकाश श्रीगुरुदेवसे कृपा-प्रार्थना करनी चाहिए। एकमात्र श्रीनित्यानन्द प्रभुकी कृपासे चित्त निर्मल हो सकता है एवं विषयवासना सदाके लिए नष्ट हो सकती है। किन्तु सद्गुरु अपनी महिमा स्वयं वर्णन नहीं करते हैं। उच्च श्रेणीके वैष्णवोंसे ही उनकी दिव्य महिमा जानी जा सकती है। इसलिए गुरुके साथ-साथ वैष्णवोंका भी यथायोग्य सम्मान और सेवा होनी चाहिए।

VENEZUELLA में सुचारु रूपसे प्रचारकी व्यवस्थाका श्रीमान रमेश दासाधिकारी, श्रीमान जनार्दन प्रभु श्रीमती राधासुन्दरी देवी दासीकी भूमिका विशेष रूपसे सराहणीय है।

१ मईको श्रील महाराजजी CARACAS से BRAZIL के प्रसिद्ध विश्वके द्वितीय बृहतम महानगर SAU PAULO में पधारे। यहाँपर भक्तोंने एक मानेस्ट्रीमें सभीके रहनेकी व्यवस्था की थी। प्रवचनके लिए एक बड़ा हाल उपलब्ध था जिसमें ४०० भक्त सुविधापूर्वक बैठ सकते थे। यहाँ भी चार दिनका कार्यक्रम आयोजित किया गया था। श्रील महाराजजीने सर्वप्रथम साधकके जीवनमें साध्य तत्त्वको स्थिर करनेकी आवश्यकता और तत्पश्चात् साधन अथवा उपलब्धिका मार्ग स्थिर करनेकी सनातन वैदिक पद्धतिका विस्तारसे वर्णन किया। इसी क्रममें अनैष्ठिकी भक्ति तथा श्रद्धासे लेकर क्रमशः भावावस्था तक भक्तिके विभिन्न स्तरोंका अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धतिसे विश्लेषण किया। प्रत्येक अवस्थाके उत्तरोत्तर विकासके साथ-ही-साथ साधकके व्यवहारमें देखे जानेवाले तटस्थ लक्षणोंकी विस्तृत रूपसे चर्चा हुई। श्रील महाराजने कठोर शब्दोंमें बतलाया कि यदि कोई साधक पूर्व आचार्यों द्वारा प्रदर्शित एवं शास्त्र विदित विधिका उल्लंघन कर ऐकान्तिक रूपसे हरिभक्तिका अभिनय करता है तो उसका वह आचरण अनर्थ एवं उत्पातकी ही सृष्टि करेगा।

SAU PAULO में प्रायः सभी भक्तोंका श्रील महाराजजीसे यह प्रथम साक्षात्कार हुआ क्योंकि BRAZIL में श्रील महाराजजी पहली बार पधारे थे। भक्तिके ऐसे सूक्ष्म विचार श्रवण कर सभी श्रोता अत्यन्त प्रभावित हुए तथा इस अहैतुकी करुणाके लिए पुनः पुनः श्रील महाराजजीके प्रति आभार व्यक्त करने लगे। यहाँ एक दीक्षा समारोहका आयोजन किया गया। चार भक्तोंका उपनयन संस्कार हुआ तथा शेष भक्तोंको हरिनाम दिया गया। परमाराध्यतम श्रील महाराजजीकी मंगलमय उपस्थितिमें यज्ञकुण्डमें पूर्णाहूति दी गई।

५ मईको श्रील महाराजजी SAU PAULO से ३५ कि.मी. हवाई यात्रा कर RIO DE GENARIO पहुँचे। पर्वतोंके बीचमें यह महानगर प्राकृतिक सौन्दर्यके लिए विश्व प्रसिद्ध है। RIO हवाई अड्डेसे २ घण्टेकी कार द्वारा यात्रा कर अत्यन्त मनोरम ORGAN पर्वतोंकी शृंखलासे होते हुए श्रील महाराजजीको

'व्रजभूमि' नामक स्थान पर लाया गया। यहाँ कुछ पर्वतोंके शिखर शिवलिंगके समान दीखते हैं। इस अद्‌भुत प्राकृतिक दृश्यकी शोभा देखनेसे ही अनुभव की जा सकती है। पूज्यपाद भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीकी प्रेरणा एवं आदेशसे उन्हींके एक शिष्य 'श्रीशत्रुकोटी विनाशन' प्रभुने यहाँ व्रजभूमिकी स्थापना की है। श्रीराधकुण्डके सदृश्य एक सुन्दर कुण्ड, निकटस्थ सुन्दर पर्वतको गिरिराज गोवर्द्धन तथा यात्री निवास गृहोंको भी ऐसे ही नामकरण किया गया है। सुन्दर, स्वस्थ वन्य जीवोंसे स्थानकी शोभा और भी वर्द्धित हो रही है। नानाप्रकारके सुन्दर–सुन्दर रंगे–बिरंगे फूलों एवं फलोंसे सुशोभित वृक्षादि तथा स्वच्छ एवं शीतल जलके बहते झरनोंसे हरे भरे पर्वत गिरिराज गोवर्द्धनका स्मरण कराते हैं। रात्रि विश्रामके पश्चात् प्रातः जगनेपर देखा कि घरोंको बादलोंने चारों ओर घेर लिया है। सचमुच हरे भरे पर्वतों तथा मेघोंके बीच स्थित यह व्रजभूमि वृन्दावनका स्मरण कराती है। इसी प्रेरणासे विभावित होकर यहाँ प्रथम प्रवचनमें श्रील महाराजजीने व्रजकी महिमा वर्णन की।

श्रीव्रजपुरी चिद्‌जगतमें सर्वोत्तम स्थान है। यह श्रीराधाकृष्णकी नित्य विहार स्थली है। श्रीकृष्ण एक क्षणके लिए भी व्रजसे बाहर नहीं जाते। अप्राकृत व्रजधाम ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीदेवी और यहाँतक की श्रीउद्धवजीके लिए भी दुष्प्राप्य है। श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका किञ्चित् आस्वादन कराते हुए दामोदर लीलाका विस्तृतरूपसे वर्णन किया और बताया कि एकमात्र व्रजवासियोंके प्रेमसे ही श्रीकृष्ण वशीभूत हो सकते हैं तथा ऐसे विमल, निस्वार्थ प्रेमको प्राप्त करनेके लिए व्रजवासियोंके पदचिन्होंका अनुसरण करते हुए श्रीरूपानुगधारामें सद्‌गुरु पदाश्रयकर उपयुक्त साधन–भजन करनेपर ही इच्छुक साधक अप्राकृत व्रजधाममें श्रीयुगलकिशोरकी नित्य सेवा लाभ कर सकता है।

यहाँकी समस्त व्यवस्थामें श्रीशत्रुकोटी विनाशन प्रभु तथा उनके पुत्र श्रीसुबलसखा प्रभु तथा पुत्रवधू श्रीचित्रादेवी की सेवा प्रचेष्टा विशेषरूपसे सराहणीय है। BRAZIL में प्रचारकी पूर्ण व्यवस्थामें श्रीगोविन्दभक्त प्रभु तथा श्रीकुञ्जबिहारी प्रभुका सहयोग अतुलनीय रहा। इस कार्यक्रममें बहुतसे सम्मानित व्यक्ति भी आए हुए थे, जिसमेंसे एक वैज्ञानिकके साथ हुई श्रील महाराजजीकी रोचक भेंटवार्ताको संक्षेपमें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रकार दक्षिण अमेरिकी देशोंमें सफलतापूर्वक प्रचार कर ९ मईकी सन्ध्यामें श्रील महाराजजीने अपने अगले गन्तव्य स्थान संयुक्त राज्य अमेरिकाके लिए प्रस्थान किया जहाँ विभिन्न महानगरोंमें अगले एक माह तक प्रचार कर वे यूरोपिय देशोंमें आयेंगे।

***(७ मई को त्प में वैज्ञानिक महोदयसे हुई भेंटवार्ता)***

***वैज्ञानिक***—बाईबल आदि शास्त्रोंके विचारसे उच्च कोटिका साधक GOD में सारे जीवोंको देखता है ओर सारे जीवोंमें GOD को देखता है। पुनः GOD में मिल जाता है तथा GOD ही बन जाता है।

***श्रीलमहाराज***—आपके प्रारम्भिक विचार प्रशंसनीय है। उच्च कोटिका साधक सारे जीवोंको अपने उपास्य भगवानमें देखता है और भगवानको भक्तके हृदयमें दर्शन करता है। यह बात सत्य है। भगवानकी सेवा करते हुए आंशिक रूपमें भगवनके गुणोंको भी आत्मसात कर लेता है। भगवत् प्रियताके कारण साक्षात् हरिके समान पूज्य भी होता है किन्तु वह विषय–भगवान नहीं बनता। आश्रय–भगवान तक हो सकता है। आज तक ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं देखा जाता कि कोई जीव साक्षात् भगवान बन गया हो। आंशिक रूपमें भगवानके गुणोंको प्राप्त करनेपर भी सृष्टि, स्थिति और प्रलय साक्षात् भगवानके कार्य हैं। जीवके लिए यह असम्भव है।

***वैज्ञानिक***—जड़–चेतन सभी कुछ, सारे जीव, सारा विश्व भगवानसे ही निकले हैं। अतएव उनका प्रत्येक

अंश भी भगवान ही है।

***श्रीलमहाराज***—कुछ सीमा तक बात सत्य हो सकती है। भगवानके आंशिक गुण समूह जीव प्राप्त कर सकता है, किन्तु जिस प्रकार समुद्र और समुद्रकी एक बूँद कभी भी एक समान नहीं हो सकते, वैसे ही जीव भी कभी भगवान नहीं हो सकता, यद्यपि वह उन्हींका विभिन्नांश है। महासागरके सारे गुण आंशिक रूपमें एक बूंदमें प्राप्त होनेपर भी उस बूंदसे बड़े-बड़े जहाज या स्टीमर नहीं चल सकते। उसमें ह्वेल मछलियाँ नहीं रह सकतीं। उसमें लहरें भी नहीं उठ सकतीं। बड़ी-से-बड़ी प्रज्ज्वलित अग्निको समुद्रका पानी बुझा सकता है किन्तु एक बूँद पानी आगमें स्वयं ही समाप्त हो जाता है। सूर्य और सूर्यकी किरणोंमें कुछ समानता हो सकती है, किन्तु सूर्यकी किरणें सूर्य नहीं हो सकती। यह असम्भव है। क्या इसी प्रकार ब्रह्म ओर ब्रह्मसे निसृत जीव और जड़ वस्तुएँ कभी भी एक नहीं हो सकती। अथवा एक बूँद सागरका पानी महासागर नहीं हो सकता।

***वैज्ञानिक***— ब्रह्मसे निकली हुई वस्तु कैसे ब्रह्म नहीं हो सकती?

***श्रीलमहाराज***—जड़ चेतन सभी वस्तुएँ बह्मसे निकली हैं यह बात ठीक है किन्तु ब्रह्मका जन्म और मृत्यु नहीं होती। भगवत्तत्त्वके ज्ञानके अभावमें अज्ञानता ही जन्म और मृत्यु आदि जड़ीय विकारोंका कारण है। यद्यपि किसी-न-किसी कारणसे ब्रह्म ही सभी वस्तुओंका सृजन स्रोत है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अज्ञानता ब्रह्म हो जायेगी। अथवा ब्रह्मको ग्रास कर लेगी। यह सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मका अभाव ही अज्ञानता है। सूर्यके प्रकाशका अभाव ही अंधकार है। इसी प्रकार भगवत्तत्त्वका अभाव ही अज्ञानता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान और अज्ञानमें अन्तर ही क्या रह जायेगा? क्या ज्ञान और अज्ञान एक ही वस्तु हैं?

***वैज्ञानिक***—शून्य ही सूक्ष्म तत्त्व है। शून्य से ही सृष्टि, स्थिति है और अन्तमें शून्यमें ही सबका समावेश होता है।

***श्रीलमहाराज***—यह बात कोरी कल्पना है। शून्यमें न तो इच्छा शक्ति है, न ज्ञान शक्ति है, न सृष्टि शक्ति है और न कृपा शक्ति है। निःशक्तिक और स्वरूपरहित है शून्य। शून्यसे कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। यह कार्य और कारण CAUSE & EFFECT सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध अवैज्ञानिक विचार है। मूलतत्त्व पूर्णतम तत्त्व है। हमारे शास्त्रोंमें परब्रह्मको ही परिपूर्ण तत्त्व बतलाया है।

*पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।*
*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।*

वह INFINITE तत्त्व है।

INFINITE—INFINITE=INFINITE

INFINITE + INFINITE= INFINITE

किन्तु शून्यके साथ ऐसा सम्भव नहीं है।

O — O = O, O+O = O यह सम्भव है किन्तु

O—ANY AMOUNT =THAT AMOUNT

O + ANY AMOUNT = THAT AMOUNT

अतः शून्य कभी भी स्वतः सिद्ध परतत्त्व नहीं हो सकता। शून्यसे शून्य ही उत्पन्न हो सकता है। किन्तु यह सारा विश्व भगवानका वैभव है। इसे शून्य कहनेवाला व्यक्ति अज्ञानी ही कहा जा सकता है।

***वैज्ञानिक***—आप धन्य हैं। मैंने ऐसे विचार इससे पूर्व कहीं नहीं सुने।

***श्रीलमहाराज***—मैं वैज्ञानिक नहीं हूँ। श्रीगुरुकृपासे जो कुछ समझा और अनुभव किया वही आपको बताया। आप इस तत्त्वका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे विचार करें।

***वैज्ञानिक***—आप तो वैज्ञानिकोंके वैज्ञानिक हैं। आपकी युक्तियोंका कोई भी वैज्ञानिक खण्डन नहीं कर सकता।

—हरे कृष्ण—

# श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराजजीका नित्यलीलामें प्रवेश

"२ मईको ***परमपूज्यपाद श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराजके*** कलकत्तामें अप्रकट होनेके विरहाकुल समाचारको श्रवण कर ब्राझीलके शहर SAU PAULO में श्रील महाराजने एक संक्षिप्त विरह सभामें उनके आदर्श भक्तिपूर्ण जीवनका स्मरण करते हुए उनकी अगाध गुरुनिष्ठा तथा समितके प्रति उनकी सेवा निष्ठाका वर्णन कर उन्हें श्रद्धा पुष्पांजलि अर्पित की।

इस अवसर पर 'ये आनिल प्रेमधन करुणा प्रचुर' विरहात्मक वैष्णव गीतिका गान किया तथा उपस्थित सभी भक्तजनोंने अपनी श्रद्धा पुष्पांजलि अर्पित की।

## *वैष्णव व्रत तालिका*

| | | |
|---|---|---|
| २४ आषाढ़ | ९ जुलाई शुक्रवार | योगिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२८से पहले पारण। |
| २८ आषाढ़ | १३ जुलाई मंगलवार | अमावस्या। श्रीगुण्डिचा मन्दिर मार्जन। गदाधर पण्डित गोस्वामी एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका तिरोभाव। |
| २९ आषाढ़ | १४ जुलाई बुधवार | श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा, |
| ३० आषाढ़ | १५ जुलाई बृहस्पतिवार | श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामीजीका तिरोभाव। |
| १ श्रावण | १८ जुलाई रविवार | हेरा पञ्चमी। |
| ५ श्रावण | २२ जुलाई बृहस्पतिवार | श्रीजगन्नाथजीकी पुनः रथयात्रा। |
| ७ श्रावण | २४ जुलाई शनिवार | शयन एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३० से पहले पारण। |

*श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः*

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

*वैकुण्ठ–वार्त्तावह*

*बृहत्–मृदङ्ग*

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } *श्रीगौराब्द ५१३*
*वि. सं. २०५६ आषाढ़ मास, सन् १९९९, २९ जून — २८ जुलाई* { *संख्या ४*

# श्रीश्रीचैतन्याष्टकम्

*(श्रीश्रीमद्रूप गोस्वामी विरचितम्)*

*श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः*

*उपासितपदाम्बुजस्त्वमनुरक्तरुद्रादिभिः प्रपद्य पुरुषोत्तमं पदमदभ्रमुद्भ्राजितः।*
*समस्त–नत–मण्डली–स्फुरदभीष्ट–कल्पद्रुमः शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।१।।*

हे शचीनन्दन! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझ पर कृपा करो! मैं बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, क्योंकि प्रकटस्वरूप तुमको मैं दूसरी–दूसरी जगहोंमें ढूंढ़ रहा था। रुद्र आदि देवगण—जो तुममें सर्वदा अनुरक्त रहते हैं—आचार्य आदिका रूप धारण कर तुम्हारे चरणकमलोंकी उपासना कर रहे हैं। पुरुषोत्तम क्षेत्रमें पधारकर तुम अतिशय श्रेष्ठ रूपमें विराजमान हो। तुम समस्त शरणागत जीवोंकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्षके रूपमें उदित हुए हो। मैं तुम्हारी शरण लेता हूँ।।१।।

*नु वर्णयितुमीशते गुरुतरावतारायिता भवन्तमुरुबुद्धयो न खलु सार्वभौमादयः।*
*परोभवतु तत्र कः पटुरतो नमस्ते परं शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।२।।*
*न यत् कथमपि श्रुतावुपनिषद्भिरप्याहितं स्वयञ्च विवृतं न यद् गुरुतरावतारान्तरे।*
*क्षिपन्नसि रसाम्बुधे तदिह भक्तिरत्नं क्षितौ शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।३।।*
*निज प्रणयविस्फुरन्नटनरङ्ग–विस्मापित–त्रिनेत्र नतमण्डलप्रकटितानुरागामृत।*
*अहंकृतिकलंकितोद्धतजनादिदुर्बोध हे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।४।।*
*भवन्ति भुवि ये नराः कलित–दुष्कुलोत्पत्तय–स्त्वमुद्धरसि तानपि प्रचुर–चारु–कारुण्यतः।*
*इति प्रमुदितान्तरः शरणमाश्रितस्त्वामहं शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।५।।*
*मुखाम्बुज–परिस्खलन्मृदुलवाङ्मधूलीरस प्रसङ्ग–जनिताखिलप्रगतभृङ्गरङ्गोत्कर।*
*समस्त–जनमङ्गल–प्रभव–नाम–रत्नाम्बुधे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।६।।*
*मृगाङ्कमधुरानन–स्फुरदनिद्रपद्मेक्षण स्मितस्तवक–सुन्दराधर विशङ्कटोरस्तट।*
*भुजोद्धत भुजङ्गम–प्रभ मनोज–कोटिद्युते शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।७।।*
*अहं कनककेतकीकुसुम गौर दुष्टः क्षितौ न दोषलवदर्शिता विविधदोषपूर्णोऽपि ते।*
*अतः प्रवणया धिया कृपणवत्सल त्वां भजे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम्।।८।।*
*इदं धरणिमण्डलोत्सव भवत्पदाङ्केषु ये निविष्टमनसो नराः परिपठन्ति पद्याष्टकम्।*
*शचीहृदयनन्दन प्रकटकीर्तिचन्द्रप्रभो निजप्रणयनिर्भरं वितर देवतेभ्यः शुभम्।।९।।*

***अनुवाद***—दत्तात्रेय, बादरायण आदि श्रेष्ठ मुनिजनोंके अवतार–स्वरूप जिनका आचरण है, अर्थात् जो उन मुनिजनोंके समान प्रतिभाशाली हैं, वे परम बुद्धिमान सार्वभौम आदि भी जब तुम्हारा स्तवन करनेमें समर्थ नहीं हुए, तब भला दूसरा कौन उस कार्यमें समर्थ हो सकता है? अतएव हे शचीसुत! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मैं नतमस्तक होकर तुम्हारी शरण लेता हूँ, तुम मुझ पर कृपा करो।।२।।

वेद–शास्त्रोंमें उपनिषदगण भी जिस विशुद्ध भक्ति–रत्नका स्पष्ट वर्णन नहीं कर सके हैं और स्वयं कृष्णचन्द्रने भी अपने व्यासादि बड़े–बड़े अवतारोंमें जिसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, उस परम गोपनीय रस–समुद्रके भक्ति–रत्नको तुम पृथवीतल पर धान्यराशिकी तरह लुटा रहे हो, अतएव तुम्हारे समान कोई भी दयालु नहीं है। हे शचीसुत! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझ मन्दभाग्य पर कृपा करो।।३।।

श्रीकृष्ण–स्वरूप तुम्हारे प्रणय द्वारा उदित हुए नृत्यरंगका दर्शनकर शिवावतार श्रीअद्वैताचार्य अत्यन्त चकित हो रहे हैं। सम्पूर्ण भक्तमण्डलीके निकट अनुरागामृतका स्वरूप प्रकट हुआ है। जाति–कुल और विद्या आदिके अहंकारसे उत्पन्न कलंकसे मोहित व्यक्तियोंके निकट तुम बोधगम्य नहीं हो। ऐसे हे शचीनन्दन! हे प्रभो! हे मुकुन्द! तुच्छ बुद्धिवाले मुझ पर कृपा करो।।४।।

संसारमें जो अत्यन्त नीच कुलमें पैदा हुए हैं उनका तुम अपनी अतिशय कमनीय करुणाके वशमें होकर उद्धार कर रहे हो। मैं इस संवादको सुनकर अत्यन्त आनन्दित होकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ। हे शचीसुत! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझ दीन–हीन पर कृपा करो।।५।।

तुम्हारे मुख–कमलसे झरते हुए मधुर वणीरूप मकरन्द प्रसंग द्वारा निखिल भक्त–भ्रमरोंके चित्तमें विस्मय उत्पन्न होता है। तुम समस्त जन–समुदायके कल्याणकारी नाम–रत्नके समुद्र स्वरूप हो। हे शचीनन्दन! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझदीन पर कृपा करो।।६।।

परमानन्दका विस्तार करनेवाले तुम्हारे मुखचन्द्रसे प्रफुल्लित युगल नेत्र-कमल स्फूर्ति लाभ कर रहे हैं। तुम्हारे मन्द-मन्द हास्ययुक्त सुन्दर अधर और विशाल वक्षःस्थल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं। उद्धत भुजंग जैसी तुम्हारी दोनों भुजाएँ नयनानन्दकी वृद्धि कर रहे हैं। करोड़ों चन्द्रोंसे भी अधिक प्रभावाले हे शचीनन्दन! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझ दीनपर कृपा करो।।७।।

हे कनक रंगके केतकी-पुष्प जैसे गौर-वर्णवाले गौरांगदेव! मैं जगतमें काम-क्रोध आदि दुर्गुणोंसे भरपूर हूँ। विविध प्रकारके दुर्गुणोंसे पूर्ण जीवोंमें भी तुम तनिक भी दोष नहीं देखते। तुम उनके (दुष्टोंके) समस्त दोषोंको क्षमा कर उनका उद्धार करनेके लिए सदैव प्रस्तुत रहते हो। इसलिए तुमसे मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है। मैं दीन-भावसे तुम्हारा भजन करता हूँ। हे दीनवत्सल! हे शचीसुत! हे प्रभो! हे मुकुन्द! मुझ दीनपर कृपा करो।।८।।

हे धरणीमण्डलके उत्सवस्वरूप! हे शचीननन्दन! हे कीर्तिके मूर्तिमान प्रकट चन्द्र! हे प्रभो! जो व्यक्ति तुम्हारे चरणोंमें अनन्यरूपसे मन लगाकर इस पद्याष्टकका पाठ करते हैं, तुम उनको परम कल्याण स्वरूप अपना प्रेम प्रदान करते हो।।९।। ❑

# संत (सज्जन) के लक्षण

*—श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'*

*सत्यसार (३)*

सज्जन पुरुषोंका तीसरा लक्षण यह है कि वे 'सत्यसार' होते हैं। सत्यसार कहनेसे ऐसे पुरुषोंका बोध होता है, जो सत्यसे कभी विमुख नहीं होते। सत्यसे विमुख हुए मनुष्य असाधु या अवैष्णवोंकी संज्ञा लाभ करते हैं। सज्जन अर्थात् शुद्ध वैष्णवजन ही एकमात्र 'सत्यसार' होते हैं। असत्यको सारहीन समझ कर उन्होंने निष्कपट होकर केवल सत्यको ही सार समझ कर ग्रहण किया है, इसलिए वे सत्यसार हैं।

लौकिक निरपेक्षता द्वारा जो वस्तु-धर्मका अस्तित्व उपलब्ध होता है, उसे लोग सत्यकी संज्ञा देते हैं। काम, क्रोध आदिसे युक्त मनुष्य अपनी तात्कालिक प्रवृत्तिसे चालित होकर जिस सत्यका अनुभव करता है, वह उसके लिए तात्कालिक सत्य हो सकता है। किन्तु काम-क्रोध आदि दूर होनेपर वह अपनी पूर्व अनुभूत सत्य-प्रतीतिका व्यतिक्रम उपलब्धि करता है। मानव सभ्यताके आदि कालमें आधुनिक जड़-विज्ञान विषयक उपलब्धिका बहुत कुछ अभाव था। प्राचीन ग्रीक-पण्डितों, चीन देशीय ज्ञानियों तथा भारतीय मनीषियोंकी जड़वस्तु सम्बन्धी धारणागत इतिहासका अवलोकन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जिसे सत्यके रूपमें अनुभव किया था, आज उनकी वह धारणा अनेक अंशोंमें पलट गयी है। मनुष्य जबतक मनुष्य-समाजकी पूर्व-पूर्व अभिज्ञताओंसे लाभ नहीं उठाता, तबतक उसकी सत्य प्रतीति बहुत ही क्षुद्र होती है। अशिक्षित मनुष्यकी धारणा तथा काम और क्रोधसे युक्त मनुष्यकी सत्यप्रतीति शिक्षाके प्रभावसे बदल जाती है। तात्कालिक सत्य देश-काल-पात्रके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटवके कारण असत्य बहुधा सत्य जैसा प्रतीत होता है। पुनः भ्रमादिके दूर होनेपर असत्य तिरोहित हो जाता है और सत्य आविर्भूत होकर अज्ञानरूप अंधकारका विनाश कर देता है।

नित्य–सत्य और तात्कालिक सत्यकी खोजमें जीव कभी अन्याभिलाषी हो पड़ते हैं, कभी धर्म–अर्थ–कामरूप फलके अनुसन्धानमें वे कर्म–निपुण पुण्यवान हो पड़ते हैं और कभी मुमुक्षु होनेकी कामनासे पाप–पुण्य दोनोंका परित्यागकर अहंग्रहोपासक मायावादी हो पड़ते हैं। इनको अज्ञानी, कुकर्मी और स्वेच्छाचारी कहा जाता है। इनमेंसे प्रत्येककी सत्य–धारणा भ्रमपूर्ण, असम्पूर्ण, तात्कालिक और हेयमिश्र होती है। अप्राकृत भगवद्भक्तोंकी धारणा वैसी हेय नहीं होती है। वे श्रीहरिको ही एकमात्र परम सत्य जानते हैं।

जीव जभी हरिसे विमुख होते हैं, तभी उनमें परम सत्य वस्तु श्रीहरिकी उपलब्धिका ह्रास हो पड़ता है। हरि–विमुखता उनकी अस्मिता और वृत्तिके ऊपर आक्रमण कर उन्हें असत्यमें सत्यका आरोप कराती है। वे कभी आंशिक ज्ञानको सत्य समझकर हरि–दर्शनसे विमुख हो परमात्माका दर्शन करते हैं। उस समय उनके सत्य दर्शनमें परमात्मा दृष्ट होते हैं और कभी अप्राकृत सविशेष दर्शनके आवरणको ही वस्तु मानकर ब्रह्म हो पड़ते हैं। कभी वे उक्त ज्ञानके अभावमें बाह्य दर्शन द्वारा देवीधाममें सत्यका अनुभव करने जाकर विवर्तवादका आश्रय करते हैं और गुणमाया द्वारा रचित जड़ शरीरको ही 'मैं' मानने लगते हैं। यही अहंकार क्रमशः हरि–विमुख बाह्य–दर्शनसे स्थिर होनेपर बुद्धि कहलाता है। पुनः वही नश्वरा अनित्या स्थिरा बुद्धि चांचल्यवशतः संकल्प–विकल्प करने पर 'मन' कहलाती है। मन देवीधाम—जड़ जगत्में गुणमायाका आश्रय कर इन्द्रियों और उनके विषयोंको ग्रहण कर स्थूल रूपमें जड़–भोगोंका मालिक हो पड़ता है। इसी जगह उनकी हरि विमुखताकी पाराकाष्ठा लक्षित होती है। परम सत्य–वस्तु श्रीकृष्णसे विमुख होकर जीव कहाँ–से–कहाँ आ पड़े। यह सब कुछ उनकी स्वतन्त्रताका ही परिणाम है।

जीवने इस देवीधाममें इन्द्रियोंको परम सत्य वस्तुकी सेवामें नियुक्त न कर नश्वर वस्तु तात्कालिक सत्यकी सेवामें नियुक्त कर दिया। श्रीभगवानने भी उन्हें विमुख सेवामें नियुक्त कर दिया। ऐसी दशामें घोर हरि–विमुखताके कारण कोई–कोई जीव श्रीभगवान्को भी अपने भोगकी वस्तु समझ लिया। 'विप्रलम्भ संभोगकी पुष्टि करता है'—इस परम सत्यको भूल कर प्राकृत सम्भोगको ही श्रीगौरांग अथवा श्रीकृष्ण मान बैठे। ऐसे–ऐसे काल्पनिक भगवत् परायण जीव अपनेको आउल, बाउल कर्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, गोसांई, अतिबाडी, गोपीछाड़ि, गौरांगनागरी आदि अभिमान कर श्रीगौरांग और उनके निजजनोंको अपने ही जैसा जीव समझने लगते हैं। इसीलिए 'सत्यका गला घोंटा जायेगा'—ऐसा लक्ष्यकर श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभुने कहा है—

*कालः कलिर्बलिन इन्द्रिय–वैरिवर्गाः,*
*श्रीभक्तिमार्ग इह कण्टककोटिरुद्धः।*

गौरभक्तिको कलंकित कर गौरभक्तके नामसे आउल, बाउल आदिका अभिमान शुद्ध भक्तोंको कितना दुःख पहुँचाता है, इसे जाननेके लिए उन दलोंके अनेकों गौरभजाजनोंमें कौतूहल देखा गया। किन्तु जिनको ऐसा कौतूहल हुआ, वे 'तद्विधि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—भूलकर वैष्णव हिंसाके द्वारा ही सत्यवस्तुको जान लेंगे—ऐसा घृणित संकल्पके कारण असत्यमें प्रतिष्ठित हो गए।

वैष्णव या गौरभक्त सत्यसार होते हैं, अतएव उन्होंने ऊपर लिखे गए भक्तिविरोधि चेष्टाओंको गौरभक्तिका अंग मानकर ग्रहण नहीं किया। यह दुःसंगवर्जन ही उनके सत्यसारत्वका यथार्थ उदाहरण है। 'वास्तवमें श्रीगौरांगदेवके पदाश्रितजनोंके एकमात्र आराध्य—श्रीगान्धर्विका–गिरधरके युगलचरण ही है।' यही गौर भक्तोंका सत्यसारत्व है। यही शुद्ध गौरभक्तोंका सत्यसारत्व है। यही अविमिश्र नित्यशुद्ध गौरभक्तोंका सत्यसारत्व है। इससे च्युत होकर

असत्य और असार कथाओंसे गौरभजन नहीं होता। श्रीगौर भगवान् माया नहीं हैं या मायाकी क्रीड़ा-पुतली नहीं हैं अथवा हरि-विमुख जीवोंके कल्पना प्रसूत कोई प्रेय पदार्थ नहीं हैं। वे ही श्रीगान्धर्विका-गिरिधर हैं। वे निश्चय ही कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं। श्रीकृष्णके स्वांश और विभिन्नांशसे समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है और श्रीमती राधिकाजीसे समसत शक्तियोंका प्रादुर्भाव हुआ है। नित्य जगत्में कहिए अथवा कल्पना जगत्में कहिए, समस्त अधिष्ठानोंके मूलाश्रय श्रीगान्धर्विका-गिरधरजी ही हैं। अतएव गौर-पदाश्रित जनोंके एकमात्र आराध्य श्रीगान्धर्विका-गिरिधरजी ही हैं, अन्यथा 'येप्यन्य'—गीताश्लोकके अनुसार सेवा अवैध हो जायेगी।

❑

# शिक्षाष्टक

*—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

परमतत्व एक और अद्वितीय है। वह तत्त्व सब समय और सभी अवस्थामें स्वाभाविक अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होता है। इस अचिन्त्य-शक्ति द्वारा वह तत्त्व सविशेष और निर्विशेष दो भावोंमें प्रतीत होता है। सविशेषता और निर्विशेषता दोनों युगपत सिद्ध होने पर भी सविशेष-प्रतीति ही बलवती होती है। निर्विशेष प्रतीति उपलब्ध नहीं होती, केवल स्वीकार की जाती है।

सविशेष प्रीतिमय परमतत्त्व अपनी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे सर्वदा चार रूपोंमें अवस्थित है—स्वरूप, तद्रूप वैभव, जीव और प्रधान। जिस प्रकार सूर्य-तत्त्वमें सूर्यमण्डलका भीतरी तेज, उनका मण्डल, मण्डलकी बाहरी तेज-रश्मि और तेजकी प्रतिच्छवि—ये चार तत्त्व विद्यमान हैं, उसी प्रकार परमतत्त्वके उपरोक्त चार रूप नित्यसिद्ध हैं। शक्तिमान-तत्त्व स्वरूपतः एक होनेपर भी उनमें चार प्रकारके भेद हैं। अतएव भेद और अभेद युगपत नित्य-सत्यात्मक हैं। परमतत्त्वकी अचिन्त्यशक्ति विचित्र-विक्रममयी है। उसके अनन्त प्रभावमें तीन को हम जान सकते हैं। उन तीन प्रभावोंके एक-एक प्रभावसे युक्त होकर तत्त्वकी पराशक्ति स्वभावतः अन्तरंग या चिच्छक्ति, तटस्थ या जीव शक्ति और बहिरंगा या माया शक्तिके रूपमें नित्य प्रकाशित है। पराशक्तिकी अन्तरंगा शक्तिसे किरण-परमाणु स्थानीय अनन्त जीव-स्वरूप नित्यसिद्ध हैं। परतत्त्वकी छाया ही माया वैभव है, जो परतत्त्वकी पराशक्तिकी बहिरंगाशक्तिके प्रभावसे प्रतीत होता है। स्वरूप अनन्त होनेपर भी तीन मुख्य हैं—ऐश्वर्य-स्वरूप, माधुर्य-स्वरूप और औदर्य-स्वरूप। ऐश्वर्य-स्वरूपको नारायण-स्वरूप, माधुर्यस्वरूपको कृष्ण-स्वरूप और औदार्य-स्वरूपको श्रीकृष्णचैतन्य-स्वरूप भी कहते हैं। इन तीनों स्वरूपोंके तीन धाम हैं। परव्योम—नारायणका धाम है। गोलोक वृन्दावन—कृष्णका धाम है और नवद्वीप—श्रीकृष्णचैतन्यका धाम है। इन तीनों धामोंमें वहाँके भगवत्स्वरूपोंके लीलोपकरणोंको स्वरूप-वैभव कहते हैं। जिस प्रकार सूर्यस्वरूपके बाहर असंख्य परमाणुओंकी स्थिति है, उसी प्रकार भवगत्स्वरूपके बाहर चित् परमाणुरूप असंख्य जीवोंकी स्थिति है। जीव स्वभावतः स्वरूप और बहिरंग—इन दोनों वैभवोंके बीचमें अवस्थित होते हैं। तटस्थ शक्ति द्वारा वे दोनों वैभवोंकी ओर जाने की योग्यता रखते हैं। अनादि स्वरूप-विमुखताके कारण वे माया वैभवमें स्थित हैं तथा स्व-स्वरूप भ्रमके कारण जड़ीय अभिमान द्वारा जड़ धर्मरूप कर्ममार्ग में भ्रमणशील हैं। अतएव वे सर्वदा सांसारिक दुःखोंका

भोग करते हैं। अनन्त जड़ ब्रह्माण्ड और बद्ध जीवोंके स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर—सब कुछ माया वैभव है।

ऐश्वर्य–प्रधान भगवत्स्वरूप वैकुण्ठके परव्योममें चतुर्भुजमूर्ति अर्थात् नारायणरूपमें अवस्थित होते हैं। वहाँ पर अनन्त नित्यसिद्ध जीव दास्यभावसे उनकी सेवा करते हैं।

माधुर्य–प्रधान भगवत्स्वरूप द्विभुजमूर्तिमें वैकुण्ठके अन्तःप्रकोष्ठमें नित्य दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य रसकी अनन्त लीलाएँ विस्तार करते हैं। उस अन्तःपुरमें दो प्रकोष्ठ हैं; एकका नाम गोलोक प्रकोष्ठ है तथा दूसरेका वृन्दावन। गोलोकमें मधुर रस नित्य स्वकीय–भावात्मक होता है तथा वृन्दावनमें मधुर रस नित्य पारकीय–भावात्मक होता है।

औदार्य–प्रधान भगवत्स्वरूप द्विभुज होते हैं, कभी–कभी षड्भुज मूर्तिमें वैकुण्ठके नवद्वीप–प्रकोष्ठमें भक्त–भावात्मक औदार्य–रसद्वारा अपने रसयोग्य परिकरोंके साथ जीवोंके आचार्यके रूपमें नित्य विराजमान हैं।

१४०७ शकाब्दकी फाल्गुनी पूर्णिमाकी संध्याके पश्चात् औदार्य–प्रधान भगवान् श्रीचैतन्यदेव गौड़ प्रदेशमें गङ्गाके तटपर प्रपंचगत अपने धाम नवद्वीपमें श्रीजगन्नाथ मिश्रकी पत्नी श्रीशचीदेवीके गर्भसे अवतीर्ण हुए। बाल्यकालमें अपनी मधुर बाल–लीलाओं द्वारा, पौगण्डमें विद्याभ्यासकी लीलाओंसे, कैशोरावस्थामें विवाह–लीलाद्वारा, पश्चात् माध्व–साम्प्रदायके वैष्णव श्रीईश्वरपुरीके निकट दीक्षाग्रहण आौर कीर्तन–प्रचारद्वारा सारी गौरभूमिको आनन्द–सागरमें निमग्न कर दिया। चौबीस वर्षकी आयुमें केशव भारतीसे संन्यास लेकर छः वर्षोंतक भारतके उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशोंके भिन्न–भिन्न स्थानोंमे भ्रमण कर पवित्र हरिभक्ति प्रचार और शुद्ध हरिभक्तिविरुद्ध मतवादोंका खण्डन किया। पश्चात् अट्ठारह वर्ष अपने पार्षदोंके साथ श्रीपुरूषोत्तमक्षेत्र (जगन्नाथ) में विराजमान रहकर वहाँसे श्रीरूप–सनातन आदि प्रचारकोंको भिन्न–भिन्न प्रदेशोंमें भेजकर अपने अचिन्त्यभेदाभेद–मतका प्रचार करवाया तथा स्वरचित शिक्षाष्टकका परम आस्वदन करते हुए जीवोंको उनके परम कर्त्तव्यके सम्बन्धमें शिक्षा दी। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत अन्यलीला २० परिच्छेदमें लिखा है—

*पूर्वे अष्ट श्लोक करि शिक्षा दिल।*
*सेई अष्ट श्लोक आपने आस्वादिल।।*
*प्रभुशिक्षा अष्ट श्लोक येई पढ़े सुने।*
*कृष्ण–प्रेम भक्ति तार बढ़े दिने दिने।।*

श्रीमन्महाप्रभुजीने जिन आठ श्लोकोंका प्रचार किया है—उनके तात्पर्यकी व्याख्याकी जा रही है– जिन श्रीकृष्ण–संकीर्तन द्वारा जीवका चित्तरूप दर्पण निर्मल हो जाता है, संसाररूप महादावग्नि बुझ जाता है, परम कल्याणरूप कुमुदनीको विकसित करनेवाली भावरूपी चन्द्रिका वितरित होती है, जो विद्या–बधूके जीवन–स्वरूप आनन्द–समुद्रको बढ़ानेवाले हैं, पदपदपर पूर्णामृत आस्वादन कराते हैं एवं शुद्ध सम्पूर्ण स्वरूपको स्निग्ध करानेवाले हैं, वे कृष्ण–नाम–रूप–गुण–लीला–संकीर्तन सर्वोपरि जययु क्त हो।

परम औदार्यविग्रह निखिल जीवोंके आचार्य श्रीमन्महाप्रभुने इस श्लोक द्वारा समस्त तत्त्वोंका निर्देश कर जीवोंको आशीर्वाद दिया है। पूर्वोक्त परम तत्त्वके अन्तर्भूत तटस्था शक्तिसे प्रकटित जीवके सम्बन्ध–ज्ञानकी सिद्धिके लिए "चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणम्" इस चरणकी उक्ति हुई है। जीव स्वभावतः तटस्थ होते हैं अर्थात् स्वरूपानन्दरूप वैकुण्ठ और विरूपानन्दरूप मायिक संसार दोनों अवस्थाओंके योग्य होते हैं। भगवत् विमुखताके कारण वे मायामें प्रवेश करते हैं। मायामें प्रवेश करनेपर उनका विशुद्ध चिद् अभिमान रूप विशुद्ध अहंकार विकृत हो पड़ता है एवं जड़ अभिमान रूप विकार द्वारा ढक जाता है। कृष्णानुशीलन द्वारा चित्तका अविद्यामल दूर होनेपर चित्त–दर्पणमें स्वरूप–तत्त्वका विशुद्ध दर्शन होता है।

इसीका नाम स्वरूप-सिद्धि है। उस सिद्धिके गौण फलसे ही संसार-दुःख नष्ट हो जाता है।

भगवत्-स्वरूप, जीव-स्वरूप, माया-स्वरूप और मायाके अन्तर्गत भूत भविष्यतात्मक काल एवं कर्म-स्वरूप ज्ञानका नाम सम्बन्ध ज्ञान है। 'श्रेयःकैरवचन्द्रिका वितरणम्' इस अर्द्धलीके द्वारा अभिधेयतत्त्व रूप साधन-भक्तिका निर्देश पाया जाता है। कर्म-ज्ञान आदिसे जीवका नित्य मंगल साधित नहीं हो सकता है। केवल हरिभक्ति द्वारा ही नित्य-कल्याण हो सकता है। जब जीवके हृदयमें सत्संग द्वारा ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह साधुगुरुका पदाश्रय कर श्रवण, कीर्तन, विष्णु-स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस नवधा भक्तिका अवलम्बन कर श्रीकृष्णसंकीर्तन करने लगता है। इस कीर्तनसे पराविद्याकी परम ज्योति प्रकाशित होकर जीवका परम कल्याण साधन करती है। सत्संगमें कृष्णानुशीलन करते-करते श्रद्धा परिपक्व होनेपर निष्ठा, रुचि और आसक्ति आदि अवस्थाओंको पार कर भाव-दशामें बदल जाती है, उस समय शुद्ध अहंकारको ढकनेवाली स्थूल-सूक्ष्म दोनों उपाधियाँ दूर हो जाती हैं तथा उस समय शुद्ध अहंकार अपने पूर्व सिद्ध चित्-स्वरूप और रसयोग्य चिद्देहको प्राप्त करता है। मधुर रसाविष्ट जीव अपने रसयोग्य गोपी देह प्राप्त कर माधुर्यमय वृन्दावन धाममें कृष्णलीलाका उपकरण हुआ करते हैं। यहाँपर स्वरूप शक्तिकी विद्याके प्रभावसे जीवका गोपी-भाव प्राप्त होना ही विद्यावधूत्व प्राप्त होना है। तब जीव विद्यावधू होकर श्रीकृष्ण कीर्तनको जीवन-स्वरूपमें वरण करते हैं। भावदशा क्रमशः चिद्धामके विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी रूप चित्त सामग्री द्वारा परिपुष्ट होकर चिदेकरसता प्राप्त करती है। उस समय जीवका आनन्दाम्बुधि स्वभावतः ही परिवर्द्धित होता है। चिद्रसकी नित्यताके कारण भूत-भविष्य रूप जड़ीय मलसे दूषित काल नहीं होता। सर्वदा वर्तमान काल होता है। अतएव अनुराग लब्ध जीवके लिए श्रीकृष्ण संकीर्तन पद-पदपर पूर्णामृतास्वादन स्वरूप होता है। उस समय गुण-गुणी भेदके अभावके कारण विशुद्ध चिन्मय-तत्त्वात्मक जीव विशुद्ध अहंकार, चित्त, मन, बुद्धि, देह और इन्द्रियोंसे युक्त अणुचैतन्य-स्वरूपमें अवस्थित होता है। ऐसी दशामें जो कृष्ण कीर्तन होता है वह सर्वात्मस्नपन-रूप अवस्था है अर्थात् स्वरूप साक्षात्कारके समय ब्रह्मलय और निज संभोगसुख इन दोनोंसे रहित केवल सच्चिदानन्द-युगल-सेवा ही जीवकी सिद्ध सत्ताका अभिन्न सहचर है। इसीको प्रयोजन तत्त्व कहते हैं। इस प्रकारका सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका ज्ञान मार्जित अर्थात् निर्मल है। शुद्धभक्ति स्वरूप श्रीकृष्ण संकीर्तन ही सर्वत्र प्रयोजन है। श्लोकके चतुर्थ पादमें 'परं' शब्द द्वारा भुक्ति और मुक्ति साधक धर्मज्ञानके अन्तर्गत हरि-कीर्तन अनादृत हुआ है।

श्रीकृष्णसंकीर्तन चार प्रकारका होता है—नाम-संकीर्तन-रूप संकीर्तन, गुण-संकीर्तन और लीला-संकीर्तन। परमार्थरूप वस्तुका नाम ही उसके अनुभवका मूलाधार है। नामके पूर्णरूपसे उदित होनपर रूपका उदय होता है। रूप पूर्णरूपसे उदित होनेपर गुण उदित होते हैं, गुणोंके सम्पूर्ण रूपसे उदित होनेपर लीला उदित होती है। अतएव नाम ही सबका मूलाधार है तथा सम्पूर्ण सिद्धियोंकका एकमात्र कारण है। नाम ही क्रमशः रूप, गुण और लीलाके रूपमें परिणत होता है। अतएव नामको छोड़कर बद्ध और मुक्त दोनों प्रकारके जीवोंके लिए दूसरी कोई गति नहीं है। श्रीमन्महाप्रभुके सारे उपदेश नामको ही लक्ष्य करते हैं। वे कहते हैं—हे भगवन्! आपने जीवके प्रति अपार करुणा कर अनेक नाम प्रकाश किये हैं। कृष्ण, गोविन्द, अच्युत आदि मुख्य नामोंमें जिनका अधिकार नहीं उनके लिये परमात्मा, पाता, नियन्ता, ब्रह्म आदि अनेक नाम भी प्रकाशित किये हैं। इनमेंसे मुख्य नामोंमें

आपने अपनी सारी शक्ति और गौण नामोंमें अनेक प्रकारके पापोंका नाश करनेवाली और भोग–मोक्ष प्रदान करनेवाली शक्ति अर्पण की है। जीवोंकी अयोग्यताके प्रति दृष्टि रखकर अपने नाम–ग्रहणमें देश–काल आदिका कोई नियम भी नहीं रखा है। एक तरफ आपकी तो ऐसी कृपा है, परन्तु दूसरी ओर अपने दुर्भाग्यकी बात क्या बतलाऊँ? आपके मधुरातिमधुर नाममें भी मेरी रुचि नहीं होती। साधुनिन्दा, भगवान श्रीकृष्ण और उनकी विभूति शिव आदि देवताओंमें अभेदबुद्धि, गुरुके प्रति अवज्ञा, वेद और वेदानुगत शास्त्रोंकी निन्दा, हरिनाममें अर्थवाद, नामके बलपर असत् प्रवृत्ति, दूसरे–दूसरे शुभ कर्मोंको हरिनामें समान मानना, हरिविमुख ओर अनाधिकारीको नामका उपदेश करना, नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीतिका अभाव होना—इन नामापराधोंको दूर कर नाम ग्रहण करनेसे नामका स्वरूप उदित होता है। अतएव जातश्रद्ध व्यक्ति श्रीगुरुदेवसे नाम–तत्त्व प्राप्त होकर निरपराध होकर नामका अनुशीलन करेंगे। नाम–ग्रहीताको कर्ममार्गके अन्तर्गत पापक्षय अथवा पुण्य–संचयके लिए प्रयत्न करना उचित नहीं है। क्योंकि श्रद्धाके उदित होनेके साथ ही कर्माधिकार दूर हो जाता है। भगवद्विषयिनी श्रद्धाके उदय होनेके समय ही माया विषयिनी अश्रद्धा भी सहज ही उदित होती है। इसलिए पाप–पुण्यके प्रति रुचि अब स्थान नहीं पाती। श्रद्धालु पुरुष स्वभावतः जो कुछ करते हैं अथवा जो विरक्ति दिखलाते हैं, वह सब कुछ वैध पुण्यसे अधिक सार्थक और निर्मल होता है। परन्तु पूर्वोक्त नामापराध विद्यमान रहनेपर श्रद्धाका क्रमशः ह्रास होने लगता है। ऐसी दशामें जीवन भर साधन करने पर भी नामाभासकी अवस्थासे उन्नति नहीं होती। इसलिए शास्त्रमें (पद्मपुराणमें) ऐसा कहा गया है—नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्। अविश्रान्ति–प्रयुक्तानि तान्येवार्थ–कराणि च।।' नामापराधका त्याग करनेके लिए कुछ दिनों तक व्याकुल चित्तसे निरन्तर नाम करना चाहिए। ऐसा करनेसे अपराध करनेका मौका नहीं मिलता है। अतः अपराध सहज ही दूर हो पड़ते है। अपराध दूर हो जानेपर नामके प्रभावसे निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम तक अनायास ही उदित हो पड़ते हैं।

जब श्रद्धालु व्यक्ति निरपराध होकर मुख्य नामका अनुशीलन करते हैं, तब उनमें स्वभावसे ही चार लक्षण देखे जाते हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीने शिक्षा दी है—हे जीव! जो अपनेको तृणसे भी अधिक तुच्छ मानते हैं, जो वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होते हैं, स्वयं मान–प्रतिष्ठा न चाह कर दूसरोंको यथायोग्य सम्मान प्रदान करते हैं, वे ही हरिकीर्त्तनके अधिकारी हैं। इस जड़ जगतमें तृण अत्यन्त तुच्छ वस्तु होने पर भी उसका भी इस विश्वमें एक वस्तुके रूपमें अभिमान है, परन्तु चिद् परमाणु रूप जीवका इस जड़ जगतमें तनिक भी अभिमान करना उचित नहीं, क्योंकि जीवका चिदभिमान ही न्याय–संगत है, उसके लिये जड़ाभिमान नितान्त आरोपित और मिथ्या है। अपनी टहनियोंको काटनेवाले तथा अपनेको पत्थर मारनेवालोंको भी वृक्ष छाया और फल प्रदान करता है; अतः जड़ वस्तुसे श्रेष्ठ धर्मयुक्त जीवको अपना उपकार करनेवालों तथा अपकार करनेवालों दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके प्रति सर्वदा दयाभाव रखना स्वाभविक है, क्योंकि दया जीवके स्वधर्मरूप भक्तिके अन्तर्गत एक धर्मविशेष है। नाम ग्रहीता स्वयं जड़ाभिमानजन्य ब्राह्मण आदि वर्ण, संन्यास आदि आश्रम, धन, रूप, बल, वीर्य, अधिकार और पदके निरर्थक अभिमानसे रहित होकर वैष्णव मात्रको मान प्रदान करेंगे। भगवान्की कृपासे जिन आधिकारिक सत्त्वोंने ब्रह्मा और शिव आदिका पद प्राप्त किया है, उनका यथायोग्य सम्मान करना चाहिए। इन कतिपय लक्षणोंके न होनेपर ऐसा समझना चाहिए कि अभी पूर्वोक्त अपराध दूर नहीं हुए हैं।

उपरोक्त चारों लक्षणोंसे युक्त तथा निरपराध

होकर नाम ग्रहण करनेसे भक्ति अहैतुकी, उत्तमा, केवला, शुद्धा, अमिश्रा, अकिंचना और निर्गुणा कही जाती है। यह भक्तिका अन्वयगत लक्षण है। इसके अतिरिक्त जीवकी वद्धावस्थामें दो व्यतिरेक लक्षणोंसे युक्त होनेपर भक्ति शुद्धा कहलाती है। अन्याभिलाष शून्यता और ज्ञानकर्म आदिसे रहित होना ये ही भक्तिके दो व्यतिरेक लक्षण हैं। इसी तत्त्वकी शिक्षा स्पष्ट रूपसे देनेके लिये श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—हे जगदीश! मैं धन, जन अथवा सुन्दरी कविता कुछ भी नहीं चाहता, मैं तो यही चाहता हूँ कि आप प्राणेश्वरके प्रति मेरी जन्म-जन्ममें अहैतुकी भक्ति बनी रहे। वर्णाश्रमधर्म प्रदत्त धर्म, अर्थ और काम-धन ही है, मैं यह सब कुछ भी नहीं चाहता। देह और देहानुगत स्त्री, पुत्रकलत्र और प्रजारूप जन भी मुझे नहीं चाहिए। कृष्णभक्ति-पोषक विद्याको छोड़कर साधारण व्याकरण और अलङ्कारयु क्त काव्य और नाटक-रचना शक्ति (किसी प्रकारकी हरिविमुखी विद्या) भी नहीं चाहता। मैं केवल फल-अनुसंधान-रहिता शुद्धा भक्तिके लिये ही प्रार्थना करता हूँ। संसारदुःख विनाश एवं चिद् स्वरूप-लाभरूप मोक्ष भक्तके लिये अनायास लभ्य है। किन्तु यह अवान्तर फल है, इसके लिये प्रयत्न और प्रार्थना द्वारा भक्तिके स्वरूपको दूषित करना उचित नहीं। भगवानकी कृपासे समय उपस्थित होने पर जड़ विषयोंसे मुक्ति अवश्य ही होगी।अवएव भक्तजन "जन्म-जन्ममें मुझे अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो"—केवल यही प्रार्थना करेंगे, दूसरी कोई भी प्रार्थना न करेंगे।

तब संसारदुःख-सम्बन्धी अनुशीलन क्या सम्पूर्णरूपसे बन्द कर देना चहिए? नहीं भक्तिभावको शुद्ध रखकर जितनी दूर तक हो सके संसारसे मुक्तिके सम्बन्धमें अनुशीलन किया जा सकता है। सिद्धान्त यह है कि श्रीकृष्णके पास सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये कदापि प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। यदि प्रार्थना इस रूपमें की जाय तो कोई दोष नहीं—हे माधुर्यरसके विषय श्रीनन्दनन्दन! मैं तुम्हारा नित्यदास हूँ। तुम्हें भूलकर मायावैभवमें प्रवेशकर कर्मजालमय भयानक भव-समुद्रमें डूब रहा हूँ। इस दशामें मैं तुम्हारे चरणकमलोंका आश्रय करनेके लिये समीप पहुँचनेकी जितनी ही अधिक चेष्टा करता हूँ, उतना ही अधिक दूर होता जा रहा हूँ। तुम्हारी दया न होनेसे मेरे लिये अपने अप्राकृत स्वधर्मकी—तुम्हारे अकृत्रिम दासत्वकी प्राप्ति सुलभ नहीं है। हे करुणामय! तुम मुझे अपने चरणकमलोंकी धूलिके समान कर अपने समीप रखो। ऐसा होनेसे मैं और कभी भी तुमसे विमुख होकर माया कारागारमें नहीं बद्ध होऊँगा। इस प्रकार प्रार्थना करते-करते जब वे करुणामय प्रभु हमें अपना चरणाश्रय प्रदान कर देंगे उस समय हम समस्त प्रकारके दुःख-क्लेशोंसे अनायास ही छुटकारा प्राप्त कर लेंगे।

पहलेके पाँच श्लोकोंमें यह दिखलाया गया है कि सत्सङ्ग द्वारा प्राप्त कृष्णानुशीलनमयी श्रद्धा, साधु-गुरुचरणाश्रय, श्रवण-कीर्तनमय भजन, स्वरूपोपलब्धिजन्य अविद्यारूप अनर्थ-नाश, निष्ठा रुचि, आसक्ति और तदनन्तर भाव या रति क्रमशः उदित होती है। भावदशामें भक्तिका अखण्ड एकस्वरूपत्व सिद्ध होता है। नाम-कीर्त्तन उस समय अत्यन्त प्रबल होता है। क्षान्ति (क्षमा) अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध (भक्ति अवश्य ही प्राप्त होगी ऐसी आशा), उत्कंठा, नाम कीर्तनमें रुचि, कृष्णगुण वर्णनमें आसक्ति और कृष्णवसति स्थानमें प्रीति इत्यादि रतिके लक्षण पैदा हो पड़ते हैं। शुद्ध-सत्त्व विशेषस्वरूप प्रेमरूप सूर्यके किरणपरमाणुको अर्थात् प्रेमकी प्रथम अवस्थाको भाव अथवा रति कहते हैं। भावके उदित होनेपर नृत्य, गीत, लोटना-पोटना अंगोंका टूटना, हुंकार जंभाई, लम्बा श्वास आना, लोकापेक्षाशून्यता, लार गिरना, जोरोंकी हँसी, चक्कर आना, हिचकी आना—ये सब अनुभाव तथा स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग,

कम्प थोड़े बहुत दिखलाई पड़ते हैं। अतएव साधक ऐसी दशा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—"हे गोपीजनवल्लभ! मेरा ऐसा दिन कब होगा जब अमृतके समान तुम्हारा मधुर नाम उच्चारण करते करते मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा प्रवाहित होगी, वाणी गद्‌गद होकर विकार प्राप्त होगी और सारा अंग पुलकित हो उठेगा? हे नामप्रभु! मैं भोग और मोक्षके लिये प्रार्थना नहीं करता, मेरी प्रार्थना तो एकमात्र पूर्णानन्दका विस्तार करने वाली भाव–दशाके लिये है।"

रतिरूपा भावात्मिका भक्ति प्रेमदशामें विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी—इन चार भावों द्वारा परिपुष्ट होकर भक्तिरसके रूपमें परिणत हो जाती है। तब पूर्वोक्त अनुभाव और सात्विक–विकारसमूह सम्पूर्णरूपमें लक्षित होते हैं। ममताकी अधिकतासे भक्तका अन्तःकरण भलीभाँति मसृण (कोमल) और घनीभूत भावमय होकर प्रेमका पीठस्थान (मूलाधार) हो जाता है। उस समय भक्तिरसके आश्रय—भक्त और विषय—कृष्णमें मुख्यसम्बन्ध भेदसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पाँच मुख्य रस तथा दोनोंमें गौण सम्बन्धभेदसे हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स—सात गौण रस प्रकाशित होते हैं। जिस जीवकी रुचि जिस रसमें होती है, उसके लिये वही रस आश्रययोग्य होता है; परन्तु मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। उसमें प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और महाभाव सम्पूर्ण रूपसे अवस्थित होते हैं। शान्त रसमें उल्लासमयी प्रीति रतिकी अवस्थामें लक्षित होती है। वही रति अत्यधिक ममतासे युक्त होनेपर दास्यरसके रूपमें लक्षित होती है। इस अवस्थामें प्रीतिके बाधक कारणसमूह निष्क्रिय हो पड़ते हैं। अत्यधिक विश्वासमय प्रेम प्रणयरूपमें सख्य रसमें लक्षित होता है। इस अवस्थामें विषयमें संभ्रमकी योग्यता वर्त्तमान रहने पर भी उसके प्रति संभ्रम नहीं रहता। अत्यधिक प्रीतिकी अवस्थामें कौटिल्याभासमय भाववैचित्र्यका नाम मान है। इस अवस्थामें भगवान् भी प्रेममय भयको स्वीकार करते हैं। चित्तके अतिशय द्रवभावमय प्रेमको स्नेह कहते हैं। इस अवस्थामें महावाष्प आदि विकारोंको देख कर भी अतृप्ति और विषयमें ऐश्वर्य रहनेपर भी सर्वदा अनिष्टकी आशंका बनी रहती है। मान और स्नेह वात्सल्यमें लक्षित होते हैं, अर्थात् शान्त, दास्य और सख्यमें लक्षित नहीं होते। अभिलाषात्मक स्नेहका नाम राग है। रागावस्थामें क्षणिक विरह भी असह्य होता है तथा मिलनका दुःख भी सुख प्रतीत होता है। वही राग निरन्तर अपने विषयीभूत तत्त्वको नये नये रूपमें अनुभव कराकर स्वयं नवीन रूपमें अनुभूत होकर अनुराग कहलाता है। इस अवस्थामें आश्रय और विषयका परस्पर अत्यन्त वशीभूत भाव होता है। विषयके सम्बन्धमें अन्यान्य प्राणियोंकी योनिमें जन्म लेनेकी लालसा होती है। विप्रलंभ भावकी बहुत ही अधिक स्फूर्ति होती है। असमोर्द्ध्व चमत्कार उन्मत्ततामय अनुरागको महाभाव कहते हैं। इस अवस्थामें मिलनके समय पलकोंका गिरना भी असह्य बोध होता है तथा पूरा कल्प भी क्षणभरका समय प्रतीत होता है। वियोगमें क्षणमात्रका समय भी कल्पके समान लम्बा समय–सा लगता है। मिलन और वियोगमें नाना प्रकारके सात्विक विकार उदित होते हैं। इन लक्षणोंका दिग्दर्शनमात्र श्रीमन्महाप्रभुजीके वचनोंमें दिखलायी पड़ता है— "अहो! गोविन्दके विरहमें मेरा एक एक निमेष युगके समान बीत रहा है, आँखोंसे वर्षाकालकी जल–धाराकी तरह अश्रु–वर्षा हो रही है एवं सारा संसार शून्य–सा लगता है।" तात्पर्य यह कि जड़बद्ध जीवके लिये पूर्वरागमय विप्रलंभ अत्यन्त उपयोगी होता है।

प्रेमदशा–प्राप्त जीवका भाव इस प्रकार होता है—"मैं कृष्णके चरणकमलोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानती, वे कृपा कर मुझको मर्माहत ही करें। वे प्रेम–लम्पट हैं। वे मुझे जिस रूपमें रख कर सुखी हों, मुझे वही अवस्था स्वीकार है; क्योंकि वे मेरे प्राणनाथ हैं। प्रेमदशामें भक्तजनका जीवन

कृष्णमय हो पड़ता है। उस समय भक्त और कृष्ण दोनोंके बीच बड़ा ही मधुर आकर्षणयुक्त सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस प्रकार चुम्बक और लोहा उचित दूरी पर अवस्थित होनेपर लोहा चुम्बककी ओर आकर्षित हो पड़ता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-प्रीति द्वारा परिमार्जित चित्त कृष्णके प्रति आकर्षित हो पड़ता है। यही श्रीकृष्ण और जीवके बीच पूर्व सिद्ध धर्म है। जबतक जीव कृष्णविमुख होकर जड़सुखोंका अन्वेषण करता रहता है, तब तक उसमें यह धर्म लुप्तप्राय रहता है, परन्तु सान्मुख्य उदित होते ही कृष्ण द्वारा आकर्षित होनेकी क्रिया रूप वह धर्म लक्षित होता है। इस धर्मको प्रकट करना ही साधन है। श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

*न पारयेऽयं निरवद्यसंयुजां*
*स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।*
*या माभजन दुर्जन गेहश्रृंखलाः*
*संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना।।*

मेरी प्यारी गोपियो! मुझसे तुम्हारा यह संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा विशुद्ध प्रेममय है। तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन दुर्जेय बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी यति भी नहीं तोड़ पाते। यदि मैं देवताओंके समान दीर्घायु होकर अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने साधु-स्वभाव से, प्रेमसे ही मुझे उऋण कर सकती हो।

इस शिक्षाष्टकमें श्रीमन्महाप्रभुजीने सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनरूप ज्ञान-विज्ञानकी सहायतासे साधन-भाव-प्रेमरूप परमतत्त्वका अनुसन्धान करनेका उपदेश दिया है—"हे जीव! यदि तुम्हारे भाग्यका उदय हुआ हो तो कर्म और ज्ञान आदि समस्त प्रकारकी चेष्टाओंको छोड़कर तुम अत्यन्त आग्रहपूर्वक इस शिक्षाष्टकको अनुभव करो।" ❑

# आकाशमें मुक्का मारना

एक अत्यन्त दाम्भिक स्वभावका व्यक्ति पृथ्वीको बड़ा तुच्छ समझता था। उसने देखा कि आकाश पृथ्वीसे भी अधिक दाम्भिक और बलवान है। आँधी, तूफान, वर्षा, वज्रपतनादि सभी आकाशसे ही पृथ्वीपर होते हैं। आकाशसे ही बिजलीका कड़कना और मेघकी गर्जना होती है। यह सब आकाशकी दाम्भिकताका परिचय है। अतएव आकाश पर शासन करना होगा। एक मुष्टिकाघातसे आकाशको चूर्ण-विचूर्ण कर दूँगा। ऐसा संकल्प कर वह आकाशकी तरफ मुष्टिकाघात करने लगा। ऐसा करने पर भी आकाशका कुछ न बिगड़ा। वह तो गम्भीर रूपमें रहा, परन्तु बार-बार मुष्टिकाघातके परिश्रमसे दाम्भिक व्यक्ति पृथ्वी पर गिर पड़ा।

श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद इस कथाके द्वारा गुरु-वैष्णवोंके विद्वेषी दाम्भिकजनोंका चरित्र एवं परिणामकी शिक्षा दे रहे हैं। गुरु-वैष्णव आकाशकी भाँति निर्विकार और अपनी-अपनी सेवामें मत्त हैं। किन्तु जगतके अज्ञ व्यक्ति सोचते हैं कि भगवद्भक्त आकाशकी तरह दाम्भिकता प्रकाश कर संसारमें नाना प्रकारका कष्ट करते हैं और संसारको विशृंखल करते हैं। इसलिए बहिर्मुख व्यक्ति वैष्णवोंके प्रति क्रुद्ध होकर उनके प्रति असद् व्यवहार करते हैं। उनका यह व्यवहार आकाशमें मुष्टिकाघातके समान व्यर्थ श्रम है। इससे वैष्णवोंकी कोई हानि नहीं होती वरन् स्वयंकी ही हानि होती है। ❑

# मुनियोंका मतिभ्रम

—श्रीअभयचरणारविन्द 'भक्तिवेदान्त'

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४३, संख्या ३, पृष्ठ ६० से आगे]

जो परात्पर-तत्त्व हैं वे निराकार निर्विशेष नहीं हैं, यह बात जननेताओंके दिमागमें किसी प्रकार भी घुसती नहीं है। हम शास्त्रोंमें भगवान्‌की विराट्-विराट् विलासमूर्त्तियोंका परिचय पाते हैं। जैसे—कारणार्णवशायी विष्णु मूर्त्तिमान् हैं। किन्तु उन कारणार्णवशायी विष्णुके भी आदि-पुरुष श्रीकृष्ण हैं। वास्तवमें इस बातको उनके क्षुद्र मस्तिष्कमें स्थान मिलना बड़ा ही कठिन है। परन्तु कृष्णकी कृपा होने पर यह हृदय-काठिन्य या हृदय-दौर्बल्य सहज ही दूर हो जाता है। तब, वे ही द्विभुज मुरलीधर श्याम-सुन्दर होकर मथुरामें आविर्भूत हुए हैं— यह तथ्य समझमें आ जाता है।

जो लोग कृष्णकी कृपा लाभ किये बिना ही श्रीकृष्णको समझ लेनेकी चेष्टा करते हैं, उनका डा० राधाकृष्णकी तरह पण्डित होने पर भी निश्चय ही मतिभ्रम होगा। वे 'वेदेषु दुर्लभः अदुर्लभः आत्मभक्तौ' हैं। केवल पण्डित होनेसे ही कृष्णको जाना नहीं जाता। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने भी अपनी पाण्डित्य-लीला द्वारा इस तथ्यकी पुष्टि की है। विख्यात ग्राम्य-कहानी-लेखक बंकिम बाबू या डा० भाण्डारकर भी इस विषयमें मोहित हो पड़े हैं। कृष्णको जाननेके लिये श्रीगीताजीने जिस पथका निर्देश दिया है-'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः'-उसी पथसे उन्हें जानना होगा, इसके अतिरिक्त दूसरा पथ नहीं। अथवा श्रीकृष्णने स्वयं ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण होकर जिस तरीकेसे श्रीकृष्णको जाननेके लिए उपदेश दिया है, उसी प्रकारसे श्रीकृष्णको जाना जा सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी परम्परामें छः गोस्वामियोंने वृन्दावनमें बैठ कर श्रीकृष्ण-तत्त्वका विस्तृत विवेचन किया है। उन सब कथाओंका जगत्‌में आज भी ठीक-ठीक प्रचार नहीं हुआ है। प्रचार न होनेका कारण यह है कि उनकी विचार-पद्धति दार्शनिकोंकी आँखोंके सामने पड़ी नहीं है। और इसके लिये हम ही दोषी हैं—इसे हम स्वीकार करते हैं। श्रीरूप-रघुनाथकी वाणियोंका जगत्‌में प्रचारकरनेके लिये ही श्रीगौड़ीय-मठकी स्थापना हुई थी।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस विराट् रूपका दर्शन कराया था, वह रूप भगवानका परम भाव नहीं है। परन्तु द्विभुज-मुरलीधर नर-आकार ही उनका परम भाव है। उनका आनन्द—सच्चिदानन्द है, रूप—सच्चिदानन्द है, नाम—सच्चिदानन्द है। नराकार होनेके कारण वे साधारण नर या मनुष्य नहीं हैं अथवा वे कोई ऐतिहासिक अति-मानव या महामानव भी नहीं हैं। मनुष्यका रूप या आकार भगवान्‌के स्वरूपका नकल हो सकता है, किन्तु इसीलिए मनुष्य भगवान् नहीं है या भगवानने अपने रूपके समान या आकारके समान मनुष्यका रूप बनाया है, परन्तु इसीलिये भगवान् मनुष्य नहीं हो जाएँगे। अतएव जो लोग इन तत्त्वोंको यथार्थरूपमें जान लेते हैं, वे जड़ शरीर त्यागकर भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—श्रीमद्भगवद्गीतामें हम इसका प्रमाण पाते हैं। अर्थात् जो भगवान्‌का परमभाव जान लेते हैं, वे अमृतत्त्व प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। प्रत्येक जीव इस अधिकारका अधिकारी हो सकता है—बशर्ते वह ऐसी इच्छा करे। ऐसा अधिकार प्राप्त होने पर ही जीव परम-सिद्धिको प्राप्त होता है। परम-सिद्धि हो जानेपर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिसे पूर्ण नश्वर जगत्‌में पुनः लौट कर आना नहीं पड़ता। अतः उसी 'भाव' का प्लॉन करके जो जीवन निर्वाह करते हैं, वे ही सच्चे मनुष्य जीवनकी सार्थकता साधन किया करते हैं। 'आर सब मरे अकारण।'

जन्म-मृत्यु-जरा-व्यधिसे परिपूर्ण इस अनित्य संसारको अजर-अमर बनानेके प्लॉनका नाम ही माया

है। जड़जगत्में सुखसे वास करनेके लिये प्लॉन करना एक महा चालबाजी है। जिस प्लॉनके द्वारा भविष्यमें शूकर, कुत्ता आदि योनियोंमें जन्म लेनेकी व्यवस्था होती है, वह प्लॉन अच्छा है या जिस प्लॉनके द्वारा 'Back to God-head' जाया जाता है, वह प्लॉन अच्छा है? भगवान्के साथ रह कर दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि विभिन्न रसोंमें जो हमारी सेवाका अस्तित्व है, उस लीलाको प्रकट कर हमें आकर्षण करनेके लिये—'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—मंत्रकी हमें शिक्षा देनेके लिये श्रीकृष्ण या श्रीचैतन्यमहाप्रभु कृपाकर आये थे—इस बातको जो समझ नहीं पाये अथवा जिन्होंने समझनेकी चेष्टा नहीं की, उनके समान 'वंचित' और कौन है? उनका जन्म व्यर्थ है। श्रीतुलसी दासके शब्दोंमें वे 'बिना सींग और पूँछवाले पशु' हैं तथा श्रीनरोत्तमदास ठाकुरके शब्दोंमें 'सेई पशु बड़ दुराचार' हैं।

भगवान्के इस रूपमें अवतरण करनेके सम्बन्धमें डा० राधाकृष्णनने अनभिज्ञतावश यह मन्तव्य प्रकाश किया है--'An Avatar is descent of God into man and not an ascent of a man into God.' अर्थात् भगवान् मनुष्यका रूप धारण करके आते हैं, इसीको अवतार कहते हैं परन्तु मनुष्य कभी भी भगवान् नहीं है। 'मनुष्यका रूप धारण करके आते हैं'—इसका तात्पर्य यह है कि अवतार-समूहका शरीर पाञ्चभौतिक होता है। 'मनुष्य कभी भी भगवान नहीं हो सकता'—ऐसा उन्होंने किस भावसे कहा है, यह बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आ रही है। हो सकता है, उन्होंने यह बात उन लोगोंको लक्ष्य करके कही हो, जो लोग मनुष्यको भगवान् बतलाते हैं। आजकल मनुष्यको भगवान सजाना एक सहज और साधारण व्यापार हो गया है। यत्र-तत्र-सर्वत्र अवतार महाशयोंकी जोरोंसे पैदावार बढ़ रही है। केवल अवतार ही क्यों 'सभी मनुष्य भगवान् हैं'—बाजारमें इस बातकी भी बड़ी कटती है। परन्तु सम्प्रति हम इन बातोंकी आलोचनामें न फँस कर डा० राधाकृष्णन्को कहना चाहते हैं कि जीवतत्त्वमें जब भगवान् शक्तिके संचारकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं, तब उसे शक्त्यावेश अवतार कहा जाता है। किन्तु यह शक्त्यावेशावतार ही चरम तत्त्व नहीं हैं। शास्त्रोंमें भगवानके असंख्य अवतारोंका उल्लेख है। जैसे स्वयंरूप, स्वयं-प्रकाश, आवेश, विलास, प्राभव, वैभव, युगावतार, पुरुषावतार, गुणावतार, शक्त्यावेशावतार, मन्वन्तरावतार आदि आदि। यदि केवल मन्वन्तरावतारका भी हिसाब किया जाय तो पता चलेगा कि १४×३०×१२×१००= ५०४००० वर्षोंमें एक बार मन्वन्तर अवतार होता है। दूसरे अवतारोंकी तो बात ही अलग रहे। इन अवतारोंमेंसे प्रत्येकका क्या कार्य है? उनका रूप कैसा है? आदि विषय ज्योतिषशास्त्रके आँकड़ोंके अनुसार दिये गये हैं। जनमत वोट देकर जिसे-तिसे भगवान् खड़ा कर देगा, ऐसा कोई उपाय नहीं है। इतना होने पर भी जो लोग मनुष्यको अवतार खड़ा करते हैं, उनका शास्त्र-ज्ञान कितना मजबूत है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु सरस्वतीने डा० राधाकृष्णके मुखसे जो यह बात कहलवायी है—'मनुष्य कदापि भगवान् नहीं हो सकता है'—उसे हम और भी स्पस्ट कर देना चाहते हैं कि 'मनुष्य मुक्त होने पर भी भगवान् नहीं हो सकता है।' मुक्त होने पर भक्त होनेकी सुविधा तो हो सकती है; परन्तु भगवान् बन जाने अथवा उनमें निश्चिह्न होकर मिल जानेकी कोई सुविधा नहीं है। इसीलिये अनेक मुक्त पुरुष भगवान् न होने पर तथा भक्त बनना अस्वीकार करने पर 'आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधः अनादृत युष्मद्ङ्घ्रः' विचारके अनुसार पुनः मायिक जगत्की विचित्रताओंके प्रति आकृष्ट होकर राजनीति, समाजनीति आदिमें फँस जाते हैं।

परन्तु इन साधन-मुक्तोंके अतिरिक्त भी और एक प्रकारके नित्य मुक्त जीव हैं, जो इस अनित्य जगत्में आते नहीं हैं। जो जीव इस जगत्में आकर खूब बहादुरी दिखलाते हैं, वे नित्यबद्ध जीव हैं। सारी नदियाँ समुद्रमें जाकर मिल जाती हैं—प्रायः मायावादी यह उदाहरण पेश किया करते हैं। किन्तु

समुद्रमें निवास करनेवाले तक(जीवन भर) समुद्रमें ही वास करते हैं, वे कभी भी नदियोंके प्रति आकृष्ट नहीं होते—मायावादियोंको यह जान लेना चाहिए। जो जीव नित्यकाल ही मुक्ति–समुद्रको आश्रय किये रहते हैं अर्थात् जो नित्यकाल ही मुक्त हैं, उनकी फिर मुक्ति कैसी? डा० राधाकृष्णनने जिसे Self Conscious man बतलाया है, इस पर हमें कोई आपत्ति नहीं है––यदि उस Self Consciousness का तात्पर्य 'जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास'—यह भाव उदय हो। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका विषय यही है। 'जीव कृष्णदास—ए विश्वास करले त आर दुःख नाई।' जिस दिन लागोंमें यथार्थ Self Conscious का उदय होगा कि 'वे नित्य कृष्णदास हैं' उसी दिन वे मुक्त हो जायेंगे और उसके बाद वे देख पायेगें कि मुक्ति स्वयं 'मुकुलिताञ्जलि' होकर उन नित्य कृष्णदासोंकी सेवा कर रही है।

प्रामाणिक शास्त्रोंने श्रीकृष्णको अवतारी या 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उन्होंने यही बात बतलायी है—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय' इत्यादि। कृष्णने स्वयं आविर्भूत होकर बतलाया है कि परतत्त्व एक नपुंसक जड़ तत्त्व नहीं हैं। वे पूर्ण चिद्–विलास तत्त्व हैं। उनका 'चिद्–विलास' तत्त्व अनुभव करनेमें असमर्थ होकर मूर्ख लोग उसका तरह–तरहसे अर्थ करते हैं। जो ऐसी इच्छा करते हैं कि 'मैं एक होकर भी बहुत होऊँगा' (एकोऽहं बहुस्यामः) क्या वे जड़ या निर्विशेष हो सकते हैं? जो ऐसा संकल्प करते हैं कि मैं अनेक प्रकारसे अपना विस्तार करूँगा–क्या वे कभी अपनेको ध्वंस करनेकी चेष्टा करेगें? स्वयं बहुत होकर अपना अपनत्व भी मिटा देना—यही तो अपना ध्वंस करना है। क्या भगवान्ने भी वैसी मूर्खता की है? नहीं। जो 'एकोऽहं बहुस्यामः' इस श्रुतिमंत्रका कदर्थ कर ऐसा कहते हैं—'जब भगवान् अनेक रूपोंमें विभक्त हो गये, तब उनका अपना अस्तित्व ही कहाँ रहा?' भगवान् इच्छामात्रसे अनंत प्रकारके स्वांश, विभिन्नांश एवं शक्तियोंके रूप में अपना विस्तार कर सकते हैं और ऐसा विस्तार करके भी वे ज्यों–के–त्यों स्वरूपमें स्थित रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो वे पूर्ण वस्तु कैसे हो सकते हैं? ❑

# श्रीनाम और श्रीनामभजनकी प्रणाली

## *श्रीनाम भजनसे पूर्व*

श्रीनाम भजन प्रारम्भ करनेसे पहलेसे ही साधकको कुछ बातें सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। पहली बात यह कि कृष्णका स्वरूप, कृष्णनामका स्वरूप, कृष्णसेवाका स्वरूप, कृष्णदासोंका स्वरूप और धामका स्वरूप मायासे परे नित्यमुक्त, पूर्ण, शुद्ध और चिन्मय है। सेवा–सम्बन्धी सब कुछ माया प्रकृतिसे अतीत—अप्राकृत है। कृष्णका पीठ स्थान, गृह, वन, कुञ्ज, यमुना, वृन्दावनके वृक्ष, लता गुल्म, पशु–पक्षी आदि सब कुछ चिन्मय हैं; अतएव अप्राकृत हैं। उन्हें इस बातको स्मरण रखना ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। दूसरी बात उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा विश्वास जड़ीय अन्ध विश्वास नहीं है, बल्कि परम और नित्य है। जगत्में इन सबका स्वरूप यथार्थरूपमें प्रकाशित नहीं होता। शुद्धभक्तोंके हृदयमें स्वरूपतः नित्य रह सकता है। यहाँ साधनका फल है—स्वरूप–सिद्धि। कहते हैं जिनको स्वरूप–सिद्धि हो जाती है, उनको शीघ्र ही वस्तुसिद्धि हो जाती है। इस जगह उस परमसिद्ध वस्तुका आभास–मात्र साधनके द्वारा उदित होता है।

### *नामका स्वरूप*

नाम चिन्मय वस्तु है। नाम जैसा ज्ञान, नाम जैसा व्रत, नाम जैसा ध्यान, नाम जैसा फल, नाम जैसा त्याग, नाम जैसा शम, नाम जैसा पुण्य, नाम जैसी गति और कुछ भी नहीं है। नाम ही परमा मुक्ति है, नाम ही परमा गति है, नाम ही परमा

शान्ति है, नाम ही परमा स्थिति है, नाम ही परमा भक्ति है, नाम ही परमा मति है, नाम ही परमा प्रीति है और नाम ही परमा स्मृति है, ऐसा दृढ़ निश्चय रखना चाहिये। नाम ही जीवका कारण है, जीवका प्रभु है और है—परमाराध्य वस्तु। नाम ही परम गुरु है। ★

हम पहले ही कह चुके हैं कि अप्राकृत तत्त्वके स्वरूप बोधको ही स्वरूप सिद्धि कहते हैं। इसीका नाम यथार्थ सम्बन्ध-ज्ञान है। सम्बन्ध-ज्ञान होनेपर प्रेमका ठीक-ठीक अनुशीलन होने लगता है। सम्बन्ध ज्ञानसे युक्त प्रेमके अनुशीलनको ही अभिधेय कहते हैं। प्रेमके अनुशीलनसे विशुद्ध कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। यह कृष्ण-प्रेम ही प्रयोजन कहलाता है। प्रेम-रूप प्रयोजनकी प्राप्ति जीवमात्रके लिये चरम सिद्धिका विषय है। कृष्णका चिन्मय धाम, चिन्मय नाम, चिन्मय गुण और चिन्मयी लीला—ये सब प्रेमके अन्तर्गत प्रयोजन विशेष हैं। प्रश्नोपनिषद्में नाम-भजनकी प्रणाली दी गयी है। श्रीकृष्ण नामके रूपमें जगतमें अवतीर्ण हैं। अक्षरात्मक होने पर भी नामके प्रभावसे अक्षरात्मक नाम भी अप्राकृत कृष्णावतार है। नाम और नामी अभेद हैं—इस विचारसे श्रीकृष्ण ही गोलोक-वृन्दावनसे नामके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। इसलिये कृष्णनाम ही कृष्णका प्रथम परिचय है।

कृष्ण-प्राप्तिका संकल्प कर जीव कृष्णनाम ग्रहण करेंगे। कलियुगमें नामके बिना भवसागरसे पार उतर कर भगवत्प्राप्तिका कोई दूसरा पथ नहीं है। शास्त्रोंमें भगवन्नाम संकीर्तनकी अनन्त महिमा बतलायी गयी है। अब स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि भगवानके किस नामका संकीर्तन शास्त्रोंको अभीष्ट है? किस नामका संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ फलदायक है? इसका उत्तर शास्त्रमें जगह-जगह दिया गया है—थोड़ा-सा निरपेक्ष और सरल चित्तसे विचार करनेपर उक्त प्रश्नका उत्तर पाना मुश्किल नहीं। इस प्रश्नका उत्तर हमारे पूर्व-पूर्व महाजनोंके चरित्रका अवलोकन करनेसे भी मिल सकता है। अग्निपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, कलिसन्तरण उपनिषद्, राधातन्त्र, ब्रह्मयामल, अनन्त संहिता आदि शास्त्रोंमें बत्तीस अक्षरोंमें युक्त सोलह नामवाले मन्त्रको ही कलियुगका महामन्त्र कहा गया है। संकीर्तन-प्रवर्त्तक स्वयं भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके पार्षदोंने, आधुनिक और प्राचीन सभी महाजनों और संत-महात्माओंने इसी बत्तीस अक्षरोंसे युक्त सोलह नामवाले महामन्त्रका स्वयं कीर्तन किया है और यही नाम कीर्तन करनेका उपदेश दिया है।

अग्नि पुराणमें—

*हा रे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।*
*रटन्ति हेलयावापि ते कृतार्थ न संशयः।।*

ब्रह्माण्ड पुराणमें—

*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।*
*ये रटन्ति हीदं नाम सर्वपापं तरन्ति ते।।*

ज्ञानामृतसारमें—

*शिष्यस्योद्दङ्मुखस्थस्य हरेर्नामानि षोडशः।*
*संश्राव्यैव ततो यद्यान्मन्त्र त्रैलोक्यमङ्गलम्।।*

ब्रह्मयामलमें—

*हरिं बिना नास्ति किञ्चित् पापनिस्तारकं कलौ।*
*तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।।*
*सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे।*
*हरे कृष्णपदद्वन्द्वं कृष्णेति च पदद्वयम्।।*
*तथारहेपदद्वन्द्वं हरे राम इति द्वयम्।*
*तदन्त महादेवि! राम राम द्वयं वदेत्।।*
*हरे हरे ततो ब्रूयात् हरिनाम समुद्धरेत्।*

---

★ *न नाम सदृशं ज्ञानं न नाम सदृशं व्रतम्। न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम्।।*
*न नामसदृशस्त्यागो न नाम सदृशः समः। न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः।।*
*नामैव परमा शान्तिर्नामैव परमा स्थितिः। नामैव परमाभक्तिर्नामैव परमा मतिः।।*
*नामैव परमा प्रीतिर्नामैव परमा स्मृतिः। नामैव कारणं जन्तोर्नामैव प्रभुरेव च।।*
*नामैव परमाराध्यो नामैव परमो गुरुः।।*

(आदि पुराण)

*महामन्त्रज्च कृष्णस्य सर्वपापप्रणाशकमिति।।*

राधातन्त्रमें—

*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।*
*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।*
*द्वात्रिंशदक्षराण्येव कलौ नामानि सर्वदम्।*
*सर्वशक्तिमयं मंत्र हरिनाम्नः तपोधन।।*

अनन्तसंहितामें—

*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।*
*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।*
*षोडशैतानि नामानि द्वात्रिंशद्वर्णकानि हि।*
*कलौ युगे महामन्त्रो सम्मतो जीवतारणो।।*

श्रीचैतन्य भागवतमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका लोगोंके प्रति उपदेश—

*आपने सभारे प्रभु करेन उपदेश।*
*कृष्णनाम महामन्त्र सुनह विशेष।।*
*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।*
*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।*
*प्रभु कहे कहिलाम एइ महामन्त्र।*
*इहा गिया जप सबे करिया निर्बन्ध।।*

अस्तु यह निर्विवाद और सर्वमान्य है कि "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।" कलियुगका महामन्त्र है और शास्त्रोंमें तथा महाजनों द्वारा इसी मन्त्रके कीर्तन और जप करनेका उपदेश दिया गया है।

कुछ लोग इस महामन्त्रकी दूसरी पंक्तिको पहली पंक्तिके रूपमें रखकर 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे'—महामंत्रका प्रचार करते हैं। ये लोग वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बईमें छपे हुए कलिसन्तरणोपनिषदका प्रमाण देते हैं। परन्तु उपर्युक्त शास्त्रप्रमाणोंको देखनेसे ऐसा स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वेंकटेश्वर प्रेससे प्रकाशित कलिसंतोरण–उपनिषदकी प्रतिमें ऐसा भूलसे छपा है। ध्यान देनेकी बात है कि कलिसन्तरणोपनिषद्की दूसरी–दूसरी प्रतियोंमें 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।' ही देखा जाता है।

दूसरी बात यह है चारों युगोंके तारक–ब्रह्मनामों का विवेचन करने पर 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।' —यही पाठ शास्त्र और युक्ति–संगत प्रमाणित होता है। जैसे—सत्ययुगका तारकब्रह्म नाम है–

*नारायण परावेदा नारायणपराक्षराः।*
*नारायणपरा मुक्तिर्नारायणपरा गतिः।।*

द्वापरका तारकब्रह्म नाम है—

*हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविन्द शौरे।*
*यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो निराश्रयं मां जगदीश रक्ष।।*

और त्रेता युगका तारकब्रह्म नाम है—

*राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।*
*कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुंठ वामन।।*

इन तीनों युगोंके तारक ब्रह्मनामोंका विचार करनेसे हम देख पाते हैं कि पहले युगमें अर्थात् सत्ययुगमें भगवानके 'नारायण' नामोंका उल्लेख है, द्वापर अर्थात् दूसरे युगमें कृष्ण और नारायण नाम आते हैं। तथा त्रेता अर्थात् तीसरे युगमें नारायण, कृष्ण और राम तीनोंके ही नाम है। इसलिये युग–क्रमके अनुसार विचार करने पर 'हरे कृष्ण ही पहले होता है।

साधारणतः सत्य, द्वापर, त्रेता, और कलि—यही युगोंका क्रम है। परन्तु इस वर्त्तमान चतुर्युगमें हम उक्त क्रमका उलट फेर देखते हैं, इसका कारण यह है कि गौतम ऋषिके अभिशापसे अत्यन्त दुःखी अहिल्याके विशेष प्रार्थनासे उसके शीघ्रसे शीघ्र उद्धारके लिये ऋषिने सान्त्वना दी थी कि अहिल्याके शीघ्र उद्धारके लिये इस बार सत्य युगके बाद ही त्रेतायुग आरम्भ होगा और दूसरा युग द्वापर त्रेता के बाद आयेगा। इसीलिये सत्ययुगके बाद द्वापर न आकर त्रेतायुग हुआ और उसमें भगवान श्रीरामचन्द्रजीने अहिल्याका उद्धार किया। अतएव युगकी दृष्टिसे 'हरे कृष्ण' ही पहले आना चाहिए।

अस्तु, श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्य–भागवतमें इसी सोलह नाम बत्तीस अक्षरमय नाम–माला ग्रहण करनेका उपदेश जीवोंको दिया है। श्रीगोपाल गुरु गोस्वामीने सोलह नामोंका अर्थ इस प्रकार किया है—

'हरि' नामका अर्थ—(१) 'हरि' शब्दके उच्चारणसे पापी व्यक्तिके सारे पाप दूर हो जाते हैं। जैसे अग्नि अनिच्छा होने पर भी स्पर्श मात्रसे जला डालती है, उसी प्रकार अनिच्छा रहते हुए भी 'हरि' शब्दके उच्चारणसे पापियोंके सारे पाप जल कर भस्म हो जाते हैं। हरिनाम चिद्घनानन्द विग्रहरूप भगवतत्त्वको साधकके हृदयमें प्रकाश कर अविद्या और उसके कार्यको ध्वंस कर देते हैं।

(२) चर-अचर समस्त प्राणियोंके त्रिविध तापोंको हरण या दूर करते हैं।

(३)अपने अप्राकृत सद्गुणावलियोंके श्रवण और कीर्त्तन द्वारा जगत्के समस्त प्राणियोंके मनको हरण कर लेते हैं।

(४) अपने कोटिकन्दर्प लावण्य और माधुर्यके द्वारा समस्त प्राणियों और अवतारोंका मन हरण करते हैं।

उपरोक्त ४ कारणोंसे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही 'हरि' शब्दवाच्य हैं। उन श्रीहरिका ही सम्बोधनपद 'हरे' है।

(५) अथवा ब्रह्मसंहिताके अनुसार जो अपने स्वरूप-प्रेम-वात्सल्य द्वारा हरिका मन भी हरण कर लेती हैं, वे वृषभानुनन्दिनी ही 'हरा' शब्दवाच्य हैं। सम्बोधनमें उनको 'हरे' सम्बोधन किया जाता है।

'कृष्ण'—शब्दका आगमके अनुसार अर्थ-कृष् धातुमें 'ण' प्रत्येयके योगसे 'कृष्ण' शब्द बनता है, वह आकर्षक, आनन्दस्वरूप कृष्ण ही परब्रह्म हैं। कृष्ण शब्दका सम्बोधनमें 'कृष्ण' होता है।

'राम—'शब्दका अर्थ—आगममें कहा गया है कि 'रा' शब्दका उच्चारण करनेसे हृदयसे समस्त पाप निकल जाते हैं और 'म' के उच्चारणसे (मुख बन्द होनेसे 'म' कपाट'-स्वरूप होनेके कारण) वे पाप पुनः प्रवेश नहीं कर पाते। पुराणोंमें एक और भी अर्थ बतलाया गया है कि वैदग्धिसारसर्वस्व मूर्त्तिलीलाधि-देवता कृष्ण—जो श्रीमतीराधाके साथ नित्य रमण करते हैं—राम कहे जाते हैं। भजन-क्रियाके विचार-प्रसंङ्गमें सोलह नामोंके अर्थ अलग-अलग दिखलाये जायेंगे।

### *संख्यापूर्वक नाम-ग्रहण*

हमें 'हरे कृष्ण' नामावलीका कीर्त्तन और स्मरण संख्यापूर्वक करना चाहिये। संख्या रखनेके लिये तुलसीकी १०८ दानोंकी माला भजनमें विशेष रूपसे उपयोगी होती हैं। कीर्त्तन-स्मरणके समय नामके अर्थों द्वारा नामके अप्राकृत स्वरूपका निरन्तर अनुशीलनसे समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं और चित्त निर्मल हो जाता है। साधकका पहले पहले शुद्धनाम उच्चारण नहीं होता। पहले-पहले नामके अक्षर निकलने पर भी वे या तो नामापराध होते हैं अथवा नामाभास। साधारणतः जो साधक सद्गुरुसे नाम ग्रहण कर कुछ श्रद्धापूर्वक 'नाम' कीर्त्तन-समरण करते हैं, उनका नामाभास होता है। नामाभासके साथ-साथ निरन्तर नामोच्चारण द्वारा चित्त पूर्ण रूपसे निर्मल होने पर वहाँ स्वभावतः अप्राकृत नाम उदित होते हैं।

### *श्रीनामके सम्बन्धमें विशेष बातें*

यों तो सभी किसी न किसी रूपमें नाम लेते हैं, परन्तु नामोच्चारणका जैसा फल होना चाहिये, वैसा उन्हें प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि वे ठीक-ठीक रूपमें नाम उच्चारण नहीं करते। नाम-भजनके साधकोंको यह जानना आवश्यक है कि नाम तीन प्रकारका होता है। 'तीन प्रकारका नाम' कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि नाम एक ही है, अर्थात शुद्ध नाम ही नाम हैं तथापि साधारणतः साधकोंकी अवस्थाके तारतम्यानुसार जो नाम उच्चरित होते हें, वे तीन प्रकारके होते हैं—(१)शुद्ध नाम, (२) नामाभास और (३) नामापरध।

शुद्धनाम—जिस नाम उच्चारण या कीर्त्तनका उद्देश्य केवल कृष्ण प्रीति ही हो, जो नाम अपने किसी प्रकारके दुःख दूर करनेके लिये अथवा सांसारिक विषय सुख, स्वर्ग सुख या मुक्ति सुखकी प्राप्तिके उद्देश्य से न लिया जाय, जो नाम निराकार निर्विशेष ब्रह्म सम्वन्धी शुष्कज्ञान और कृष्णसम्बन्ध-रहित सकाम आदि जड़ कर्मसे अनावृत हो अर्थात् सम्बन्धशून्य हो तथा जो नाम प्रतिकूल भावोंको दूर रखकर अनुकूल प्रवृत्तिके साथ ग्रहण किया जाता है—उसे शुद्ध नाम कहते हैं। इसे संक्षेपमें इस प्रकार

कह सकते हैं कि नामापराध और नामाभाससे रहित नाम ही शद्धनाम है। शुद्धनाम ग्रहण करनके लिये साधको शिक्षाष्टकमें श्रीमन् महाप्रभु द्वारा दिये गये तीसरे उपदेशका आचरण करना नितांत आवश्यक है। उक्त उपदेशमें चार बातें हैं—(१) नाम ग्रहणकारीको तृणसे भी अधिक दीन हीन होकर रहना चाहिए। (२) उन्हें वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए। वृक्षकी सहनाशीलता ऐसी होती है कि सूखने पर भी जल नहीं माँगते, काट जाने पर भी मना नहीं करते, अपना अङ्ग कटवा कर लोगोंका सब तरहसे अपने कटे हुए अङ्ग (लकड़ी) से उपकार करते हैं, पत्थर मारनेसे फल देते हैं, गरमीके दिनोंमें शीतल छाया प्रदान करते हें, वर्षासे लोगोंकी रक्षा करते हैं। साधकको वृक्षोंसे सहिष्णुताकी शिक्षा लेनी चाहिए। (३) साधक कभी भी अपनी प्रशंसा या मानकी कामना न रखे, (४) और दूसरोंको सर्वदा मान देना चाहिए। ऐसा होकर नाम करनेसे शीघ्र ही नाम–भगवानकी कृपा प्राप्त होती है।

नामाभास—शुद्धनाम न होने पर जो नाम जैसा दीख पड़ता है, वह नामाभास हाता है। वह नामाभास अवस्थाभेदसे कहीं नामाभास और कहीं नामापराध होता है। 'आभास'—शब्दसे कान्ति, छाया और प्रतिबिम्बका बोध होता हैं। नामाभासका अर्थ होता है—नामकी कान्ति या नामकी या छाया अथवा नामका प्रतिबिम्ब। जैसे सूर्य उदय होनेके पहले जो लालिमा दीख पड़ती है, उसी प्रकार शुद्ध नामरूपी सूर्य उदित होनेके पहले भ्रम–प्रमादिसे युक्त जो अशुद्ध नाम उच्चारित होता है, उसे नामाभास कहते है। अर्थात सरल अज्ञतासे युक्त अशुद्धनाम—नामाभास कहलाता है। नामाभास चार प्रकारके होते है—(१) संकेत नामाभास—दूसरी वस्तुको लक्ष्य कर जो नाम लिया जाता है; (२) परिहास नामाभास—हँसी–दिल्लगीमें उपहासके साथ जो नाम उच्चारण किया जाता है; (३) स्तोभ नामाभास—अगौरवके साथ अर्थात् सम्मान बुद्धिसे रहित होकर जो नाम उच्चारण किया जाय और (४) हेला नामाभास—अनादरपूर्वक जो नाम लिया जाता है।

नामाभाससे ही मुक्ति आदिकी प्राप्ति हो जाती है निरन्तर नामभजनसे नामाभास दूर होनेपर शुद्धनामका उदय होता है।

नामापराध—नामापराध १० प्रकारका होता है। साधकोंको इन नामापराधोंका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। दस प्रकारके नामापराध ये हैं—

(१) शुद्धभक्तजनोंकी निन्दा अथवा उनसे विद्वेष करना।

(२) श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान हैं—समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, समस्त देव–देवियाँ उनके ही अधीन हैं—ऐसा न मानकर दूसरे–दूसरे देव–देवियों को स्वतन्त्र ईश्वर मानना।

(३) साधु, गुरुके प्रति अवज्ञा।

(४) भक्ति–शास्त्रोंकी अवहेला करना—निंदा करना।

(५) हरिनाम माहात्म्यको स्तुतिमात्र समझना।

(६) हरिनामको कल्पित मानना। जैसे मायावादी कहते हैं कि भगवानका जब रूप ही नहीं, तब उनका नाम कहाँसे आया; भगवानका नाम कल्पित होता है, इत्यादि—ऐसा कहना या माना।

(७) नामके बल पर पाप करना—जब नाम करनेसे सब पाप दूर हो जाते हैं, तब पाप भी करेंगे और नाम भी करेंगे—ऐसा करना अपराध है।

(८) दूसरे–दूसरे शुभ कर्मोंसे नामकी समता करना।

(९) अनधिकारी व्यक्तियोंको हरिनाम देना।

(१०) नाम–माहात्म्य सुनकर भी नामके प्रति अविश्वास और अरुचि तथा जड़ीय अहंकार अर्थात् शरीरमें 'मैं' दूसरी वस्तुओंमें 'मेरा' की बुद्धि रख कर हरिनाम करना।

यद्यपि नामापराधोंसे युक्त होकर हरिनाम करनेसे सांसारिक भोग और जड़ीय अर्थादिकी प्राप्ति होती है, तथापि जीवके चरम प्रयोजनकी प्राप्तिमें यह सबसे अधिक बाधक है। अतः साधक सावधानीपूर्वक नामापराधका वर्जन कर शुद्ध हरिनाम करनेका प्रयत्न करेंगे। ❑

(क्रमशः)

# कलियुगमें श्रीकृष्णनाम जप साधना

—डा० सत्यपाल गोयल

*प्रयास*

प्रयासका सहज बोध अर्थ प्रयत्न या आयास से है। सांसारिक उपब्धियोंके लिये हो या भक्ति मार्गमें साधन हो, दोनों ही प्रयासकी श्रेणीमें आते हैं। उक्त दृष्टिसे भगवानका प्रेम प्राप्त करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वही एकमात्र परमार्थ प्रयास है तथा शुद्ध भक्तिका लक्षण है। भगवद् भजन करना जीवकी स्वाभाविक वृत्ति है जो कि जीवका स्वभावसिद्ध नित्य धर्म है। नित्य धर्मको साधित करनेके लिये किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि प्रयास तो अनित्य एवं अस्वाभाविक कर्म होता है।

संसारमें प्रयासको दो श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है। एक असत् प्रयास दूसरा सत्प्रयास। असत् प्रयास पशुक्त होता है जिसमें जीवका (मनुष्य शरीर धारण करने पर) कोई लक्ष्य नहीं होता है अर्थात् न तो उसकी स्वर्गकी कामना होती है और न वैकुण्ठ गोलोक आदिकी प्राप्ति। उसका मन्तव्य केवल खाना पीना और सोना ही होता है। वह इनके लिये ही सम्पूर्ण जीवन खटता रहता है। उसका कोई आचरण शास्त्रके अनुकूल नहीं होता है। परन्तु धर्मज्ञ लोग जानते हैं कि

***आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्येतत् पशुभिर्नराणाम्।***
***धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना।।***

(हितोपदेश)

अर्थात् आहार निद्रा भय और मैथुन आदि कर्म (प्रयास) तो पशुओं और मनुष्यों दोनोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। मनुष्यकी चेतना पशुसे कहीं अधिक उन्नत है। उसमें सत् और असत् रूपी विचार शक्ति (धर्म) होने से मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ होता है। यदि वह अपनी इस विचार शक्तिको छोड़कर मात्र आहार निद्रा तथा मैथुन कर्ममें ही लिप्त रहता है तो उसमें और पशुमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

अतएव जो मनुष्य दिन-रात मांस, मदिरा, जुआ, सट्टा, लूट-पाट, अपहरण, चोरी, डकैती, बलात्कार और हत्याएँ जैसे कर्मों अर्थात् असत् प्रयासोंमें लिप्त हैं वे सब असत् प्रयासी हैं एवं इस जन्ममें भी नरक भोग रहे हैं तथा शरीरांतके बाद भी घोर नारकीय यन्त्रणाएँ भोगेंगे।

दूसरी श्रेणीमें सत् प्रयास आते हैं। ये सत् प्रयास भी दो प्रकारके होते हैं। एक कर्मप्रयास तथा दूसरा ज्ञानप्रयास।

कर्म प्रयासके अन्तर्गत फलभोगकी वासना होती है। फलतः मनुष्य वासनाजनित शुभ कर्मोंके प्रभावसे स्वर्ग आदि लोकोंकी यात्रा करता है। परन्तु इस प्रकारके कर्मप्रयासका भक्तिसे दूरका भी सम्बन्ध नहीं है यथा—

***धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।***
***नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।।***

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् वासनाजनित कर्मकाण्डीय साधना कर्मकाण्डका बोधक है। उसका जीवके स्वाभाविक धर्म कृष्ण दास्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि जीवके कर्म उसे भक्ति पथकी ओर अग्रसर न करे, उसकी भगवानके चरणोंमें रति अर्थात् भक्ति उत्पन्न न हो तो उसके द्वारा किये गये सभी कर्म प्रयास श्रममात्र ही हैं। उनसे जीवका कोई विशेष हित साधित होनेवाला नहीं है।

यद्यपि शुभकर्म स्वर्ग आदि प्रदान करते हैं परन्तु उनका फल भी अनित्य होता है। क्योंकि जब कर्म फल क्षीण होता है तो जीवको पुनः मृत्यु लोकमें लौटना पड़ता है। कर्म प्रयास जीवको नित्यसुख (कृष्ण प्रेम) प्रदान नहीं कर सकता। अनित्य होनेसे उसका फल भी अनित्य होता है। भक्ति कभी भी कर्म प्रयासके अधीन नहीं है। वह तो जीवकी स्वाभाविक नित्य वृत्ति है। मायाग्रस्त हो जाने से जीव अपने स्वरूप-धर्म नित्य कृष्ण दासत्वको भूल जानेके कारण असत् कर्मों या स्वर्ग आदि प्रदान करने वाले अनित्य कर्मोंकी ओर आकृष्ट हो जाता है।

ज्ञान प्रयास भी उत्तम नहीं माना गया है। इसमें जीव मात्र अपने अहंकारका पोषण करता है। वह अपनेको माया ग्रस्त ब्रह्म मानता है, संसारको असत्य

मानता है, जबकि दोनों ही धारणाएँ सत्यसे परे हैं। न तो जीव कभी ब्रह्म हो सकता है और न ही संसार कभी असत्य हो सकता है। क्योंकि जब ज्ञानीकी धारणा है कि सारा संसार ब्रह्म है तब संसारके असत्य होनेपर उनका ब्रह्म भी असत्य हो जायेगा।

*श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो*
*क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धये।*
*तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते*
*नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।।*

(श्रीमद्भागवत १०/१४/४)

अर्थात् हे कृष्ण आपकी भक्ति ही जीवके सब प्रकारके कल्याणका मूल उद्गम है अर्थात् भक्तिसे ही समस्त जीवोंका वास्तविक कल्याण साधित हो सकता है। क्योंकि वह आपके विमल प्रेमको प्रदान करती है। किन्तु जो लोग आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानका ही आश्रय लेते हैं उनका समस्त प्रयास धानकी भूसीको कूटनेके समान श्रममात्र ही है। उससे कोई धान रूपी (फल) प्राप्त होनेवाला नहीं है।

*ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव*
*जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।*
*स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि–*
*र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसित्रैस्त्रिलोक्याम्।।*

(श्रीमद्भागवत १०/१४/३)

अर्थात् हे कृष्ण! जो लोग ज्ञानके लिये श्रम न करके केवल आपको प्राप्त करनेके लिये ही आपके भक्तोंका सत्संग करते हैं, आपकी लीला कथाओंका श्रवण करते हैं तथा पूर्ण रूपसे समर्पित रहते हैं अर्थात् आपका भजन ही उनके जीवनका एकमात्र आधार उपासना साधना बन जाता है, यद्यपि आप पर विजय प्राप्त करनेवाला कोई नहीं है तथापि आप उनके प्रेमके वशीभूत होकर उनके अधीन हो जाते हैं।

उक्त दोनों प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान प्रयास भी जीवकी गति नहीं है क्योंकि उससे कृष्ण प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि ज्ञान उसे कृष्ण प्रेमकी ओर ले जाता है तो निश्चित ही वह ज्ञान नहीं अपितु भक्ति पोषक विचार ही है। अतएव भक्तिकी ओर बढ़ानेवाला ज्ञान प्रयास उत्तम कहा जा सकता है परन्तु भक्ति न तो कर्मकी अपेक्षा रखती है और न ही ज्ञान की अपेक्षा रखती है।

*नायमात्मा प्रवचननेन लभ्यो*
*न मेधया न बहुना श्रुतेन।*
*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष*
*आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।*

(मुण्डकोपनिषद ३/२/३)

अर्थात् आत्मा शब्द जीव और परमात्मा दोनोंका सम्बोधक है। आत्मका ज्ञान या परमात्मा का ज्ञान दोनों ही न तो शास्त्रोंका बहुत अध्ययन, श्रवण और मननसे ही प्राप्त होता है और न ही ग्रन्थको धारण करनाकी मेधा शक्तिसे ही प्राप्त होता है। वह तो उस परमात्मा (कृष्ण) की कृपा या इच्छासे ही प्राप्त होता है इसका सीधा तात्पर्य है जो कृष्णको अपने स्वामीके रूपमें वरण करते हैं उनके समक्ष ही वे कृपा कर अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। क्योंकि वे नित्यसिद्ध तत्त्व हैं। उनका प्राप्त होना, न होना, किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखती है।

कृष्णप्रेमको प्राप्त करनेके लिये जो भी विधि मार्ग भक्तिसम्मत ग्रन्थों यथा श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीहरिभक्तिविलास, श्रीनारद पाञ्चरात्र, श्रीनारद भक्ति सूत्र, शाडिल्य भक्ति सूत्र, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत, ईशोपनिषद, रामायण आदि ग्रन्थोंमें निहित हैं, वे सब न तो ज्ञान प्रयास और न ही कर्म प्रयासके अन्तर्गत हैं। उनका सीधा सम्बन्ध भगवत प्रीतिसे है। जैसा कि पहले कहा गया है, कृष्ण प्रेम कृपा साध्य है, प्रयास साध्य नहीं। एकमात्र श्रीकृष्ण नामके जप, चिन्तन, स्मरणसे कुछ समयमें ही अविद्याका पट विदीर्ण हो जाता है एवं चित्त शुद्ध होकर कृष्णकृपा, गुरुकृपा, संतकृपासे जीवके हृदयमें श्रीकृष्णकी शुद्धा भक्तिका उदय होकर कृष्ण प्रेम छलकने लगता है। परन्तु ज्ञान प्रयासका आश्रय लेनेसे हृदय भक्ति शून्य होकर अहंकारसे आच्छादित हो जाता है, जिससे साधकको कभी कृष्णकी प्राप्ति संभव नहीं है। कर्म प्रयासी तो कदापि भक्ति पथका पथिक नहीं हो सकता क्योंकि कर्म प्रयास वासनासे प्रेरित होता है जो जीवको स्वर्ग और नरककी चक्कीमें ही पीसता रहता है। परन्तु हरि–गुरु–वैष्णव कृपासे जब साधकको शुद्ध भक्तिपरक सत्संग सुधा कानके माध्यमसे हृदयमें पहुँचती है, तब उसके समस्त भक्तिविरुद्ध प्रयास छूट जाते हैं तथा साधकके हृदयमें क्रमशः भक्तिका बीज जो गुरुजी द्वारा

बोया जाता है, अंकुरित होकर प्रस्फुटित, पल्लवित, पुष्पित होकर उसमें कृष्ण प्रेमरूपी मधुर फल लगता है।

साधकको अपनी साधनामें उत्तरोत्तर प्रगतिके लिये सदैव उन लोगोंसे बचना चाहिए, जो अपनी भक्ति परम्परासे भिन्न हैं। उनके प्रति ईर्ष्या एवं विद्वेषका भाव भी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि अज्ञानवश ही वे भक्ति विरुद्ध पथ पर चल रहे हैं। वे दयाके पात्र हैं। परन्तु उनसे तर्क वितर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका कल्याण करते करते साधककी प्रारंभिक श्रद्धा डगमगा जायेगी तथा भक्ति पथसे विचलित होनेकी प्रवल सम्भावना रहती है। अतएव आप अपने गुरुकी आज्ञानुसार प्रेमपूर्वक दृढ़ विश्वासके साथ भजनरत रहिए एवं कर्म प्रयासियों एवं ज्ञान प्रयासियोंको भगवत् कृपा पर छोड़ दीजिए।

यद्यपि श्रीमद्भगवद् गीतामें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यका निर्देश दिया गया किन्तु वह निर्देश भक्तिका हृदयमें उदित होनेकी पूर्वकी अवस्थाके लिये है, भक्तिका उदय होने पर तो साधकके हृदयमें भक्ति देवीकी कृपासे स्वयं वैराग्य पैदा होने लगता है। रागका अर्थ होता है—प्रेम। विराग अर्थात् रागकी उन्नत अवस्था। जब साधकके हृदयमें कृष्णके प्रति राग पैदा हो जाता है तब स्वतः ही कृष्ण प्रेम (राग) के प्रतिकूल भाव व उपलब्धियों से विराग (वैराग्य) पैदा होने लगता है। राग चित्तकी विशिष्ट अवस्था है जो एक बारमें एक ही ओर लगती है। यदि श्रीकृष्णके प्रति चित्तमें राग (प्रेम) पैदा हो गया है तो संसारके प्रति साधकका चित्त स्वतः उदासीन हो जायेगा यथा

*वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।*
*जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्।।*

(श्रीमद्भागवत ३/३२/२३)

अर्थात् भगवान् वासुदेव (कृष्ण) के प्रति उत्पन्न भक्ति योग शीघ्र ही संसारके प्रति प्रयास शून्य वैराग्य उत्पन्न कर शुद्ध दास्यात्मक भक्तिका उदय कराता है। अतएव कर्म और ज्ञान प्रयासोंकी भक्तिको अपेक्षा नहीं है।

अतएव कृष्ण प्रेम मार्गी साधकको कर्म प्रयास, ज्ञान प्रयास, योग प्रयास, संसार प्रयास, असत्संग प्रयास एवं मुक्ति प्रयास आदिके फेरमें न पड़कर किसी शुद्धचित्त कृष्ण अनुरागी भक्तका पदाश्रय ग्रहण कर कृष्ण अनुकूल सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। उसे प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके प्रयाससे भी अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है क्योंकि संत, कृष्ण प्रेमी, भक्त कहलानेकी सूक्ष्मतम आशा बड़ी बलवान होती है—इसे मलकी तरह त्याग देना चाहिए। जिस प्रकार मल त्याग न करनेसे शरीरमें अनेकविध रोग- व्याधि उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार भक्ति मार्गमें प्रतिष्ठा प्रयास अनेक विकार पैदा कर देता है।

*सर्वत्यागेऽप्यहेयायाः सर्वानर्थ भुवश्च ते।*
*कुर्य्याः प्रतिष्ठाविष्ठाया यत्नमस्पर्शने वरम्।।*

(श्रीहरिभक्तिविलास)

### *नियमाग्रह*

मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन विधि और निषेधके अंतर्गत चलता है। यद्यपि विधिके अनुसार व्यवहार व आचरण करनेमें कष्ट अवश्य होता है किन्तु विधि मार्गका एकबार आश्रय ले लेनेपर असंभव नहीं। उश्रृंखलता, उद्दण्डता, स्वच्छन्दा आदि पर नियंत्रणके लिये लौकिक एवं पारमार्थिक क्षेत्रमें नियमोंका निर्माण किया गया है। विधि लक्षण और निषेध लक्षण भेद से नियम दो प्रकारके होते हैं। पालन करने योग्य नियमोंको विधि तथा त्यागने योग्य नियमोंको निषेध कहते हैं। मनुष्योंको दोनों (विधि-निषेध) का जीवनमें पालन करना हितकारी होता है। महान ऋषियोंने अपने तप और साधनाके बलपर जो अनुकूल हैं, उन्हें विधि माना तथा जो लक्ष्यकी प्राप्ति या जीवन साधनामें अमंगलजनक हैं, उन्हें निषेध माना है।

स्थिति भेदसे कर्म, ज्ञान तथा भक्ति—ये तीन खण्ड साधनाक्षेत्रमें किये गये हैं। साधक सम्बन्धित खण्डके विधि निषेधोंको पालन करते करते कर्मसे ज्ञान तथा ज्ञानसे भक्ति खण्डकी ओर अग्रसर होता है। कुछ जीव पूर्व जन्ममें यदि भक्ति पथका अवलम्बन कर चुके होते हैं, तो वे सीधे ज्ञानसे भक्ति अथवा भक्ति पथ पर आरूढ़ हो सकते हैं, उन्हें किसी सदगुरुसे मात्र स्पर्शकी आवश्यकता पड़ती है जिससे उसका गत जन्मका संचित भक्ति बल जाग्रत होकर उन्नत से उन्नत अवस्थाकी ओर स्वतः बढ़ने लगता है।

यदि कुसंग या दुराग्रहसे पीड़ित हो जाये तो ज्ञानी

कर्मकी ओर गिर सकता है और कर्मी सत्कर्मोंको छोड़कर अन्य दुष्कृत्योंकी ओर बढ़ सकता है। परन्तु भक्ति मार्ग पर चलनेवाला सुदृढ़ रहता है क्योंकि वह पूर्णतः सदगुरु तथा अपने आराध्य श्रीकृष्णके पादपद्ममें समर्पित रहता है।

साधक जिस साधन खण्ड (कर्म, ज्ञान या भक्ति) पर चल रहा है उसे उस खण्ड से सम्बन्धित नियमोंका पालन निष्ठापूर्वक करना चाहिए यही उसका स्वधर्म या स्वाधिकार निष्ठा होती है। उस स्वधर्मसे गिरना या उसे भूल जाना ही प्रमाद है। यथा

*स्वेस्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणा परिकीर्त्तितः।*
*विपर्यस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः।।*
*देश कालादि भावानां वस्तूनां मम सत्तम।*
*गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२१/२०७)

अर्थात् साधकोंको अपने अपने अधिकारके अनुसार अपने साधनमें निष्ठावान होना ही गुण कहा जाता है और जो उसके प्रति निष्ठावान नहीं रहता—वही दोष है। नियमोंका निर्माण भी देश काल और वस्तुओंके गुणोंके अनुसार ही किया गया है जिससे कि साधक स्वछन्द वृत्तिवाला न हो जाय।

विधि और निषेध भी नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जीवोंकी दो दशाएँ होती हैं नित्यशुद्ध अवस्था तथा नित्यबद्ध अवस्था। नित्यशुद्ध अवस्था वाले जीवोंके लिये जो विधि निषेध हैं, उन्हें नित्य विधि निषेध तथा जब जीव माया ग्रस्त होने पर बद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है, उस समय उसके लिये जो नियम निर्धारित किये जाते हैं उन्हे नैमित्तिक विधि–निषेध कहते हैं।

भक्ति क्षेत्रमें नित्य अवस्थामें जीवोंका प्रेम ही विधि है तथा प्रमाद ही निषेध है। भक्तिके अनुकूल भावसे कर्म, ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी विधि निषेधोंका पालन करते हुए जीवन यात्रा तय करना ही भगवदनुशीलनकी विधि है। भक्तिविमुख अथवा जिन जिन कर्मोंके करनेसे कृष्ण प्रीतिमें व्यवधान उत्पन्न होता हो, वे सभी कर्म निषिद्ध हैं।

साधकका कर्ममें ही लगे रहना नित्य साध्य नहीं है, यथा—

*तावत कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।*
*मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२०/९)

अर्थात् कर्मके विषयमें जितने प्रकारके विधि–निषेध हैं उनका पालन तभी तक करना चाहिए जब तक उनसे मिलनेवाले स्वर्ग आदि सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न न हो जाय। उनके प्रति उत्पन्न वैराग्य भी तभी तक क्रियाशील रहेगा जबतक कि मत्कथा अर्थात् मुझ श्रीकृष्णकी लीला कथाओंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय क्योंकि कृष्ण भक्ति सर्वथा निर्पेक्ष शुद्ध तत्त्व है, उसे न कर्म, न ज्ञान और न वैराग्यकी ही अपेक्षा है। जहाँ शुद्ध कृष्ण भक्ति होती है, वहाँ सत्कर्म, सत्ज्ञान और युक्त वैराग्य स्वंय आकर वास करने लगते हैं तथा वे भक्तिका पदाश्रय प्राप्त कर स्वंयको धन्य समझते हैं। यथा

*तस्यान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।*
*न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२०/३१)

अर्थात् 'मदात्मनः'—जो योगी मेरी भक्ति और मेरी लीलाकथाओंके चिन्तन मनन और स्मरणमें तल्लीन रहता है उसे न ज्ञानकी और न वैराग्यकी आवश्यकता रहती है। उसका सर्वहित (मेरे प्रेमकी प्राप्ति) मेरी भक्तिसे ही हो जाता है।

अतएव कृष्णनाम साधकोंको कर्म और ज्ञानके प्रति निष्ठावान नहीं होना चाहिए। अपितु उनका प्रयास एवं आग्रह तो स्थिर मन एवं निष्ठावान चित्तसे भगवान कृष्णकी लीला कथाओंका श्रवण, पठन, सत्संग, वृन्दावन वास, सदगुरुका पदाश्रय, एकादशीव्रत, नाम जपमें रहना चाहिए। भगवान श्रीकृष्णने स्वयं अपने प्रिय भक्त उद्धवको संकेत करते हुए कहा है कि—

*यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ*
*मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।*
*तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं*
*चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्।।*

(श्रीमद्भागवत ११/१४/२६)

अर्थात् मेरी लीला कथाओंके श्रवण करने से साधकका चित्त शुद्ध होने लगता है तथा उसे मेरी सूक्ष्म लीलाओंका दर्शन होने लगता है। क्योंकि बिना चित्तकी शुद्धिके दिव्य भाव व लीलाओंकी अनुभूति असंभव है। जिस प्रकार बारीक अक्षरोंको देखनेके

लिये अंजनका प्रयोग आवश्यक है उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक मेरी लीलाकथाओंका श्रवण चिन्तन तथा नाम जप आवश्यक है।

भक्ति मार्गमें उत्थानके लिये सोपान स्वरूप जिन जिन नियमोंका निर्धारण किया गया है उनका अनुपालन आवश्यक है, उसके अभावमें अनियमाग्रह दोष उत्पन्न हो जायेगा।

*स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।*
*सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरिव किङ्कराः।।*

(श्रीपद्मपुराण उत्तरखण्ड ४२ वां अध्याय)

अर्थात् श्रीकृष्ण नामका सदैव स्मरण करना ही प्रधान विधि है और उसका विस्मरण ही निषेध है।

भगवान श्रीकृष्णके अनुसार कृष्णनाम जप और लीला चिंतन ही सार है, साधक (उनके भक्तोंको) को कर्म, ज्ञान और आश्रम व्यवस्थाके फेरमें नहीं पड़ना चाहिए—यह तो साधारण जनोंके लिये ही विधेय है—

*ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।*
*सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।*

अर्थात् मेरा भक्त मोक्षकी अपेक्षा नहीं करता है और न ही वह आश्रम व्यवस्थाकी मर्यादासे बंधा रहता है। वह समस्त विधि निषेधोंसे ऊपर उठकर स्वछन्दरूपसे मेरा भजन करता है।

*न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।*
*साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२१/३६)

अर्थात् मेरे प्रेमी भक्तोंका पाप-पुण्यकी सीमाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता है क्योंकि उनका चित्त तो मेरे नाम स्मरण तथा लीला कथाओंके श्रवणसे समचित्त ही चुका होता है तथा मुझमें अनुराग पैदा हो जानेसे उनका मन और इन्द्रियाँ पाप कर्मोंकी ओर आकर्षित नहीं होती है। मैं सदैव उनके योग ( जो प्राप्त हो गया है) की रक्षा करता हूँ तथा जो प्राप्त नहीं हुआ है उसी प्रकार उसकी व्यवस्था करता हूँ।

❑

# प्रचार-प्रसंग

१६ जूनको परमाराध्यतम श्रील महाराजजी WASHINGTON से FLORIDA स्थित ALACHUA प्रान्तमें पधारे। संयुक्त राज्य अमेरिकामें श्रीचैतन्य महाप्रभुके मतका अवलम्बन करनेवाले भक्तोंकी संख्या इस क्षेत्रमें सर्वाधिक है। श्रील महाराजजीकी कृपादृष्टिमें यहाँ पाठ, कीर्तनादिका आयोजन, पूज्यपाद भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजके एक वरिष्ठ शिष्य श्रीमान जलाकर प्रभुके घरमें हुआ। चार दिनके इस भक्तिपूर्ण अनुष्ठानमें बड़ी संख्यामें भक्तोंने विभिन्न सेवाओंमें योगदान दिया। श्रील महाराजने यहाँ श्रीरायरामानन्द संवाद एवं श्रीउपदेशामृतकी सार शिक्षाओंका पाठ किया। १८ तारीखको श्रील महाराजजी सभी भक्तोंके साथ स्थानीय ईस्कान मन्दिरमे पूज्यपाद श्रीभक्तिवेदान्त स्वामी महाराजके प्रति अपनी श्रद्धापुष्पाजलि अर्पित करने गए।

अब तककी सर्वाधिक दीर्घकालीन प्रचार यात्राके अन्तिम चरणमें प्रवेश करते हुए श्रील महाराजजी MIAMI से होते हुए २२ जूनको GERMANY स्थित FRANKFURT हवाई हड्डेपर पधारे। यहाँ छहः दिनके कार्यक्रममें प्रथम तीन दिन पाठादिका अनुष्ठान HEIDELBERG में श्रीमान रामश्रद्धा प्रभुके निवास स्थानमें आयोजित किया गया। श्रील महाराजने उनके लिए श्रीश्रीराधारमण एवं श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द प्रभुके श्रीविग्रहोंकी सेवा प्रकाश की। अन्तिम तीन दिनका आयोजन BERLIN महानगरीमें श्रीमान सर्वभावना प्रभुके निवास स्थानमें आयोजित किया गया। दोनों ही स्थानोंमें बहुतसे नए भक्तोंके अतिरिक्त कुछ वरिष्ठ भक्त भी श्रील महाराजजीसे भेंट करने आए। GERMANY की प्रवचन शृंखलामें श्रील महाराजजीने श्रीमद्भागवतके विभिन्न रूचिपूर्ण उपाख्यानोंके माध्यमसे स्वरूपसिद्धा भक्ति, संगसिद्धा भक्ति, आरोपसिद्धा भक्ति इत्यादिका तत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया। २६ जूनको BERLIN में श्रीदास गोस्वामीका दही-चिढ़ा महोत्सव भी मनाया गया। इस अवसरपर श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीके आदर्शपूर्ण अप्राकृत चरित्रका स्मरण करते हुए उनके तीव्र वैराग्य और गम्भीर भजन युक्त शिक्षाओंकी चर्चा की गई। अपने उपदेशोंमें श्रील महाराजजीने बतलाया कि अप्राकृत ब्रजधाममें श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलकी अन्तरंग सेवा लाभ करनेके इच्छुक यथार्थ भक्ति साधकोंको विशेष आग्रह और सावधानी पूर्वक इन शिक्षाओं विशेषकर मनःशिक्षाको अपने जीवनमें आचरण करना चाहिए।

यहाँके स्थानीय दूरदर्शनके एक प्रसारणमें श्रील

महाराजजीके साथ एक भेंटवार्ता भी प्रस्तुत की गई। इस वार्तामें पुर्नजन्म तथा कर्मके सिद्धान्तों और 'भगवान एक ही है' आदि विचारोंपर चर्चा की गई। इस प्रकार GERMANY में सफल प्रचार कर श्रील महाराजजी २९ जूनको FRANCE के दक्षिण भागमें स्थित TOULOUSE महानगरमें पधारे। यहाँ ५ जुलाई तक आयोजित कार्यक्रममें श्रील महाराजजीने भक्तिके प्राणस्वरूप गुरुनिष्ठाकी विशेषरूपसे महिमा गान की। भक्तोंने एक दिन श्रीजगन्नाथ रथ यात्राका भी आयोजन किया तथा इस अवसर पर श्रील महाराजजीने जगन्नाथ देवके प्राकट्यके सम्बन्धमें तीन प्रसंगोंका सरस वर्णन किया।

यहाँकी प्रचार व्यवस्थाके लिए श्रीमान जयंतकृत प्रभुका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है।

६ जूनको श्रील महाराजजीने FRANCE से UNITED KINGDOM में शुभागमन किया। यहाँका कार्यक्रम WATFORD, BATH, BRISTOL और BIRMINGHAM में आयोजित किया गया। विशेष उत्साहके साथ भक्तोंने हरिकथा एवं कीर्तनमें योगदान दिया। एक दिन प्रातःके समय कीर्तन करते हुए प्रायः एक सौ भक्तोंके साथ श्रील महाराजजी स्थानीय ईस्कॉन मन्दिर (भक्तिवेदान्त मेनार) में पूज्यपाद श्रीभक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके प्रति अपनी श्रद्धा पुष्पांजलि अर्पित करने गए। इस अवसरपर श्रील महाराजजीने श्रीमान कृष्णदास ब्रह्मचारीको 'जे आनिल प्रेमधन करुणा प्रचुर' वैष्णव गीतिका गान करनेके लिए कहा। इस भावपूर्ण विरहात्मक गानके पश्चात् पूज्यपाद भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके साथ श्रील आचार्य केसरीके संबधो एवं उनके प्रति अपने अंतरङ्ग ऐतिहासिक सङ्गका स्मरण करते हुए हृदयस्पर्शी विवरण प्रस्तुत किया, जिसे श्रवण कर उपस्थित भक्तवृन्द भावविभोर हो उठे।

BBC रेडियोने भी श्रीलमहाराजजी एक भेंटवार्ताका प्रसारण किया। इस वार्तामें श्रील महाराजजीने भारतीय वैदिक ज्ञान एवं संस्कृति तथा सनातन धर्मका सुन्दर विश्लेषण किया।

इस प्रकार विश्व–प्रचार यात्राके अन्तिम चरणमें ITALY, GERMANY, FRANCE, ENGLAND आदि यूरोपीय देशोमें श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी वाणी और हरिनाम संकीर्तनका विपुल रूपमें प्रचार कर श्रील महाराजजी HOLAND से होते हुए २२ जुलाईको पुनः पुण्य–भूमी भारतवर्षकी राजधानी दिल्लीमें पधार रहे हैं।

## वैष्णव व्रत तालिका

| | | | |
|---|---|---|---|
| १६ श्रावण | २ अगस्त | सोमवार | श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामीका तिरोभाव। |
| १९ श्रावण | ५ अगस्त | गुरुवार | श्रीलोकनाथ गोस्वामीका तिरोभाव। |
| २१ श्रावण | ७ अगस्त | शनिवार | कामिका एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३२से पहले पारण। |
| २५ श्रावण | ११ अगस्त | बुधवार | अमावस्या। सूर्यग्रहण स्पर्श—अपराह्न ४–५१ बजे एवं मोक्ष ६–५०। कलकत्ता अंचलके लिए स्पर्श ५–०३ बजे सूर्यास्त ६–१० बजे तक। |
| ५ भाद्र | २२ अगस्त | रविवार | पवित्रारोपणी एकादशी व्रत, श्रीराधागोविन्दजीकी झूलनयात्रा प्रारम्भ, अगले दिन ८–१८ के पश्चात् ९–३२ से पहले पारण। |
| ६ भाद्र | २३ अगस्त | सोमवार | श्रील रूप गोस्वामीजीका तिरोभाव। |
| ९ भाद्र | २६ अगस्त | बृहस्पतिवार | श्रीबलदेव पूर्णिमा व्रत, झूलनोत्सव समाप्त, रक्षाबन्धन, अगले दिन ९–३१ से पहले पारण। |
| १७ भाद्र | ३ सितम्बर | शुक्रवार | श्रीकृष्णजन्माष्टमी व्रत, अगले दिन श्रीनन्दोत्सव, ९–३१ से पहले पारण। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।


वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
वि. सं. २०५६ श्रावण मास, सन् १९९९, २९ जुलाई—२६ अगस्त
{ संख्या ५


## स्वप्नविलासामृताष्टकम्

*[श्रील–विश्वनाथ–चक्रवर्ति–ठक्कुर–विरचित]*

*प्रिय! स्वप्ने दृष्टा सरिदिनसुतेवात्र पुलिनं यथा वृन्दारण्ये नटनपटवस्तत्र वहवः।*
*मृदंगाद्यं वाद्यं विविधमिह कश्चिद्द्विजमणिः स विद्युद्गौराङ्गः क्षिपति जगतीं प्रेमजलधौ।।१।।*
*कदाचित् कृष्णेति प्रलपति रुदन कर्हिचिदसौ क्व राधे! हा हेति श्वसिति पतति प्रोज्झति धृतिम्।*
*नटत्युल्लासेन क्वचिदपि गणैः स्वैः प्रणयभिस्तृणादिब्रह्मान्तं जगदतितरां रोदयति सः।।२।।*
*ततो बुद्धिर्भ्रान्ता मम समजनि प्रेक्ष्य किमहो! भवेत् सोऽयं कान्तः किमयमहमेवास्मि न परः।*
*अहञ्चेत् क्व प्रेयान्मम स किल चेत् क्वाहमिति मे भ्रमो भूयो भूयानभवदय निद्रां गतवती।।३।।*
*प्रियो! दृष्ट्वा तास्ताः कुतुकिनि! मया दर्शितचरी रमेशाद्यामुत्तीर्न खलु भवती विस्मयमगात्।*
*कथं विप्रो विस्मापयितुमशकत् स्वां तव कथं तथा भ्रान्ति धत्ते सहि भवति को हन्त! किमिदम्।।४।।*

*इति प्रोच्य प्रेष्ठां क्षणमथ परामृष्य रमणो हसन्नाकूतज्ञं व्यनुददध तं कौस्तुभमणिम्।।*
*तथा दीप्तं तेने सपदि स यथा दृष्टमिव तद्विलासानां लक्ष्मं स्थिर चरगणैः सर्वमभवत्।।५।।*
*विभाव्याथा प्रोचे प्रियतम! मया ज्ञातमखिलं तवाकूतं यत्त्वं स्मितमतनुथास्तत्त्वमसि सः।*
*स्फुटं यन्नावादीर्यदभिमतिरत्राप्यहमिति स्फुरन्ती मे तस्मादहमपि स एवेत्यनुमिमे।।६।।*
*यदप्यस्माकीनं रतिपदमिदं कौस्तुभमणिं प्रदीप्यात्रैवादीदृशदखिलजीवानपि भवान्।*
*स्वशक्त्याविर्भूय स्वमखिलविलासं प्रतिजनं निगद्य प्रेमाब्धौ पुनरपि तदाधास्यसि जगत्।।७।।*
*यदुक्तं गर्गेण व्रजपतिसमक्षं श्रुतिविदा भवेत् पीतो वर्णः क्वचिदपि तवैतन्न हि मृषा।*
*अतः स्वप्नः सत्यो मम च न तदा भ्रान्तिरभवत्त्वमेवासौ साक्षादिह यदनुभूतोऽसि तदृतम्।।८।।*
*पिबेद् यस्य स्वप्नामृतमिदमहो! चित्तमधुपः स सन्देहस्वप्नात्त्वरितमिह जागर्त्ति सुमतिः।*
*अवाप्तश्चैतन्यं प्रणयजलधौ खेलति यतो भृशं धत्ते तस्मिन्नतुलकरुणां कुञ्जनृपतिः।।९।।*

*अनुवाद—*

एक दिन जब कि रात बीत गयी थी, श्रीमती राधिकाजीने श्रीकृष्णसे कहा—प्रियतम! आज मैंने एक स्वप्न देखा है। क्या देखती हूँ कि किसी जगह यमुनाकी तरह एक नदी है, अर्थात् जिस प्रकार यह यमुना वृन्दावनको चारों ओरसे घेरे हुई है, उसी प्रकार वह नदी भी उस स्थानको चारों ओरसे घेरे हुई है। इस वृन्दावनमें जैसे पुलिन (पानीके भीतरसे हालकी निकली हुई जमीन) हैं, ठीक उसी प्रकारके पुलिन वहाँ पर भी हैं; इस वृन्दावनमें जैसे अधिकांश लोग नृत्य–कलामें पारदर्शी हैं, वहाँ भी यही बात देखी। यहाँ जैसे मृदंग आदि वाद्ययंत्र है, वहाँ भी ठीक इसी प्रकारके वाद्ययंत्र थे। यहाँ पर जैसे तुम और मैं हूँ, वहाँ पर भी इसी प्रकार एक द्विजवर (ब्राह्मणवर) को देखा। ऐसा जान पड़ता था कि बिजलीकी तरह गौर–कान्तिसे युक्त गौरांग विप्रवर इस ब्रह्माण्डको प्रेम–समुद्रमें सराबोर कर रहे हैं।।१।।

वे गौरांग कभी रोते–रोते 'हे कृष्ण!' उच्चारण कर (उच्च–स्वरसे) प्रलाप कर रहे हैं, कभी 'हा राधे! तुम कहाँ हो' कह कर दीर्घ निःश्वास छोड़ रहे हैं कभी पृथ्वीपर पछाड़ खाते हैं, कभी बड़े अधीर हो पड़ते हैं, कभी आनन्दके साथ नृत्य करते हैं, तो कभी अपने प्रणयीजनों (प्रियजनों) के निकट प्रलाप करते हैं, दीर्घनिःश्वास छोड़ते हैं भूमिपर पछाड़ खाते हैं, अचेतन हो पड़ते हैं, नृत्य करते हैं और रोदन करते हैं। अपने इन आचरणोंसे वे तृण आदि ब्रह्मलोक तक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अत्यन्त क्रन्दन करा रहे हैं।।२।।

इस विचित्र व्यापारको देखकर मेरी बुद्धि भ्रान्त हो गयी। उनको 'हे राधे! तुम कहाँ हो' इस प्रकारसे अपना नाम लेते देखकर मैं सोचने लगी कि यह पुरुष मेरे प्राण–वल्लभ श्रीकृष्ण तो नहीं हैं? यदि यह सत्य है, तो मैं कहाँ हूँ? इसी प्रकार 'हे कृष्ण! तुम कहाँ हो' इत्यादि प्रलापोंको सुनकर पुनः सोचने लगी कि यह विप्र मैं ही हूँ? वह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। यदि मैं ही विप्र हूँ तब मेरे प्रियतम माधव कहाँ हैं? इस प्रकार मुझे बार–बार भ्रम होने लगा; अनन्तर मेरी आँखें लग गयीं।।३।।

इस प्रकार श्रीमती राधिकाका स्वप्न–वृतांत सुनकर श्रीकृष्णने कहा—प्रिये! मैंने तुमको अनन्तशायी नारायण आदि अपनी अनेक मूर्तियोंका दर्शन कराया है और उनको देखकर तुम कभी भी विस्मित नहीं हुई, परन्तु अब उस ब्राह्मणको देखकर तुम क्यों विस्मित हो रही हो? कुतुकिनी तुम्हारा चित्त क्यों भ्रान्त हो रहा है? बड़े आश्चर्यकी बात है। वह विप्र कौन है?।।४।।

[तात्पर्य यह कि कृष्णकी उक्ति एक पूर्व घटनाको इंगित कर रही है। एक दिनकी बात है। श्रीमती राधा और श्रीकृष्ण वृन्दावनके एक सघन कुंजमें बैठकर प्रेमालाप कर रहे थे। बात-ही-बातमें श्रीमतीजी श्रीकृष्णसे बोलीं—माधव नारायण-मूर्ति और रघुनाथ-मूर्ति देखनेकी बड़ी लालसा हो रही है। अतः तुम इन दोनों रूपोंको अभी दिखलाओ। प्रियाजीके इस प्रकार कौतुकपूर्ण वचनोंको सुनकर श्रीकृष्णने उन्हें उन मूर्तियोंका दर्शन कराया था। काम्यवनमें वह शेषशायी नारायणमूर्ति आज भी विद्यमान है। दूसरे एक दिन श्रीमती राधिकाजी परस्पर वार्तालापके प्रसंगमें पुनः बोलीं—'प्रियतम! स्त्रियाँ पुरुषोंके मनोभावको लक्ष्यकर उनके हृद्गत सुखानुभूतिको जान लेनेमें जैसी पटु होती हैं, वैसे पुरुष स्त्रियोंके मनके भावोंको नहीं समझ सकते।' कृष्णने उत्तर दिया—'प्रिये! बात तो ठीक है परन्तु मेरे सम्बन्धमें यह बात ठीक नहीं है। मैं एक दूसरी मूर्तिमें अनुभव करता हूँ। श्रीमतीने कहा—'तुम झूठ बोल रहे हो।' कृष्णने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—'मैं सच कहता हूँ।' श्रीमती राधिकाकी बात सुनकर श्रीकृष्णने स्वप्नमें अपने गौरांगस्वरूपका दर्शन कराया था।।४।।]

श्रीकृष्णने राधिकासे पूर्वोक्त परिहासमय वचनोंको कहकर क्षण भर चिन्ताकर मुस्कराते हुए अपनी कौस्तुभ-मणिका संचालन किया। कौस्तुम मणिका संचालन करना था, ठीक उसी प्रकारसे स्थावर-जंगमके साथ उनके विलासके सारे चिह्न दीखने लगे।।५।।

उस समय श्रीराधिकाजीने प्रदीप्त कौस्तुभमणिके प्रभावसे जाग्रत अवस्थामें भी उस दृश्यको देखा, जिसे उन्होंने स्वप्नावस्थामें देखा था। ऐसा देखकर वे सोचने लगीं-'अहा! मेरे प्राणनाथ इतने चतुर हैं जिसकी सीमा नहीं।' पश्चात् सोच विचार कर बोलीं—'प्रियतम! मैं तुम्हारा अभिप्राय समझ गयी। मैंने स्वप्नमें जिस विप्रवरको देखा है, वे विप्रवर गौरांग साक्षात् तुम ही हो; क्योंकि तुम्हारे ईषत् हास्यसे यह प्रकाश हो गया कि वे गौरांग तुम्हीं हो—तुममें ऐसा अभिमान है। परन्तु तुमने मेरे निकट स्पष्टरूपसे कुछ भी प्रकाशित नहीं किया है, इसलिये मेरे शरीरमें भी ऐसा अभिमान स्फुरित हो रहा है कि मैं भी गौरांग हूँ। दोनोंका इस प्रकार अभिमान होनेके कारण ऐसा लगता है कि तुम और मैं दोनों मिलकर ही गौरांगरूप हुए हैं।।६।।

'प्रियतम! तुमने इस कौस्तुभमणिको प्रदीप्तकर इस मणिमें ही हमलोगोंके रतिपद अर्थात् रतिके स्थानको बार-बार दिखलाया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम स्वयं ही अपनी शक्तियोंके साथ आविर्भूत होकर अपनेको और अपनी निखिल लीलाको प्रत्येक जीवके निकट व्यक्तकर पुनः इस चराचर जगत्को प्रेम-सागरमें निमग्न करोगे।'।७।।

श्रीमतीजी पुनः बोलीं—'प्रियतम! मैंने सुना है कि तुम्हारे नामकरणके समय वेदज्ञ गर्गाचार्य महाशयने श्रीव्रजपति नन्द महाराजको बतलाया था कि हे नन्द! तुम्हारा पुत्र कभी शुक्लवर्ण और रक्तवर्ण धारण किया था; अब वही कृष्णवर्ण हुआ है तथा फिर किसी युगमें पीतवर्ण भी धारण करेगा। मेरी यह बात कभी झूठी नहीं हो सकती। अतएव मेरा स्वप्न सत्य है—इस विषयमें मुझे कोई भ्रम (संदेह) नहीं है। इस गौरांगमें साक्षात् तुम ही अनुभव किये जा रहे हो, यह भी सत्य है।'।८।।

जिनका चित्त-भ्रमर इस विचित्र स्वप्नामृत अर्थात् स्वप्नविलासामृतका पान करेगा, वे बुद्धिमान व्यक्ति शीघ्र ही इस संदेह-स्वप्नसे जग जायेंगे। अर्थात् नन्दनन्दन कृष्ण ही श्रीशचीनन्दन गौर हैं या नहीं—इस सन्देह-निद्रासे जग जायेंगें और श्रीचैतन्यको प्राप्तकर प्रेम-सागरमें विहार करेंगे; क्योंकि वे कुञ्जविहारी श्रीकृष्ण उनके प्रति असीम करुणामय होते हैं अर्थात् वे श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रियपात्र हो जाते हैं।।९।।

❑

# संत (सज्जन) के लक्षण

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

सम (४)

### समता किसे कहते हैं? शक्ति परिणत नश्वर वस्तुएँ विषम हैं

दो वस्तुएँ होनेपर उनको 'सम' कहा जाता है। और उनमें परस्पर पार्थक्य विद्यमान रहने पर उनको विषम कहा जाता है। कृष्णेतर जड़ीय वस्तुओंमें नामका भेद रहने पर, रूपका भेद रहने पर, गुणका भेद रहने पर एवं क्रियाका भेद रहने पर उन वस्तुओंको सम नहीं कहा जाता है। इसलिये जड़–जगत्में परिदृश्यमान वस्तु या ज्ञानाधिकृत विषयसमूह विषम या ऊँच–नीच गुणविशिष्ट हैं। विषम वस्तुओंमें परस्पर भेद दिखलाई पड़ता है, परन्तु स्वरूपतः उनमें एकत्व विद्यमान रहनेके कारण संतजन बहिरंगा शक्ति–परिणत जड़ीय विषय वस्तुओंमें समता दर्शन करते हैं अर्थात् बहिरंगा शक्तिजात सम वस्तु ही जानते हैं। पुनः बहिरंगा शक्तिजात प्रतीति नहीं रहने पर अर्थात् अप्राकृत दर्शनमें वे वैसी विचित्रताको अप्राकृत साम्य या अन्वय जानते हैं। किन्तु अभेदवादी जड़ीय भेदके पंजेसे मुक्त होनेके लिये विचित्रताका लोप कराकर वस्तुकी अद्वयताकी प्रशंसा करते हैं। संतजन अभेदवादी न होनेपर भी एकत्व विनाशी विरोधवादका पोषण नहीं करते हैं। अतएव शक्ति–परिणामवादमें ही विश्वास करते हैं। अतएव शक्ति–परिणत नश्वर–वस्तुएँ गुण द्वारा परिचित हैं तथा भगवान्की बहिरंगा शक्ति द्वारा परस्पर विषम या विभिन्ना हैं।

### केवल वैष्णव ही समदर्शी हैं,

प्राकृत सृष्टिके अन्तर्गत वस्तुओंमें भेद–प्रतीति प्रबल होनेपर भी सज्जनवृन्द उनमें स्वरूपगत साम्य दर्शन करते हैं। विचित्रता या विलास एकमात्र जड़की ही सम्पत्ति है, एवं ऐसी विचित्रता या विलास जड़ातीत नित्य अप्राकृत राज्यमें कदापि संभव नहीं है—मायावादियोंका यह काल्पनिक मतवाद सज्जनगण स्वीकार नहीं करते। परन्तु वे अप्राकृत महाजनोंके इस विचारसे सहमत हैं कि नित्य जगत्में शक्ति–वैचित्र्य अवश्य ही विद्यमान है। अप्राकृत महाजनोंके साथ सज्जन पुरुषोंकी समता है; अतएव वैष्णव ही एकमात्र समदर्शी हैं।

### विषय और आश्रयगत सत्ताभेद विशिष्ट होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान एक या सम हैं

विषमदर्शी मायावादियोंका कहना है—शक्ति–परिणत जगत् मिथ्या है। 'शक्ति–परिणत' और 'माया' शब्दोंमें कोई अन्तर नहीं है। भगवान और उनकी स्वरूपशक्तिका परस्पर परिचयगत भेद मिथ्या है। शक्ति और शक्तिमानमें परिचयगत पार्थक्य स्वीकार करनेसे द्वैतभाव पैदा हो जाता है; ऐसी दशामें समदर्शन कैसे संभव है? परन्तु सज्जन पुरुषोंका कथन यह है, कि शक्ति और शक्तिमान अविच्छिन्न वस्तु होनेपर भी तथा विषय और आश्रयगत सत्ताभेद–विशिष्ट होनेपर भी एक या सम हैं। शक्तिमान् एक वस्तु हैं; उनकी नित्य शक्तियोंमें सजातीय, विजातीय और स्वगत शक्तिका भेद वर्तमान है। वस्तु अभिन्न होनेपर भी, शक्तिमान है, निःशक्तिक नहीं। वे परस्पर विरुद्ध शक्तियोंके आश्रय हैं।

### जगत्की समस्त वस्तुएँ भगवत्सेवाके उपकरण हैं

बहिरंगा मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ, जीव

शक्ति परिणत जीवोंसे शक्तिविचारसे भिन्न होनेपर भी सेवोन्मुख शुद्ध जीवोंके निकट हरि-सेवामें सहायक हैं; इसलिये सज्जन पुरुष उनको भी विषम नहीं दर्शन करते हैं। सेवोन्मुख शुद्धजीव निन्दा और प्रतिष्ठा दोनोंमें सम एवं प्रसन्न रहते हैं तथा अभावजन्य कभी भी शोक नहीं करते। वे आकांक्षा नहीं करते तथा प्राणिमात्रके प्रति समदर्शी होकर पराशक्ति प्राप्त करते हैं। वे दूसरोंके स्वभाव और कर्मोंकी न तो निन्दा करते हैं और न प्रशंसा ही। वे सर्दी और गर्मीकी तीव्रताको समभावसे दर्शन करते हैं। वे विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण और नीच चण्डालमें समदृष्टि युक्त होते हैं, परम पवित्र गाय और अस्पृश्य कुत्तेके प्रति समदर्शी होते हैं; क्षुद्र चींटी और वृहत् हाथी-दोनोंके प्रति समदर्शी होना उनका धर्म है। शक्तिके तारतम्यके कारण वस्तु-स्वरूपमें वैषम्य दर्शनकी आवश्यकता नहीं होती। ब्राह्मण और चंडालमें, कुत्ता और गायमें, गाय और हाथीमें मायिक भेद दिखलाई पड़ने पर भी वे सबमें स्वरूपतः हरि-दास दर्शन करते हैं। प्राकृत आसक्ति संतोंके ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकती है। वे अनासक्त भावसे उन समस्त वस्तुओंको भगवत् सम्बन्धी जानकर उनमें वैषम्यका आरोप नहीं करते। उन सबको वे अपने आराध्य श्रीकृष्णकी सेवामें सहायक समझते हैं।

### *कृष्णोन्मुख जीवोंके प्रति दया और हरि-विरोधियोंका दुःसंग-त्याग ही समदर्शन है*

मायाकी दासता किंचित् परिमाणमें शिथिल होनेपर जिस समय जीव कृष्णके प्रति उन्मुख होते हैं, उस समय हरिमें प्रेम, हरिसेवकोंसे बन्धुत्व, कृष्णके प्रति उन्मुख जीवोंके प्रति दयाभाव और हरि-विरोधीजनोंका दुःसंग त्याग करके ही वे समदर्शी होते हैं। इस मध्यमाधिकारमें यदि वे कपटतावश अपने समदर्शित्वका भाव दिखलाने जाकर बालिशों अर्थात् अज्ञोंके प्रति दयाके बदले समबुद्धि करते हैं, तो उससे साधुके समदर्शन विचारके अनुसार कलंक उपस्थित होता है। यदि वे भगवद्भक्तोंको कृष्ण-विद्वेषिजनोंके समान मानते हैं, तो उससे उनकी हरि-विमुखता और भी वुद्धि प्राप्ति होती है।

हरि-सम्बन्धी वस्तुओंको यदि कोई प्रापञ्चिक समझकर उनका संग त्याग करे तो ऐसा होनेसे उस व्यक्तिकी 'समता' दूर हो जाती है। समताके विचारसे अपने अधिकारका उलंघन करनेसे कोई सुफल नहीं प्राप्त होता। बल्कि उल्टे फल्गु वैराग्यरूप प्रतिष्ठा-उपस्थित होकर उनकी समताको नष्ट कर देती है।

असाधु व्यक्ति समताके विचारके अनुसार बह्मा और रुद्र आदि देवताओंको विष्णुके समान मानते हैं; परन्तु समदर्शी वैष्णवगण उनके इस कल्पित विचारका अनुमोदन नहीं करते। प्राकृत जगत्की अनित्य कालोत्पन्न ऊँच-नीच अवस्थाएँ कभी भी नित्य अवस्थाओंके समान सम नहीं है। परन्तु कृष्णके लिये अखिल-चेष्टामय साधुजन जड़ीय वस्तुओंको अपना भोग्य समझनेके बदले कृष्णसेवाके उपकरणके रूपमें दर्शन करते हैं। यही अप्राकृत दर्शन है।

काम-क्रोध आदि जड़ जगत्के नित्य संगीजन वस्तुका वैषम्य विचार करने जाकर उनका स्वरूप दर्शन करके नाना प्रकारके अनर्थोंकी सृष्टि करते हैं; परन्तु पारमार्थिक सज्जन पुरुष अपने कामको कृष्णकी सेवामें, क्रोधको भक्त-विद्वेषियोंके प्रति और लोभको सत्संगमें कृष्ण-कथा श्रवणमें, मस्तकको भगवानके गुणानुवादमें, मूढ़ताको इष्ट प्राप्तिके अतिरिक्त विषयोंमें नियुक्त करते हैं। विषमदर्शी हरि-विमुखजन इन चेष्टाओंको वैष्णव समदर्शिताका विरोधी समझकर अपना सर्वनाश करते हैं। सज्जन पुरुषोंका अपने शत्रुओंके प्रति वैषम्य भाव नहीं होता, वे निरन्तर समतायुक्त समदर्शी होते हैं। ❑

# कृष्णदास्य कैसे प्राप्त हो?

— ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

### सत्सङ्गका महत्व

बद्धजीव त्रिगुणमयी माया द्वारा मोहित होकर कृष्णदास्यको भूल जाता है और अविद्यामय संसारमें बार–बार जन्मता और मरता रहता है। उसका यह चक्कर तबतक चलता रहता है, जब तक वह अपने वास्तविक स्वरूप कृष्णदास्यको प्राप्त नहीं कर लेता। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब कि उसे सत्संग प्राप्त हो। जीवको जबतक सत्संग नहीं प्राप्त होता, तबतक वह काम–क्रोध आदिके अधीन हुआ आध्यात्मिक आदि त्रितापकी ज्वालासे दग्ध होता रहता है। चैतन्यचरितामृतमें सत्सङ्गको भक्तिका उद्‌गम स्थान बतलया गया है—

*कृष्णभक्ति जन्ममूल हय साधुसङ्ग।*
*कृष्ण–प्रेम जन्मे तिहों पुनः मुख्य अङ्ग।।*

### श्रीनाम सर्वश्रेष्ठ साधन है एवं नाम और नामी अभिन्न हैं—

सत्सङ्ग मिलने पर जीव श्रीहरिनाम ग्रहण करते हैं। श्रीनाम समस्त साधनोंका सार है। नाम रसका आस्वादन करनेके लिये हमारे प्राण–सर्वस्व श्रीमन्महाप्रभु जगदाचार्यके रूपमें अवतीर्ण हुए थे तथा अपने परिधान–वस्त्र पीताम्बर जैसी राधाकान्ति ग्रहण कर "नाम ही एकमात्र उपाय है, नाम ही एक मात्र उपाय है"—यह शिक्षा देकर उन्होंने जीवको कृष्णदास्यको ओर आकर्षित किया है। नामभजनकारी व्यक्ति नामके जो अनुकूल हो उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करेंगे।

### अपराध–शून्य नामद्वारा प्रेमकी प्राप्ति

नामके प्रतिकूल भाव अपराध कहलाते हैं। नामापराधका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। कृष्ण ही मेरे एकमात्र रक्षक और पालक हैं—इस अनन्य भावको दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जबतक स्वरूपभ्रमरूप अनर्थ दूर नहीं हो जाता है, साधक तबतक भजनके योग्य नहीं होता। स्व–स्वरूपका बोध होनेपर सम्बन्ध ज्ञानका उदय होता है। क्रमशः अभिधेय रूपसे भजन करते–करते प्रयोजन रूप प्रेमधनकी प्राप्ति होती है।

### सद्‌गुरुके विना कृष्णदास्य प्राप्त होना असम्भव है

सद्‌गुरुका आश्रयकर सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन–इन तीन तत्त्वोंका ज्ञान लाभ किये बिना यथार्थ कृष्णदास्य प्राप्त करना कठिन ही नहीं असंभव है। जो लोग एकान्त मनसे कृष्णदास्यको प्राप्त करना चाहते हैं, करुणामय भगवान् उनकी मनोभिलाषा अवश्य ही पूर्ण करते हैं।

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं।*
*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।*

### षड्‌रिपुओंका सद्‌व्यवहार

जो लोग भक्त होना चाहते हैं, उनको श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा बतलाये मार्गका अनुसरणकर भजन करना चाहिए। ऐसा होनेपर शीघ्र ही सर्व–सिद्धियाँ प्राप्त हो जायेंगी। पहलेके दुष्ट भाव, काम, क्रोध आदि सभी वशीभूत हो जायेंगे। ऐसी दशामें भक्त कर्मको कृष्णसेवामें, क्रोधको नामापराधके प्रति, लोभको साधु सङ्गमें कृष्णलीलाके आस्वादनमें, मोहको श्रीकृष्णके माधुर्यमें, दंभको—मैं जैसे भी हो अखिल विश्वको एक तरफ रखकर सत्सङ्गमें कृष्ण–भजन करूँगा ही करूँगा—ऐसी दृढ़तामें लगाकर कृष्णभजनमें तत्परतासे लग जाते हैं।

### *नामानन्दसिन्धुके सामने ब्रह्मानंद एक बूँदके समान*

वास्तवमें जीवके लिये कृष्णभजनसे ऊँचा और कोई भी सुख नहीं है। कृष्णनामानन्दमें कितना सुख है—यह वही समझ सकता है, जो इसे पा चुका है। नामानन्द-सिन्धुकी तुलनामें ब्रह्मानन्द एक बूँद जलके समान अतीव क्षुद्र है। निरपराध होकर कृष्णनाम करनेसे उस रससिन्धुका आस्वादन किया जा सकता है। नामरससिन्धुके समीप कर्मयोग एक अन्धकूपके समान है। समस्त प्रकारकी उपासनाओंका परित्याग कर अनन्य भावसे नाम-भजनमें तत्पर यथार्थ संतोंका सङ्ग संसारमें सबसे दुर्लभ है। जिसे यह प्राप्त हो गया उसके लिये कृष्ण-प्रेम अतीव सुलभ हो जाता है।

निरपराध होकर कृष्णनाम ग्रहण करनेसे कृष्णप्रेम अवश्य ही प्राप्त होता है। श्रीमन्महाप्रभु और उनके भक्त महाजनोंकी बातों पर विश्वास करना ही धर्म है। कुछ दिनों तक अनन्य भावसे भजन किये बिना ही प्रेम-धन पानेकी आशामें धैर्य छोड़ देनेसे नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ पड़नी आरम्भ हो जाती हैं। बुद्धिमान व्यक्ति निराश नहीं होते। वे तब तक दृढ़तापूर्वक कृष्ण-भजनमें लगे रहते हैं, जब तक उन्हें कृष्ण-प्रेम प्राप्त नहीं हो जाता। साधनमें परिपक्वता होने पर क्रमशः उन्नति होती है और अंतमें प्रेम-धन पाया जाता है—श्रीमन्महाप्रभुकी यही आज्ञा और शिक्षा है। ❑

# *मुंडेररहित छतसे पतंग उड़ाना*

एक निर्बोध बालक मुंडेर रहित छतके ऊपरसे पतंग उड़ा रहा था। पतंग उड़ानेमें वह इतना बेसुध हो गया था कि उसे दिशाका भी ज्ञान नहीं रहा। उसके साथी भी उसे ताली बजाकर बहुत उत्साह दे रहे थे। उस बालकको यह भी ज्ञान नहीं रहा कि मेरा एक पैर छतसे बाहर आ गया है। वह पतंग उड़ानेकी उन्मत्ततामें यह समझ नहीं पा रहा था कि एक क्षण बाद ही वह छतसे गिर पड़ेगा और मर जायेगा। इस बातको उसके मित्र भी नहीं समझा रहे थे। बल्कि अन्यान्य बालक उसे पतंग उड़ानेके लिए उत्साहित कर रहे था। कोई सतर्क नहीं कर रहा था।

बालकके भाग्यक्रमसे मार्गमें एक बुद्धिमान व्यक्ति जा रहा था। उसने देखा कि बालक तो पतंग उड़ानेमें इतना मस्त है कि उसे अपने भविष्यका होश नहीं। यह तो मृत्युके गालमें पड़ने ही वाला है। वह व्यक्ति सीधा छत पर गया और बालकको जबरदस्ती पकड़कर छतसे उतारा। उसकी पतंगकी डोर भी तोड़ डाली। उस पर उसके सगे-सम्बन्धी बहुत क्रोधित हुए। उसको न सुनने योग्य चोर, डाकू, गुण्डा, बदमाश आदि बहुत-सी गालियाँ भी दीं। बच्चेके माता-पिता उस पर मुकदमा चलानेको तैयार हो गये। नौबत यहाँ तक आ गई कि उसे मारनेको भी तैयार हो गये। समस्त बातोंको सहन करके उस भद्र व्यक्तिने बालकके प्राणोंकी रक्षा की।

जगत्के लोक प्रेयः अर्थात् जो अपाततः मधुर है, उसके प्रति प्रमत्त होकर मृत्युको वरण करते हैं। आपाततः तिक्त होनेपर भी जो श्रेयः अर्थात् परिणाममें मधुर है, उसे बिल्कुल ही ग्रहण करना नहीं चाहते हैं। जगतके बन्धुवर्ग भी हमलोगोंको मृत्यु पथका पथिक बनानेके लिए आपाततः प्रीतिप्रद कार्यके प्रति ही उत्साहित करते हैं। उस समय भाग्यक्रमसे यदि कोई परदुःखदुःखी साधु आ जाए तब वे अपनी कृपासे हमारी इच्छा न होनेपर भी हमें कड़वे औषधका सेवन कराते हैं अर्थात् कठोर सत्यकथा श्रवण कराते हैं। अतएव साधुओंके उपदेश अपात-अप्रिय, तिक्त, मर्मभेदी होनेपर भी उसे ग्रहण करनेसे ही हमारा नित्य मङ्गल हो सकता है। ❑

# श्रीनाम और श्रीनामभजनकी प्रणाली

(पूर्व प्रकाशित वर्ष ४३ संख्या ३, पृष्ठ ९० से आगे)

### *साधक और सिद्ध*

नाम ग्रहणकारी दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध। इनमें साधक भी दो प्रकारके होते हैं—प्राथमिक साधक और प्रात्यहिक साधक। प्राथमिक साधक नामकी संख्याको बढ़ाते-बढ़ाते क्रमशः ऐसी अवस्थामें पहुँच जाते हैं, जिस अवस्थामें उनका निरन्तर नाम होने लगता है। निरन्तर नाम होने लगने पर वे प्रात्यहिक साधककी श्रेणीमें पहुँच जाते हैं। प्राथमिक साधकोंको नाम ग्रहणमें रुचि नहीं होती। परन्तु तुलसीमाला पर संख्यापूर्वक नामकी संख्या बढ़ाते-बढ़ाते निरन्तर नाम होने लगने पर अर्थात् प्रात्यहिक अवस्थामें पहुँचने पर नाम लेनेमें कुछ-कुछ रुचि उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्थामें नामोच्चारण बन्द करना अच्छा नहीं लगता। ऐसी अवस्था उपस्थित होनेपर आदरपूर्वक कुछ दिनों तक निरन्तर नाम करते-करते नाममें परम आस्वाद पैदा होता है और पाप, पापबीज (पापकी वासना) और इनकी जड़ अविद्या—सब कुछ स्वयं दूर हो जाता है। प्राथमिक अवस्थामें निरपराध होकर अर्थात् ऊपर बतलाये गये १० प्रकारके अपराधोंसे बचकर नाम करनेकी चेष्टा और नाम भजनमें आग्रहका होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु यह तभी हो सकता है, जब साधक कुसंगसे दूर रहे और सत्संगमें सुशिक्षा करता रहे। प्राथमिक अवस्था बीत जाने पर तैल-धारावत् निरन्तर नाम करते-करते स्वभावतः ही नाममें रुचि और जीवोंके प्रति दयाका भाव बढ़ने लगता है। इस विषयमें कर्म, ज्ञान या योग आदिकी सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ ही दिनोंमें धीरे-धीरे चित्तशुद्धि और अविद्यानाशका कार्य भी आरम्भ हो जाता है। अविद्या जितनी ही अधिक नष्ट होती है, युक्त वैराग्य और सम्बन्ध ज्ञान उपस्थित होकर उसी परिमाणमें चित्तको निर्मल करते जाते हैं। पण्डित-मण्डलीमें बार-बार इस तथ्यका सफल परीक्षण हुआ है।

### *सम्बन्ध ज्ञान*

ऊपरमें सम्बन्ध-ज्ञानसे युक्त होकर नाम ग्रहणकी विधि दी गयी है। अतः सम्बन्ध-ज्ञान किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है। संक्षेपमें सम्बन्ध ज्ञान यह है—परतत्त्व वस्तु क्या है? जीव तत्त्व क्या है? माया तत्त्व क्या है? और इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है?—इसे जाननेका नाम सम्बन्ध-ज्ञान है। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन मुरलीवदन श्रीकृष्ण ही परतत्त्व वस्तु स्वयं-भगवान हैं। भगवान्की त्रिविध शक्तियोंमेंसे जीवशक्ति या तटस्था शक्ति द्वारा प्रकाशित जीव विभिन्नांश तत्त्व है। विभिन्नांश तत्त्व जीव स्वरूपतः कृष्णदास होता है। भगवान् चित् पदार्थ हैं, जीव भी चित् पदार्थ है, अतः चित् वस्तु होनेसे दोनोंको अभेद कहा जाता है; पुनः भगवान् पूर्ण चिद्वस्तु हैं, जीव अणु चिद्वस्तु है; भगवान् प्रभु हैं, जीव भगवान्का नित्यदास है; भगवान् मायाके पति हैं, जीव किसी अवस्थामें मायाके अधीन हो सकता है, क्योंकि वह तटस्था-धर्मवशतः स्वरूपसे चिन्मय होनेपर भी अणु या क्षुद्र होनेके कारण मायाके वशमें आने योग्य होता है। इन दृष्टियोंसे भगवान् और जीवमें नित्य भेद है। परन्तु उक्त भेद और अभेद मानव-बुद्धिसे अतीत होनेसे यह सर्वदेशीय वैदिक सिद्धान्त 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहलाता है। कृष्ण-विमुख बद्धजीव माया निर्मित इस जड़ जगत्में पूर्व सुकृतियोंके प्रभावसे सौभाग्यवश साधुसंग प्राप्त करता है। उक्त साधुसंगमें वह भगवान, जीव और

मायाशक्तिका वास्तव तत्त्व-ज्ञान तथा उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है—यह सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त होकर भगवद्भजन द्वारा पुनः कृष्ण-दास्य अर्थात् कृष्ण प्रेम-रूप अपने स्वरूप-धर्मको प्राप्त करता है।

### *नामका स्वरूपार्थ और रोते-रोते उनके निकट प्रार्थना*

नाम ग्रहण करनेके समय नामका स्वरूप-अर्थ आदरपूर्वक चिन्तन करते करते कृष्णके निकट रोते-रोते प्रार्थना करनी चाहिए। इससे कृष्णकी कृपासे क्रमशः भजनमें उन्नति होती है। ऐसा नहीं करनेसे कर्मी और ज्ञानियोंकी तरह साधन करते-करते अनेक जन्म बीत जाते हैं, फिर भी जैसा फल होना चाहिए, वैसा नहीं पाते। श्रीगोपाल गुरु गोस्वामीने प्राथमिक साधकों और सिद्धोंके उपयोगी नामके पृथक्-पृथक् दो प्रकारके स्वरूपार्थ लिखे हैं। पहले प्राथमिक साधक अपने चित्तकी शुद्धिके लिए इस प्रकारसे प्रार्थना करते हुए नाम करेंगे—

१. हे हरे — मरे चित्तको हरण कर मेरा संसार बन्धन खोल दीजिए।

२. हे कृष्ण — मेरे चित्तको अपनी ओर आकर्षित कीजिए।

३. हे हरे — अपनी माधुरीसे मेरे चित्तका हरण कीजिए।

४. हे कृष्ण —अपने भक्तजनोंद्वारा मुझे भजन सम्बन्धी ज्ञान प्रदान कर मेरे चित्तका शोधन कीजिए।

५. हे कृष्ण — अपने नाम रूप-गुण लीला-कथाओंमें मेरी निष्ठा पैदा करें।

६. हे कृष्ण — आपमें मेरी रुचि हो।

७. हे हरे — मुझे अपनी सेवाके योग्य बना लें।

८. हे हरे — अपनी सेवाकी आज्ञा दीजिए।

९. हे हरे — अपने प्रियजनोंके साथ मुझे भी अभीष्ट लीला-कथाओंका श्रवण कराइये।

१०. हे राम — प्रिया सहित अपनी अभीष्ट लीला-कथाओंका श्रवण कराइये।

११. हे हरे — अपने प्रियजनोंके साथ अपनी प्रिय लीलाका मुझे दर्शन कराइये।

१२. हे राम — प्रिया सहित अपनी अभीष्ट लीलाका दर्शन कराईये।

१३. हे राम — अपने नाम, रूप, गुण और लीला कथाओंके स्मरणमें मुझे नियुक्त कीजिए।

१४. हे राम — मुझे अपनी सेवाकी योग्यता प्रदान कीजिए।

१५. हे हरे — मुझे स्वीकार कर रमण कीजिए।

१६. हे हरे — मेरे साथ रमण कीजिए।

निष्किंचन रसिक भक्त (सिद्ध) जन 'हरे कृष्ण' नाम निम्नलिखित भावके साथ आस्वादन करेंगे—

हे हरे माधुर्य गुणे, हरिले जे नेत्र मने,
मोहन मूरति दरसाई।
हे कृष्ण आनन्द धाम, महा आकर्षण ठाम,
तुया बिने देखिते ना पाई।।
हे हरे धरम हरि, गुरु भय आदि करि,
कुलेर धरम कैले दूर।
हे कृष्ण वंशीर स्वरे, आकर्षिया आनि बले,
देह-गेह-स्मृति कैला दूर।।
हे कृष्ण कर्षिता आमि, कञ्चुलि कर्षह तुमि,
ता देखि चमक मोहे लागे।
हे कृष्ण विविध छले, उरज कर्षह बले,
स्थिर नहे अति अनुरागे।।
हे हरे आमारे हरि, लैया पुष्पपल्लोपरि,
विलासेर लालसे काकुति।
हे हरे गोपत वस्त्र, हरियसे क्षणमात्र,
व्यक्त कर मनेर आकुति।।
हे हरे वसन हर, ताहाते जेमन कर,
अन्तरेर हार मत बाँधा।
हे राम रमन अंग, नाना वैदग्धि रंग,
प्रकाशि पूरह निज साधा।।
हे हरे हरिते बलि, नाहि हेन कुतूहलि,

सबार से वाक्य ना राखिला।
हे राम रमणरत, ताहे प्रकटिया कत,
कि रस आवेशे भासाइला।।
हे राम रमणश्रेष्ठ, मन रमणीय श्रेष्ठ,
तुया सूखे आपनि ना जानि।
हे राम रमण भागे, भाविते मरमे जागे,
से रस मूरति तनुखानि।।
हे हरे हरण तोर, ताहार नाहिक ओर,
चेतन हरिया कर भोर।
हे हरे आमार लक्ष्य, हर सिंह प्राय दक्ष,
तोमा बिना केह नाहि मोर।।
तुमि से आमार ज्ञान, तोमा बिना नाहि आन,
क्षणेके कलप शत जाय।
से तुमि अनत गिया, रह उदासीन हैया,
कह देखि कि करि उपाय।।
उहे घनश्याम, केवल रसेर धाम,
कैसे रहूँ करि मन झूरे।
चैतन्य वेलय जाय, हेन अनुराग पाय,
तबे बन्धु मिलय अदूरे।। ★

### *भारवाही और सारग्राही*

भजन करनेवालोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है अर्थात् उनमेंसे कोई–कोई भारवाही (केवल बोझ ढोनवाले) होते हैं और कोई–कोई सारग्राही (सार ग्रहण करनेवाले)। जो लोग मुक्ति और भुक्तिकी कामना रखते हैं एवं जड़ीय संसारमें आसक्त होते हैं, वे केवल धर्म अर्थ काम–मोक्षकी चेष्टारूप भारको ही ढोया करते हैं। ये लोग सार वस्तु–प्रेम है, इसे नहीं जानते। अतएव भारवाही लोग अनेक प्रयत्न करनेके बावजूद भी भजनमें उन्नति नहीं कर पाते। सारग्राहीजन प्रेमतत्त्वके प्रति लक्ष्य रख कर आसानीसे और थोड़े ही समयमें अभीष्ट स्थल पर पहुँच जाते हैं। इनको प्रेमारुरुक्षु कहते हैं। ये लोग अत्यन्त शीघ्र ही प्रेम अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् सहज परमहंस हो जाते हैं। यदि कभी सत्संगके प्रभावसे भारवाही व्यक्ति भी सार वस्तुके प्रति आदर करना सीख लें, तो वे भी शीघ्र ही प्रेमारुरुक्षु हो पड़ते हैं।

### *नाम भजनमें श्रद्धा और साधुसंगकी आवश्यकता*

अनेक जन्मोंकी भक्ति–उन्मुखी सुकृतिके प्रभावसे भक्ति मार्गमें श्रद्धा होती है। वही श्रद्धा भक्त संगमें रुचि प्रदान करती है। शुद्ध भक्तजनोंके संगमें भजनादि करनेसे प्रेमोन्मुखी साधन–भक्ति उदित होती है। शुद्ध भक्तोंकी सेवा कर उनसे साधन–प्रणाली ग्रहण कर थोड़े ही समयमें प्रेमारुरुक्षु हुआ जा सकता है। मिश्रभक्त (कर्म–ज्ञान मिश्राभक्तिका आचरण करनेवाले) या भक्ताभासके निकट भजनकी शिक्षा लेनेसे प्रेम बहुत ही दूर रह जाता है। उनका संग करनेसे ऐकान्तिक अर्थात् अनन्य भक्त नहीं हुआ जा सकता है और अनर्थ प्रबल होकर शुद्ध भक्तोंका आदर नहीं करने देते। हृदयमें कुटिलता भर जाती है। इस अवस्थावाले साधकोंके प्रायः अनेक जन्म कनिष्ठाधिकारमें ही बीत जाते हैं। कनिष्ठ भक्तमें श्रद्धा होती है, परन्तु वह श्रद्धा बहुत ही कोमल और चंचल होती है, जो हल्केसे झोंकेमें ही इधर–उधर हो सकती है। उनकी चंचलता दूर करने तथा श्रद्धाको दृढ़ करनेके लिए श्रीगुरुदेव द्वारा अर्चनकी शिक्षा दी जाती है। बहुत दिनोंतक अर्चन करनेसे नामके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है।

### *नामतत्त्वविद् गुरुका पदाश्रय*

प्रारम्भसे ही जिन सौभाग्यशाली पुरुषोंकी कृष्ण–नाममें अनन्य श्रद्धा होती है, उनलोगोंके लिए

★ उपरोक्त पद बँगला 'पदकल्पतरु' ग्रन्थके १८३ पर्वसे लिया गया है। भाव अतिशय गूढ़ और गम्भीर है, साधारण अनर्थयुक्त साधकोंके लिए नहीं—सिद्धोंके लिए उपयोगी है, गुरुदेवसे पदोंका अर्थ समझ लेना चाहिए।

भजन-प्रक्रिया पृथक् होती है। वे लोग कृष्णकी कृपासे नामतत्त्वविद् गुरुका आश्रय करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने गुरुके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

*किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।*
*जेइ कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेइ गुरु हय।।*

अर्थात्, कृष्ण-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाला ही गुरु है; चाहे वह किसी भी जाति, कुल या आश्रमका क्यों न हो अर्थात् चाहे ब्राह्मण वर्णमें पैदा हुआ हो अथवा शूद्र कुलमें, चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, कृष्ण-तत्त्वका ज्ञाता होनेसे वही व्यक्ति सद्गुरु है। नाम-तत्त्वमें दीक्षागुरुकी आवश्यकता न रहने पर भी नाम-तत्त्वगुरु स्वतः सिद्ध हैं। नामके अक्षर (नामाक्षर) सर्वत्र पाये जा सकते हैं; परन्तु उसमें जो गूढ़ तत्त्व भरा पड़ा है, उसे केवल विशुद्ध भक्तगुरुकी कृपासे ही पाया जा सकता है। गुरुकी कृपासे ही नामाभास दूर होता है तथा नामापराधसे रक्षा होती है।

प्रेमारुरुक्षु मध्यमाधिकारी भक्त नाम संख्या बढ़ाते बढ़ाते रात और दिन मिला कर तीन लाख नाम करेंगे। नाममें इतना आनन्द होता है कि नामके बिना रहा नहीं जाता। सोते समय संख्यानाम नहीं होता, इसलिये अन्तमें (सोनेसे पहले) असंख्य नाम करने लगते हैं। श्रीगोपालगुरुके बतलाये हुए अर्थकी भावनापूर्वक नाम करनेसे नर-स्वभावके समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं और परमानन्दमय नामके स्वरूपका साक्षात्कार होता है। नामका स्वरूप स्पष्टरूपसे उदित होनेपर कृष्णका चिन्मयरूप नामके स्वरूपके साथ एक होकर उदित होता है। उदित स्वरूपके साक्षात्कारके साथ-साथ नामका जितना शुद्धरूपसे भजन होता है, उसी परिमाणमें सत्त्व, रजः और तमोगुण विलुप्त होते जाते हैं और शुद्धसत्त्व अर्थात् अप्राकृत कृष्णगुण-समूह उदित होते हैं। नाम, रूप और गुण—तीनोंके ऐक्यसे जितना ही अधिक-विशुद्ध भजन होता है, उतना ही अधिक रूपमें सहज समाधि योग द्वारा निर्मल चित्तमें कृष्णकी कृपासे कृष्णलीलाकी स्फूर्ति होती है। जिह्वासे संख्यायुक्त या असंख्य नामका कीर्त्तन होता रहता है, मनकी आँखोंसे कृष्ण-रूपका दर्शन होता है, चित्त द्वारा कृष्णके गुणोंका चिन्तन होता रहता है तथा समाधिस्थ आत्माके ऊपर कृष्णलीला प्रकाशित होती है। नाम भजनमें साधकोंकी पाँच प्रकारकी अवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं—(१) श्रवण दशा, (२) वरण दशा, (३) स्मरण दशा, (४) आपन दशा और (५) प्रापन दशा।

(१) श्रवण दशा—सुयोग्य गुरुके निकट साधन और साध्य तत्त्व सुनकर जो सुखमय दशा होती है, उसे श्रवण दशा कहते हैं। नामापराध वर्जन करने तथा शुद्धनाम ग्रहण करनेकी प्रणाली आदि सब श्रवणदशामें ही प्राप्त होता है। उसीसे नाम निरन्तर होने लगता है, जिसे नैरन्तर्य-सिद्धि कहते हैं।

(२) वरण दशा— सत् शिष्य सद्गुरुके चरणोंमें शरण लेता है। गुरु उसे अङ्गीकार कर नाम-प्रेमग्रथित माला प्रदान करते हैं तथा उसमें शक्तिका संचार करते हैं।

(३) स्मरण, ध्यान, धारना, ध्रुवानुस्मृति और समाधि—ये पाँच नाम स्मरण करनेकी प्रक्रियाएँ हैं। नामस्मरण, रूपस्मरण, गुणस्मरण, लीलाकी ध्रुवानुस्मृति (निरन्तर स्मृति) और लीलामें प्रवेश कर कृष्णरस—प्रेममें मग्न होना रूप समाधि—ये सब क्रम होनेपर—

(४) आपन-दशा उपस्थिति होती है। स्मरण और आपन दशामें अष्टकाल कृष्णकी नित्य लीलाओंका साधन होता रहता है और उसमें प्रगाढ़ अभिनिवेश होनेपर स्वरूप-सिद्धि होती है। स्वरूप-सिद्ध भक्तजन ही—सहज परमहंस हैं।

(५) प्रापन-दशा—पश्चात् कृष्णकी कृपासे ब्रजलीलाका परिकर (सेवक-सेविका) होनेका नाम वस्तुसिद्धि है। यही नाम-भजनका चरम फल है। ❑

# श्रीजगन्नाथदेवका प्राकट्य

*—त्रिदण्डि स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज*

पुरुषोत्तम क्षेत्रमें श्रीजगन्नाथ देवके प्राकट्यके संबधमें किंवदन्ति और शास्त्रीय-उक्तियाँ दोनों प्रकारके विवरण पाए जाते हैं। उत्कल भाषामें रचित 'देउल तोला' नामक एक कविता-ग्रन्थसे श्रीजगन्नाथके प्रकट होनेका इतिहास पाया जाता है।

ब्रह्माजीके प्रथम परार्धमें चतुर्व्यूह भगवान् श्रीनीलमाधव-मूर्तिमें शंखक्षेत्र-श्रीनीलाचलमें अधम जीवों पर कृपा करनेके लिए प्रकट हुए। द्वितीय परार्धमें संधिका एक युग समाप्त होने पर सत्ययुग आरम्भ हुआ। उसी समय इन्द्रद्युम्न नामके एक सूर्यवंशी राजा अवन्तिनगरमें राज्य करते थे। वे भगवानका दर्शन करनेके लिए अत्यन्त व्याकुल थे। उन्हीं दिनों भगवान्के द्वारा प्रेरित एक वैष्णव श्रीइन्द्रद्युम्न महाराजकी राजसभामें उपस्थित हुए। उन्होंने कथा-प्रसंगमें श्रीनीलमाधवके रूप-सौन्दर्य और उनकी कृपाकी महिमाका वर्णन किया। राजाने इस संवादको प्राप्त कर विभिन्न दिशाओंमें बहुतसे ब्राह्मणोंको श्रीनीलमाधवके श्रीविग्रहकी खोज करनेके लिए भेजा। किन्तु वे विफल मनोरथ होकर राजधानीमें लौट आए। केवल राज-पुरोहित विद्यानिधि बहुतसे स्थानोंमें भ्रमण करते हुए नील-समुद्रके निकट भारतके पूर्वी तट पर शबर नामक एक अनार्य जातिकी पल्लीमें पहुँचे। उस पल्लीमें पहुँचने पर वे वहाँके समृद्ध विश्वावसु नामक एक शबरके गृहमें ठहरे। वहाँ इन्होंने गृहस्वामीकी ललिता नामक एक कुमारी कन्याको अकेली देखा। थोड़ी ही देरमें गृहस्वामी विश्वावसु घरमें लौटे। उन्होंने लौटकर विद्यापति ब्राह्मणको अपने घरमें अतिथि देखकर उसकी सेवाके लिए अपनी कुमारी कन्याको आदेश दिया। कुछ दिनोंके बाद विद्यापतिका ललिता कुमारीसे अत्यन्त स्नेह हो गया। इसलिए शबरराजने उन दोनोंका विवाह करा दिया।

विद्यापतिने देखा कि विश्वावसु शबर प्रतिदिन रात्रिमें बाहर चले जाते हैं और दूसरे दिन दोपहरमें घरमें लौटते हैं। उस समय उनके सारे शरीरसे कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन आदिकी अद्भुत सुगन्ध आती है। विद्यापतिने अपनी पत्नि ललिता सुन्दरीसे इसका कारण पूछा। ललिताने बतलाया कि उसके पिताजीने इस विषयको गुप्त रखनेके लिए आदेश दिया है। फिर भी आप मेरे पति हैं, इसलिए आपको बतला रही हूँ कि मेरे पिता प्रतिदिन पास ही एक पहाड़ी पर श्रीनीलमाधव नामक भगवद् विग्रहकी पूजा करनेके लिए जाते हैं।

इतने दिनोंके बादमें आज विद्यापतिको नीलमाधवके श्रीविग्रहका पता चलने पर उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। विद्यापति श्रीनीलमाधवके दर्शनोंके लिए अत्यन्त व्याकुल हो गए। उन्होंने अपनी पत्निसे इस विषयमें परामर्श किया। अंतमें एक दिन कन्याकी विशेष प्रार्थनासे विश्वावसु विद्यापतिकी आँखों पर काली पट्टी बांध कर उन्हें नीलमाधवका दर्शन करानेके लिए ले गए। ललिता सुन्दरीने अपने स्वामीके वस्त्राञ्चलमें कुछ सरसोंके बीज बांध दिए। विद्यापति मार्गमें उन बीजोंको छिड़कते हुए चले। उस समय वर्षा काल था। जब विद्यापति श्रीनीलमाधवके सामने उपस्थित हुए, उस समय शबरने विद्यापतिकी आंखों पर बंधी पट्टी खोल दी। विद्यापति श्रीनीलमाधवकी अपूर्व श्रीमूर्तिका दर्शन कर आनन्दसे नृत्य और स्तव करने लगे। शबर विद्यापतिको नीलमाधवके निकट छोड़कर कन्द, मूल और पुष्पादि पूजाके उपकरण संग्रह करनेके लिए

वनमें गमन किया। इधर ब्राम्हणने पास ही में एक कुण्ड देखा। उस कुण्डके ऊपर वृक्षकी डाल पर एक कौआ सो रहा था। अकस्मात् वह कुण्डमें गिर गया। गिरनेके साथ ही वह मर गया तथा भगवान जैसा चतुर्भुज रूप धारण कर वैकुण्ठमें गमन किया। इसे देखते ही विद्यापति भी उसी वृक्ष पर चढ़कर तथा वहाँसे कूद कर प्राण विसर्जन करनेके लिए चेष्टा करने लगा। इसी समय एक आकाशवाणी हुई—"ब्राह्मण! तुमने जिस नीलमाधवका दर्शन किया है, उनकी सूचना तुम सबसे पहले महाराज इन्द्रद्युम्नको दो।" वह वृक्षसे उतर कर पुनः मन्दिरमें पहुँचा। इधर शबरने वनसे कन्द, मूल और पुष्प इत्यादि संग्रह कर नीलमाधवकी पूजा करना आरम्भ किया। उसी समय नीलमाधवजीने शबरसे कहा—"मैं अब तक तुम्हारी सेवा ग्रहण करता था। अब अपने एक परम भक्त इन्द्रद्युम्न महाराजकी राज-सेवा ग्रहण करनेकी मेरी इच्छा हो रही है।"

ऐसा सुनते ही शबरने सोचा कि अब मुझे नीलमाधवकी पूजासे वञ्चित होना पड़ेगा। इसलिए उसने घर लौटकर अपने जमाता विद्यापतिको अपने घरमें कैद कर लिया। बादमें अपनी पुत्री द्वारा पुनः-पुनः प्रार्थना करने पर ब्राह्मणको छोड़ दिया। उस समय ब्राह्मण वहाँसे शीध्र ही महाराज इन्द्रद्युम्नके निकट अवन्तिनगर पहुँचा और उन्हें नीलमाधवका पूरा संवाद ज्ञापन किया। महाराज इन्द्रद्युम्नके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वे अपने परिवार, सैन्य और बहुतसे लोगोंको साथ लेकर नीलमाधवको अपने राज्यमें लानेके लिए चले।

जब वे नील समुद्रके समीप पहुँचे तब तक वहाँ सरसोंके पीले-पीले फूलोंसे लदे पौधे उग आए थे। वे उसीको देखकर पहाड़ी पर पहुँचे, किन्तु वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सारी पहाड़ी समुद्रकी बालूसे ढकी हुई है और नीलमाधवके विग्रह वहाँ नहीं हैं। बहुत प्रयत्न करके खोजनेकी चेष्टा की, किन्तु जब विग्रह नहीं मिले तो वे हताश हो गए। अंतमें उन्होंने शबरराजको कैद कर लिया। उसी समय महाराजके प्रति आकाशवाणी हुई—"महाराज इस शबरराजको छोड़ दें। नील समुद्रके ऊपर ही नीलाद्रि पर एक सुन्दर विशाल मन्दिरका निर्माण करें। वहीं पर दारुब्रह्मके रूपमें हमारा दर्शन होगा। अब तुम नीलमाधव मूर्तिके दर्शन नहीं कर पायेंगे।"

महाराज इन्द्रद्युम्न आकाशवाणी श्रवण कर बड़े हताश हो गए। उन्होंने अनशन व्रत धारण कर समुद्रके तट पर प्राण त्याग करनेका संकल्प किया। उसी समय जगन्नाथदेवने स्वप्न देकर कहा—'आप चिंता न करें। दारुब्रह्मके रूपमें मैं समुद्रके 'बंकिम मुहान' नामक स्थानमें (जिसे आजकल चक्रतीर्थ कहते हैं) तैरते हुए आऊँगा। उस समय आप मुझे समुद्रसे निकाल कर मेरी तीन मूर्तियाँ बनवाकर पूजा करेंगे।' राजा अपनी सारी सेनाके साथ उस स्थान पर उपस्थित हुए और उन्होंने देखा शंख, चक्र, गदा, पद्मसे अंकित एक लाल लकड़ीका धड़ पानीमें तैर रहा था। राजा अपने बहुतसे बलवान लोगों और हाथियोंको लगा करके भी उस दारुब्रह्मको समुद्रके जलसे उठा न सके। उस समय जगन्नाथदेवने राजाको स्वप्नमें बतलाया कि आप हमारे पूर्व सेवक विश्वावसु, जो नीलमाधव स्वरूपकी पूजा करते थे, उन्हें वहाँ ले आएँ तथा एक स्वर्ण रथमें इस दारुब्रह्मको ले जानेकी व्यवस्था करें।

राजाने स्वप्न दर्शनके अनुसार विश्वावसु शबरको बुलवाया। शबरने पानीमें उतर कर दारुब्रह्मकी एक ओर तथा विद्यापति ब्राह्मणने दूसरी ओर स्पर्श किया। चारों ओर सङ्कीर्तन होने लगा। राजा दारुब्रह्मके चरणोंको वक्षस्थल पर धारण कर उन्हें स्वर्ण रथ पर आरूढ़ होनेके लिए पुनः पुनः प्रार्थना करने लगे। राजाकी प्रार्थना सुनकर दारुब्रह्म रथके ऊपरमें आरूढ़ हुए किया और राजा उन्हें निर्दिष्ट स्थान पर ले गए। वहाँ ब्रह्माजीने यज्ञ आरम्भ किया।

नृसिंहदेव यज्ञवेदी पर विराजमान कराये गए। ऐसा कहा जाता है कि जहाँ अभी श्रीमन्दिर है, उसी स्थान पर यह यज्ञ सम्पन्न हुआ था और मुक्ति मण्डपसे संलग्न पश्चिमकी ओर जो नृसिंहदेव विराजमान हैं, वे आदि–नृसिंहदेव हैं।

महाराज इन्द्रद्युम्नने दारुब्रह्मको श्रीमूर्तिके रूपमें प्रकट करानेके लिए बड़े सुदक्ष शिल्पियोंको निमंत्रित किया, किन्तु कोई भी शिल्पी दारुब्रह्मको स्पर्श तक नहीं कर सका। उनके सभी अस्त्र–शस्त्र खण्डित–विखण्डित हो गए। अंतमें स्वयं भगवान अनन्त महाराणाके नामसे अपना परिचय देकर एक वृद्ध शिल्पीके छद्म वेशमें वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने राजासे कहा कि मैं इक्कीस दिनोंके अन्दर श्रीविग्रहको प्रकाशित कर सकता हूँ। किन्तु इक्कीस दिनों तक मैं इस दारुब्रह्मके साथ एक बन्द कमरेमें रहूँगा। इक्कीस दिनोंके बाद ही उस कमरेका दरवाजा खोला जाए। इधर राजाने जिन कारीगरोंको पहले बुलवाया था, जो विग्रहको प्रकाशित नहीं कर सके, उन लोगोंको आदेश दिया कि वे विग्रहोंके लिए तीन रथ प्रस्तुत करें।

अब वृद्ध अनन्त महाराणा अकेले दरवाजा बंद कर एक विशाल कमरेमें कार्य करते रहे। उन्होंने राजासे प्रतिज्ञा कराई थी कि इक्कीस दिनोंसे पहले दरवाजा न खोला जाए। किन्तु चौदह दिन व्यतीत होने पर भीतरसे कोई शब्द न पाकर राजा बड़े चिन्तित हुए। मंत्रियोंके द्वारा निषेध किए जाने पर भी रानीके दबावमें आकर बलपूर्वक उन्होंने अपने हाथोंसे मन्दिरका प्रवेशद्वार खोल दिया। उस समय उन्होंने वृद्ध कारीगरको वहाँ नहीं देखा, किन्तु दारुब्रह्मसे निर्मित तीन श्रीविग्रहोंको सामने देखा। उन्होंने देखा कि मूर्तियोंके हाथोंकी अंगुलियाँ, चरणकमल और उनकी अंगुलियाँ इत्यादि ठीक रूपसे प्रकटित नहीं हुई हैं। उस समय बुद्धिमान् मंत्रीने उन्हें बतलाया कि वे वृद्ध अनन्त महाराणा और कोई नहीं स्वयं श्रीजगन्नाथ ही थे।

राजा अपनी प्रतिज्ञा भंग कर एक सप्ताह पूर्व ही मन्दिरका द्वार खोल देनेके कारण अपनेको अपराधी समझने लगे। वे सोचने लगे—"वृद्ध कारीगर अनन्त महाराणा श्रीविग्रहके सम्पूर्ण अंगोंको मेरे कारण ही प्रकाशित नहीं कर सके।" वे अपनेको अत्यन्त अपराधी मान करके प्राण त्यागनेका संकल्प कर कुशासन पर बैठे। आधी रातके समय जगन्नाथजीने स्वप्नमें राजाको दर्शन दिया और कहा—"मैं इसी प्रकार दारुब्रह्मके आकारमें ही श्रीपुरुषोत्तमके नामसे नीलाचलमें नित्य अवस्थित हूँ। इस प्रपञ्चमें मैं अपने इस धामके सहित चौब्बीस प्रकारके अर्चावतारोंके रूपमें अवतीर्ण होता हूँ। मैं प्राकृत हस्त–पादादिसे रहित होकर भी अप्राकृत हस्त–पादादि द्वारा भक्तोंके दिए हुए सेवोपकरणोंको ग्रहण करता हूँ। सारे विश्वके कल्याणके लिए मैं यहाँ नित्य विराजित हूँ। वेदोंकी प्रतिज्ञा रक्षा करनेके लिए तथा तुमने जो प्रतिज्ञा भङ्ग की है, उस प्रसङ्गमें एक लीला माधुरी प्रकट करनेके लिए मैं इस स्वरूपमें प्रकट हुआ हूँ। 'प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन' के अनुसार इस प्रेम माधुर्यके द्वारा लुब्ध भक्त लोग मुझको श्यामसुन्दर मुरलीवदनके रूपमें दर्शन करते हैं। यदि हमारी पूर्णाङ्गमयी सेवाकी तुम्हारी अभिलाषा हो तो तुम स्वर्ण और चाँदीसे निर्मित हस्त, पदादिके द्वारा हमको सुसज्जित कर हमारी पूजा कर सकते हो, किन्तु यह स्मरण रखो कि हमारे श्रीअङ्ग स्वयँ भूषणोंके भूषण हैं।"

महाराज इन्द्रद्युम्न जगन्नाथदेवकी वाणी श्रवणकर और उनका दर्शन कर कृतार्थ हो गए। उन्होंने प्रार्थना की कि जिस ब्राह्मण कारीगरने इस मूर्तिको प्रकट किया है, उनके वंशधर युग–युगमें जीवित रहकर सर्वदा प्रतिवर्ष रथका निर्माण कार्य करें। जगन्नाथदेवने कहा—"ऐसा ही हो।" इसके बाद जगन्नाथदेवने राजासे कहा—"जो विश्वावसु

शबर नीलमाधव स्वरूपकी सेवा करते थे उनके वंशधर युग-युग तक मेरे दयिता सेवकके रूपमें परिचित होकर मेरी सेवा करें। विद्यापतिकी ब्राह्मण पत्नीके गर्भसे उत्पन्न वंशधर मेरे अर्चक हों तथा विद्यापतिकी शबर पत्नीके गर्भसे उत्पन्न संतानें हमारे भोग-रंधनका कार्य करें और वे 'सूपकार'के नामसे प्रसिद्ध हों।"

महाराज इन्द्रद्युम्नने श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें एक और प्रार्थना की—"हमें एक और वरदान दें। प्रतिदिन एक प्रहर अर्थात् तीन घन्टे मात्र आपके मन्दिरका द्वार बंद रहे और सभी जगद्वासी बाकी इक्कीस घन्टे आपका दर्शन करें। आपका द्वार इक्कीस घन्टे तक उन्मुक्त रहे। सारा दिन आपका भोजन चलता रहे। आपके हस्तकमल कभी भी सूखे न रहें।" ऐसा सुनकर जगन्नाथदेवने तथास्तु कहा और बोले—"कुछ अपने लिए भी तो प्रार्थना करो।" उस समय राजाने कहा—"मेरे पश्चात् हमारे वंशका कोई भी व्यक्ति इस मन्दिरको अपनी निजी संपत्तिका दावा न करे, इसलिए मैं निर्वंश होना चाहता हूँ, आप मुझे यही वर प्रदान करें।" जगन्नाथदेवने मुस्कुराते हुए 'तथास्तु' कहकर राजाको यह वर भी प्रदान किया। ❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नामजप साधना

*—डा० सत्यपाल गोयल*

सदग्रंथोंमें जो विधि-निषेध नियम लिखे गये हैं वे सभी साधारण गृहस्थ भक्तों और धनवान साधुओंके लिये ही हैं, यथा—

*कृतान्येतानि तु प्रायो गृहीणां धनीनां सताम्।*
*लिखितानि न तु त्यक्तपरिग्रहमहात्मनाम्।।*

(श्रीहरिभक्तिविलास)

साधारण भक्तोंके लिए त्यक्त परिग्रह सिद्ध पुरुषोंके द्वारा आचरित भजन प्रक्रिया ही उस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए विधि है। हमें सिद्ध संतोका अनुकरण नहीं अपितु अनुसरण करना चाहिए क्योंकि अनुकरण मात्र नाटक (दिखावा) की श्रेणीमें आता है जबकि अुनसरण उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलनेका एक सुदृढ़ सोपान है।

एकनिष्ठ एवं परम समर्पित भक्तजन नित्य निरंतर कृष्ण नाम जप करते हैं। वे नियमोंका पालन करनेके लिए बाध्य नहीं है। वे चाहें तो स्वेच्छासे निम्न अधिकारियोंके लिए निर्धारित नियमोंका पालन कर सकते हैं। लेखकके विचारसे सिद्ध पुरुषोंकी सभी क्रियाएँ साधनासे जुड़ी रहती हैं। किन्तु अन्य सभी साधकोंको नियमोंके पालनमें उद्दण्डता नहीं अपनानी चाहिए—विधि मार्गका सदैव पालन करना चाहिए। श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरके अनुसार जिस प्रकार ज्ञानाधिकारी कर्माधिकारके अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्मका पालन स्वेच्छासे करते हैं, भक्तिके अधिकारी भी कर्माधिकार या ज्ञानाधिकारके नियमोंका पालन स्वेच्छासे करते हैं। वे उनका पालन करनेके लिए बाध्य नहीं हैं। परम उच्च भक्ति-अधिकारी भी यदि सामान्य नियमोंका पालन करते हैं तो वे नियमाग्रही नहीं कहे जा सकते। जो साधक नियमाग्रहके अधीन न रहकर स्वाभाविक ही नियमोंका पालन करते हैं, वे अत्यन्त शीघ्र ही कृष्णप्रेम (भक्ति) प्राप्त करनेमें सफल होते हैं।

अपने अपने नियमोंका पालन करते हुए साधक अधिकारको प्राप्त करते हैं। उक्त नियमोंमें आबद्ध न रहनेका सिद्धान्त केवल परम सिद्ध साधकोंके लिए ही है। शेष अन्यको अपनी गुरु परम्पराके अधीन प्राप्त विधि-निषेधोंका पालन करते हुए निरंतर कृष्णनामका जप, चिंतन, स्मरण, लीलाचिंतनके

साथ–साथ भावपूर्वक करना चाहिए।

### *जनसंग (असत्संग) का त्याग*

भक्ति पथ पर चलने वाले उस प्रत्येक साधकको, जो कृष्णप्रेम प्राप्त करना चाहता है, बहुत सावधानीपूर्वक उन सभी लोगोंका संग त्याग करना चाहिए, जो कृष्ण भजनमें बाधक हों अथवा जिनके संगसे संसारके प्रति आसक्तिमें वृद्धि होती हो, भजनके प्रति तटस्थता या उदासीनताकी प्रवत्ति बढ़ती हो। इसीलिए श्रील रूप गोस्वीमीपादने कहा है—"साधौ संग स्वतो वरे"। कृष्ण भजन साधकको सदैव अपने से उन्नत भजन साधकोंका संग करना चाहिए। इससे भजनमें लालसा, उत्साह और दृढ़ता बनी रहती है। जो साधक प्रारंभिक अवस्थामें हैं उन्हें तो सभी प्रकारके आकर्षणोंसे मुँह मोड़कर जन संग (उन साधारण भजनरहित लोगों) का त्याग करना चाहिए। संभव है कुछ लोग ऐसे भी हों जो नास्तिक हों, परन्तु उनसे किसी सीमा तक सांसारिक स्वार्थ जुड़ा हो, तब भी साधकको उस सांसारिक स्वार्थकी परवाह किये बिना दृढ़ताके साथ उनका संग त्याग करना चाहिए। क्योंकि साधकका साध्य कृष्णप्रेम है, संसारकी अनित्य उपलब्धियाँ नहीं। संसार भोग तो पूर्वकृत कर्मोंके आधीन सभीको भोगना होता है, फिर उसकी चिंता क्यों? अतएव अपनेसे उन्नत साधकोंका संग ही प्रार्थनीय है। भगवान स्वयं सत्संगकी महिमा इस प्रकार कहते हैं—

*ये मे भक्त जनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।*
*मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः।।*

(आदिपुराण)

अर्थात् केवल मेरा भक्त होनेसे ही कोई मेरा भक्त नहीं हो जाता है, जो मेरे भक्तोंका सेवक है, सत्संगी है वही मेरा प्रिय भक्त है।

अतएव जो कृष्ण भजनशील साधक हैं—उन्हें सबसे पहले उन सभीका त्याग करना चाहिए जो कृष्ण बहिर्मुख हैं। लोक व्यवहारको संगकी श्रेणीमें नहीं माना गया है। संग वह तभी कहलाता है जब हम किसीसे व्यवहारमें प्रीतिका भाव भी रखते हैं—

*संगत्यागो विदूरेण भगवद्भिर्मुखैर्जनैः*

(श्रीभक्तिरसामृतसिंधु)

असत्संग या जनसंगके अंतर्गत प्रधानरूपसे मायावादी, विषयी, विषयीसंगी, स्त्री, स्त्री–संगी, दुराचारी, अन्त्यज और धर्मध्वजी (धर्मका कपटपूर्ण आचरण करने वाले कैतवजन) आते हैं।

मायावादी लोग जीव तत्त्वको मायिक तत्त्व मानते हैं तथा भगवानके नाम, रूप, गुण, लीला और उनकी शक्तिको नहीं मानते हैं। उनके मतसे जीवकी नित्य सत्ता नहीं है। ब्रह्म मायाग्रस्त होकर अपनेको जीव मान बैठा है। जब उसके इस भ्रमका निवारण हो जाता है, तो वह ब्रह्म हो जाता है। यह मत अत्यंत पाषण्ड मत है क्योंकि जब मायावादियोंका ब्रह्म मायाके अधीन हो जाता है तब यह माया किसकी शक्ति है जिसके अधीन मायावादियोंका बह्म मायाग्रस्त हो जाता है, इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। परन्तु श्रीकृष्णानुरागियोंके पास इसका सर्वसिद्ध उत्तर है—श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं, जीव उनका अभिन्न अंश होकर उनका नित्यदास है, माया उनकी शक्ति हैं। वे मायाधीश हैं। जीव अणु होनेसे मायाके वशमें हो जाता है। जबकि मायावादियोंकी समस्त विचारधारा आधारहीन तथा शुद्ध भक्ति तत्त्वके विरुद्ध है। मायावादियोंका संग निश्चित ही साधककी मति भ्रष्टकर नरकगामी बनाता है।

जिनका चित्त सदैव विषयोंकी ओर आकृष्ट रहता है उनक संग नितान्त हेय है। विषयी जन परदोष दर्शन तथा द्वेष–हिंसासे पीड़ित रहते हैं। उनका मन, हृदय तथा चित्त पांचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है। वे नितांत मूढ़ एवं दयाके पात्र होते हैं। परन्तु समर्थ साधकोंको ही उनके प्रति दयावान रहना चाहिए। जिनके हृदयमें भक्तिका बीज सदगुरु द्वारा

बोया गया है, यदि वे ऐसे विषयी लोगोंपर दया करने जायेगें, वे तो उनका उद्धार तो दूर वे स्वयं विषयके गर्तमें गिर जायेंगे। ऐसे नवीन साधकोंको धैर्यपूर्वक कृष्ण नाम जप एवं सिद्ध संतोंका सत्संग करना चाहिए।

जो शरीर रक्षाके उद्देश्य मात्रसे बाह्य जगतके लोगोंसे लोक व्यवहार करते हैं तथा स्वयं कृष्ण प्रेमके लिये साधन-भजन तथा संतोंका सत्संग करते हैं, वे उन विषयासक्त लोगोंसे कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। जो अहर्निश विषयवासना, परनिंदा और पापकृत्योंमें लिप्त हैं।

विषयी लोगोंके संगियोंका संग भी साधन भजनमें तथा संतोका सत्संग करते है वे उन विषयासक्त लोगों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो अहर्निश विषय वासना पर निंदा, सत्संगसे दूर पापकृत्योंमें लिप्त हैं।

विषयी लोगोंके संगीयोंका संग भी साधन भजनमें अहितकर है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं उतने विषयी नहीं होते हैं, किन्तु उनका उठना-बैठना विषयी लोगोंमें रहता है। अनेक बार वे विषयी लोगोंकी उपलब्धियोंकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे लोगोंका चित्त डगमगाता रहता है। ऐसे विषयी संगीका संग भी अवसर आने पर लालसा पैदा कर सकता है। क्योंकि उनके पास कृष्णचर्चाके अलावा सभी प्रकारकी चर्चा मिलेगी, जो विषतुल्य है।

विरक्त वेष धारण किये विषयी लोगोंका संग प्रारंभमें ऐसा लगता है कि यही सच्चा संग है। परन्तु प्रत्येक साधु वैष्णव नहीं होता है। वैराग्यका बाना पहन लेनेसे ही विषयोंके प्रति स्वाभाविक विरक्ति नहीं होती है। क्योंकि विरक्त (कपटी) साधुओंको भी अन्दरसे विषयोंका संग्रह-परिग्रह करते देखा गया है। अनेक गृहस्थोंको चारों ओरसे विषयोंमें घिरे रहकर भी परम विरक्त गृहस्थ भक्तके रूपमें पाया जाता है। उनका मन अन्दरसे उनमें पूर्णतः अनासक्त रहता है अतएव पूर्वकथित विरक्त वेषधारी विषयी साधुओंसे विरक्त गृहस्थ भक्तोंका संग कहीं उत्तम है—ऐसा विचार कर साधारण साधक भक्त विषयी लोगोंका संग न करेंगे ताकि भक्तिका नवांकुर पुष्पित पल्लवित हो तथा कृष्ण प्रेमफल प्राप्त करनेमें सफल हो सकें।

कृष्ण भजन साधकोंको स्त्री संग, स्त्रीसंगी का संग यत्नके साथ त्यागना चाहिए। इस संबंधमें गत पृष्ठोंमें विस्तार से चर्चाकी जा चुकी है। यदि पत्नी भी भजनमें साधक न होकर बाधक बनती हो तो उसका भी परित्याग कर देना चाहिए।

धर्मध्वजी शब्द ऊपरसे देखनेमें ऐसा लगता है जैसे धर्मकी ध्वजाको धारण करने वाला परमधर्मज्ञ धर्माचार्य, धर्मवान आदि। परन्तु यहाँ शबदका सीधा प्रहार उन लोगोंपर है जो बाहरसे धर्मके चिह्नोंको धारण करते हैं तथा अंदरसे विषय लोलुपतामें आकण्ठ डूबे रहते हैं, अपने कपटपूर्ण आचरण द्वारा लोगोंको अपनी ओर आकर्षित कर शिष्य बनाते हैं और उनसे धर्मके नाम पर तन और धन दोनोंको भोगते हैं। इस प्रकार धर्मध्वजी लोग परम कपटी, धूर्त्त एवं पाषण्डी होते हैं। इनके संगका परित्याग कृष्णभजन साधकोंको तत्काल कर देना चाहिए, भले ही वे गुरु बन चुके हों। शास्त्रोंमें इस प्रकाके गुरुओंको परित्यागकी व्यवस्था है। यदि शुद्धचित्त भक्तोंका संग प्राप्त न हो तो एकान्तमें स्वयं ग्रन्थानुशीलन कर कृष्ण नाम जप करते रहना चाहिए। श्रीकृष्ण-कृपासे उन्नत भगवद् भक्तोंका सत्संग एक-न-एक-दिन अवश्य प्राप्त होगा

*बिनु हरि कृपा मिले नहीं संता।*
*अब मोहि मा भरोस हनुमंता।।*

और एक अन्य प्रकारके धर्मध्वजी देखनेको मिलते हैं जो अंदरसे मायावादी होते हैं तथा बाहरसे वैष्णव होनेका प्रदर्शन करते हैं। इसे कपट वैष्णव कहते हैं। जगतमें अधिकांश लोग इसी श्रेणीके हैं।

अतएव एकान्तिक कृष्णभक्तिको निष्ठापूर्वक अपने हृदयमें स्थित स्वाभिक कृष्णभक्तिको पल्लवित, पुष्पित करते रहना चाहिए, परन्तु ऐसे कपटी धर्मध्वजी लोगोंका संग नहीं करना चाहिए।

अंतिम प्रकारका जनसंग दुराचारी एवं मूढ़ अन्त्यज लोगोंका होता है, जो प्राणी हिंसामें निरत तथा मांस, मंदिरा, स्त्री सेवन आदिमें अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करते हैं। ऐसे पापिष्ठ लोगोंका संग अत्यंत भयावह होता है। किन्तु निष्ठापूर्वक भजन प्रारंभ करनेके कुछ समय पश्चात् कभी यदि किसी भक्तके जीवनमें विषय सेवन देखा जाय तो ऐसे भक्तकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उनमें पूर्व स्वभाववश यदा–कदा ऐसी प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु उनका संग त्याज्य नहीं है। यथा भगवान कृष्ण कहते है—

*जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।*
*वेद दुःखात्यकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः।।*
*ततो भजेत मां प्रीतः श्रृद्धालुर्दृढ़निश्चयः।*
*जुषमाणश्च तान्कामान दुःखोदर्काश्च गर्हयन।।*
*प्रोक्तेन भक्तियोगन भजतो माऽसकृन्मुनेः।*
*कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२०/२७–२९)

अर्थात् मेरी कथामें जिस साधककी श्रद्धा हो गई है, सभी कर्मोंसे जो विरक्त हो गया हे, कामना–वासनाओंको दुःखाःत्मक जाननेपर भी उसका परित्याग करनेमें असमर्थ है, उसे इन कामना–वासनाओंको दुःखजनक जानकर निन्दा करते हुए भोग करना चाहिए, साथ ही साथ श्रद्धा और दृढ़ निश्चयपूर्वक मेरा भजन करना चाहिए। इस प्रकार मेरे द्वारा कथित भक्तियोगके द्वारा मेरा भजन करनेसे उनके हृदयमें स्थित मैं बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी कामना–वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

आजीवन दुःख और कष्टका जीवन व्यतीत करना कहीं अच्छा है किन्तु जिनके हृदयमें कृष्ण भक्तिका अभाव है, उनका संग प्रत्यक्ष तो क्या स्वप्नमें भी हो जाय, तो जाग्रत होने पर यमुना स्नानकर कृष्ण नामका जपकर शुद्ध होना चाहिये।

### *प्रजल्प*

परस्पर जो भी वार्तालाप किया जाता है, उसे प्रजल्प कहते हैं। सांसारिक विषयों पर न्यूनतमसे अधिक जब वार्तालाप किया जाता है, तो वह भक्ति मार्गपर चलनेवाले पथिकके लिये विषतुल्य होता है। आजकल सर्वत्र ही अनावश्यक तर्क–वितर्ककर लोग भगवद– चिन्तनसे विमुख हो रहे हैं। यदि उनसे श्रीकृष्ण लीला कथओंके श्रवण एवं धर्म ग्रन्थोंपर चर्चाके लिये कहा जाय, तो वे इसमें समय लगाना व्यर्थ मानते हैं तथा अन्य जड़ विषयोंपर वाद विवादको प्राथमिकता देते हैं। जो भटके हुए हैं उनसे हमारा आग्रह है कि वे कुछ न कुछ समय सत्संगके लिए भी निकाले। साधकोंको व्यर्थके प्रसंगोंमें समय व्यर्थ न गवाँकर उसे साधन–भजनमें लागना ही हितकर है—

*तथाप्यस्मिन् कदाचिद्धामधीशौ नामजल्पनि।*
*अवद्यवृन्द निस्तारि–नामभासौ प्रसीदतम्।।*

(कापर्ण्यपञ्जिका)

अर्थात् श्रीकृष्ण नामका जप करते करते यदि नामाभास भी हो जाय तो इस जल्प (नामाभास) द्वारा सभी प्रकारके अनर्थोका नाश होकर जीव के हृदयमें भक्तिका उदय हो जाता है।

जीभसे जो कुछ भी उच्चारण किया जाता है वह सब जल्पकी परिभाषामें ही आता है। परन्तु जब यह जल्प भक्तिव्यतिरेक अन्य विषयों पर होता है, तो वह दोष माना जाता है और जब भजन कीर्तन स्तुति शास्त्र चर्चामें होता है, तो भक्तिका अंग कहलाता है। मनुष्य आभिव्यक्तिके बिना नहीं रह सकता है, क्योंकि वह व्यक्ति है। परन्तु यह हम पर निर्भर करता है कि हमारी जल्पना

भक्तिके कितनी अनुकूल है। कृष्ण भक्तिके प्रतिकूल सभी प्रकारके वार्तालाप भक्तिविरोधी हैं। अतएव साधकोंको अत्यंत दृढ़ताके साथ इस कुसंगसे बचना चाहिए। श्रीरूपानुग भजन पद्धतिसे भजन करनेवाले साधकोंका उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन पथका ही सदैव अनुसरण करना एकमात्र कर्तव्य है—

*समृग्यः श्रेयसं हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।*
*अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन संतः प्रतस्थिरे।।*

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात साधकोंको उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर पूर्वके संत जनोंने चलकर भजन-साधन किया है। वह मार्ग ही संतापरहित तथा श्रेयः साधन मार्ग है।

जल्प कई प्रकारके होते हैं। निम्न श्रेणीके प्रजल्प सदैव समयको व्यर्थ नष्ट करनेवाले तथा भक्तिपथके विरोधी हैं।

### *अनावश्यक वार्तालाप*

प्रायः देखा जाता है कि ग्रामोंमें निवास करने वाले लोग भोजन उपरांत बीडी, सिगरेट पीते-पीते नाना प्रकारकी व्यर्थ बातोंमें समय नष्ट करते हैं। परन्तु भगवान श्रीकृष्णका उपदेश है—

*सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।*
*नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।*

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/१४)

अर्थात लोगोंको चाहिए कि वे व्यर्थके आलापोंको त्यागकर दृढव्रती होकर निरन्तर मेरे ही नाम रूप, गुण, लीला और धामका कीर्तन करें तथा नित्ययुक्त होकर मेरी भक्ति करें—ऐसा करनेसे वे मुझे प्राप्त कर सकेगें।

### *वितर्क करना*

न्याय शास्त्रियों तथा वैशेषिकोंके समस्त प्रकारके तर्क-वितर्क भी प्रजल्पके अन्तर्गत होनेके कारण कृष्ण भक्ति बहिर्मुख विवादमात्र हैं। विवाद केवल स्वयंको प्रतिष्ठित करनेके लिये किया जाता है। कभी-कभी तो वाद-विवादका ओर-छोर ही नहीं होता है, केवल अपने तर्ककी स्थापनाके लिये रस्साकशीमात्र की जाती है। तर्क-वितर्क करते रहना भी एक प्रकारका नशा है। इससे बचकर कृष्ण कीर्तनमें अधिकसे अधिक समय लगाना चाहिए। गृह-त्यागियोंको तो जहाँ तक बन पड़े, प्रत्येक क्षण कृष्ण भजनमें लगाना चाहिए—

*ग्राम्य कथा ना सुनिवे ग्राम्य कथा ना बलिवे।*
*भालो ना खाइबे आर भालो ना परिबे।*
*ब्रजे राधा कृष्ण सेवा मानसे करिबे।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

### *परचर्चा*

अकारण किसीमें गुण दोषोंका विवेचन करना सर्वथा भक्ति विरोधी है। लोकमें भी हिंसा, भय और शत्रुता उत्पन्न करनेवाला है। दूसरोंके प्रति घृणा और ईर्ष्यासे घिरकर चर्चा करना सदैव दुःखोंको देनेवाला है। ऐसे लोग कभी भी श्रीकृष्ण चरणोंमें स्थान नहीं पा सकते। भक्ति साधकोंकी दो श्रेणियाँ हैं—एक वैरागी, दूसरे गृहस्थ। गृहस्थ भक्त अपनी जीविका अर्जित करनेके कारण सर्वथा परचर्चासे नहीं बच सकते। परन्तु वैरागी साधकोंको इस प्रकारकी चर्चासे बचना चाहिए। श्रीहरिकथाके समय जो सांसारिक प्रसंगोंको उद्धृत किया जाता है, वे परचर्चाके अंतर्गत नहीं आते हैं, क्योंकि विषयकी विवेचनाके लिये गुरु, वैष्णवोंको ऐसा आवश्यक हो जाता है। साधकोंकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति है, उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न कराना अनिवार्य हो जाता है।

### *साधुनिन्दा*

यदि कोई साधक, कृष्ण प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है, तो उसे साधु-संतों-वैष्णवोंकी निन्दारूपी प्रजल्पसे बचना चाहिए। प्रजल्पका त्याग करनेसे वाणी अपने आप नियमित हो जाती है।

साधुनिन्दा भयंकर अपराध है। क्योंकि भगवान सब कुछ सहन कर सकते हैं अपने भक्तोंकी निन्दा नहीं। कर्मविपाकसे किसी साधुके जीवनमें भी कोई घृणित कर्मका उदय हो सकता है। परन्तु हमें उनके सद्‌गुणों पर ही दृष्टि रखनी चाहिए।

मिथ्या जल्प, ग्राम्य कथा, वाद विवाद, परदोष दर्शन आदि भी उपरोक्त प्रजल्पोंके ही अंग हैं।

अन्तमें हमारा अनुरोध है कि कृष्ण कथाको छोड़कर बैरागी और गृहस्थ भक्तोंको अधिक-से-अधिक समय भजनमें बिताना चाहिए।

*भरी सराय देखकर*
*पथिक स्वयं फिर जाय*

यदि आपका चित्त कृष्ण अनुरागमय हो गया है, तो अन्य विषय अपने आप लौट जायेंगे। ❑

# चातुर्मास्य व्रत

*—त्रिदण्डि स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज*

### *व्रतारम्भ*

श्रीभगवान वर्षाके चार महीने शयन करते हैं। इस शयनकालमें मनुष्यमात्रको अपनी हरि-सेवा-प्रवृत्तिको क्रमशः बढ़ाना चाहिए। इसलिये आगामी ३० आषाढ़, २८ जुलाई, बुधवारसे श्रीगौड़ीय वेदान्त-समितिके समस्त मठोंमें चातुर्मास्य-व्रत आरम्भ होगा। मठके समस्त त्रिदण्डि संन्यासीवृन्द, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थीगण एवं समितिके अनुगत समस्त गृहस्थ भक्तजन उसी दिनसे चार महीनों तक नियम-सेवाका विधिवत पालन करना आरम्भ करेंगे।

कुछ लोगोंका ख्याल है कि चातुर्मास्य व्रत एक कर्मकाण्डीय व्यापार है। किन्तु उनका यह ख्याल सम्पूर्णतः निराधार है। क्या कर्मी, क्या ज्ञानी, क्या भक्त और क्या गृहस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादि, प्रत्येक हिन्दूके लिये चातुर्मास्य व्रतका पालन करना कर्त्तव्य है। कोई-कोई चार महीनों तक नियम-सेवा पालन करनेमें असमर्थ होते हैं, इसलिये वे चार महीनेमें से केवल एक महीने तक दामोदर व्रत-या कार्त्तिक व्रतका ही पालन करते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चातुर्मास्य-व्रत पालन करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

### *समय गणना*

चातुर्मास्यकी गणना तीन प्रकारसे होती है। (१) आषाढ़ महीनेकी शुक्ला द्वादशीसे कार्त्तिक शुक्ला द्वादशी तक। (२) आषाढ़ी पूर्णिमासे कार्त्तिकी पूर्णिमा तक, और (३) सौर श्रावणसे सौर कार्त्तिक तक। इनमें से किसी भी एकके अनुसार चार महीनों तक नियम-सेवाका विधिवत् पालन करना चाहिये।

### *विधि*

सर्व-प्रथम व्रतका संकल्प ग्रहण करना चाहिए। संकल्प ग्रहणका नियम यह है कि भगवान्‌के मन्दिरमें भगवान्‌के सामने हाथ जोड़ कर एकान्त मनसे ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए—"हे भगवन्! मैं आपके सामने चातुर्मास्य-व्रत धारण करता हूँ। हे केशव! आप ऐसी कृपा करें कि मेरा यह व्रत बिना किसी विघ्न-बाधाके सिद्ध हो जाय।"

व्रतके दिनोंमें तीर्थ वास, जमीन पर सोना, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन, पत्तलमें भोजन, अल्प आहार, अल्प शयन आदि उत्तम है। प्रतिदिन स्नान कर भगवान्‌की विधिवत् पूजा करनी चाहिए। पुराण-श्रवण, अखण्ड दीप-दान, इष्टदेवकी विधिवत् पूजा करना

कर्त्तव्य है।

इन दिनोंके लिये एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना अच्छा होता है। खूब तड़के बिछौनेसे उठ कर शौचादि नित्यक्रियासे निबट कर अपने अधिकारके अनुसार नियमपूर्वक संध्या-आह्निक, पूजा-पाठ और हरिनाम करना चाहिए। कोई संख्या निर्द्धारित कर नियमितरूपसे हरिनाम करना चाहिए। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके निकट श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंका श्रवण करना चाहिए। उसके अभावमें नियमितरूपसे स्वयं ही पाठ करना चाहिए। नियमितरूपसे साधुसङ्गमें श्रीतुलसी महारानीकी, भगवानके मन्दिरोंकी और मथुरा, वृन्दावन, पुरी, द्वारका आदि धामोंकी परिक्रमा करनी चाहिए। साधुसङ्गमें नवधा भक्तिका पालन करना सर्वोत्तम विधि है। नवधा भक्ति इस प्रकार है—

(१) श्रवण—भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका श्रवण।

(२) कीर्त्तन—भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका कीर्त्तन करना।

(३) स्मरण—भगवानके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका स्मरण करना।

(४) पादसेवन—देशकालादिके अनुसार परिचर्या और धामादि परिक्रमा।

(५) अर्चन—षोडषोपचार द्वारा भगवानका पूजन।

(६) वन्दन—विविध प्रकारके स्तोत्रके द्वारा वन्दना करना।

(७) दास्य—मैं भगवानका दास हूँ—ऐसी भावना करना।

(८) सख्य—सख्यभावकी भावना करना।

(९) आत्मनिवेदन-शरीरसे लेकर शुद्ध आत्मा तक सब कुछ भगवानको अर्पण करना।

यूँ तो नवधा भक्तिके किसी भी अङ्गका विधिवत् पालन करनेसे अभीष्ट पूर्ण हो सकता है, फिर भी हरिनाम-संकीर्तन सर्वोपरि है। क्योंकि कृष्णनाम और कृष्ण-स्वरूप एक ही वस्तु हैं। अधिकन्तु कृष्ण-स्वरूपकी अपेक्षा कृष्णनाम अधिक दयालु और पतित-पावन हैं। नाम-संकीर्त्तनमें भक्तिके ६४ अङ्ग पूर्ण मात्रामें अनुस्यूत रहते हैं। नामसंकीर्तन करनेसे नवधा भक्तिका पालन करना हो जाता है। इसलिये इन दिनों प्रतिदिन सत्सङ्गमें, भगवान्‌के मन्दिरमें अथवा इनके अभावमें किसी निर्जन स्थानमें तुलसी महारानीके समीप श्रद्धापूर्वक भावपूर्ण हृदयसे हरिनाम करना चाहिए।

एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि चातुर्मास्यके समस्त विधि-निषेधोंका विधिवत् पालन करके भी यदि भगवद्भक्तिका आचरण न किया जाय, तो सब कुछ प्राण-रहित शरीरकी भाँति बिलकुल व्यर्थ होता है।

जिस प्रकार एकादशीके दिन असमर्थ व्यक्तियोंके लिये अनुकल्प—फल-फूल-और दूध आदिकी व्यवस्था की गयी है, उसी प्रकार चातुर्मास्यके चार महीनों तक नियम-सेवा पालन करनेमें असमर्थ व्यक्तियोंके लिए भी एक अनुकल्पकी व्यवस्था दी गयी है। वह व्यवस्था है—दामोदर-व्रत या कार्तिक व्रत। किन्तु यह अनुकल्प व्यवस्था केवल असमर्थ व्यक्तियोंके लिए ही है।

### *निषेध*

मनुष्य विषय भोगोंमें आसक्त होकर भगवान्‌को भूल जाता है।। भगवान्‌को भूलना ही समस्त दुःखोंकी जड़ है। इसलिये विषयभोगोंका अधिक-से-अधिक जितना त्याग किया जाय, उतना ही अच्छा है। अपने भोगोंको जितना ही संकुचित किया जायेगा—मन और शरीरके धर्मोंको जितना ही कम किया जायेगा, साधक हरि-सेवामें उतना ही अधिक अग्रसर होगा।

चातुर्मास्यके एक–एक महीनेमें कुछ–कुछ वस्तुओंका व्यवहार विशेष रूपसे वर्जित है। जैसे—(१) श्रावणमें पालक, वथुआ एवं अन्य साग–पत्ते, (२) भाद्रमें दधि, (३)आश्विनमें दूध और (४) कार्त्तिकमें आमिष अर्थात् मांस जातीय वस्तुएँ; जैसे सरसों तेल आदि। इनके अतिरिक्त सेम, बरवटी फली, परवल, साधुसङ्गमें बैंगन, मसूर और उड़दका परित्याग करना चाहिए। वासी और दूषित अन्न भोजन नहीं करना चाहिए। सामर्थ्यवानोंके लिये नमक, तेल, मधु आदिका उपभोग वर्जनीय है।। प्याज, लहसुन, नागरमोथा, लौकी, छत्री, गाजरका परित्याग करना चाहिए। धूम्रपान, मद्य–मांस, ताम्बूल आदिका सर्वथा वर्जन उचित है। व्रतके दिनोंमें अंकुर और वीज युक्त स्थानोंमे आवागमन निषिद्ध है। हरिकथाके अतिरिक्त सर्वदा मौन रहना चाहिए। ऐसे लोगोंसे दूर रहना चाहिए, जो व्रतका पालन नहीं कर रहे हों।

कुसङ्गसे सर्वदा बचना चाहिए। प्रधान कुसङ्ग दो हैं—एक, जो भगवद्भजन नहीं करते और दूसरे, जो स्त्री–संगी हैं। नख और केश आदि नहीं कटवाना चाहिए; क्यांकि इनसे विलासिता बढ़ाती है और विलासिता हरिभजनके मार्गमें प्रधान बाधा है।

### *उद्देश्य*

चातुर्मास्य व्रतका पालन सभी लोग करते हैं। कर्मी—लौकिक और पारलौकिक सुख–भोगके उद्देश्य से, ज्ञानी—मोक्षके उद्देश्यसे, योगी–तपस्वी—सिद्धि प्राप्तिके उद्देश्यसे चातुर्मास्य व्रतका पालन करते हैं। परन्तु इसका उद्देश्य इन्हीं नश्वर फलों तक ही सीमित नहीं है। इसका सर्व–प्रधान और चरम उद्देश्य कृष्णप्रेमकी प्राप्ति है। तब शास्त्रोंमें चातुर्मास्यका जो लौकिक और स्वर्गीय माहात्म्य वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य विषय भोगोंमें आसक्त कर्मियों और मोक्षसुखमें आवद्ध ज्ञानियोंको उन फलोंका लोभ दिखलाकर उन्हें भक्ति मार्गमें प्रवेश करानेके लिये है; जैसे किसी रोगी–बालकको मिठाईका लोभ दिखलाकर दवा दी जाती है। अतएव शुद्ध कृष्णसेवाकी प्राप्ति ही चातुर्मास्य व्रतका प्रधान और अन्तिम उद्देश्य है। ❑

# प्रचार–प्रसङ्ग

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान उपसभापति एवं साधारण संपादक परमाराध्यतम ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज अपनी चार मास लम्बी सातवीं विदेश यात्रामें अमेरिका, कॉस्टारिका, वेनेजुएला, ब्राजील, ईटली, फ्रान्स, ईंग्लैण्ड, हॉलैण्ड एवं जर्मनीके प्रायः ५० से भी अधिक महानगरों और उपनगरोंमें भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुजीकी प्रेमभरी वाणी और श्रीहरिनाम सङ्कीर्तनके सहित सनातन धर्म और भक्ति शास्त्रोंका विपुल रूपमें प्रचार एवं प्रसार कर अपने शिष्यों एवं अनुयायियोंके साथ गत २२ जुलाई १९९९ को पुनः भारतवर्षकी राजधानी दिल्ली एवं २४ जुलाईको श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें लौट आए।

श्रीभागवत पत्रिकाके द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अङ्कमें इस प्रचारयात्राका इंग्लैण्ड तकका संवाद क्रमशः प्रकाशित किया जा चुका है।

श्रीधामपुरीमें तारीखको आयोजित श्रीजगन्नाथ देवके रथयात्रा महोत्सवके सम्मानमें श्रील महाराजजीने इंग्लैण्डमें ही रथयात्रा प्रसङ्गके सम्बन्धमें विविध प्रकारके रोचक एवं सिद्धान्त पूर्ण तत्त्वोंको प्रकाशित करना आरम्भ किया।

१७ जुलाईको श्रीलमहाराजजी इंग्लैण्डसे हॉलैण्डकी राजधानी AMSTERDAM महानगरमें पधारे। यहाँ पाँच दिनोंका कार्यक्रम MEYE नामक स्थानमें आयोजित किया गया था। इस कार्यक्रममें जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली, बेल्जियम, आस्ट्रियाके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका आदि विभिन्न राष्ट्रोंसे भक्तगण सम्मिलित हुए। श्रीरथयात्रा प्रसङ्गको क्रमशः आगे बढ़ाते हुए हालैण्डमें श्रीलमहाराजजीने श्रीजगन्नाथदेवके प्राकट्य, रथयात्रा महोत्सवमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीके अतुलनीय अवदान तथा गुण्डिचा मार्जन आदि विषयोंके हृदय स्पर्शी भक्तिपूर्ण तत्वोंको प्रकाशित किया। यहाँ भी भक्तोंनें प्रवचनों के उपरान्त शास्त्रोंमें वर्णित विभिन्न भक्तिपूर्ण कथाओं पर आधारित शिक्षाप्रद नाटकोंका अभिनय किया। इनमेंसे गीताका संसार नामक अभिनय, जो कि ललितमोहनदास ब्रह्मचारीने (श्रीलमहाराजजीका अमेरिकी शिष्य) प्रस्तुत किया, वास्तव में ही सभीके लिए एक गहरी प्रेरणाका स्रोतका बना। श्रीमहाराजजीने अपने विचार व्यक्त करते हुए बतलाया कि भक्तिपथपर अग्रसर प्रत्येक साधकको सावधानीपूर्वक श्रीहरि–गुरु–वैष्णवोंके आनुगत्यमें ही शास्त्रोंका तात्पर्य समझना चाहिए। अन्यथा स्थूल विचारोंमें फँस कर भक्ति पथसे सर्वदाके लिए च्युत होना पड़ सकता है।

हॉलैण्डमें भी कई भक्तोंने श्रीलमहाराजजीसे हरिनाम और दीक्षा मंत्र ग्रहण किए। यहाँकी प्रचार व्यवस्थाको सफल बनानेमें हॉलैण्डके सभी भक्तोंने कंधेसे कंधा मिलाकर योगदान दिया। फिर भी श्रीब्रजनाथ दासाधिकारी, श्रीभक्तस्वरूप दासाधिकारी, श्रीराधारमण दासाधिकारी, श्रीमती वृन्दादेवी दासी, श्रीमती तुंगविद्यादेवी दासी, श्रीमती सावित्रीदेवी दासी और श्रीमती गोविन्द दासीका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हॉलैण्डमें सफल प्रचार कर श्रीलमहाराजजी २२ जुलाई को नई दिल्लीमें पधारे। ईंदिरागांधी अंतर्राष्टीय हवाई अड्डे पर दिल्लीके भक्तोंने विशेष उल्लास एवं उत्साहके साथ नृत्य एवं कीर्तन करते हुए श्रीलमहाराजजीका स्वागत किया। २३ तारीखको श्रीलमहाराजजीके स्वागतमें दिल्लीवासी भक्तोंने शालीमार बागके एक सभागृहमें एक विशेष धर्म सभाका आयोजन किया। २४ तारीखको विदेश प्रचार यात्रामें सहायक भक्त मण्डलीके साथ श्रीलमहाराजजीने श्रीमथुरा धाममें प्रवेश किया। श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी एवं श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारीकी अध्यक्षतामें अन्य मठवासी भक्तों तथा मथुरा निवासियोंने ममत्वपूर्ण अश्रुपूरित नेत्रोंसे श्रील महाराजजीका स्वागत किया। सभी मथुरा वासी भक्तगण श्रीलमहाराजजीकी सफल यात्रासे स्वयंको गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे। सचमें न केवल मथुरा अपितु सम्पूर्ण भारतवर्षको ही इस महान संत पर गौरव है। आज इनके अथक प्रयासके फलस्वरूप विश्वभरके सौभाग्यशाली जीव भारतीय संस्कृति और वेदोंके आदर्श स्वरूप श्रीब्रजधाम एवं ब्रजवासियोंकी महिमासे आकर्षित और प्रेरित हो शुद्धभक्तिका आश्रय कर ब्रजवासियोंके भावोंका आनुगत्य कर भगवान श्रीकृष्णकी सेवा करना चाह रहे हैं। ❑

## नित्यलीला प्रविष्ट ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'श्रीलप्रभुपाद' की उपदेशावली

१—'परं विजयते श्रीकृष्ण–संकीर्तनम्'—यही श्रीगौड़ीय मठके एकमात्र उपास्य हैं।

२—विषय विग्रह श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं, तदतिरिक्त सभी उनके भोग्य हैं।

३—जो हरि–भजन नहीं करते, वे सभी निर्बोध और आत्मघाती हैं।

४—श्रीहरिनाम–ग्रहण और भगवत् साक्षात्कार दोनों एक ही बात हैं।

५—जो पञ्च–मिश्रित धर्मोंका पालन करते हैं, वे भगवान्‌की सेवा नहीं कर सकते।

६—मुद्रण–यन्त्रके स्थापन, भक्ति–ग्रन्थोंके प्रचार और नाम–हाटके प्रचार द्वारा ही श्रीमायापुरकी (श्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्मस्थान) प्रकृत सेवा होगी।

७—हम सत्कर्मी, कुकर्मी अथवा ज्ञानी अज्ञानी नहीं हैं; हम तो अकैतव हरिजनोंके पाद–त्राण वाहक, "कीर्त्तनीयः सदा हरिः" मन्त्रमें दीक्षित हैं।

८—केवल आचार–रहित प्रचार कर्म–अङ्गके अन्तर्गत है। परस्वभावकी निंदा न कर आत्म–संशोधन करना चाहिए; यही मेरा उपदेश है। ❑

## वैष्णव व्रत तालिका

| | | | |
|---|---|---|---|
| २० भाद्र | ६ सितम्बर | सोमवार | अन्नदा एकादशी व्रत, अगले दिन ६–३७ से पहले पारण। |
| २३ भाद्र | ९ सितम्बर | बृहस्पतिवार | अमावस्या। |
| १ आश्विन | १८ सितम्बर | शनिवार | श्रीश्रीराधाष्टमी। |
| ४ आश्विन | २१ सितम्बर | मंगलवार | पार्श्व एकादशी व्रत, वामन द्वादशी व्रत, अगले दिन श्रीवामनदेवके अर्चनान्तर प्रातः ९–२८ से पहले पारण, जीव गोस्वामीका आविर्भाव। |
| ६ आश्विन | २३ सितम्बर | बृहस्पतिवार | श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका आविर्भाव। |
| ७ आश्विन | २४ सितम्बर | शुक्रवार | श्रीहरिदास ठाकुरजीका तिरोभाव। |
| ८ आश्विन | २५ सितम्बर | शनिवार | पूर्णिमा, श्रीविश्वरूप महोत्सव। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
वि. सं. २०५६ भाद्र मास, सन् १९९९, २७ अगस्त—२५ सितम्बर
{ संख्या ६

# श्रीश्रीराधाष्टमी–व्रतम्

*इत्युक्तो भगवान् साक्षात् श्रीकृष्णो गोकुलेश्वरः। प्रत्याह प्रणतान् देवान्मेघगंभीरया गिरा।।२३।।*

*श्रीभगवानुवाच*

*हे सुरज्येष्ठ हे शम्भो देवाः शृणुत मद्वचः। यादवेषु च जन्मध्वमंशैस्त्रीभिर्मदाज्ञया।।२४।।*
*अहं चावतरिष्यामि हरिष्यामि भुवो भरम्। करिष्यामि च वः कार्यं भविष्यामि यदोः कुले।।२५।।*

*इत्युक्तवन्तं जगदीश्वरं हरिं, राधा पतिप्राण–वियोग–विह्वला।*
*दावाग्निना दुःखलतेव मूर्च्छिताश्रु–कम्प–रोमांचित–भावसंकृता।।२८।।*

*श्रीराधोवाच*

*भुवो भरं हर्त्तुमलं व्रजेर्भुवं, कृतं परं मे शपथं श्रृणोत्वतः।*
*गते त्वयि प्राणपते च विग्रहं, कदाचिदन्नैव न धारयाम्यहम्।।*

*श्रीभगवानुवाच—*

*त्वया सह गमिष्यामि मा शोकं कुरु राधिके। हरिष्यामि भुवोः भारं करिष्यामि वचस्तव।।३१।।*

*श्रीराधिकोवाच—*

*यत्र वृन्दावनं नास्ति यत्र नो यमुना नदी। यत्र गोवर्द्धनो नास्ति तत्र मे न मनःसुखम्।।३२।।*

*वेदनागक्रोशभूमि स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वयम्। गोवर्द्धनञ्च यमुनां प्रेषयामास भूपरि।।३३।।*

*—श्रीमद्गर्गसंहितायां गोलोकखण्डे तृतीयोऽध्याये।*

*श्रीराधाया पूर्णतमस्तु साक्षाद्भूत्वा व्रजे किं चरितं चकार।*

*तद्ब्रूहि मे देवऋषे ऋषीश, त्रिताप–दुःखात् परिपाहि मांत्वम्।।३।।*

*श्रीनारद उवाच—*

*अथ प्रभोस्तस्य पवित्रलीलां, सुमङ्गलां संशृणुतात् परस्य।*

*अभूत् सतां यो भुवि रक्षणार्थं, न केवलं कंसवधाय कृष्णाः।।५।।*

*अथैव राधा वृषभानुपत्न्यामावेश्य रूपं महसः पराख्यम्।*

*कलिन्दजा कूल–निकुञ्जदेशे, सुमंदिरे सावततार राजन्।।६।।*

*घनावृते व्योम्नि दिनस्य मध्ये, भाद्रेसिते नागतिथौ च सोमे।*

*अवाकिरन् देवगणाः स्फूरद्विस्तन्मन्दिरे नन्दनजैः प्रसूनैः।।*

*राधावतारेण तदा वुभूवुर्नद्योऽमलाभाश्च दिशः प्रसेदुः।*

*ववुश्च वाता अरविन्दरागैः, सुशीतलाः सुन्दरमन्दयानैः।।७.८।।*

*सुतां शरच्चन्द्रशताभिरामां, दृष्ट्वाथ की र्त्तिर्मुदमाप गोपी।*

*शुभं विधायाशु दयौ द्विजेभ्यो, द्विलक्षमानन्दकरं गवाञ्च।।९।।*

*प्रेङ्खे खचिद्रत्नमयुखपूर्णे, सुवर्णयुक्ते कृतचन्दनाङ्गे।*

*आन्दोलिता सा ववृधे सखीजनैर्दिने दिने चन्द्रकलेव ताभिः।।*

*यद्दर्शनं देववरैः सुदुर्लभं यज्ञैरवाप्तं जनजन्मकोटिभिः।*

*सविग्रहां तां वृषभानुमंदिरे लक्ष्यन्ति लोकाललनाप्रलालनैः।।१०–११।।*

*श्रीराससरङ्गस्य विकाशचन्द्रिका दीपावलीभिर्वृषभानु–मंदिरे।*

*गोलोकचुडामणि कण्ठभूषणां राधां परां तां सततं स्मरामि।।१२।।*

*—श्रीमद्गर्गसंहितायां गोलोकखण्डे अष्टमोऽध्याये*

*फलश्रुतिः—*

*श्रीराधिका–जन्म–वृतान्तं नित्यं य पठेन्नर। राधामाधवयोः पादे भक्ति दास्यं लभेद्ध्रुवम्।।*

*कर्म निर्मूलनं कृत्वा मत्युं सुदुर्जयम्। विलङ्घ्य सर्वलोकांश्च याति गोलोकमुत्तमम्।।*

*अनुवाद—*

गोकुलेश्वर साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण देवताओं द्वारा इस प्रकार वंदित होनेपर मेघके समान गंभीर वाणीसे कहने लगे।।२३।।

भगवान्ने कहा—'हे चतुरानन! हे शंकर! हे देवगण! तुम लोग मेरी बात सुनो। मेरी आज्ञासे तुम लोग अपनी–अपनी पत्नियोंके साथ अपने–अपने अंशसे यदुवंशमें जन्म लो। मैं भी यदुकुलमें अवतीर्ण

होऊँगा और पृथ्वीका भार उतार कर तुम लोगोंका कार्य सम्पादन करूँगा।।२४-२५।।

अपने पति श्रीहरिके ऐसा कहने पर श्रीमती राधिका अपने प्राणोंके समान प्रिय पतिके वियोग भावनासे अत्यन्त विह्वल होकर दावाग्नि द्वारा झुलसी हुई लताकी तरह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी, उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये, शरीर काँपने लगा, रोंगटे खड़े हो गये।।२८।।

श्रीमती राधिकाने कहा—प्राणनाथ! आप पृथ्वीका भार उतारनेके लिये पृथ्वीलोकमें जायेंगे अतएव आप मेरी एक अमोघ-प्रतिज्ञा श्रवण कीजिए। आपके भूलोक जाने पर मैं अकेली किसी प्रकार भी यहाँ अपने शरीरको धारण नहीं कर सकूँगी।।२९

भगवान कृष्ण बोले—राधिके! चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे वचनका पालन करूँगा—तुम्हें भी साथ ले चल कर पृथ्वीका भार उतारूँगा।।३१।।

श्रीमती राधिकाने कहा—जहाँ वृन्दावन नहीं, जहाँ यमुना नदी नहीं और जहाँ गिरिराज गोवर्द्धन नहीं, वहाँ मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।।३२।।

श्रीमती राधिकाकी बात सुनकर स्वयं भगवान हरिने अपने गोलोक धामसे चौरासी कोस भूमि, गोवर्द्धन पर्वत और यमुनाको पृथ्वीपर भेज दिया।।३३।।

—श्रीगर्ग संहिता, गोलोकखण्डे तृतीयोऽध्याये

(बहुलाश्वने कहा—) हे देवर्षि नारद! परिपूर्णतम स्वयं श्रीकृष्णने राधाके साथ व्रजपुरमें अवतीर्ण होकर कौन-सी लीला की थी? उसे सुनाकर आप आधिदैविकादि त्रितापोंसे मेरी रक्षा कीजिए।।३।।

नारदजी बोले—अनन्तर परम प्रभु श्रीकृष्णकी मङ्गलमयी पवित्र-लीलाका श्रवण करो; वे केवल कंसका वध करनेके लिये ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, ऐसी बात नहीं; वे संतजनोंकी रक्षाके लिये भी व्रजमें अवतीर्ण हुए थे।।५।।

हे राजन्! श्रीकृष्णने वृषभानुकी पत्निमें अपने परम तेजका श्रीराधाके रूपमें संचार किया, उसी तेजसे यमुना तट पर निकुंज-प्रदेशमें उत्तम भवनमें श्रीमती राधिकाजी आविर्भूत हुई।।६।।

भाद्रपदकी शुक्लाष्टमी तिथिको सोमवारके दिन दोपहरके समय वे अवतीर्ण हुई। उस समय आकाशमें बादल घिर रहे थे। उस समय देवताओंने उस भवनके ऊपर नन्दनवनमें उत्पन्न खिले हुए पुष्पोंकी वर्षा की; नदियाँ निर्मल हो गयीं, दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, सुशीतल वायु पद्मपरागको साथ लेकर मन्द-मन्द प्रवाहित होने लगी।।७।।

शरद्कालीन सैकड़ों शशधरोंकी कान्तिको मात करती हुई परमा सुन्दरी कन्याका दर्शन कर माता कीर्तिका देवी बड़ी प्रसन्न हुई। उन्होंने शीघ्र ही मङ्गलाचार कर ब्राह्मणोंको दो लाख अतिशय आनन्ददायक गौवें दान कीं।।९।।

पश्चात् राधा किरणमालाओंसे पूर्ण रत्नमण्डित चन्दन-चर्चित सोनेके पालनेमें सखियों द्वारा झुलायी जाती हुई दिन दिन चन्द्रकलाकी भाँति बढ़ने लगीं। जिनका दर्शन देवताओंको भी अतिशय दुर्लभ है, जो करोड़ों जन्मोंके यज्ञादि अनुष्ठानों द्वारा भी प्राप्त नहीं होतीं, आज उनको लोग वृषभानु महाराजके मन्दिरमें शरीरधारिणी और ललनाओं द्वारा लालित-पलित होते देख रहे हैं।।१०-११।।

श्रीरास-रङ्गको प्रकाशित करने वाली दीपावली-रूप जो ज्योत्सना आज वृषभानुके मन्दिरमें उदित हुई है, गोकुल चूड़ामणि श्रीकृष्णके कंठहारस्वरूपा उन श्रीमती राधिकाका मैं सर्वदा स्मरण करता हूँ।।१२।।

जो श्रीराधिकाके जन्म-वृत्तान्तका नित्य पाठ करते हैं, उनको श्रीराधामाधवके चरण-युगलोंमें भक्ति और दासत्व लाभ होगा; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं तथा वे कर्मकाण्डको जड़से उखाड़ फेंक कर दुर्जय मृत्युको जय कर समस्त लोकोंको पार कर सर्वोत्तम गोलोक धाममें गमन करेंगे।।

—श्रीगर्ग संहिता, गोलोक खण्डे अष्टमोऽध्याये

# संत (सज्जन) के लक्षण

*—श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'*

*निर्दोष (५)*

श्रीमहाभारतमें सनत्सुजातने कहा है—

*क्रोधकामौ लोभमोहौ विधित्सा*
*कृपासूये मानसाकौ स्पृहा च।*
*इर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा*
*वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम्।।*

मनुष्योंको इन बारह दोषोंका त्याग करना चाहिये। बारह दोष ये हैं—(१) क्रोध—कामनामें बाधा पड़ने–से क्रोध होता है। (२) काम—स्त्री–सङ्गकी वासना। (३) लोभ—धन–खर्च करनेमें कातरता। (४) मोह—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होना। (५) विधित्सा—विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उत्तरोत्तर और भी कामनाओंकी वृद्धि होना। (६) अकृपा—निर्दयता। (७) असूया दूसरोंके गुणोंमें भी दोष दर्शन करना। (८) मान—अपनेमें पूज्यबुद्धि। (९) शोक—स्वार्थकी हानिमें मानसिक क्लेश। (१०) स्पृहा—भोगोंकी कामना। (११) इर्ष्या—दूसरोंका उत्कर्ष सहन न होनेकी प्रवृत्ति। (१२) जुगुप्सा—परनिन्दा। इन बारह प्रकारके दोषोंमेंसे कोई भी एक दोष मनुष्यका सर्वनाश करनेमें समर्थ है। और जहाँ ये बारहों एक साथ मिले हुए हों, वहाँ वे मनुष्यकी कैसी भयंकर दुर्गति करते हैं, यह वर्णनातीत है। सज्जन पुरुष इन बारह प्रकारके दोषोंसे सर्वथा बचेंगे।

सनत्सुजातने उक्त बारह प्रकारके दोषोंके अतिरिक्त और भी ३२ प्रकारके दोषोंका वर्णन किया है। जिनमेंसे अठ्ठारह दोष अजितेन्द्रिय पुरुषोंके, छः दोष त्यागके अभावके और आठ दोष प्रमादके हैं। वैष्णव साधु इन समस्त प्रकारके दोषोंसे सर्वथा मुक्त होते हैं। मायावादीजन भगवान्के प्रति अपराधी और कृष्ण–सेवा विमुखोंके अग्रणी हैं। उनके दोष–समूह भी सज्जन व्यक्तियोंको स्पर्श नहीं करते।

निर्बोध कपटी भक्त शुद्ध भक्तिके आचरणसे विमुख होकर तरह–तरहके दोषोंका शिकार होता है। वह दैन्यका यथार्थ स्वरूप न समझ सकनेके कारण सुनिर्मल–सज्जनोंके चरित्रमें दैन्यके अभावकी कल्पना कर वैष्णवापराधी हो पड़ता है। कनिष्ठ भागवतोंको इस दोषसे सावधान रहना चाहिये; क्योंकि यह दोष कनिष्ठ भक्तमें सहज ही प्रवेशकर उनके उच्च अधिकारकी प्राप्तिमें बाधक होता है। दुष्ट लोग श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकी भगवद्विद्वेषीके प्रति कठोर उक्तियोंको सुनकर उनमें दैन्यका अभाव दर्शन करते हैं। सहजियागण दुश्चरित्रताके विरोधियोंमें या नदिया–नागरियोंके विषयाश्रयगत अज्ञानताको जीवके लिये सर्वथा अहितकर और अपराधमय बतलानेवालोंमें दैन्यका अभाव मानते हैं। इसमें उन्हीं लोगोंका अहित है दूसरोंका नहीं। कोमलश्रद्ध व्यक्तियोंके विचार अस्थिर और एक देशीय होते हैं। वे अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारकर अपने हिताकांक्षियोंको शत्रु समझते हैं और शुभचिन्तकोंका छिद्रान्वेषण कर अपने दैन्यको जड़से उखाड़ फेंकते हैं।

सज्जन व्यक्ति दैन्यका यथार्थ स्वरूप जानकर निर्बोध व्यक्तियोंसे प्रतिष्ठाकी आशा नहीं करते। वे उनका सब तरहसे हित करते हैं; क्योंकि सज्जन व्यक्ति निर्दोष होते हैं। श्रीदामोदर स्वरूपने बंगदेशीय मायावादीको चिकनी–चुपड़ी बातोंसे उत्साह देनेके बदले कपट दैन्यको छोड़कर उसके सच्चे कल्याणकी कामना की थी। श्रीवल्लभ भट्टके कल्याणके लिये, श्रीकालाकृष्ण दासको भट्टथारियोंके

पंजेसे छुड़ानेके लिये 'तृणादपि सुनीच' इस महासत्यके शिक्षक श्रीचैतन्य महाप्रभुने कुछ दोष नहीं किया, बल्कि उनका यथार्थ कल्याण किया था। इसके द्वारा उनमें तृष्णादपि सुनीचताका—दैन्यका अभाव मानना अपराध है—महादोष है। सज्जन व्यक्तिको निर्दोष जान लेनेपर सच्चे अर्थोंमें अमानी-धर्म और दैन्यकी उपलब्धि होती है। ऐसा सौभाग्य उदित होनेपर निर्बोध व्यक्ति उपरोक्त समस्त प्रकारके दोषोंका त्याग कर सज्जन व्यक्यिोंकी भाँति निर्दोष हो सकेंगे। ❑

# *विशुद्ध-भजन*

*—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

अशुद्ध भाव और अशुद्ध क्रियाका परित्याग नहीं करनेसे विशुद्ध भजन नहीं होता

*"पड़िले शुनिले कभु कृष्ण प्राप्ति नय।*
*भजिले विशुद्ध-भावे तबे कृष्ण पाय।।"*

किसी भक्त महाजनकी लेखनीमें यह उपदेश रत्न पाया जाता है। यह उपदेश नितान्त निगूढ़ सत्यमूलक है। बहुतेरे खूब परिश्रम कर भजन साधन करते हैं, किन्तु बहुत परिश्रम करनेपर भी कोई सुफल नहीं दिखलाई पड़ता। भजनका विशुद्ध न होना ही इसका एकमात्र कारण समझ पड़ता है। कृष्ण भजनसे सम्बन्धित समस्त अशुद्ध भाव और क्रियाओंका परित्याग कर भजन करनेसे भजन विशुद्ध होता है। अतएव समस्त अशुद्ध भावों तथा क्रियाओंको विचारपूर्वक परित्याग करना सभी भजन-प्रिय व्यक्तियोंको आवश्यक है। विशुद्धरूपसे भजन करनेसे शुद्धा भक्ति प्राप्त होती है और इस शुद्धाभक्ति द्वारा ही भगवानके चरणकमल लाभ होते हैं। इसे छोड़कर किसी भी अन्य उपाय द्वारा भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवानका स्पष्ट निर्देश है—

*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।*
(श्रीमद्भा. १२/१४/२१)

*न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।*
*न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।।*
(श्रीमद्भा. १२/१४/२०)

—हे उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही वशमें आता हूँ। मुझे प्राप्त करनेका यही एक उपाय है।

### *शुद्धा भक्तिके लक्षण*

श्रीमद् रूप गोस्वामी शुद्धा भक्तिका लक्षण कहते हैं—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*
*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।*
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य अभिलाषाओंसे रहित होकर तथा ज्ञान-कर्म आदिके प्रति स्वाधीन चेष्टाका परित्यागकर समस्त इन्द्रियोंके द्वारा अनुकूल भावसे कृष्णानुशीलन—कृष्णकी सेवा करना ही शुद्धा भक्ति है।

ज्ञान और कर्म जब भक्तिके अनुगत होते हैं तब उनमें कोई दोष नहीं होता। किन्तु उनके प्रति स्वाधीन चेष्टा होनेसे वे भक्तिके विरोधी हो जाते हैं। एसी अवस्थामें भजन विशुद्ध नहीं होता। मुण्डकोपनिषदमें इसी बातका प्रतिपादन किया गया है—

*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।*
*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणते तनु स्वाम्।।*
(मुण्डक ३/२/३)

अनेक शास्त्रोंको पढ़ने–सुननेसे तीक्ष्ण बुद्धि या तर्क शक्ति द्वारा अथवा शास्त्र–विचारमें प्रकाण्ड पाण्डित्यके द्वारा कोई अखिलात्मा भगवानको लाभ नहीं कर सकता। जो भगवानके शरणापन्न होता है, उन्हींको एकमात्र अपना प्रभु जानकर वरण करता है, भगवान उसके निकट ही आत्मविक्रय कर देते हैं।

अभिप्राय यह है कि केवल शास्त्रोंको पढ़कर या सिद्धान्तोंको सुनकर ही भगवानकी कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती है। ज्ञान और कर्मके प्रयासका परित्याग कर भगवानकी शरण ग्रहण करना ही विशुद्ध भजनका मूल है। इसीके द्वारा कृष्ण–प्रेमरूप परम पुरुषार्थ लाभ होता है।

### *भजन कालकी दो अवस्थाएँ—*
### *(क) अनर्थयुक्त, (ख) अनर्थमुक्त*

भजनकालमें साधककी दो अवस्थाएँ होती हैं—(क) अनर्थयुक्त अवस्था (ख) अनर्थमुक्त अवस्था। जितने दिनतक भजनमें साधकके अनर्थोंका नाश नहीं होता, उतने दिनतक भजन न्यूनाधिक परिमाणमें अशुद्ध रहता है। सत्संगमें भजन करते–करते साधुकी कृपासे अनर्थ दूर होनेपर भजन विशुद्ध होता है।

### *(क) अनर्थयुक्त अवस्था*

अनर्थ चार प्रकारके हैं—(१) स्वरूप भ्रम, (२) असत् तृष्णा, (३) हृदयकी दुर्बलता और (४) अपराध।

### *प्रथम अनर्थ—स्वरूप भ्रम*

जीव स्वरूपतः कृष्णदास है, इसे भूल जाना—न जानना ही स्वरूप भ्रमरूप पहला अनर्थ है। इस अनर्थसे नाना प्रकारकी विघ्न बाधाएँ उत्पन्न होकर भजनको विशुद्ध नहीं बनने देतीं। जीव कृष्णका दास है, कृष्ण जीवोंके प्रभु हैं, इस जगत्की रचना भगवत् शक्ति मायाके द्वारा हुई है—इस तत्त्वज्ञानके अभावके कारण क्षुद्र जीवमें ब्रह्मत्वका आरोप या कल्पना, माया ब्रह्मका भ्रम है—ऐसी धारणासे, जगत् मिथ्या आदि नाना प्रकारके असत् सिद्धान्तोंका उदय होता है। फलतः कोई मायावादी, कोई निर्विशेषवादी, कोई ज्ञानी, कोई भोगी और कोई कर्मी होकर भजनको अशुद्ध बना डालते हैं। इनसे किसी प्रकार भी जीवोंका मंगल नहीं होता, बल्कि उलटा अमंगल होता है। श्रीमन्महाप्रभुका कथन है—

*प्रभु कहे—मायावादी कृष्ण अपराधी।*
*ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य कहे निरवधि।।*
*अतएव कृष्णनाम ना आइसे तार मुखे।*
*मायावादीगण याते महा बहिर्मुख।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

मायावादी कृष्णके चरणोंमें अपराधी होता है, वह सर्वदा 'ब्रह्म', 'आत्मा', और 'चैतन्य' शब्दोंका उच्चारण करता है। इसीलिए उसके मुखसे कृष्णनाम नहीं निकलता। फलतः वे महाबहिर्मुख होते हैं।

निर्विशेषवादियोंका कहना है—ईश्वर निराकार है। वे भगवानके नित्य सच्चिदानन्दघन मूर्तिका विश्वास नहीं करते। वे उसे काल्पनिक मानते हैं और कहते हैं कि जीव भजनके बलसे अन्तमें ईश्वरमें लीन हो जाता है। इनके सम्बन्धमें महाप्रभुका कथन है—

*ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दकार।।*
*श्रीविग्रह ये ना माने सेई त पाषण्ड।*
*अस्पृश्य, अदृश्य सेई, हय यम–दण्ड्य।।*
*येई मूढ़ कहे—जीव ईश्वर हय सम।*
*सेई त पाषण्डी हय, दण्डे तार यम।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

भगवानका श्रीविग्रह सच्चिदानन्द आकारयुक्त होता है। अतः जो उनका श्रीविग्रह नहीं मानते, वे पाषण्डी हैं। उन्हें न तो स्पर्श करना चाहिए और न ही देखना चाहिए। ऐसे लोगोंको यम महाराज दण्डका विधान देते हैं।

जो लोग जीव और ईश्वरको एक या समान

मानते हैं—वे मूढ़ हैं। यम ऐसे पाषण्डियोंको भी शास्ति प्रदान करते हैं।

### *मायवादियोंके ज्ञान और योगियोंके आसनसे चित्त शुद्ध नहीं होता*

ज्ञानवादी शुष्कवैराग्य और शास्त्र अध्ययन आदि उपायोंका अवलम्बन कर आत्मशुद्धिकी आशा करते हैं, किन्तु श्रीमद्भागवतमें ऐसे ज्ञानकी उपेक्षा की गई है—

***नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानममलं निरंजनम्।***

श्रीमन्महाप्रभुने भी ऐसे ज्ञानकी कड़ी निन्दा की है—

*ज्ञानी जीवन्मुक्त-दशा पाईनु करि माने।*
*वस्तुतः बुद्धि 'शुद्ध' नहे कृष्णभक्ति बिने।।*
*शुष्क ज्ञाने—जीवन्मुक्त अपराधे अधोमजे।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

—ज्ञानी अपनेको जीवन्मुक्त मानता है, पर वस्तुतः कृष्णभक्तिके बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका अनादर करनेसे उसका अधोपतन हो जाता है।

योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदिके अभ्याससे आत्मा और परमात्माका संयोग साधन करते हैं, किन्तु वे भी अखिलात्मा भगवान् कृष्णचन्द्रको प्राप्त नहीं कर पाते। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

*कर्म निन्दा, कर्म त्याग, सर्व शास्त्रे कहे।*
*कर्म हैते प्रेमभक्ति कृष्णे कभु नहे।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

—समस्त शास्त्रोंमें कर्मकी निन्दा की गई है तथा कर्मोंके त्यागका ही निर्देश दिया गया है। कर्मके द्वारा कृष्णके प्रति प्रेम-भक्ति कभी भी नहीं हो सकती।

### *विशुद्ध ज्ञान*

इन सब कुमतोंका परित्यागकर सम्बन्ध-ज्ञानके साथ भजन करनेसे विशुद्ध भजन हो सकता है, जीव कृष्णका दास है, कृष्ण जीवोंके प्रभु हैं, प्रेम ही जीवोंका प्रयोजन है, प्रेमके द्वारा ही कृष्णका साक्षात्कार हो सकता है एवं भक्तिके फलस्वरूप प्रेम उत्पन्न होता है—ऐसे ज्ञानको विशुद्ध सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनका ज्ञान कहते हैं। ऐसे ज्ञानसे युक्त होकर भजन करनेसे भजन विशुद्ध होता है और विशुद्ध भजनके फलस्वरूप शुद्धाभक्ति लाभ होती है।

### *द्वितीय अनर्थ असत् तृष्णा*

जीवोंका दूसरा अनर्थ है—असत् तृष्णा। यह अनेक प्रकारका होता है। भगवानकी सेवाके अतिरिक्त जीवके हृदयमें उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंको असत् तृष्णा कहते हैं। इह लोकमें सुख-ऐश्वर्यभोग, परलोकमें स्वर्गभोग, मोक्ष सुखका लोभ—ये सभी असत् तृष्णाके अन्तर्गत हैं। साधकके हृदयमें असत् तृष्णाका वास रहनेसे भजन किसी प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

*भुक्ति-मुक्ति आदि वाञ्छा यदि मने हय।*
*साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य १९/१७५)

कृष्णभक्त कृष्ण-सेवाको छोड़कर और कोई भी अन्य प्रार्थना नहीं करता। स्वर्ग और मोक्ष कृष्णभक्तोंके लिए नरकके समान दुःखप्रद प्रतीत होता है। पंच प्रकारकी मुक्ति भगवानके द्वारा दिये जानेपर भी भक्त उन मुक्तियोंको स्वीकार नहीं करता—

***नारायणपरा सर्वे न कुतश्चन विभ्यति।***
***स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः।।***

(श्रीमद्भा. ६/१७/२८)

***सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।***
***दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः।।***

(श्रीमद्भा. ३/२९/१३)

मोक्षकी कामना असत् तृष्णा है, अतः भजन

विरोधी है।

मोक्षकी वाञ्छा जीवोंकी अज्ञानताका फल है। अज्ञ जीवके लिए आपात् मनोहर किन्तु परिणाममें भयंकर मोक्ष, भक्तिका सर्वथा विरोधी तत्त्व है। मोक्षकी वाञ्छा हृदयमें प्रवेश करनेसे वहाँ भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। श्रीरूप गोस्वामीकी यह शिक्षा है—

*भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।*
*तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।*

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १२/१५)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी इसकी प्रतिध्वनिकी गयी है—

*अज्ञान तमेर नाम कहिए कैतव।*
*धर्म–अर्थ–काम–वाञ्छा एई सब।।*
*तार मध्ये मोक्ष वाञ्छा कैतव–प्रधान।*
*याहा हैते कृष्ण–भक्ति हय अन्तर्धान।।*

(चै. च. म. १/९२–९३)

अर्थात् घोरतम अज्ञानको कैतव (कपटता) कहते हैं, अर्थ, धर्म और कामकी वासनाएँ ही कैतव है। इन चतुर्वर्गोंमें मोक्षकी कामना ही सर्वप्रधान कैतव है। क्योंकि मोक्षकी कामना होनेसे हृदयसे भक्तिका अन्तर्धान हो जाता है।

### *प्रतिष्ठाकी आशा और भोगकी लालसा भजन विरोधी है*

थोड़ीसी प्रतिष्ठाकी आशा अथवा भोगकी लालसाके वशमें होकर जीव कपट भक्त हो जाता है। अतएव इन दुराशाओंका परित्याग नहीं करनेसे विशुद्ध भजन कैसे हो सकता है? श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी कहते हैं—

*प्रतिष्ठाशा धृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत्*
*कथं साधु–प्रेमाः स्पृशति शुचिरेतन्ननुमनः।।*

(मनःशिक्षा–७)

प्रतिष्ठाशारूपिणी चण्डालिनी जितने दिनोंतक हृदय प्रांगणमें नृत्य करती रहेगी, पवित्र स्वभाववाली प्रेमदेवी भक्ति वहाँ कैसे आगमन कर सकती हैं?

अतएव बहुत सावधानीसे इस दुष्टाको हृदयक्षेत्रसे दूर करना ही अच्छा है। सनातन गोस्वामीका भी यही उपदेश है—

*कुर्युः प्रतिष्ठा विष्ठाद्या यत्नमस्पर्शने वरम्।*

### *तृतीय अनर्थ—हृदयदौर्बल्य*

हृदयदौर्बल्य—हृदयकी दुर्बलता जीवोंका तृतीय अनर्थ है। असत् तृष्णा बढ़ते–बढ़ते जीवको असत् विषयोंमें इस प्रकार फँसा देती है कि जीव भक्तिसाधक कर्मोंका आदर कभी नहीं करता। दूसरी तरफ अभक्ति–साधक कर्म ही उसके स्वभावके रूपमें बदल जाते हैं। यही जीवका हृदयदौर्बल्यरूप अनर्थ है। इस अनर्थसे असत्संग, कपटता और बहिर्मुखता आदि नाना प्रकारके उत्पातोंकी सृष्टि होती है। इन उत्पातोंका समूह भी भजनको विशुद्ध नहीं होने देता। असत्संगमें तरह–तरहकी असत् आलोचनाएँ हुआ करती हैं। फलस्वरूप असद्विषयोंमें आसक्ति प्रबल हो जाती है जिससे भजनमें विघ्न पड़ता है। अतएव महाप्रभुकी आज्ञा है—

*असत्संग त्याग— एइ वैष्णव आचार।*
*स्त्रीसंगी—एक असाधु, 'कृष्णाभक्त' आर।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य १२/८४)

—असत्–संगका त्याग करना ही वैष्णवोंका श्रेष्ठ आचरण है। यह असत्संग दो प्रकारका होता है—(१) जो स्त्रियोंका संग करते हैं, और (२) जो अभक्त हैं। इन दोनोंका संग परित्याग करना चाहिए।

### *वैष्णवोंमें जातिबुद्धि करना और कुटिलता (कूटिनाटी) हृदयदौर्बल्यके अन्तर्गत हैं*

हृदयकी दुर्बलतासे उत्पन्न कुटिलता द्वारा सर्व प्रथम वैष्णवमें जाति बुद्धिरूप महान दोष उपस्थित होता है और अपनी जातिका, विद्याका, रूपका तथा ऐश्वर्यका अहंकार पैदा हो जाता है। इन्हीं

अहंकारांके कारण वैष्णवोंके अधरामृत (उच्छिष्ट), चरणामृत और चरण-रजमें श्रद्धा नहीं होती। वैष्णवोंमें प्रीति होनेके बदले दिनों दिन अश्रद्धा बढ़ती जाती है और यही अश्रद्धा जीवोंका क्रमशः अधोपतन कर उनके भजनको सम्पूर्णरूपेण नष्ट कर देती है। अतः महाप्रभु आज्ञा देते हैं।

*अतएव गृहे तुमि कृष्ण भज गिया।*
*कुटिनाटि परिहरि एकान्त हइया।*

(चैतन्यभागवत)

—इसीलिए घर जाकर कुटिलताका परित्यागकर एकान्तमें (साधुसंगमें) कृष्णका भजन करो। और दास गोस्वामी भी कहते हैं—

***अरे चेतः प्रोद्यत्कपटकुटिनाटीभरखर-***
***क्षरन्मुत्रे स्नात्वा दहसि कथमात्मानमपि माम्।***

अरे मन! तू कपटता और कुटिनाटी (कुटिलता) रूप मूत्रमें स्नानकर मुझे और अपनेको दग्ध क्यों कर रहा है?

कुटिलताका परित्याग किये बिना किसी प्रकार भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हदयकी दुर्बलताके कारण बहुधा भजन-प्रतिकूल क्रियाका अथवा संगका परित्याग नहीं होता। असत् कार्यों अथवा असत् संगसे भक्तिदेवीके चरणोंमें अपराध हो जाता है जिससे भजन अशुद्ध हो जाता है। अतएव हृदय दौर्बल्य त्याग करते हुए भजनमें उत्साह प्रकाश तथा निरपेक्षता रक्षा करनेसे भजनमें सहायता मिलती है। श्रीमन्महाप्रभुका इस विषय पर उपदेश है।

***'यत्नाग्रह बिना भक्ति ना जन्माय प्रेमे।'***

(चै. च. म. २४।१६५)

फिर अन्यत्र भी—

*'निरपेक्ष नहिले धर्म ना जाय रक्षणे।'*

भावार्थ यह कि यत्न और आग्रहके बिना भक्ति प्रेमको उत्पन्न नहीं कर सकती और निरपेक्ष न होनेसे धर्मकी रक्षा नहीं की जा सकती है।

### *अनर्थ—अपराध*

अपराध ही जीवोंका चतुर्थ अनर्थ है। स्वरूप भ्रमसे असत् तृष्णा और असत् तृष्णासे हृदयदौर्बल्यका प्रादुर्भाव होता है। यह हृदय दौर्बल्य ही बढ़ते-बढ़ते अपराधके रूपमें बदल जाता है। अपराध होने पर यथेष्ट साधनाका भी कुछ फल नहीं होता है। यथा चैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

*'हेन कृष्णनाम यदि लय बहुबार।*
*तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार।।*
*तबे जानि, अपराध ताहाते प्रचुर।*
*कृष्ण नाम बीज ताहे ना करे अङ्कुर।।'*

(चैतन्यचरितामृत)

अर्थात यदि प्रेमदान करने वाला कृष्णनाम अधिक रूपमें ग्रहण किये जानेपर भी न तो प्रेम ही उत्पन्न होता है और न आँखोंसे प्रेमाश्रु ही विगलित होते हैं, तो जानना चाहिए कि हमारे अपराधोंके फलसे ही ऐसा नहीं होता। अपराधोंकी अधिकतासे ही हमारे मरुतुल्य हृदय-क्षेत्रमें कृष्णनाम रूपी बीज अंकुरित नहीं होता।

अपराध अनेक प्रकारके होनेपर भी प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किये गये हैं—(१) वैष्णव अपराध, (२) सेवा अपराध और (३) नामापराध।

### *वैष्णव—अपराध और सेवा—अपराध*

स्कन्द पुराणमें वैष्णव अपराधकी एक तालिका दी गयी है—

***हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।***
***क्रुध्यते जाति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्।।***

वैष्णवकी हत्या करना, निन्दा करना, उनसे द्वेष करना, उनका अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध प्रकाश करना और उनका दर्शन करने पर हर्ष युक्त न होना—इन छः अपराधोंसे जीवका महापतन होता है। सभी भजन प्रिय व्यक्तियोंको इन अपराधोंसे सावधानीपूर्वक बचना चाहिए। सेवा-अपराध श्रीमूर्तिके सम्बन्धमें विचारणीय है।

***नामापराध दस हैं यथा—***

***(१) साधु निन्दा***—जिन्होंने अनन्यभावसे हरिनामका आश्रय ग्रहण किया है, उनकी निन्दा या उनसे द्वेष करना। वे केवल नाम तत्त्व ही जानते हैं, ज्ञान, योग आदि कुछ नहीं जानते—ऐसा विचार कर उनकी अवज्ञा करनेसे अपराध होता है।

***(२) अन्यान्य देवताओंके प्रति स्वतन्त्र ज्ञान***—श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान हैं। समस्त ईश्वरोंके ईश्वर हैं, अन्य देव-देवियाँ उनके अधीन हैं, कृष्णका भजन करनेसे ही अन्य देवदेवियोंका भजन हो जाता है—ऐसा विश्वास न कर, कृष्ण एक ईश्वर हैं, शिव उनसे पृथक् एक और ईश्वर हैं, इस प्रकार स्वतन्त्र शक्ति-सिद्ध अनेक ईश्वरोंकी कल्पना करनेसे अपराध होता है।

***(३) गुरुकी अवज्ञा***—जो नाम तत्त्वकी सर्वोत्तमताकी शिक्षा देते हैं, वे नाम-गुरु हैं। यदि ऐसा विचार किया जाय कि ये नाम-तत्त्व या नाम-शास्त्रोंके ही विशेष पारंगत हैं, किन्तु अन्य शास्त्र या साधनोंके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते तो अपराध हो जायेगा। समस्त कर्मोंका चरम फल है—नामतत्त्वकी उपलब्धि; जिन्हें वह हो गई है, उन्हें अन्य कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है, उन्हें कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

***(४) श्रुतिनिन्दा***—वेदोंमें नामका बहुत ही माहात्म्य बतलाया गया है। उन नाम-माहात्म्यसूचक वेद-वाणियोंमें अविश्वासमूलक द्वेषभाव पोषण करनेसे अपराध होता है।

***(५) हरिनाममें अर्थवाद***—राम, कृष्ण, हरि आदि नाम कल्पित हैं, भगवानके नाम, रूप, गुण, कर्म वास्तवमें कुछ भी नहीं हैं—ऐसी धारणा करनेसे अपराध होता है।

***(६) नामके बलपर पाप करना***—नाम करनेसे सब पाप दूर हो जायेंगे अथवा नाम करते-करते क्रमशः चित्त शुद्ध होकर पापोंमें अब और रुचि न रहेगी, अतः आपाततः स्वार्थके लिए एक पाप कर लूँ—ऐसा विचार कर नामके बलपर जो पाप किया जाता है, वह बहुत ही भयानक अपराध होता है।

***(७) शुभ कर्मोंसे नामकी समता***—अर्थात् धर्म, व्रत, तप आदि जैसे शुभ कर्म हैं, नाम भी उन्हींके समान एक शुभ कर्म विशेष है। अतएव किसी भी एक शुभ कर्मका आश्रय करनेसे आत्म-शुद्धि हो सकती है—ऐसा सोचकर नाम ग्रहण नहीं करनेसे अपराध होता है।

***(८) प्रमाद***—नाममें अनवधानता अर्थात् नाम ग्रहणमें उदासीनता, जड़ता और विक्षेप होनेस प्रमादरूप अपराध होता है। नाम ग्रहण करते समय नामके प्रति उदासीन होकर मुखसे नाम उच्चारण करना और मन-ही-मन नाना प्रकारक विषयोंकी चिन्ता करना ही उदासीनता और नाम ग्रहणमें अरुचि है। नाम-संख्या कब शेष होगी—ऐसा सोचकर बार बार जपमालाकी सुमेरुके प्रति लक्ष्य करना आदि जड़ताका लक्षण है। प्रतिष्ठाकी आशा या शठताके वशीभूत होकर नाम ग्रहण करनेको विक्षेप कहते हैं।

***(९) अज्ञ और अश्रद्ध व्यक्तियोंको नाम मन्त्र दान***—अज्ञ और श्रद्धाहीन लोगोंके प्रति नाम माहात्म्य प्रचार कर नाममें उनका विश्वास होनेपर उन्हें नाम मन्त्र प्रदान करना चाहिए। थोड़े बहुत अर्थके लोभसे अयोग्य शिष्यको नाम देनेसे गुरुका इस अपराधसे अधोपतन हो जाता है।

***(१०) अहं-मम भाव***—नामका माहात्म्य जान-सुनकर भी विषयोंमें आसक्तिकी अधिकताके कारण नाम-भजनमें प्रवृत्त न होना एक बड़ा अपराध है।

इन दस प्रकारके नामापराधोंका परित्याग कर कृष्णनामके श्रवण और कीर्तन करनेसे प्रेम लाभ होता है। यथा, महाप्रभुका कथन है—

(क) 'श्रवण' कीर्तन हइते कृष्णे हय प्रेमा।।

(ख) निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन।।

(चैतन्यचरितामृत)

कृष्णनामके अनुशीलनके अतिरिक्त वैष्णवोंके लिये और कोई भजन नहीं है, अन्य अंग-समूह नामके सहचररूपमें ग्रहण किये जाते हैं। अन्याभिलाष, अन्य देव-देवीकी पूजा एवं स्वाधीन ज्ञान-कर्म जन्य प्रयासका परित्याग कर अपराध शून्य होकर नाम करनेसे भजन विशुद्ध हो जाता है और विशुद्ध भजनके फलस्वरूप कृष्ण-प्रेमका उदय होता है। कृष्णप्रेमका उदय होनेसे ही कृष्ण-साक्षात्कार लाभ होता है।

❑

# श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका संकीर्त्तन-आन्दोलन

*—श्रीअभयचरण 'भक्तिवेदान्त'*

*ध्येयं सदा परिभवघ्नभीष्ट-दोहं*
*तीर्थास्पदं शिव-विरिञ्चि-नुतं शरण्यम्।*
*भृत्यार्त्तिहं प्रणतपाल-भवाब्धिपोतं*
*वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।*
*त्यक्त्वा सुदुस्त्यज-सुरेप्सित-राज्यलक्ष्मीं*
*धर्मिष्ट आर्यवचसा यदगादरण्यम्।*
*मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्*
*वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।*

हे प्राणतपालक! हे पुरुषोत्तम श्रीचैतन्यमहाप्रभो! निरन्तर ध्यानयोग्य, अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञानसे सर्वथा अनावृत; निर्विशेष मायावाद, शुष्क निर्भेद ब्रह्मानुसंधानरूप ज्ञानचर्चा तथा अर्थ-धर्म-काम-मोक्षरूप कपटताके आवरणसे मुक्त; अप्राकृत कृष्णभक्ति प्रदानकारी, तीर्थोंके आश्रय, ब्रह्म सम्प्रदायके आचार्य श्रीमद् आनन्तीर्थके अनुगत श्रीरूपानुग महाभागवतोंके आश्रयस्वरूप, सदाशिवके अवतार श्रीअद्वैत प्रभु तथा ब्रह्माके अवतार श्रीहरिदास ठाकुरके आराध्य, अपने भृत्य कुष्ठ-विप्र वासुदेवके आर्त्तिनाशक, सार्वभौमभट्टाचार्य और प्रतापरुद्र आदिके लिए मुमुक्षा और बुभुक्षारूप भवसागरको पार करानेवाली नौका स्वरूप आपके पद-प्रान्तोंमें मैं प्रणति कर रहा हूँ।

हे महाप्रभो! धार्मिक-शिरोमणि, श्रीकृष्ण-प्रेमके महाभावकी अधिष्ठातृ देवी श्रीमती राधिकाकी अप्राकृत कृष्ण-विरहरूप विप्रलम्भ सेवाका रसास्वादन करनेके लिए देवताओंके वांछितपद प्राणोंकी अपेक्षा दूष्परिहार्या लक्ष्मी स्वरूपिणी विष्णुप्रिया देवीको परित्यागपूर्वक विप्रशापके पालन के मिस संन्यास ग्रहणकरतः कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा रूपिणी मायाके अन्वेषणकारी जीवोंके प्रति अहैतुकी दया परवश हो सर्वत्र ही जिन्होंने अपने अभीष्ट प्राणनाथ गोपीजनवल्लभका अनुसंधान किया था तथा ह्लादिनी-शक्ति-स्वरूपिणी श्रीमती राधिकाका अन्वेषण करनेवाले उन राधा-रमणका अनुसंधान जिन्होंने विरहिणी गोपी-भावसे विभावित होकर किया था, उन आपके पद-प्रान्तमें मैं प्रणति कर रहा हूँ।

***भगवान् श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुके अवतारके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें स्पष्टतः निर्देश है—***

*कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्।*
*यज्ञैः संकीर्त्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।*

जिसके मुखसे सर्वदा 'कृष्ण' इन दो वर्णोंका सर्वदा कीर्त्तन होता है, जिनके 'अङ्ग'—श्रीमन्नित्यानंद तथा श्रीअद्वैतप्रभु, उपाङ्ग-तदाश्रित श्रीवासादि शुद्धभक्तगण, 'अस्त्र'—श्रीहरिनाम शब्द एवं 'पार्षद'—श्रीगदाधर, दामोदरस्वरूप, रामानन्द, रूप-सनातन आदि हैं; जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् पीत (गौर) है, उन्हीं अन्तःकृष्ण बहिर्गौर राधाभावद्युतिसुवलित श्रीमद्गौर सुन्दरका कलियुगमें बुद्धिमान व्यक्तिगण संकीर्त्तन-प्रधान यज्ञ द्वारा अर्चन करते हैं।

ऊपरके श्लोक संकीर्त्तन धर्मके प्रवर्त्तक श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रणाम–मंत्र हैं। इसमें कलिकालमें कलिहत जीवोंका उद्धार एक–मात्र हरि–संकीर्त्तन–यज्ञ द्वारा श्रीमन्महाप्रभुके भजनसे ही हो सकता है—ऐसा दिखलाया गया है। कलियुगमें जिस तरह हरिनाम संकीर्त्तनके प्रभावका शास्त्रोंमें उल्लेख है उसी तरह कलियुगमें साधारण परिस्थिति किस प्रकार की होगी और उस स्थिति से मानवोंका परम मङ्गल कैसे होगा—इसका भी उनमें उल्लेख है। अमल पुराण श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कंधके द्वितीय अध्यायमें इस विषयकी विशद आलोचना की गई है।

'कलियुगमें धन ही सकल कार्योंका जीवन होगा। उस समय मनुष्य समाजको विभिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करेगा। जिसके पास जितना धन रहेगा, उसको उसी प्रकारकी श्रेणीमें मान लिया जायेगा। अभिजात्य, गुण और विद्याके आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा। धनसे ही न्याय, स्वतन्त्रता तथा अधिकार खरीदे जायेंगे। शारीरिक सौन्दर्य ही स्त्री–पुरुषोंके दाम्पत्य जीवनकी कसौटी होगा। व्यवहारिक कार्योंमें परस्पर धोखा देना ही उपयोगी माना जायेगा। रति–कौशलकी उत्कर्षता ही स्त्री–पुरुषोंकी विशेषता मानी जायेगी। दो पैसेका सूत्र ही विप्रत्वका ज्ञापक होगा। गैरिक वसन, दण्ड अजीन प्रभृति चिह्न–समूह ही एक आश्रमसे दूसरा आश्रम स्वीकार करनेमें अथवा आश्रम–परिचयका एकमात्र कारण होगा। कलियुगमें धनहीन होनेसे न्याय मिलना कठिन होगा। वाक्चपलता पाण्डित्यकी परिचायिका होगी। गरीबोंको असाधु तथा दाम्भिकोंको साधु माना जायेगा। परस्परकी स्वीकृतिसे ही विवाह कार्य संपादित हो जायेगा। बहुत दूर जानेवाले तीर्थयात्री समझे जायेंगे।

अपनी सन्तानोंका प्रतिपालन ही कार्यदक्षता समझी जायगी। नामके लिए मनुष्य धर्मयाजन करेंगे। जब ऐसी प्रजाओंसे पृथ्वी भर जायगी, तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें जो कोई बलवान होंगे वे ही राज्य शासनका अधिकार प्राप्त करेंगे। राज्यके अधिकारी अपने–अपने फायदेके लिए घृणित दस्युओं जैसे हो जायेंगे, जिनके उत्पीड़नसे प्रजा अपने धन तथा स्त्री–आदिका परित्याग कर जंगल और पहाड़ी–प्रदेशोंमें आश्रय ग्रहण करेगी, तथा जंगली शाक, मूल और मांसादि आहार कर जीवन धारण करेगी। दुर्भिक्ष तथा राज्य–करकी बृद्धि होनेसे दुःखी प्रजा दिन–दिन क्षय रोगोंसे आक्रान्त होकर प्राण परित्याग करेगी। वह शीत, वायु, वर्षा और हिम आदिके कारण प्रपीड़ित होकर तथा परस्पर विवाद करनेके कारण नित्य भूख, प्यास, आधि–व्याधि तथा अधिक चिन्ताके कारण सन्तप्त रहेगी। मनुष्योंकी आयु अधिक–से–अधिक तीस वर्ष की होगी। अनेक दुःखोंके कारण वे क्षीणकाय होंगे। वेदानुग–धर्मका पालन नहीं होनेसे सभी शूद्र–प्राय हो जायेंगे। फलस्वरूप वे चौर्य, मिथ्या, हिंसा आदि वृत्तियोंके अधीन होंगे।

जब सारी प्रजा शूद्र–प्राय हो जायेगी, जब गाय बकरियोंके समान क्षुद्र आकृतिकी, बादल केवल विद्युत–प्राय, बड़े–बड़े ग्राम जन–शून्य, धर्म भगवद् भक्तिहीन पाषण्ड–प्राय, राजपुरुष दस्यु–प्राय, औषधियाँ हीनप्रभ और वृक्ष शमी वृक्ष जैसे छोटे–छोटे हो जायेंगे तथा जब मनुष्योंको जीविका निर्वाहके लिए गदहोंके समान दुःसह परिश्रम करना होगा, तब कलियुगके अन्तिम भागमें शुद्ध—सत्त्व अखिलात्मा भगवान् धर्मकी रक्षाके लिए अवतीर्ण होंगे।

साधुओंके कर्म विमोचन तथा धर्मकी रक्षाके लिये चराचर जगत–गुरु सर्व अन्तर्यामी जगदीश्वर श्रीहरिका प्रादुर्भाव होता है। अतः सम्भल नामक प्रसिद्ध नगरमें विष्णुयशा नामक उत्तम ब्राह्मणके गृहमें भगवान् कल्किका अवतार होगा। वे अणिमा लघिमा, ईशिता, प्रभृति अष्टैश्वर्य समन्वित तथा सत्य संकल्प आदि गुणोंसे विभूषित होकर देवदत्त नामक घोड़े

पर सवार हो खड्ग द्वारा असाधु व्यक्तियों तथा राजवेशधारी कोटि-कोटि घृणित दस्युओंका विनाश करेंगे।

कलियुगके मनुष्य अधिक-से-अधिक तमोगुण द्वारा प्रभावित होकर मिथ्या, तंद्रा, आलस्य, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दरिद्रता आदि अपगुणोंमें अनुरक्त होंगे। वे अदूरदर्शी, मन्दबुद्धि, मन्दभाग्य, बहुभोगी तथा कामी होंगे तथा स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होंगी। बड़े-बड़े जनपद समूह दस्युओं द्वारा आक्रान्त होंगे। वेद-धर्म पाषण्डी मतों तथा भगवद्भक्ति हीन प्रचारकों द्वारा दूषित होगा। राजपुरुष प्रजाका भक्षण करनेवाले तथा ब्राह्मण लोग शिश्नोदर परायण होंगे। ब्रह्मचारी आश्रम-विहित आचारोंकी रक्षा न करेंगे। गृहस्थ लोग भीख मागेंगे तथा वानप्रस्थ आश्रमेके पालन करनेवाले वन परित्याग कर ग्रामोंमें निवास करेंगे, संन्यासी अति धन लोभी होंगे। स्त्रियाँ अत्यन्त छोटे कदकी हो जायेंगी। वे अति भोजन करनेवाली, अनेक सन्तानोंको उत्पन्न करने वाली, लज्जाहीना तथा कटु-भाषिणी होंगी।

कलियुगमें वणिक लोग धनहीन होनेके कारण काले-बाजारोंमें जुआ-चोरी करते-करते क्रय-विक्रय करेंगे तथा साधारण लोग आपत्-कालके बिना भी असाधु एवं घृणित कार्य कलापोंको अधिक महत्व देंगे।

नौकर अपने सर्वगुणसम्पन्न पर धनहीन स्वामियोंका तथा स्वामी अपने विपद्ग्रस्त नौकरोंका परित्याग करेंगे। वृद्ध गायोंका निरादर होगा। पुरुष अपने माता-पिता, सुहृद तथा स्वजनोंका परित्याग कर अपनी स्त्रीके अधीन हो जायेंगे। शूद्र लोग तपस्वियों तथा साधु-सन्यासियोंका वेश ग्रहण कर दान-प्रतिग्रह तथा अधर्मोंका अनुष्ठान करेंगे। वे उत्तम आसन पर बैठकर निरीश्वर धर्मोंकी व्याख्या करेंगे।

कलियुगमें मनुष्य अन्न, पान, शय्या, स्त्री संभोग, अलंकार तथा प्रसाधन सामग्रीसे वर्जित होकर अतिशय कुत्सित एवं पिशाचकी तरह शरीर धारण करेंगे। ❑ (क्रमशः)

# कोहिनी द्वारा गुड़ खाना

एक व्यक्ति गुड़ खानेका लोभी था। वह गुड़की दुकान पर गया और दुकानदारसे गुड़ मांगने लगा। किन्तु दुकानदारने बिना पैसेके उसे गुड़ नहीं दिया। उस व्यक्तिने गुड़ खानेके लिए एक उपाय सोचा। दुकानके आगे गुड़के बहुत बड़े-बड़े बर्तन सजे हुए रखे थे। मानों किसी एक गुड़के वर्तनके ऊपर अपना भार देकर खड़ा है, यह भाव दिखाते हुए लोभी व्यक्ति अपनी कोहनीको सम्पूर्ण रूपसे गुड़के वर्तनमें डुबा दिया। उसने सोचा कि यदि मैं हाथसे गुड़ लूँगा तो यह दुकानदार नहीं देगा। किन्तु कोहिनीमें कुछ गुड़ लगा लूँगा, तो उसे दुकानदार समझ नहीं पायेगा। मैं इस स्थानसे अन्यत्र जाकर हाथमें लगे गुड़को चाट लूँगा। ऐसा विचार कर लोभी व्यक्तिने अपने विचारको कार्यमें परिणत किया और कुछ दूर जाकर कोहिनीमें लगे गुड़का आस्वादन करनेकी चेष्टा करने लगा। किन्तु लोभके परवश वह मूर्ख नहीं जानता था कि जिह्वा कोहिनीका स्पर्श नहीं कर सकती है। इसीको कोहिनी द्वारा गुड़ खाना कहते हैं।

जो कर्म, ज्ञान, योग साधन द्वारा मुक्ति-सुख आस्वादन करना चाहते हैं, उनका विचार भी कोहिनीसे गुड़ खानेकी तरह है अर्थात् मुक्ति निकट होने पर भी वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

कर्म, ज्ञान, योगादिकी चेष्टाओंके द्वारा आत्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं हुआ जा सकता। इसलिए श्रीचैतन्यदेव कहते हैं—

*"एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।*
*कृष्णभक्ति बिना ताहा दिते नारे फल।।*

*केवल ज्ञान मुक्ति दिते नारे भक्ति बिना।*
*कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान बिना।।"*

(चै. च. म. २२।१८,२१)

अर्थात् कर्म, ज्ञान, योगादि साधनोंका बल अति तुच्छ है। कृष्णभक्तिके सहयोग बिना ये सब फल देनेमें असमर्थ हैं। भक्तिके बिना केवल ज्ञान कभी भी मुक्ति नहीं दे सकता। कृष्णोन्मुख होनेसे वह मुक्ति ज्ञानके बिना ही प्राप्त हो जाती है।

मुक्ति भक्तिदेवीकी दासी है। ठाकुर श्रीबिल्वमंगलजी कहते हैं कि जिनकी श्रीकृष्णके चरणोंमें शुद्ध भक्ति है, उनके लिए मुक्ति परिचारिकाकी भाँति समयकी अपेक्षा करती रहती है कि किस समय किस रूपमें उनकी सेवा करूँ। अतएव कर्म ज्ञान योगादि साधनोंकी सहायतासे वास्तव मुक्ति सुखको प्राप्त करनेकी अभिलाषा व्यर्थ है। भक्ति प्राप्त होनेसे मुक्ति अनायास ही और आनुषङ्गिक रूपमें प्राप्त हो जायेगी। ❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

### लौल्य (लोभ)

संस्कृतके लौल्य शब्दको हिन्दीमें चंचलता, लोभ या वासना कहा जा सकता है। चंचलताका पूरा सम्बन्ध मनसे है। यह मन (या विचारोंकी दौड़के समूहको ही विद्वानोंने मनकी संज्ञा दी है) ही संकल्प-विकल्पका हेतु है। हमारे मनमें संकल्प-विकल्पोंकी आवृत्ति (वेग) जितनी अधिक होगी, मन उतना ही अधिक चंचल होगा तथा समय विशेष पर यह जिस इन्द्रियमें समा जाता है, जीव उसी इन्द्रियके अधीन हो जाता है, यथा—

*इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।*
*तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।*

(श्रीगीता २/६७)

जिस प्रकार जल पर तैरनेवाली नावको वायु अपनी दिशाकी ओर बहा लेती है, वैसे ही मन (रूपी वायु) जिस इन्द्रिय (नाव) में समा जाता है, पुरुषकी बुद्धिको उधर ही खींच लेता है।

अतएव भगवानको मन देना होगा। मन बिना दृढ़ संकल्पके नहीं दिया जा सकता है। मनमें सदैव कृष्ण अनुकूल संकल्पोंको प्रश्रय देना चाहिए। भोगोंके प्रति राग और द्वेष ही कामनाओंको जन्म देकर मनको वासनामय बनाते हैं—

*इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वैषौ व्यवस्थितौ।*
*तयोर्न वशमागच्छैतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।*

(श्रीगीता ३/३५)

साधकको राग और द्वेष तथा अनेक कामनाओं वाली बुद्धिसे बचना चाहिए। वासनाओंकी पूर्ति हेतु चित्तमें लोभ जगना साधकको कहीं का नहीं छोड़ता है। अतएव निष्ठापूर्वक मनको भगवान कृष्णकी भक्तिमें लगाना चाहिए।

*यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।*
*मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति।।*

(श्रीमद्भागवत १/६/३६)

कामनाओं और लोभ (वासनाओं) के प्रहारसे आहत साधकका चित्त भगवान कृष्णकी सेवासे जितनी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, उतना अष्टांग योगसे भी नहीं करता है। क्योंकि मनकी वासनाओंका शमन निष्ठापूर्वक भगवत्-सेवासे ही होता है।

*भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।*
*तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।*

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१४)

अर्थात् भोग और मोक्षकी वासना रूपी पिशाची जब तक हृदय पर अधिकार रखती है, तब तक

उस हृदयमें भक्तिका आनन्द कैसे उत्पन्न हो सकता है?

अतएव साधकोंको लौल्यसे (लोभ और वासना) से मुक्त होकर कृष्ण अनुकूल संकल्पवान होकर नाम जप करनेसे मन शीघ्र ही भक्तिमय हो जाता है।

श्रील रूप गोस्वामीपाद द्वारा उपदेशामृतके तृतीय श्लोकमें वर्णित भक्तिको निरन्तर बढ़ाने वाले उत्साह, निश्चय, धैर्य, तत्कर्म प्रवर्त्तन, संगत्याग तथा सात्विक वृत्ति इन छः अंगोंका पालन करनेसे साधकके हृदयमें भक्ति निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होती है।

*उत्साहन्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तकर्म प्रवर्त्तनात्।*
*सङ्गत्यागात् सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्ति प्रसिद्धयति।।*

(उपदेशामृत—३)

### *उत्साह*

साधकका चित्त सदैव उत्साहयुक्त रहना चाहिए। इसके अभावमें भजन क्रियामें शिथिलता आ जाती है। मन बुझा-बुझा सा रहने लगता है। उसकी साधन भजनमें आसक्ति कम हो जाती है। उसका विश्वास डगमगाने लगता है। अपने इष्टके प्रति आस्था अस्थिर हो जाती है। जड़ता, आलस्य उसे घेर लेते हैं। इसके विपरीत साधन भजनके साथ-साथ उत्साह बने रहे, तो भजनमें सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। चित्तमें धर्मके विपरीत जड़ताका भाव रहता है। अतएव इस जड़ताके रहते हुए भजन साधन किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। उत्साह क्रियाशील बनाता है तथा लक्ष्यसिद्धि (कृष्ण प्रेम) की ओर बढ़ाता है।

भगवद्भजन और कृष्ण प्रेमकी प्राप्ति जीवमात्रका एकमात्र प्रयोजन है—इस पर कुछ सीमित लोगोंका अधिकार नहीं है। अतएव यह सोचना कि मैं भक्ति या भजनके योग्य नहीं हूँ—नितान्त भ्रामक तथा आलस्यको उत्पन्न करनेवाला है, जिनके हृदयमें आलस्य स्थान ले लेता है, वे जीवनमें उत्साह हीन हो जाते हैं—ऐसे लोग भक्ति योगके अधिकारी नहीं रहते। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भजनके अधिकारी नहीं हैं। भजन तो उनकी आत्माकी स्वरूप वृत्ति ही है। परन्तु उत्साहका अभाव उनको मायाके जड़ीय सुखोंकी ओर आकर्षित करता रहता है तथा भजन वृत्तिमें शिथिलता आ जाती है, जो कि कृष्णनाम परायण साधकके लिये सर्वथा भजनके प्रतिकूल है।

भजन क्रिया निष्ठिता और अनिष्ठिता भेदसे दो प्रकारकी होती है। अनिष्ठितासे भजन क्रियामें उत्साह नहीं रहती है, भजन करना चाहिए, इस भावनासे नामजप आदिकी औपचारिकताओंका निर्वाह मात्र किया जाता है, जिसका फल (कृष्ण प्रेम) विलम्बसे प्राप्त होता है, यहाँ तक की कई जन्म लग सकते हैं। जबकि निष्ठिता भजन क्रिया साधुसंगके माध्यमसे निरन्तर अनर्थ आदिकी निवृत्ति कर साधकके हृदयमें प्रेमा भक्तिको प्रकटकर कृष्ण प्रेम प्रदान करती है। इसके लिये उत्साहका होना नितान्त प्रयोजनीय है। भजनके प्रारम्भमें यदि उत्साह रहे और वह उत्साह यदि शिथिल न हो जाय तब नाम भजनमें कभी भी उदासीनता, आलस्य या विक्षेप उत्पन्न नहीं होते हैं। अतएव उत्साह भजनका सहायक है।

### *निश्चय*

श्रीपाद रूप गोस्वामीजीने भक्तिमें परिपक्वता लानेके लिये साधकमें निश्चयात्मिका बुद्धि रखनेके लिये कहा है। निश्चयका अभाव संशयको जन्म देता है। लौकिक क्रिया हो या भजन क्रिया हो, संशयचित्त रहने पर क्रियाशीलता अधूरी रहती है, साधक सोचता है—भजन करूँ या न करूँ, भजन करनेमें कहीं समय तो नष्ट नहीं हो रहा है। ऐसा न हो कि मैं भजनमें लगा रहूँ और भगवान मिले ही नहीं और संसार सुखसे भी वंचित रह जाऊँ। भजन न करनेवाले लोग बड़े-बड़े बंगलों और कोठियोंमें ऐश-आराम कर रहे हैं, जबकि भजन करनेवाले दारिद्र्यका जीवन जी रहे हैं। निश्चय (दृढ़ता) के अभावमें इस प्रकार की चंचल वृत्ति

रहती है। इसीलिये श्रीगीताजीमें कहा है—

*अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।*
*नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।*

भगवानसे जीवका जो नित्य सम्बन्ध है, उसके ज्ञानके अभावमें ही संशय उत्पन्न होता है, जो साधक गुरु वैष्णवोंके सत्संगमें अपने सम्बन्ध ज्ञानको समझ लेता है, उसमें संशय उत्पन्न नहीं होता है। संशय रहने पर क्रिया या उस उद्देश्यके प्रति विश्वास नष्ट हो जाता है।

परन्तु परमार्थकी इच्छा रखनेवाला साधक अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीगुरुदेवसे आत्म तत्त्वके सिद्धान्तोंका श्रवण करता है, तब उसका चित्त क्रमशः निर्मल होकर श्रीकृष्णके भजनकी ओर अग्रसर होता रहता है। शास्त्र वचन ही परमार्थके सम्बन्धमें एकमात्र प्रमाण है। इसी प्रमाणका आश्रय लेकर तत्त्वपिपासु दृढ़ताके साथ भजनमें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार सर्वशक्तिमान श्रीकृष्णका तत्त्व विचार करनेपर परब्रह्म सम्बन्धी समस्त संशयोंका निवारण हो जाता है। जब तक साधकके हृदयमें संशय (निश्चयका अभाव) रहता है, तब तक वे चंचलचित्त हो इधर–उधर भटकते रहते हैं। यह अनिश्चय या संशय अथवा अविश्वासकी स्थिति सत्संगके अभावमें उत्पन्न होती है। सत्संग भजन क्रियामें दृढ़ता उत्पन्न करता है। कुछ साधकोंको देखा है कि वे प्रवचन सभामें यह सोचकर नहीं जाते हैं कि नाम जप ही से तो सब कुछ होता है फिर रोजाना यही सब सुनने से क्या लाभ? यह तो समय नष्ट करना है। परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा तो भजनमें साधक कितना ही आगे क्यों न बढ़ चुका हो फिर भी साधुसंग परमावश्यक है। सत्संगसे मन, चित्त और हृदय शुद्ध होते रहते हैं। मायाके विकार मूल सहित उखड़ते रहते हैं। ये विकार अमेरीकी गाजर, घासकी तरह जड़ जमाये रहते हैं जिन्हें सत्संग ही उखाड़कर भस्म कर सकता है। अतएव साधकको दृढ़ निश्चयके साथ निरन्तर सत्संग करते हुए कृष्ण नामका जप करना ही श्रेयस्कर है।

### *धैर्य*

हरि भजनमें धैर्यकी अत्यन्त आवश्यकता है। चंचलतासे साधनमें असफलताके सिवा कुछ नहीं मिलता। मनकी एकाग्रताके लिये धैर्य एक महत्वपूर्ण गुण है। जो अधीर होते हैं वो एक साधना (इष्ट) को छोड़कर दूसरेको पकड़ लेते हैं; धैर्यवान साधक अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके स्वयंको वशमें करनेके साथ–साथ समस्त विश्वको अपने अधीन करनेकी क्षमता प्राप्त कर लेता है यथा—

*वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।*
*एतान वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथ्वीं स शिष्यात्।।*

(श्रीउपदेशामृत)

श्रील रूपगोस्वामी पाद द्वारा साधकोंके लिये उक्त श्लोकमें छः वेगों यथा वाणी, मन क्रोध, जिह्वा, उदर तथा उपस्थ पर नियंत्रण रखनेका निर्देश किया है। इन वेगोंके सम्बन्धमें अन्यत्र विस्तार से चर्चाकी गयी है—पाठकगण वहाँ उसका अवलोकन करनेकी कृपा करें।

जीवन थोड़ा है, अनिश्चित है। ऐसी स्थितिमें परचर्चा या परनिन्दारूप विषसे साधकको सावधान रहना चाहिए क्योंकि इससे वाणी अशुद्ध होती है तथा साधनामें लगाये जाने वाला समय निरर्थक परनिन्दामें लगनेसे मानव जीवन अनावश्यक नष्ट होता है। अतएव साधकोंको वाणीके साथ–साथ अन्य पाँच भयंकर वेगोंको भी शमन करना चाहिए। वेगोंका उदय कुचिंतन तथा निरन्तर कुसंग से होता है। माना कि वेग नैसर्गिक हैं परन्तु उनको हरि सेवाकी ओर घुमा देनेसे सम्पूर्ण क्रिया भक्तिमय हो जायेगी। प्रारम्भमें इन वेगोंका नियंत्रण कुछ कठिन अवश्य है परन्तु नितान्त असंभव नहीं। निरन्तर साधुसंग, सदग्रन्थोंका पठन–पाठन तथा निष्ठाके साथ कृष्णनाम स्मरण चिन्तन व जप करनेसे वेगोंको सदाके लिये

शान्त किया जा सकता है। लाखों करोड़ों संत साधनाके द्वारा इन पर विजय पा चुके हैं तब आप और हम भी पा सकेंगे। इसमें संदेहकी गुंजाइस नहीं है, वस निष्ठा युक्त एक दृढ़ संकल्पकी आवश्यकता है।

साधनाके क्षेत्रमें बार बार मन विषय सुखकी ओर दौड़ता है परन्तु जैसे शिशु चलना सीखता है तो बार बार गिरता है परन्तु उसका चलनेकी क्रियामें समर्थ होनेके लिये धैर्य और विश्वास कम नहीं होता है और एक दिन दौड़ने लगता है—धैर्यमें अनूठी शक्ति है।

यहाँ एक तथ्य और स्पष्ट कर दूँ—साधनामें अधैर्यका प्रवेश कामनाके साथ भजन करनेसे होता है। जब लौकिक कामनाकी पूर्ति नहीं होती है तो साधकका मन चंचल हो जाता है। साधकको एक ही कामना होनी चाहिए कि वह अपने नित्य सिद्ध भावको प्राप्तकर, कृष्ण सुखकी इच्छासे श्रीराधारानी और श्यामसुन्दरकी प्रीति और सेवा प्राप्त कर सके। साधना कालमें धैर्यपूर्वक यह दृढ़ भावना रखे कि श्रीकृष्ण तथा राधारानी उस पर अवश्य कृपा करेंगे। क्योंकि कृष्ण नामका प्रमुख फल कृष्ण प्रेम ही है।

### *तत्तत् कर्म प्रवृत्तन*

श्रील रूपगोस्वामी पादने साधकोंके लिये भजनमें निरन्तर प्रवृत्त रहनेके उद्देश्यसे तत् तत् कर्म प्रवृत्तनकी व्यवस्था दी है। साधकोंको श्रीरूपानुग हुए बिना भजनमें सिद्धिकी अवधारणाका त्याग कर देना चाहिए।

श्रील रूप गोस्वामी पादजीके अनुसार भक्तिके ६४ प्रकारके अंग ही तत्तत्कर्म हैं। निष्ठापूर्वक उनको धारण करनेसे निरन्तर भक्ति 'प्रसीदति' का वाक्य पूर्ण होता है। भक्तिके ६४ अंगोंका वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है।

### *संगत्याग*

यदि कृष्ण भजन करना है तो हृदय, मन, बुद्धि तथा विचारोंका शुद्ध होना परमावश्यक है। इसीलिये श्रील रूपगोस्वामी पादने उपदेशामृतमें संगत्यागके प्रति साधकोंको जागरूक किया है, क्योंकि संगसे संसारके प्रति घोर आसक्ति उत्पन्न होती है। यह संग भी दो प्रकारका होता है—संसर्ग तथा आसक्ति। यह संसर्ग भी दो प्रकारका होता है एक अभक्त संसर्ग तथा दूसरा स्त्री संसर्ग। आसक्ति भी दो प्रकारकी होती है एक संस्कार आसक्ति तथा दूसरी द्रव्यासक्ति। श्रीकृष्ण भक्तोंको उक्त चारों प्रकारके संगका त्याग करना चाहिए। श्रीमद् गीतामें भी संगके प्रभावोंको निम्न प्रकार व्यक्त किया गया है। यथा—

*ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।*
*सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।*
*क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।*
*स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।*

भक्ति शास्त्रोंके अनुसार ज्ञानी और कर्मी दोनों ही अभक्त हैं, क्योंकि ज्ञानी "मैं ब्रह्म हूँ" के असत् भावसे ग्रसित रहता है जो स्वयं अपनेको ब्रह्म मानता है वह भक्त हो ही नहीं सकता है। भक्तके हृदयमें अपने इष्टके प्रति प्रेम और समर्पण रहता है। अतएव ब्रह्मवादी नितान्त अभक्त तथा अंतमें स्वयंको ब्रह्म माननेके कारण नर्कगामी होते होते हैं।

इसी प्रकार कर्मी भी अभक्तकी श्रेणीमें आते हैं क्योंकि कर्मीगण जो भी कर्म करते हैं, वे बाह्य रूपमें भक्ति जैसा प्रतीत होने पर भी उसमें फलके प्रति आसक्ति होनेसे भोग वासना प्रधान रहती है। जबकि भक्त जो कुछ करता है सभी अपने कृष्णके सुखके लिये करता है। भक्तिमें लौकिक सुखोंकी वासना नहीं रहती है। योगी, देव पूजक, प्रेत पूजक, ब्रह्मवादी आदि सभी अभक्त एवं भक्तिके प्रतिकूल आचरण वाले होनेसे उनका संग त्याज्य है।

भक्त दो श्रेणीके होते हैं एक गृहत्यागी तथा दूसरे गृहस्थ वैष्णव। गृहत्यागी वैष्णव बहुत कम होते हैं। वे भगवानके अनुरागमें अपनी समस्त भोग वृत्तियोंका त्यागकर केवल कृष्ण प्रेममें तत्पर रहते हैं उनके लिये स्त्रियोंका संग विषके समान होनेके कारण सर्वथा त्याज्य हैं। भजनमें स्त्री और धन सर्वाधिक बाधक हैं। इनका आकर्षण साधकको भजन

पथसे उसी प्रकार अलग कर देता है जैसे सूर्यके अस्त होनेपर सर्वत्र अंधकार व्याप्त हो जाता है। गृहस्थ साधकोंको भी निवृत्तिका वरणकर भजन साधन करना चाहिए।

### *सात्त्विक (साधु) वृत्ति*

गृहस्थ एवं गृहत्यागी दोनों प्रकारके कृष्ण भक्तोंके लिये श्रीमन्महाप्रभुजीने कुछ सात्विक प्रक्रियाओंको पालन करनेका निर्देश दिया है। गृहस्थोंको धर्मसम्पन्न एवं न्यायोचित मार्गसे अर्जित धनसे अपने परिवार जनोंका पालन करना चाहिए तथा कृष्ण एवं उनके भक्त वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिए। बहुत बड़ी संख्यामें वैष्णवोंको आमन्त्रण नहीं करना चाहिए—ऐसा होनेपर अपराध होनेकी संभावना रहती है, जो साधु वैष्णव संन्यासी आवे उसीकी सेवा करनी चाहिए। दीन एवं दुःखी जनोंको सहयोग करना, लोभ या क्रोधके आवेशमें आत्महत्या नहीं करें, आत्महत्या जघन्य अपराध है, वैष्णवोंमें केवल उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठका ही विचार करे, जाति, वर्ण या निर्धन–धनवानका विचार नहीं करे, स्वार्थ त्यागकर परोपकार करना गृहस्थ वैष्णवका कर्तव्य है। तुलसीजीको जलदान, दीपदान, परिक्रमा एवं निकट बैठकर कृष्ण नामजप करना चाहिए। अनुचित कार्योंपर धनव्यय नहीं करना, कर्मचारियोंको रिश्वत नहीं लेना चाहिए—रिश्वत निश्चित ही अन्यायको प्रश्रय देती है। रागानुगाभक्ति उत्पन्न होने या उत्पन्न होनेके पश्चात् भी वैधी भक्तिके अंगोंको त्याग नहीं करे। स्वयंको ब्रह्म या भगवान नहीं माने—दास, मित्र या कृष्णमें पुत्र या प्रेमी सखाका भाव रखना ही प्रयोजनीय है।

गृहत्यागी वैष्णवको निरन्तर कृष्ण नामका जप कीर्तन करना चाहिए, स्त्री स्पर्श तथा धनके लोभ से सर्वथा बचना चाहिए। शब्द रूप रस गंध और स्पर्श से सम्बन्धित विषय भोग लालसाको रंचमात्र भी नहीं पनपने देना चाहिए। ❑

# *ग्रन्थ–समीक्षा*

### *[डॉ. मधु खण्डेलवालका पत्र]*

परम–आत्मन्, परम श्रद्धेय, मत्प्राण श्रीगुरुदेवके श्रीचरणोंमें मेरा दण्डवत् स्वीकार हो।

आपका स्वास्थ्य अवश्य ही उत्तम होगा। श्रीराधारानीकी कृपासे श्रीगिरिराज परिक्रमाके समय आपके दर्शन कर सकूँगी।

आपके द्वारा प्रस्तुत अपने गुरुदेवका जीवन चरित ***'श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी''*** मैंने जब पढ़ा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इस ग्रन्थका शब्द–शब्द श्रद्धा एवं भक्तिसे परिपूर्ण है, जिसमें अतिरंजकता लेशमात्र भी नहीं है, सिद्धान्तोंकी गरिमा स्थापित हुई है। लेखकके हृदय और मस्तिष्क दोनोंका तारतम्य संतुलित है, इस ग्रन्थने मेरे हृदयमें गौड़ीय दर्शनको पुष्ट किया है, किञ्चितमात्र संस्कारोंके कारण पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की छाया जो आवृत किया करती थी, उसका निवारण हुआ है। जैव–धर्मसे भी कहीं अधिक यह ग्रन्थ प्रभावशाली बन पड़ा है। कई स्थानोंपर भक्ति इतर मतोंका जो खण्डन किया है—वह हृदयग्राही है। एक–एक शब्दमें सिद्धान्त और अनुभूतिका समन्वय है। मैं अनुगृहीत हुई। इस ग्रन्थके रूपमें मुझे श्रील गुरुदेवकी कृपा प्राप्त हुई है। श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीके जीवनके कतिपय प्रसंगोंको भी और अधिक प्रकाशित किया जाता तो भक्त समाज और भी लाभान्वित होता। हे गुरुदेव! श्रीराधाजीके आप सर्वाधिक प्रिय हो जायँ, मेरी यही प्रार्थना है।

आपकी बेटी

***मधु***

# बुद्धिकी त्रासदी

—डा० मधु खण्डेलवाल

*हरि व्यापक सर्वत्र समाना,*
*प्रेम ते प्रकट होय मैं जाना*

श्रीहरि सर्वत्र विद्यमान हैं, जब-जब भक्त प्रेमके मदमें मतवाला हो जाता है, तो वे कहीं भी प्रकट हो जाते हैं। कण-कणमें हैं भगवान। परन्तु आज बुद्धिवादका ऐसा प्राबल्य हो गया है कि अनेक तर्कों, वितर्कों, आवर्त्तों एवं ऊहापोहोंके पाशमें बँधा हुआ मानव अपने आत्मस्वरूपसे और परमात्माके स्वरूपसे कोसों दूर हो गया है। यही कारण है कि आज अविश्वास है, सिसकियाँ हैं, आहे हैं, कराहें हैं—चीत्कार है। बदलते सिद्धान्त, स्वार्थकेन्द्रित मूल्य, अहंमन्यता, स्व-प्रदर्शनकी भावना, रोशनी चकाचौंध, धधकती शान्तिका बाहुल्य है। ये प्रमादी, आलसी, भोगलिप्त मानव मूर्तिपूजाका घोर विरोध करते हैं—पाखण्ड मानते हैं। अश्लील नृत्य, कर्णविस्फोटक संगीत एवं फूहड़ पहनावोंके मध्य ये लोग मूर्ति-पूजाको क्या समझेंगे—अजन्ता-एलोराकी पाषान सभ्यता, खजुराहो एवं कोणार्ककी प्रस्तरीय कामुकताके ऐन्द्रियमोहमें विमुग्ध ये लोग मूर्ति-पूजाके महत्त्वको क्या समझेंगे। उनके लिए तो मूर्ति कलाकारकी चातुरी एवं मॉण्डल है। इसलिए आज मानवता इतनी तप्त एवं दग्ध हो रही है। उन्हें न कुछ करणीय है और न ही कुछ कथनीय।

भारतीय संस्कृतिकी उपासनाका ढोंग, सैद्धान्तिक तत्त्वोंके प्रति उदासीनताका भाव, सिद्धिको विमूढ़ता माननेवालोंको उनसे मिलना चाहिए जो आज भी श्रीमूर्तिसे संवाद करते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी श्रीनाथजीसे प्रतिदिन संश्लिष्ट होते थे। मूर्ति श्रद्धाका प्रतीक है—उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भावकी चरम परिणति है, उसकी पूजा उस करुणावरुणालय, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, भक्तवत्सलके प्रति प्रणति हैं, कृतज्ञता है। पौराणिक सत्य है कि जब-जब भक्तोंने आह्वान किया—तब-तब भगवान् मूर्तियोंमें, पाषाण खम्भोंमें चीरमें, जलमें, वनमें प्रकट हुए हैं—

*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।*
*अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।*

—गीताकी इस उक्तिको व्यक्ति-विशेषका वैशिष्ट्य माननेवाले देहवादी उनकी गरिमाको कैसे समझेंगे। न जाने इतिहासमें कितने ही ऐसे प्रसंग हैं, जिन्होंने मूर्ति-पूजाकी सार्थकताको न केवल सिद्ध किया है अपितु उसे भाव-प्रवण-आराधनाका सर्वाधिक सशक्त माध्यम भी सिद्ध किया है।

अपनेको समाज सुधारक तार्किक एवं बुद्धिजीवी मानते हुए ये लोग यह प्रमाणित करनेकी कोशिश करते हैं कि वह विराट क्या मन्दिरमें समा सकता है—क्या पत्थरकी मूर्तिको भगवान् माना जा सकता है। उनकी यह अज्ञानज धारणा तिरस्करणीय है जो उनका स्वयंका ही नहीं अपितु एक बृहद् समूह की आध्यात्मिक पुनीत भावनाका सर्वनाश कर डालती है। किसीकी मृत्यु पर नियंत्रण न होनेसे यान्त्रिक विज्ञान धराशायी हो जाता है। तब वह पुनर्जन्म, आत्म-स्वरूपकी सिद्धि कैसे कर सकता है। धिक्कार है उन लोगोंको जो मूर्तिपूजाको कोरा अन्धविश्वास एवं ढोंग मानते हैं। उनको उन वानरोंके चरणोंमें आश्रय लेना चाहिए जो सेवाकुंजमें दिनमें अपनी क्षुधा शांत करते हैं और सन्ध्याको प्रिया-प्रियतमके आगमनमें विघ्न उपस्थित न हो यह सोच कहीं छिप जाते हैं।

अपने इस व्यक्तिगत संकीर्ण दृष्टिकोणपर वे लोग स्वयंको सम्पूर्ण मानव समझ व्यर्थ की ठसकमें जीवन गँवा रहे है। प्रह्लादकी भक्ति व प्रेम-भावके

बलसे खम्भेमेंसे नृसिंह रूपमें भगवान प्रकट हो गये थे; एक पाषाण स्तम्भमेंसे! क्या यह मात्र कल्पना है। आज भी नृसिंहके आराधक उनकी साक्षात् अनुभूति कर बड़े–बड़े आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टोंसे छुटकारा पाते हैं।

जब गोस्वामी तुलसीदास श्रीवृन्दावन धाम गये, उन्हें श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त हुए, पर अपने हृदयकी सच्ची भावना भगवानसे स्पष्ट कही कि भले ही आप मोरमुकुट पीताम्बर एवं मुरलीमें परम सुन्दर लग रहे हो पर तुलसी तो आपके चरणोंमें तभी मस्तक झुकायेगा जब आपके हाथमें मुरलीके स्थानपर धनुष–बाण हो। संत शिरोमणि तुलसीदासके भावके वश भगवानकी प्रतिमामें मुरलीके स्थानपर धनुष–शर आ गए। क्या यह मूर्तिपूजाकी सार्थकता नहीं कि मूर्तिमें व्याप्त भगवान भक्तकी भावनाके अनुसार प्रकट हो गए?

मीराने भी साक्षात् रूपसे भगवानके श्रीविग्रहकी उपस्थितिको सिद्ध किया था। वे तो भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें आकण्ठ निमग्न थी। नटवर–गिरधर –गोपालकी मूर्तिके आगे नाच–नाचकर भजन गाती थी। भक्तिके माधुर्यसे विष मीराके लिए अमृत बन गया था। जीवनके अन्तिम समयमें जब वे श्रीद्वारकाधीशके दर्शन हेतु गईं तब उनके साथ भक्त–समाज भी था। तत्काल मन्दिरका द्वार बन्द हो चुका था, लेकिन मीराकी प्रबलोत्कण्ठा और विरहव्याकुलता अभिवर्द्धित होती जा रही थी। भाव–विभोर होकर भक्तिके तीव्र प्रवाहमें सराबोर हो उसने अपने ठाकुरको अतिआर्तस्वरमें आह्वान किया। श्रीविग्रहस्वरूप ठाकुर व्यग्र हो उठे, मन्दिरके द्वार स्वतः खुल गए और मीरा उस श्रीविग्रहमें समा गई। उस श्रीविग्रहने मीराको अपनेमें समाविष्ट कर लिया। मीरा जहाँ खड़ी थी, वहाँ पुष्पोंका ढेर भक्तसमाजको दिखाई पड़ा।

श्रीविग्रह स्वयं भगवान है—इसका आभास नरसी मेहताने भी सिद्ध किया था। पूज्यश्रीने अपनी अनन्य भक्तिसे भगवानको स्ववश कर लिया था। अहं भक्त पराधीनो....। समाजके अन्य लोग उनकी भक्तिको पाखण्ड मानकर उनके विरुद्ध षडयन्त्र रचते थे। नरसीजीको जब भी आवश्यकता होती तो वे केदार रागमें भजन गाकर भगवानको बुला लेते थे। समाजके लोगोंने राजाके कान भरकर केदार रागको साहूकारके पास गिरवी रखवा दिया। राजाने नरसीको भगवानके मन्दिरमें बुलाया और उन्हें आदेश दिया कि आपको अपनी भक्ति सिद्ध करनी होगी, इस मन्दिरकी प्रतिमाके गलेका हार बिना प्रयास अपने गलेमें धारण करना होगा।' नरसीके सम्मुख अति विकट स्थिति समुपस्थित हुई। केदार राग कैसे गाऊँ—वह तो साहूकारके पास गिरवी रखी थी। उन्होंने नयन मूँदे, आसुओंकी धाराएँ बहने लगी। साँवल–मोहनसे क्या रहा गया? नरसीका रूप धारण करके साहूकारके पास गए, बकाया रकम चुकाकर पावती ली और मन्दिरमें विराजमान नरसीके गोदमें निक्षिप्त कर दी। भक्तको समझते देर न लगी। रागको गिरवीमुक्त देखकर केदार रागमें भजन गाया। मूर्तिमें समाहित भगवानने अपने कंण्ठकी माला भक्त नरसीके गलेमें पधरा दी। उपस्थित राजा और भक्त चमत्कार देखते ही रह गए।

इन प्रसंगोंकी शृंखलामें संगीत सम्राट तानसेनके गुरु स्वामी हरिदासजीने भी एक उदात्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। भक्त हरिदास अपने उच्च कोटिके संगीतसे भगवानको प्रसन्न करते थे। भगवान स्वयं उनके संगीत माधुर्यका आनन्द लेने प्रत्यक्ष आकर विराजमान होते थे। भगवानने हरिदाससे स्पष्ट रूपसे कहा था—'हरिदास मेरा स्पर्श मत करना। एकदिन हरिदासजी भावावेशमें भगवानकी बताई मर्यादा विस्मृत कर बैठे और ठाकुरका आलिंगन कर बैठे। परिणामतः बाके–बिहारी पाषाणप्रतिमामें परिवर्तित हो गए।

आज तक श्रीगिरिराज गोवर्धनकी एक श्रीशिलाको अपने साथ लानेके लिए भावुक भक्तके अतिरिक्त कोई भी सफल नहीं हो पाया है। इसी गोवर्धनाचलने इन्द्रके कोपसे व्रजको बचाया था और भाव-विमुग्ध व्रजवासियोंसे माँग-माँग कर प्रसाद प्राप्त किया था।

सम्पूर्ण व्रज-भूमि इन सजीव उदाहरणोंसे भरी पड़ी है। श्रीद्वारकाधीश मन्दिर तले धन-सम्पत्तिको चुरानेवाला वहीं अन्धा हो गया था। मथुरामें मधुकरीके लिए चौबेके घर मदनमोहनको साक्षात् खेलते देखते थे श्रीसनातन। वे भी रुखा-सूखा खानेके लिए वृन्दावन चल पड़े थे श्रीसनातन प्रभुके साथ। श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामीके उपास्य देव श्रीशालग्राम भक्तकी इच्छापर श्रीराधारमण मुरलीधारी श्याम बन गए थे।

तैलंग देशमें विद्यानगरमें एक कुलीन ब्राह्मण रहता था। उसकी इच्छा हुई कि तीर्थयात्राके लिए चला जाय। यह अभिलाषा उसने एक युवक गरीब ब्राह्मणसे कही जो मेहनत मजूरी करके अपना निर्वाह करता था। युवक उनके साथ हो लिया और उसने वृद्ध की बड़ी सेवा की। स्नेहावेशमें ब्राह्मणने युवकसे कहा कि मैं गोपालको साक्षी करके कहता हूँ कि अपनी पुत्रीका विवाह तुम्हारे साथ करूँगा। इस समाचारसे घरमें द्वन्द हो गया। सब ब्राह्मणके विरोधी हो गये। युवकने ब्राह्मणको उनकी प्रतिज्ञाका स्मरण कराया और श्रीगोपालजीके साक्षी होनेकी बात सबको बताई। युवकने वृन्दावन आकर श्रीगोपालजीसे सब कुछ निवेदन किया। गोपालजी चल पड़े साक्षी देनेके लिए मीलों दूर विद्यानगरीको। इससे बढ़कर श्रीमूर्तिकी भक्तवत्सलताका और क्या उदाहरण हो सकता है। उड़ीसा देशकी महारानीकी इच्छाके फलस्वरूप इन्होंने अपनी नाकमें अमूल्य मोती धारण किया था। पुरीसे तीन कोसकी दूरीपर साक्षीगोपाल अवस्थित हैं।

माधवेन्द्र पुरीके लिए श्रीमूर्तिने खीर चुराकर रख दी थी और पुजारीके हाथों पहुंचवाई थी। इन प्रसंगोंकी शृंखला शाश्वत है, अव्यय है, अनन्त है। अतः मूर्खताका त्याग करें। श्रीविग्रहमें अपने हृदयको निवेशित करके जीवन सफल बनाना चाहिए। 'विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।' ये विमूढ़ स्थूल चक्षु हैं, जो नेत्रादि इन्द्रियोंसे दीखता है वे बस उतना ही जानते हैं, कुछ दूरचक्षु हैं, दूरबीनसे दूरकी वस्तु देखकर—प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं। कुछ सूक्ष्मचक्षु हैं तो तत् एवं त्वं के फेरमें पड़े रहते है। कर्णचक्षु सुनी-सुनाई बातोंपर ही भरोसा कर लेते हैं। इसी प्रकार अनुमानचक्षु, उपमानचक्षु, इतिहासचक्षु, यन्त्रचक्षु इत्यादि हुआ करते हैं। परन्तु श्रीविग्रहकी साकारता तो चक्षुओंसे नहीं, श्रद्धासे होती है। श्रद्धा ज्ञान और सत्यकी भित्ति पर टिकती है। श्रीमूर्ति एवं श्रीभगवानमें अभेदता सिद्ध ही है।

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यको अपने वेदान्त ज्ञानपर बड़ा अभिमान था। अद्वैतवादके मतकी स्थापना करते हुए उन्होंने —

*'आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।*
*कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।*

श्लोकके नौ अर्थ किए। सात दिनोंतक वे अभेदवादपर वक्तव्य देते रहे। श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभु खामोश सुनते रहे। सार्वभौम भट्टाचार्यको आश्चर्य हुआ कि श्रीचैतन्यदेव न तो हाँ बोले और न ही न बोले। प्रभुने कहा धन्य है आपके पाण्डित्यकों पर यह तो बताइए निराकारसे साकार कैसे हो सकता है? यह सृष्टि कैसे रूप धारण कर सकती है? और प्रभुने उक्त श्लोककी अठारह प्रकारसे व्याखा की। वे प्रभुकी भाँति-भाँति स्तुति करने लगे और उन्हें महाप्रभुमें षड़भुज मूर्तिके दर्शन हुए। ❑

# प्रचार-प्रसङ्ग

## श्रीबलरामजीका आविर्भाव

श्रीश्रीझूलन-पूर्णिमा बीतनेके साथ-ही-साथ श्रीबलदेवकी आविर्भाव-तिथि हमारे हृदयमें बलका संचार कर रही है। झूलन-यात्राकी समाप्तिसे श्रीश्रीगान्धर्विका-गिरिधारीके मिलन-प्रयासी सेवकोंके हृदयमें अप्राकृत विरहका भाव उमड़ने लगता है। ठीक उसी समय श्रीश्रीबलदाऊजी आविर्भूत होकर विरही भक्तोंके हृदयमें बलका संचार करते हैं। बलदेव की आविर्भाव तिथिमें भक्त जन "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" उपनिषद के इस मंत्रका उच्चारण कर बलदेवाविर्भावका आदरपूर्वक आह्वान करते हैं। इस आनन्दोत्सवके उपलक्ष्यमें अनन्य सेवकजन आनन्दमें मग्न होकर आहार-निद्राका परित्याग कर श्रीश्रीबलदेवका विजय-उत्सव मनाया करते हैं।

श्रीबलदेव भी श्रीकृष्णकी तरह 'वासुदेव' और 'देवकीनन्दन' हैं। जिस प्रकार वासुदेव कहनेसे वसुदेवके अपत्य अर्थात् पुत्र 'कृष्ण' का बोध होता है, उसी प्रकार वसुदेवके अपत्य अर्थमें 'बलदेव' का भी बोध होता है। अतएव वासुदेव कहनेसे कृष्ण और बलदेव दोनों ही समझे जाते हैं। उसी प्रकार देवकीनन्दन कहनेसे दोनोंका बोध होता है। जैसे कृष्ण अवतारी हैं, उसी प्रकार बलदेव भी अवतारी हैं। यद्यपि श्रीजयदेव कविने 'दशावतारस्तोत्र' में बलदेवको आठवें अवतारके रूपमें निर्दिष्ट किया है, तथापि दूसरे-दूसरे समस्त अवतार श्रीबलदेवजीसे ही आर्विभूत हुए हैं। इसीलिए बलदेव मूल-संकर्षण हैं। अतएव बलदेव भी कृष्णकी तरह अवतारी हैं। आचार्योंने जिस प्रकार कृष्णको परमेश्वर-तत्त्व निरूपण कर उनको सर्वसद्गुणोंकी समष्टिके रूपमें लक्ष्य किया है, उसी प्रकार बलदेव भी सर्वसद्गुणोंके समष्टि-स्वरूप हैं। कृष्ण जिस प्रकार दुष्टोंके दमनकारी और साधु-पुरुषोंके पालक हैं, बलदेव भी उसी प्रकार दुष्टोंके विनाशक और संतोंके रक्षक हैं। यद्यपि सूक्ष्म विचार द्वारा देखनेसे तथा क्रियाओंके प्रति लक्ष्य करनेसे कृष्ण और बलराम एक ही प्रतीत होते हैं। तथापि तटस्थ होकर विचार करनेसे दोनोंमें कुछ तारतम्य दीख पड़ता है। यही ईश्वरके ईश्वरत्वका तारतम्यमूलक लीलावैशिष्ट्य अथवा लीला पार्थक्य है।

श्रीबलदेवकी आविर्भाव तिथिमें हम गौड़ीय वैष्णवजन श्रीमन्मध्वाचार्यका आनुगत्य स्वीकार कर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुकी लीला कथाका सर्वतोभावेन स्मरण करते हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु बलदेवाभिन्न विग्रह हैं। 'बलदेवाभिन्न' कहनेसे हृदयमें एक प्रकारके पार्थक्यकी मैल आक्रमण कर सकती है। इसीलिए आचार्योंने नित्यानन्दप्रभुको 'साक्षात् बलदेव' कहा है। श्रीनित्यानन्द प्रभु साक्षात् बलदेव होनेपर भी हलधर नहीं हैं। यही ईश्वरत्वके ऐक्यमें वैशिष्ट्यमूलक लीलागत भेद है। यह भेदाभेद-तत्त्व विशुद्ध हृदयमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हुआ करता है। सुन्दरानन्दके जैसे अशुद्ध हृदयमें यही 'अचिन्त्य अद्वैतवाद'के रूपमें परिणत हुआ है। प्रसंगवश हम श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत कर रहे हैं—

*वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्यं श्रीनित्यानन्दमीश्वरम्।*
*यस्येच्छया तत्स्वरूपमज्ञेनापि निरुप्यते।।*

(चै. च. आ. ५/१)

## श्रीबलदेव जयन्तीका उपवास

कुछ लोग श्रीबलदेवकी आविर्भाव तिथिको जयन्ती स्वीकार करना नहीं चाहते। हमलोग ऐसे विचारको भ्रान्तिमूलक मानते हैं। श्रीबलदेवको मूलसंकर्षणके रूपमें समस्त अवतारोंका आश्रय

स्थल अर्थात् उनको विषय विग्रह-स्वरूप स्वीकार करनेसे उनकी आविर्भाव तिथि न माननेका कोई युक्ति संगत कारण नहीं है। श्रीकृष्ण-जयन्ती, श्रीगौर-जयन्ती, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीनित्यानन्द-जयन्ती आदि तिथियोंमें जिस प्रकार निर्जला उपवास रहकर आविर्भाव मुहूर्तके बाद शुद्ध-वैष्णववृन्द अनुकल्प (असमर्थ व्यक्तियोंके लिये फल-मूल और दुग्ध आदि) ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार श्रीबलदेवकी आविर्भाव-तिथिका पालन करना भी नितान्त कर्तव्य है। ऐसा नहीं करनेसे दोष लगता है।

श्रीश्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अन्तर्गत श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ एवं श्रीरूप सनातन गौड़ीय मठमें विगत श्रावण सुदी १५, २६ अगस्त बृहस्पतिवारको शाम तक निर्जला उपवास रखकर श्रीबलदेवका अर्चन-पूजन करके कीर्तन-महोत्सवके उपरान्त अनुकल्प (असमर्थके लिए) स्वीकार किया गया तथा दूसरे दिन शुक्रवारको सवेरे ९.३१ मिनटके पूर्व हरि-गुरु-वैष्णवोंकी सेवाके पश्चात् पारण किया गया।

### *श्रील रूप गोस्वामीका तिरोभाव*

कलियुग पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके मनोभीष्ट पूरक, अन्तरङ्ग परिकर रसिक-कुल-चूड़ामणि श्री श्रीमद्रूप गोस्वामीकी तिरोभाव-तिथिके उपलक्ष्यमें प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी विगत श्रावण सुदी १३, २३ अगस्त सोमवारको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके उपसभापति परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डी स्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजके पावन आनुगत्यमें श्री रूप सनातन गौड़ीय मठमें एक महती धर्मसभाका आयोजन किया गया।

तीन दिनों तक चलनेवाले इस शुभ अनुष्ठानमें श्रीरूप गोस्वामीजीके अप्राकृत जीवन चरित्र एवं उनकी गुणावलियोंका कीर्तन करते हुए उनके विचार वैशिष्ट्य एवं सिद्धान्तोंकी भलीभाँति चर्चा की गई। इस आयोजनमें अन्यान्य मठोंसे आए प्रतिनिधियोंके अतिरिक्त व्रजमण्डलके मूर्धन्य विद्वानों एवं श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके सम्मानित आचार्योंने भाग लिया। जिसमें सभापति श्रीश्रीमच्चैतन्य कृष्णाश्रय तीर्थ (श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी), श्रीअच्युत भट्ट, श्रीलक्ष्मी नारायण बाबाजी महाराज आदिका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है।

### *श्रीश्रीकृष्ण जन्माष्टमी और नन्दोत्सव*

श्रीश्रीकृष्णजन्माष्टमीके पावन अवसर पर इस वर्ष भी मथुरा स्थित श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके उपसभापति परिव्रजकाचार्य त्रिदण्डी स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीके आनुगत्यमें विगत २ सितम्बर ९९ बृहस्पतिवारसे ४ सितम्बर ९९ शनिवार तक श्रीहरिनामसंकीर्तन श्रीमद्भागवतादि शुद्धभक्ति ग्रन्थपाठ, श्रीविग्रहदर्शन, भक्ति रसिक वैष्णव सन्तों एवं विद्वानोंके प्रवचन तथा नन्दोत्सवके दिन प्रायः १०,००० से अधिक लोगोंमें महाप्रसाद वितरणका आयोजन किया गया। ❑

## *श्रीश्रीरूप गोस्वामी*

*जय जय रूप महारस सागर।*
*दरशन परशन, वचन रसायन, आनन्दहु के गागर।।*
*अति गंभीर धीर करुणामय, प्रेम भकतिके आगर।*
*उज्ज्वल-प्रेम-महामणि प्रकटित, देश गौड़ वैरागर।।*
*सद्गुण-मण्डित पण्डित-रंजन, वृन्दावन जिन नागर।*
*कीरति-विमल यश सुनि तेहि माधो सतत रहल हिये जागर।।*

—(श्रीगौड़ीय गीतिगुच्छसे)

## जन्माष्टमी

[श्रीशङ्करलाल चतुर्वेदी बी०ए० सहित्य रत्न]

जाको गुन गावत गणेश शेष नारदादि,
सारद न पावे पार करती निराज है।
शङ्कर लवलीन है जाकी ललित लीला पै,
देखिकें प्रताप जाको मोह्यो सुरराज है।।
बार बार वारें व्रजवारी प्रान जासु ऊपर,
राधा मुख चकोर कौ, कलित निशिराज है।
जहँ तहँ मनाओ रे हर्ष, नरनारी सब,
प्यारे श्रीकृष्णाको जन्म दिन आज है।।

## वैष्णव व्रत तालिका

| | |
|---|---|
| १८आश्विन ५अक्टुबर मंगलवार | इन्दिरा एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२७ से पहले पारण। |
| २२ आश्विन ९अक्टुबर शनिवार | अमावस्या। |
| २ कार्तिक २० अक्टूबर बुधवार | श्रीब्रह्म–माध्व–गौडीय सम्प्रदायके श्रीमन्मध्वाचार्यजीका आविर्भाव, युद्धके लिए श्रीरामचन्द्रजीकी शुभयात्रा। |
| ३ कार्तिक २१अक्टूबर बृहस्पतिवार | पाशांकुशा एकादशी व्रत, अगले दिन ६–४३ से पहले पारण। श्रील रघुनाथदास गोस्वामी, श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामी एवं रघुनाथभट्ट गोस्वामीजीका तिरोभाव। |
| ६ कार्तिक २४ अक्टूबर रविवार | शरद पूर्णिमा, श्रीकृष्णकी शारदीया रासलीला, कार्त्तिकव्रत, ऊर्जाव्रत, दामोदरव्रत, नियम सेवा प्रारम्भ, ***श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीका ३२ वाँ वर्षपूर्ति विरह महोत्सव।*** |
| ११ कार्तिक २९ अक्टूबर शुक्रवार | श्रीनरोत्तम ठाकुरजीका एवं त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिकुशल नारसिंह महाराजजीका तिरोभाव। |
| १४ कार्तिक १ नवम्बर सोमवार | श्रीराधाकुण्डमें स्नान–दानादि महोत्सव। |
| १७ कार्तिक ४ नवम्बर बृहस्पतिवार | रमा एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३०केपहले पारण। |

*श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः*

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

*वैकुण्ठ–वार्त्तावह*

*बृहत्–मृदङ्ग*

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } *श्रीगौराब्द ५१३*
*वि. सं. २०५६ भाद्र मास, सन् १९९९, २६ सितम्बर —२४ अक्टुबर* { *संख्या ७*

# *(श्रीकृष्ण)–प्रणाम–प्रणयाख्य–स्तवः*

[श्रीमद्–रूप–गोस्वामी–विरचितः]

श्रीकृष्णाय नमः

***कन्दर्पकोटिरम्याय स्फुरदिन्दीवरत्विषे। जगन्मोहन–लीलाय नमो गोपेन्द्र–सूनवे।।१।।***

***कृष्णला–कृतहाराय कृष्ण–लावण्यशालिने। कृष्ण–कूल–करीन्द्राय कृष्णाय करवे नमः।।२।।***

जो करोड़ों कामदेवके समान अत्यन्त सुन्दर हैं, जिनकी अङ्गकान्ति खिले हुए नीलकमलके समान परम मनोहर है, जो परम चमत्कारमयी लीला प्रकट कर तीनों लोकोंको मोहित कर रहे हैं, उन गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ।।१।।

जो गुंजाहारसे विभूषित हैं, इन्द्रनील–मणि (नीलम) की तरह जिनका सौन्दर्य है एवं जो मत्त हस्तीके समान कालिन्दीके तीर पर विचरण करनेवाले हैं, उन श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ।।२।।

*सर्वानन्द–कदम्बाय कदम्ब–कुसुमस्रजे। नमः प्रेमावलम्बाय प्रलम्बारि–कनीयसे।।३।।*
*कुण्डलस्फूरदंसाय वंशायत्तमुखश्रिये। राधामानस–हंसाय ब्रजोत्तं साय ते नमः।।४।।*
*नमः शिखंड–चूड़ाय दण्ड–मण्डित–पाणये। कुण्डलीकृत–पुष्पाय पुण्डरीकेक्षणाय ते।।५।।*
*राधिकाप्रेम–माध्वीक–माधुरीमुदितान्तरम्। कन्दर्पवृन्द–सौन्दर्यं गोविन्दमभिवादये।।६।।*
*श्रृङ्गाररसशृगारं कर्णिकारात्त–कर्णिकम्। वन्दे श्रिया नवाव्भ्राणां विभ्राणां विभ्रमं हरिम्।।७।।*
*साध्वीव्रत–मणिव्रात–पश्यतोहार–वेनवे। कह्लारकृत–चूड़ाय शंखचूड़–भिदे नमः।।८।।*
*राधिकाधर–बन्धूक–मकरन्द–मधुव्रतम्। दैत्य–सिन्धूर–पारीन्द्रं वन्दे गोपेन्द्रनन्दनम्।।९।।*
*वर्हेन्द्रायुध–रम्याय जगज्जीवन–दायिने। काश्मीर–तिलकाढ्याय नमः पीताम्बराय ते।।११।।*
*गीर्वाणेश–मदोद्दाम–दाव–निर्वाण–नीरदम्। कन्दूकीकृत–शैलेन्द्रं बन्दे गोकुल–बान्धवम्।।१२।।*
*दैन्यार्णवे निमग्नोऽस्मि मन्तुग्रावभरार्दितः। दुष्टे कारुण्य–पारीण मयि कृष्ण कृपां कुरु।।१३।।*
*आधारोऽप्यपराधानाम्–विवेक–हतोऽप्यहम्। त्वत्कारुण्य–प्रतीक्षोऽस्मि प्रसीद मयि माधव।।१४।।*

जो निखिल आनन्दके कारण–स्वरूप हैं, जिनका वक्षःस्थल कदम्बके फूलोंकी मालासे सुशोभित है, जो भक्तजनोंके प्रेम द्वारा वशीभूत हैं, उन रामानुज श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ।।३।।

जिनका स्कन्द–देश हिलते हुए कर्ण–कुण्डलोंसे सुशोभित है, बंशी बजानेके लिए किंचित् वक्रीकृत मुखमण्डल द्वारा जो सुशोभित हैं, जो श्रीमती राधिकाके चित्तरूप मानस–सरोवरके हंस–स्वरूप हैं, ब्रजवासियोंके शिरोभूषणरूप उन श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।।४।।

जिनका चूड़ा मोर–पंखसे सुशोभित है, जो गौओंकी रक्षाके लिए रत्नमय दण्ड धारण करते हैं, जिनके कर्ण–युगल पुष्पनिर्मित कुण्डलोंसे विभूषित हैं, उन कमलनयन श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।।५।।

श्रीमती राधिकाके प्रेमरूप मधुर रस–माधुरीका पान कर जिनका अन्तःकरण सर्वदा हर्षयुक्त रहता है और करोड़ों कामदेव–सा जिनका सौन्दर्य है, उन श्रीगोविन्दका मैं अभिवादन करता हूँ।।६।।

जो शृङ्गार–रसके भूषण हैं, जो कनकचंपा (कनियार) के फूलोंसे निर्मित कर्णाभूषण धारण किये हुए हैं, जो अपनी अङ्ग–कान्ति द्वारा नवीन मेघ होनेकी भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, उन श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।।७।।

जिनकी वंशी सती–साध्वी रमणियोंके धर्मनिष्ठारूप रत्नसमूहको चुरानेवाली है, जिनका चूड़ा कमलके पुष्पोंसे सुशोभित है एवं जो शंखचूड़ नामक कंसके अनुचरके निहन्ता हैं, उन श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ।।८।।

जो श्रीमती राधिकाके अधररूप बन्धूक–पुष्पके मकरन्दका पान करनेमें भ्रमर–स्वरूप हैं और जो दानवरूप मत्त गजराजोंके लिये सिंह–स्वरूप हैं, उन गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी वन्दना करता हूँ।।९।।

जो मयूर–पुच्छरूप इन्द्रधनु द्वारा अतिमनोहर मूर्ति धारण किये हुए हैं, जो जगतके जीवन–दाता हैं और श्रीमती राधिकारूप विद्युत–मालासे जिनका श्रीअङ्ग सुशोभित है, उन श्रीकृष्णरूप नवीन मेघको प्रणाम करता हूँ।।१०।।

जो प्रेमान्ध ब्रज-वनिताओंके नयनरूप नीलकमलके लिये चन्द्रके समान हैं, जो कुंकुमके द्वारा रचित तिलकसे सुशोभित हैं, उन पीताम्बर श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ।।११।।

जो देवराज इन्द्रके प्रगाढ़ गर्वरूप दावानलको बुझानेके लिए नवीन मेघस्वरूप हैं और जिन्होंने गिरिराज गोवर्द्धनको गेंदके समान उठा लिया था, उन गोकुलबन्धु श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।।१२।।

हे करुणावरुणालय! हे कृष्ण! मैं अपराधरूप पाषाणसे दबकर दुःख समुद्रमें डूब रहा हूँ, अतएव कृपाकर इस मन्द व्यक्तिका उद्धार कीजिए।।१३।।

हे माधव! मैं सैकड़ों पापोंका आधार हूँ और अज्ञानके प्रभावसे हतचित्त होकर इस समय आपकी दयाकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, अतएव मेरे प्रति प्रसन्न होइए।।१४।। ❑

# *संत (सज्जन) के लक्षण*

*—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती*

*वदान्य (उदार) —६*

श्रीगौरसुन्दर जैसा दयालु चौदह भुवनों अन्यत्र कहीं भी नहीं है। उनकी अलौकिक दया प्राप्त कर उनके सेवकजन भी चौदह भुवनोंमें अतुलनीय दयालु हैं। जो वस्तु सत्य, त्रेता और द्वापर युगोंमें अयोग्यताका विचारकर जीवोंको प्रदान नहीं की गयी, उस उन्नत उज्ज्वल भक्ति-रस-माधुरीको अयोग्य लोगोंमें भी गौरजनोंने लुटायी है। श्रीनन्द-नन्दनकी अपार मधुरिमा एकमात्र भजन-पारङ्गत, अपराध-मुक्त नित्य-सिद्धजनोंको ही प्राप्य है। परन्तु हमारे उपास्य श्रीशचीनन्दन दानीशिरोमणि होनेके कारण दुर्बल, प्राकृतमदमत्त जीवोंके अपराधोंको दूरकर तथा उन्हें अनित्य नश्वर विचारोंके कठिन जालसे मुक्त कर परम दुर्लभ व्रजेन्द्रनन्दनकी निगूढ़ सेवामें नियुक्त करनेमें ही सर्वदा प्रयत्नशील हैं।

### *भगवत्सेवोन्मुख जीवोंके प्रति श्रीगौर हरिके उपदेश*

श्रीगौरहरिने बद्धजीवोंको शिक्षा दी है कि उन्हें असत् चरित्रके कपटी शिक्षकोंसे बचना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार भी योषित्संग और योषित्संगीका न तो संग करना चाहिए और न उनका कोई परामर्श ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह गौरभक्तोंके पवित्र आसनसे गिरकर अनन्त कालके लिये विषय समुद्रमें निमज्जित हो जायेगा।

### *श्रीगौर-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व और श्रीबलदेव-तत्त्व*

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर और श्रीशचीनन्दन गौरसुन्दर अभिन्न हैं। इसलिए गौरसुन्दर परमाराध्य वस्तु हैं, वे समस्त ईश्वरोंके ईश्वर—परमेश्वर, सच्चिदानन्दविग्रह, अनादि, सबके आदि और समस्त कारणोंके कारण हैं। कृष्ण ही अप्राकृत रसके एकमात्र, सर्वोत्कृष्ट विषय हैं; श्रीमती राधिका अप्राकृत आश्रया हैं। बलदेव उस विषयके विस्तार, प्रकाश या वैभव हैं। विषय-वैभवसे ही परव्योममें और अप्राकृत तद्रूप वैभव-समूहमें प्राभव-प्रकाश वासुदेव आदि ऐश्वर्य-रसके विषय-विग्रह हैं। मूल-आश्रय राधिकासे आश्रय-वैभव ब्रज-वनिता-समूह, रेवती आदि प्रकाशाश्रयवृन्द, द्वारकामें महिषीवृन्द, वैकुण्ठमें लक्ष्मीगण, नैमत्तिक अवतारादिमें सीता

आदि नित्य प्रकाशित हैं।

### आश्रय–भावसे गौरलीला और विषय–भावसे श्रीकृष्णलीलाका नित्यत्व

महामाधुरीके एकमात्र विषय सच्चिदानन्द–विग्रह यशोदानन्दन अपने नित्य आश्रय–विग्रह श्रीमती राधिकाकी सेवामयी चित्तवृत्तिको नित्यकाल ग्रहण कर गोलोकमें श्रीगौरांग–रूपमें स्वतंत्र अधिष्ठानमें नित्य विराजमान रहकर नित्य लीला–विलास करते हैं। आश्रय–भाव अङ्गीकार करने पर श्रीकृष्णकी गौरलीलाके अतिरिक्त कोई दूसरी नित्यलीला नहीं है। और विषय–भाव अङ्गीकार करने पर गौरांग सुन्दरकी कृष्णलीलाके अतिरिक्त कोई दूसरी नित्य लीला नहीं है। वे मधुर रसदाता महावदान्यके रूपमें श्रीरूपके निकट "नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदायते। कृष्णाय कृष्णचैतन्य–नाम्ने गौरत्विषे नमः।।" नित्य भजनीय हैं।

### स्वयं महावदान्यावतार श्रीगौरहरि द्वारा गौर–नागरीवादका खण्डन

कुछ लोग भगवान् गौरसुन्दरको नागर सजाकर तथा अपनेको प्राकृत नागरी मान कर गौर भजनकी आड़में व्यभिचारका पोषण करते हैं। परन्तु महावदान्यावतार स्वयं श्रीगौरहरिने उसका निषेध किया है। कविराज गोस्वामीने उसे इस प्रकार लिखा है—

*महाप्रभुर भक्तगणेर वैराग्य प्रधान।*
*याहा देखि तुष्ट हन गौर भगवान्।।*
*प्रभु कहे—वैरागी करे प्रकृति–संभाषण।*
*देखिते ना पारि आमि ताहार वदन।।*
*दुर्बार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण।*
*दारु प्रकृति हरे मुनि–जनेर मन।।*
*प्रभु कहे,—मोर वश नहे मोर मन।*
*प्रकृति संभाषी वैरागी ना करे दर्शन।।*
*तबे श्रीवास तार वृतान्त कहिला।*
*यैछे संकल्प यैछ त्रिविणी प्रवेशिला।।*
*शुनि हासि' प्रभु कहे सुप्रसन्न चित्त।*
*प्रकृति दर्शन कैले एई प्रायश्चित्त।।*
*असत्संगत्याग,—एई वैष्णव आचार।*
*योषित्संगी—एक असाधु, कृष्णभक्त—आर।।*
*भक्तवत्सल, कृतज्ञ, समर्थ वदान्य।*
*हेन कृष्ण छाड़ि पण्डित नाहिं भजे अन्य।।*

### श्रीरूप गोस्वामी द्वारा सहजिया और गौर–नागरीवादका खण्डन

जो लोग गौरभजनकी आड़में सहजिया, बाउल, चूड़ाधारी, गौरनागरी आदि मार्गों पर चलते हैं एवं शुद्धभक्तजनको अपने तरह जड़ीय समझ कर उन्हें गाली–गलौज करते हैं, वे कभी भी वदान्य नहीं कहे जा सकते हैं। वदान्य श्रीरूप गोस्वामीने निर्बोध नव्य–मतावलम्बी भावी बालकों और दलपतियोंके लिये ही रसशास्त्रकी रचना कर विषय और आश्रयका अति सहज और सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके ग्रन्थोंमें अवदान्य गौरनागरीजनोंका एक भी सिद्धान्त स्थान नहीं पा सका है। कोई भी गौरभक्त कपट भक्त होना नहीं चाहते। आश्रयभाव अंगीकारकारी कृष्णने अपनी गौरलीलामें जिस लीलाको प्रकट नहीं किया है, उस मिथ्या या काल्पनिक नागरीभावको ग्रहण कर कपट भक्त सजनेकी आवश्यकता ही क्या है? कपट भक्त सजकर सुनिर्मल और पवित्र चरित्रसम्पन्न गौराङ्गदेवमें व्यभिचारका आरोप करना अथवा अपने सिद्धान्तके अनुकूलमें कोई शास्त्रीय प्रमाण, सद्युक्ति या महाजन पथ न पाकर अपनेको कृष्ण–विमुखिनी स्वैरिणी सजानेकी आवश्यकता ही क्या है? कोई भी वदान्य (उदार व्यक्ति) कपटताका आदर नहीं करता।

### गौरनागरी–दलकी उत्पत्तिका कारण और शुद्ध गौर–भक्तोंका कर्त्तव्य

पाप करनेसे पापीका कोई प्रायश्चित नहीं है—महावदान्य गौरसुन्दरका यह कथन नहीं है। शुद्ध

भक्तजन हरि-सेवासें विमुख होकर पाप नहीं करते। और पापका अनुमोदन भी नहीं करते। श्रीगौरसुन्दरने हरि-विमुखताकी शिक्षा देनेके लिये छिपकर नदीया-नागरीके साथ व्यभिचार नहीं किया है। रामचन्द्रखाँ द्वारा भेजी गयी वेश्यानागरीके साथ गौर-पार्षद हरिदास ठाकुरने छिपकर व्यभिचार नहीं किया। माँ मीराबाई श्रीरूपगोस्वामी प्रभुकी नागरी नहीं थीं। "अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं" श्लोककी कुव्याख्याके आधारपर गौरनागरी नामक गौरविरोधी जीव गौराङ्गदेवको महावदान्य जगद्गुरु न मानकर अन्दर-ही-अन्दर व्यभिचारी कहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। "कृष्णलीला व्यभिचारमय है"—ऐसी भ्रान्त धारणा ही भोग-तात्पर्यपर गौरनागरियोंको पथ-भ्रष्ट कर गौर-विरोधी जीव बना डालती है। आशा है, वदान्य शुद्ध गौरभक्त, कपट गौरभक्तोंको श्रीराधा-कृष्णकी अप्राकृत कथा सुनाकर भोग-तात्पर्यपर गौरनागरी दलके हृद्गत कामका विनाश करेंगे। ऐसा करनेवाले शुद्ध गौरभक्त सज्जन ही वदान्य कहलायेंगे।

# *सम्बन्ध विचार*

*—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर*

***(जड़, आत्मा और परमात्मामें परस्पर सम्बन्ध)***

सारग्राही वैष्णव धर्म ही नित्यधर्म है। किसी मनुष्य अथवा किसी सम्प्रदायने इसे नहीं बनाया है। समयके अनुसार इस नित्यधर्मकी निर्मलताका अनुभव होता है। जिस प्रकार सूर्य सब समय समभावमें स्थित है; परन्तु दर्शकोंकी अवस्थाके अनुसार दोपहरमें अधिक उत्तापदायक और प्रकाशमान बोध होता है, उसी प्रकार निर्मल नित्यधर्म भी मानवकी उन्नत अवस्थामें अधिकतर निर्मल और उन्नत प्रतीत होता है। वास्तविक नित्यधर्म सब समय एकरूप होता है। यहाँ उसी नित्यधर्मका तत्व विचार करनेका प्रयास हो रहा है।

सारग्राही-चूड़ामणि श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है कि सम्प्रति मनुष्य मायाबद्ध होनेके कारण नित्यधर्मको सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन—इन तीन विषयोंमें विभक्त कर विचार करनेके लिये बाध्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुके इस उपदेशके अनुसार हम सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन—इन तीनोंका पृथक्-पृथक् रूपमें विचार करेंगे।

सबसे पहले सम्बन्ध-विचार है। विचारक सर्वप्रथम अपनी आत्माको लक्ष्य कर देखेंगे। अपनी आत्माके अस्तित्व द्वारा विषयका और दूसरे पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध होता है। विचारक ऐसा कह सकता है कि यदि मैं नहीं हूँ, तब कुछ भी नहीं है; क्योंकि मेरे अभावमें दूसरे पदार्थोंकी प्रतीति कैसे संभव हो सकती है? विचारक आत्म-प्रत्यय-वृत्ति द्वारा अपना अस्तित्व अनुभव कर पुनः अपनी आत्माकी क्षुद्रता और पराधीनता लक्ष्य करता है। वह ज्यों ही अपनी आत्माके प्रति दृष्टिपात करता है, त्यों ही किसी विराट् आत्माकी सहायताका अनुभव करता है। वह विराट् आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्माकी स्थितिको आत्म-प्रत्यय-वृत्तिका प्रथम कार्य समझना चाहिए।

कुछ देर बाद ही विचारककी दृष्टि जड़ जगत्के ऊपर पड़ती है। उस समय वह तीन वस्तुओंको देख पाता है—आत्मा, परमात्मा और जड़ जगत्। जो आत्माकी उपलिब्ध नहीं कर पाते, वे लोग अपनेको जड़ात्मक होनेका संदेह करते हैं। उनके

विचारसे जड़ ही नित्य पदार्थ है एवं जड़से ही अनुलोम–विलोम पद्धति द्वारा चैतन्य (आत्मा) की उत्पत्ति होती है और अन्तमें अवस्थामें परिवर्त्तन होनेपर वह उत्पन्न चैतन्य पुनः अचैतन्य रूप जड़ हो पड़ता है। उनके इस प्रकारका सिद्धान्त करनेका कारण यह है कि वे चित् प्रवृत्तिकी अपेक्षा जड़–प्रवृत्तिके वशीभूत अधिक होते हैं। उनका जड़के प्रति जितना विश्वास होता है, उतना ज्ञानके प्रति नहीं। इसलिए उनकी आशा, प्रीति, उत्साह, भरोसा और विचार आदि सब कुछ जड़ाश्रित होता है।

खेदकी बात है कि उपरोक्त विचारकोंको समाधिस्थ पुरुषोंका व्यवहार दुःखदायी जान पड़ता है। उनके और हमारे विचारोंमें आकाश–पातालका भेद वर्त्तमान है। इसका कारण यह है कि वे लोग जिस वृत्तिसे अप्राकृत विषयका विचार करते हैं, हम वैसी वृत्ति द्वारा अप्राकृत–विषयका विचार करनेके पक्षमें नहीं हैं। वे युक्ति–वृत्तिके अधीन होते हैं। परन्तु युक्ति आत्मनिष्ठ विचारके सम्बन्धमें सर्वथा असमर्थ है। वह इस विषयमें नियुक्त होनेपर कोई कार्य नहीं कर पाती है। अनुवीक्षण यंत्र (सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेका वैज्ञानिक यंत्र) कानमें लगानेसे क्या होगा? माइक्रोफोन यन्त्र द्वारा क्या देखा जा सकता है? ठीक उसी प्रकार युक्ति यंत्र द्वारा वैकुण्ठका दर्शन कैसे हो सकता है? जड़ जगतके विषय युक्ति–वृत्तिके अधीन हैं; परन्तु आत्मा आत्म–वृत्तिके अतिरिक्त और किसी भी दूसरी वृत्ति द्वारा लक्षित नहीं होती। यदि युक्ति सुपथका अवलम्बन करे तो वह आत्मविषयमें अपनी असमर्थता शीघ्र ही अनुभव कर सकती है। आत्मा ज्ञान–स्वरूप है, अतएव वह स्वप्रकाश और जड़का भी प्रकाशक है। जड़जात यक्ति–वृत्ति आत्माको कदापि प्रकाशित नहीं कर सकती है। इसलिये हम युक्तिवादियोंके जड़ीय सिद्धान्त पर न चल कर आत्म–दर्शन वृत्ति द्वारा आत्मा और परमात्माका दर्शन करेंगे एवं आत्मा और जड़के मध्यगत कुछ–कुछ युक्ति–यंत्रकी सहायता द्वारा जड़–जगत्के तत्त्वोंका विवेचन करेंगे।

आत्मा, परमात्मा और जड़—इन तीनों विषयोंका पृथक्–पृथक् विचार करना आवश्यक है। श्रीरामानुजाचार्यने चित्, अचित् और ईश्वर—तीन नामोंसे इनका विवेचन किया है। समबन्ध–विचारमें इन तीनों तत्वोंका विचार और समबन्ध निर्णय करना ही प्रयोजन है।

सांख्य लेखक कपिलाचार्यने प्रकृतिके तत्वोंकी संख्या २४ बतलायी है। जड़ या अचित् तत्वका विचार करनेके लिये कपिलके बतलाये हुए तत्वोंका विचार करना अपरिहार्य होता है। आधुनिक जड़–तत्वविद् वैज्ञानिक पण्डितोंने बड़े परिश्रम अपने नये–नये यन्त्रों द्वारा मूलभूत समूह (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि) के नाम, धर्म और रासायनिक प्रवृत्तियोंको विशेष रूपसे अविष्कार करके लोगोंके प्राकृत ज्ञानको समृद्ध किया है और कर रहे हैं। उनके द्वारा अविष्कार किये हुए विषय–समूह विशेष आदरणीय हैं, क्योंकि इनसे जीवोंके परमार्थमें भी कुछ–कुछ सहायता मिलती है। परन्तु आधुनिक आविष्कृत विषयोंका आदर होने पर भी सांख्यकी तत्व संख्याका निरादर करना नहीं होता है। मूल भूतोंकी संख्या ६० हो ६५ हो या ७० ही क्यों न हो सांख्यके द्वारा बतलाये गये मिट्टी, जल, तेज आदि स्थूल भूतोंके समबन्धमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। अतएव सांख्यके आचार्य श्रीकपिलने जिन पंचभूत, तन्मात्रा (रूप–रस ग्रंध–शब्द–स्पर्श), इन्द्रिय–समूह, मन, बुद्धि और अहंकार आदि तत्त्वोंका विचार करते हुए प्राकृत जगत्का विचार किया है, वह गलत अथवा बेकार नहीं है। बल्कि सांख्यका तत्व–विभाग बड़े ही ठोस वैज्ञानिक आधार पर निर्भर है। वेदान्तसंग्रहरूप गीतामें भी तत्वोंकी संख्या दी गयी है, जो सांख्यकी

तत्व संख्यासे मिलती-जुलती है—

*भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।*
*अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।*

(गीता ७/४ )

—भूमि, जल अग्नि, वायु आकाश—पाँच स्थूलभूत एवं मन बुद्धि तथा अहङ्कार—ये आठ प्रकारके तत्व प्रकृतिमें हैं। इ तत्व-संख्यामें तन्मात्राओंको पञ्चभूतोंमें तथा इन्द्रियोंको मन, बुद्धि और अहंकार रूप सूक्ष्म मायिक तत्त्वोंके अन्तर्गत ले लिया जाता है। अतएव तत्त्वोंकी संख्याके सम्बन्धमें तथा प्रकृतिके विचारके विषयमें सांख्य और वेदान्तके विचारोंमें ऐक्य है।

अब विचारणीय यह है कि मन, बुद्धि और अहंकार—ये आत्माके स्वभाव हैं अथवा प्रकृतिके तत्त्व हैं? इस विषयमें कतिपय पाश्चात्य पण्डितोंने मन, बुद्धि और अहंकारको प्राकृतिक धर्म माना है तथा आत्माको इनसे परे बतलाया है। आधुनिक प्रायः समस्त पण्डितोंने मन और आत्माको एक माना है। मैंने बहुतसे अँग्रेज विद्वानोंके साथ विचार कर देखा है कि वे लोग आत्माको मनसे पृथक् तो मानते हैं; परन्तु भाषाके दोषसे वे अधिकांश स्थलों पर 'आत्मा' शब्दकी जगह 'मन'—शब्दका प्रयोग कर डालते हैं। गीताके पूर्वोक्त श्लोकके नीचे ही निम्नलिखित श्लोक है—

*अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।*
*जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।*

(गीता ७/५)

पूर्वोक्त आठ प्रकारकी प्रकृतिके अतिरिक्त और भी एक पारमेश्वरी प्रकृति है। वह प्रकृति जीव-स्वरूपा है, जिसके साथ यह जड़ जगत् स्थित है। इस श्लोकसे यह स्पष्ट रूपसे जाना जाता है कि पूर्वोक्त भूतसमह, मन, बुद्धि और अहंकारात्मिका प्रकृतिसे जीव प्रकृति स्वतन्त्र है। यही सारग्राही सिद्धान्त है।

इस परिदृश्यमान जगत्में दो प्रकारके पदार्थ दिखलायी पड़ते हैं। एक चित् और दूसरा अचित् अर्थात् जीव और जड़। वैष्णव आचार्योंने इन दोनोंको परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्तिका परिणाम माना है। यह अब जड़ सत्ता और जीव सत्ताका मान निरूपण करना कर्त्तव्य है। जीव सत्ता—चैतन्यमय और स्वधीन क्रिया-विशिष्ट होती है। जड़ सत्ता—जड़मय और चैतन्यके अधीन होती है। वर्त्तमान वद्धावस्थामें नर-सत्ताका विचार होनेसे चैतन्य और जड़का विचार होगा, इसमें सन्देह, नहीं; क्योंकि बद्धजीव भगवान्की इच्छासे जड़के वशीभूत दिखलायी पड़ता है।

सप्त-धातुओं द्वारा निर्मित शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-अहंकार, काल-तत्त्व एवं ईश्वर—ये सब भिन्न-भिन्न रूपोंमें मनुष्य-सत्तामें दिखलायी पड़ते हैं। भूत और भूतधर्म अर्थात् पंचतन्मात्रा द्वारा निर्मित यह शरीर सम्पूर्ण रूपसे भौतिक है।

जड़भूतोंके द्वारा कुछ भी अनुभव नहीं होता, परन्तु मनुष्यकी सत्तामें शरीरगत स्नायवीय प्रणाली और शरीर स्थित नेत्र, कर्ण आदि विचित्र यन्त्रोंके सहारे किसी प्रकार चिदधिष्ठानरूप अवस्था लक्षित होती है। इन यन्त्रोंका नाम इन्द्रिय है।

इन इन्द्रियोंके द्वारा भौतिक विषयोंका ज्ञान भौतिक शरीरमें प्रविष्ट होकर भूत-प्रकाशक किसी आन्तरिक यन्त्रके सहित संयोगित होता है। इस यन्त्रको हम मन कहते हैं। इस मनकी चित्त-वृत्ति द्वारा विषय-ज्ञान अनुभव होकर स्मृति-वृत्ति द्वारा संरक्षित होता है। कल्पना-वृत्ति द्वारा विषय-ज्ञानका आकार परिवर्त्तित होता है। लाघवकरण एवं गौरवकरण रूप दो बुद्धि वृत्तियोंके सहारे विषयका विचार होता है।

इनके अतिरिक्त मानव-सत्तामें बुद्धि और चित्तात्मक मनसे लेकर शरीर तक अहं भावात्मक एक चिदाभास सत्ताका भी लक्षण पाया जाता है।

इसी तत्वसे 'अहं' और 'मम' अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'—ऐसा निगूढ़ भाव मानव सत्तामें निहित है। इसका नाम अहंकार है।

ध्यान देनेकी बात है कि अहंकार क समस्त विषय ज्ञान प्राकृत हैं। अहंकार, बुद्धि, मन और इन्द्रिय–शक्ति—ये जड़ात्मक नहीं हैं अर्थात् ये सम्पूर्णरूपसे भूतों द्वारा गठित नहीं है। दूसरी तरफ इनकी सत्ता भूतमूलक है भी अर्थात् इनका सम्बन्ध भूतोंसे न होनेसे इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अतएव यह सिद्ध है कि ये कुछ हद तक चैतन्याश्रित हैं, क्योंकि प्रकाशकत्व भाव ही इनका जीवनीभूत–तत्व है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि विषयोंका ज्ञान अनुभव करना ही इनकी क्रियाका परिचय है। अब प्रश्न है—यह चैतन्य भाव कैसे सिद्ध होता है?

आत्मा शुद्ध चैतन्य सत्ता है। आत्मा सहज ही जड़के वशीभूत नहीं होती; बल्कि किसी विशेष कारणवश परमेश्वरकी इच्छासे ही शुद्ध आत्माका जड़से गठबन्धन हो गया है। यद्यपि बद्धावस्थामें उस विशेष कारणका अनुसंधान करना हमारे लिये बहुत ही कठिन है, तथापि बद्धावस्थामें आनन्दका अभाव अनुभव करके इतना तो अवश्य ही उपलब्ध होता है कि यह बद्धावस्था चैतन्य सत्ताके लिये दण्ड–भोगकी अवस्था है।

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि जीवकी सृष्टि वर्त्तमान अवस्थामें ही हुई है। जीव कर्मद्वारा क्रमशः उन्नत हो रहा है। परन्तु यह आधुनिक विचार आत्मप्रत्यय वृत्तिकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। इस विषयमें अधिक युक्तियाँ नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्म–तत्व और परमेश्वरकी लीलामें भूत–मूलक जड़ युक्ति कोई कार्य नहीं करती। अतएव ऐसा स्थिर करना कर्त्तव्य है कि—शुद्ध आत्माके साथ जड़भूतोंके गठनबन्धनसे अहंकार, बुद्धि, मन और इन्द्रिय–वृत्तिरूप चिदाभासकी उत्पत्ति हुई है। परन्तु आत्माके मुक्त होनेपर यह चिदाभास दूर हो जाता है।

अतएव मानव सत्तामें तीन तत्त्व लक्षित होते है—(१) आत्मा (२) आत्मा और जड़का संयोजक चिदाभास यंत्र (३) शरीर। वेदान्तमें आत्माको 'जीव', चिदाभास यंत्रको 'लिङ्गशरीर' और भौतिक शरीरको 'स्थूलशरीर' कहा गया है। मृत्यु होनेपर शरीर छूट जाता है; परन्तु मुक्ति न होने तक लिङ्गशरीर कर्म और कर्म–फलका आश्रय कर वर्त्तमान रहता है। चिदाभास यन्त्र अर्थात् लिङ्ग शरीर जीवकी बद्धावस्था तक सदा बना रहता है। परन्तु वह शुद्ध–जीवनिष्ठ नहीं है। शुद्ध जीव चिदानन्दस्वरूप है। शरीरसे अहंकार तककी प्राकृत–सत्तासे शुद्ध जीवकी सत्ता पृथक् है।

शुद्ध जीवकी सत्ताका अनुभव करनेके लिये प्राकृत चिन्ताका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है। परन्तु ऐसा कैसे किया जाय; क्योंकि शरीरसे लेकर अहंकार तत्त्व तककी सारी चिन्ताएँ प्रकृतिके अधीन हैं। चिन्ताकी उत्पत्ति चिदाभाससे होनेके कारण वह भूताश्रयका त्याग नहीं कर सकती है। अतएव मनोवृत्तिकी क्रियाको बन्द रखकर आत्म–समाधिके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुशीलन होनेपर अवश्य ही आत्मोपलब्धि होती है। परन्तु जिन्होंने आत्माकी स्वतन्त्रताको अहंकार तत्त्वके निकट सम्पूर्ण रूपसे समर्पण कर दिया है, वे युक्तिकी सीमाको पार करनेका साहस नहीं कर सकते हैं और इसीलिये वे शुद्ध आत्माकी सत्ताका तनिक भी अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होते। वैशेषिक आदि युक्तिवादी शुद्धजीवकी सत्ताकी उपलिब्ध नहीं करते, अतएव वे मनको भी नित्य मानते हैं।

***शुद्ध जीवात्माके १२ लक्षण हैं—***

*आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।*
*अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसंग्यनावृतः।।*

*एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।*
*अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्।।*

(श्रीमद्भा. ७/७/१९-२०)

आत्मा नित्य है अर्थात् स्थूल और लिङ्ग शरीरकी तरह क्षणभंगुर नहीं है। अव्यय है अर्थात् स्थूल और लिङ्ग शरीरके नाश होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता। शुद्ध अर्थात् प्राकृत भावरहित है। एक अर्थात् गुण-गुणी, धर्म-धर्मी, अंग-अंगी आदि द्वैतभाव-रहित है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् द्रष्टा है। आश्रय अर्थात् स्थूल और लिंग शरीरके आश्रित नहीं बल्कि स्थूल और लिंग शरीर आत्माको आश्रय कर सत्ता विस्तार करता है। अविक्रिय अर्थात् शरीरगत भौतिक विकाररहित है। विकार छः हैं—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश। स्वदृक् अर्थात् अपनेको आप देखनेवाला है; प्राकृत दृष्टिसे उसे देखा नहीं जाता। हेतु अर्थात् आत्मा शरीरकी भौतिक सत्ता, भाव और कार्यका मूल तो है, परन्तु स्वयं प्रकृति-मूलक नहीं है। उसकी प्राकृत स्थानीय सत्ता नहीं है। असङ्गी अर्थात् प्रकृतिके भीतर रह कर भी प्रकृतिके गुणोंसे अतीत है। अनावृत अर्थात् भौतिक आवरण द्वारा बँधा हुआ नहीं होता। पण्डितजन इन बारह अप्राकृत लक्षणों द्वारा आत्माको स्थूल और लिंग शरीरोंसे पृथक् जानकर मोहसे उत्पन्न 'अहं' और 'मम' आदि असत् भावोंका त्याग करेंगे।

शुद्ध जीवकी स्थानीय कालिक सत्ता है या नहीं—इस विषयमें बहुत ही तर्क-वितर्क हुआ करता है। परन्तु परमार्थके सम्बन्धमें तर्ककी तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं है। वरन् अधिकतर निन्दा ही दिखलायी पड़ती है। तर्क सर्वदा चिदाभासनिष्ठ होता है, चिन्निष्ठ नहीं। आत्मा अप्राकृत अर्थात् प्रकृतिके समस्त तत्त्वोंसे अतीत है। यहाँ पर प्रकृति शब्दसे केवल भूत-समूहका ही बोध नहीं होता, बल्कि भूत, तन्मात्रा, चिदाभास अर्थात् इन्द्रिय-वृत्ति, मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्ति और अहंकार आदि सबका बोध होता है। चिदाभास प्रकृतिके अन्तर्भूत होनेके कारण प्रकृतिके अधीन बहुत-सी अवस्थाओंमें चित्कार्य होनेका भ्रम हुआ करता है।

देश और काल प्रकृतिके अन्तर्गत दिखलायी पड़ने पर भी वे शुद्धसत्ता द्वारा चित्तत्त्वमें भी हैं। श्रीकृष्ण-संहिताके पहले और दूसरे अध्यायोंका भलीभाँति विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होगा कि चित्-तत्त्व और जड़-तत्त्व वर्त्तमान अवस्थामें परस्पर विरुद्ध होनेपर भी, वास्तवमें परस्पर विपरीत तत्त्व नहीं हैं। चित् तत्त्वमें जो सब सत्ताएँ है, वे सभी शुद्ध और दोषशून्य हैं। वे ही सत्ताएँ जड़ तत्त्वमें परिलक्षित होती हैं; किन्तु मायिक जगतमें परिलक्षित सारी सत्ताएँ दोषपूर्ण हैं। अतएव शुद्ध देश और काल, शुद्ध आत्म-सत्तामें लक्षित होंगे तथा ससीम देश-काल मायिक जगत्में प्रतीत होंगे। देश और कालका यही एक मात्र वैज्ञानिक विचार है।

विशुद्ध अवस्थामें जीवका अस्तित्व शुद्ध आत्माका होता है। परन्तु बद्धावस्थामें मानव सत्तामें त्रिविध सत्ताएँ परिलक्षित होती हैं—शुद्ध आत्माका अस्तित्व, चिदाभास लिंग शरीरका अस्तित्व और भौतिक स्थूल अस्तित्व। स्थूल वस्तु सूक्ष्म वस्तुको ढकती है, यह नैसर्गिक विधि है। अतएव चिदाभास लिंग शरीरका अस्तित्व (आत्म-अस्तित्वसे) कुछ स्थूल होनेके कारण वह शुद्ध आत्म-अस्तित्वको आच्छादित कर रखा है; पुनः भौतिक अस्तित्व सबसे अधिक स्थूल होनेके कारण वह शुद्ध-आत्म-अस्तित्व एवं लिंग-अस्तित्व दोनोंको ही आच्छादित कर रखा है। फिर भी तीनों अस्तित्वोंका ही प्रकाश है। क्योंकि आच्छादित होनेपर भी वस्तुका लोप नहीं होता। ❑

# श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका संकीर्त्तन-आन्दोलन

—श्रीअभयचरण भक्तिवेदान्त

[वर्ष ४३, संख्या ६, पृष्ठ १३३ के आगे]

कलियुगमें अधिक धनकी तो बात ही क्या, कुछ कौड़ियोंके लिये ही परस्पर बैर-विरोध होने लगता है। मनुष्य बहुत दिनोंके सुहृद्भावको तिलाञ्जलि देकर कौड़ी-कौड़ीके लिये अपने सगे-सम्बन्धियों तक की हत्या कर बैठते और अपने सर्व प्रिय प्राणोंका भी विसर्जन करते हैं। पुत्र शिश्नोदर परायण होकर अपने बूढ़े माता-पिताकी रक्षा, पालन-पोषण नहीं करता। पिता अपनी सन्तानकी परवा नहीं करता, उन्हें अलग कर देता है। पति सत्कुलमें उत्पन्न हुई अपनी विदुषी भार्याको परित्याग कर देता है। वे भगवद्भक्ति-हीन पाषण्डियोंके मतसे मोहित होकर जगद्गुरु त्रिलोकीनाथ भगवान्‌की पूजा नहीं करते। मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के किसी एक नामका उच्चारण करे तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। पर हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवानकी आराधनासे भी विमुख रहते हैं। परन्तु जब पुरुषोत्तम भगवान् मानवोंके हृदयमें आ विराजते हैं, तब उनके धर्म कृत्य-समूहमें द्रव्य, देशादि वैगुण्यके कारण कलिके द्वारा उत्पन्न सभी दोष क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला और धामके श्रवण, संकीर्तन, ध्यान, पूजन और सम्मानसे वे मानवोंके हृदयमें आविर्भूत होकर उनके हृदयस्थ कोटि-कोटि जन्मोंके पापोंके ढ़ेर-के-ढ़ेर भी क्षणभरमें भस्म कर देते हैं। जैसे सेनेके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसके ताम्रादि धातु सम्बन्धी मलिनताको नष्ट कर देता है, वैसे ही साधकोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् विष्णु उनके अशुभ-संस्कारोंको सदाके लिये दूर कर देते हैं।

कलियुगकी परमायु ४३२००० वर्ष मानी जाती है, जिसमें कुल ५००० वर्ष ही बीते हैं, शेष ४२७००० वर्ष अभी और सामने पड़े हैं। इन पाँच हजार वर्षोंके बीतते-न-बीतते ही शास्त्रोंकी भविष्य वाणियाँ—जो कलियुगके सम्बन्धमें की गयी थीं—आज सर्वत्र प्रत्यक्षरूपसे परिलक्षित हो रहीं हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि कलियुगकी प्रगतिके साथ-साथ मनुष्य समाजकी कितनी बुरी परिस्थिति होगी। फिर भी शास्त्रकारोंने कलियुगकी महिमाका प्रचुर गान किया है। श्रीमद्भागवतके सर्वश्रेष्ठ मनीषि श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षितसे कहा था—"हे राजन्! यों तो कलियुग दोषोंका खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यह है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर आदिका संकीर्त्तन करने मात्रसे जीव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसे भगवत् प्राप्ति हो जाती है। सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंसे उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका अर्चन करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नाम कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवत् धर्मके प्रचारक और श्रीहरिनाम संकीर्त्तन-यज्ञके आदि प्रवर्त्तक और शिक्षागुरु हैं। उन्होंने सर्वत्र यही शिक्षा दी है कि कलियुगमें जीवोंके उद्धारके लिये केवल एक ही साधन है। वह साधन है—'हरिनाम संकीर्तन'। शास्त्रोंसे प्रमाण उद्धृत कर इसे शास्त्र-सिद्धान्त

रूपमें स्थापन कर दिया।

*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।*
*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।*

(वृहन्नारदीय पु० ३८/१२६)

श्रीधाम वृन्दावनका दर्शन कर श्रीपुरीधामको लौटते समय महाप्रभुजी काशीजीमें पधारे थे। काशीकी जनताने उनके संकीर्त्तन-आन्दोलनमें अधिक-से-अधिक संख्यामें सहयोग दिया। इसे देख कर श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती जैसे बहुतसे मायावादी संन्यासियोंने उन्हें (श्रीचैतन्यमहाप्रभुको) केवल एक भावुक संन्यासी समझा। श्रीमन्महाप्रभुका प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ वेदान्त तत्त्वपर विचार हुआ। महाप्रभुजीने बृहन्नारदीय पुराणसे उपर्युक्त श्लोक उद्धृत कर दिखला दिया कि कलियुगमें पाप-पङ्कमें निमग्न अज्ञ जन-साधारण वेदान्त पाठके अधिकारी नहीं हैं। उनके लिये हरिनाम-संकीर्त्तन ही एकमात्र गति है। इसके सिवा उनके उद्धार होनेका कोई भी दूसरा पथ नहीं है।

सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंमें श्रौतपथका ही (गुरु-परम्परासे सुना हुआ पर-तत्त्व सम्बन्धी वाणियोंका) आदर था। किन्तु कलिकालकी प्रवृत्तिके साथ-साथ अश्रौतपथ—अर्थात् तर्क-पथका आदर होने लगा है। परम-सत्य वस्तुके अवतरण के (Deductive Proces) विषयमें सन्देह होनेके कारण आज मानव अपनी जड़ इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान लाभ करनेके लिये अक्लान्त प्रयत्न करता है। इसीलिये आधुनिक मनुष्य-समाजमें मनोविज्ञान अथवा अश्रौत या तर्क पथका अधिक गौरव है। पाश्चात्य दार्शनिक मनीषियोंने मनोविज्ञानकी विस्तृत आलोचना करके अप्राकृत तत्व-वस्तुकी विचित्र पहेलीको यथासाधन यथाशक्ति समझनेके लिये प्रयत्न किया है। किन्तु वे विफल रह जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके दृष्टिकोणसे मनोविज्ञान अपरा प्रकृति अथवा जड़ प्रकृतिका ही एक अङ्ग है। अतः मनोविज्ञान अपने सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम् विचारोंद्वारा अधिक-से-अधिक 'तत् सत्' वस्तुके निर्विशेष-ब्रह्मका अनुसन्धान देनेमें असमर्थ होता है।

### *श्रीकृष्णनाम वैकुण्ठ-वस्तु अथवा शब्द-ब्रह्म है।*

श्रीकृष्णनाम वैकुण्ठ-वस्तु होनेके कारण वास्तव वस्तु स्वयं कृष्णके साथ सम्पूर्णरूपसे अभिन्न है। नाम और नामी अभिन्नहोनेके कारण वास्तव वस्तु नामी श्रीकृष्ण जैसे नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त चैतन्य रस-विग्रह और अप्राकृत चिन्तामणि हैं, वैकुण्ठ नाम भी वैसे ही नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, चैतन्यरसविग्रह और अप्राकृत चिन्तामणी है। ये दोनों अद्वयज्ञान-तत्त्व हैं। कृष्णनामके साथ प्राकृत नामका सादृश्य रहने पर भी कृष्णनाम स्वयं वैकुण्ठ-वस्तु हैं। अतः आप्राकृत नाम या नामी तत्त्व तर्क पथ अथवा प्राकृत मनोविज्ञानकी पहुँचसे बाहर है।

केवल नाम भजनसे ही मायावद्ध जीवकी स्थूल और सूक्ष्म उपाधियाँ दूर होती हैं। कलिकालमें तर्क पथका अधिक आदर है। इस तर्क-प्रधान कलिमें ध्यान, धारणा, यज्ञ तथा अर्चन आदि धर्म-समूह सिद्धि देनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि तर्क या सन्देहका रोड़ा उनकी सिद्धिमें बाधा देता है। अतः तर्कसे अतीत भगवान्का नाम ही तर्क पन्थियोंको—विषय चिन्तामें अभिनिविष्ट तथा मनोधर्मका अनुशीलन करने वाले जीवोंको, मायाके हाथसे परित्राण कर सकते हैं। यही सभी शास्त्रोंका सार सिद्धान्त है। प्राकृत विज्ञानके अनुभवगम्य जड़ वस्तुओंके नाम (Nomenclature) रूप, गुण, भाव और कार्यक्रम सभी तर्क-पथके (Inductive Process) अन्तर्गत है। किन्तु वैकुण्ठ-वस्तु भगवान् और भगवन्नाम वैसे नहीं। भगवान्के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, लीला और उनके परिकर सभी तर्क पथसे परे अद्वयज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं। मायावादी प्राकृत

मनोविज्ञानके आधारपर—परम सत्य वस्तुके नाम, रूप, और गुणमें द्वैत–ज्ञान अर्थात् भेद स्थापनकर उसमें दोषका आरोप करते हैं। अतः उनका पतन हो जाता है। मायावादी मनोधर्मका अनुशीलन करने वाले व्यक्तियोंको "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ये दोनों श्रुति वाक्य उनके प्राकृतविचार से मुक्त करते हैं।

सत्ययुगका ध्यान, त्रेताकी यज्ञ–विधि तथा द्वापरका भगवद्अर्चन—ये कलिकालके लिये उपयोगी नहीं हैं। वरन् तरह–तरहके विघ्न–बाधाओंके कारण ये साधन–समूह एक प्रकारसे निष्फल हो गये हैं। अतः ऐसे समयमें केवल हरिसंकीर्त्तन ही अनन्य साधनका मार्ग है।

नाम भजनमें अनधिकारी व्यक्ति नाम तथा नामीमें द्वैत–भेद ज्ञान करते हुए मायावादी वैदान्तिक होनेका प्रयास करते हैं। ऐसे दुर्भागा व्यक्ति अप्राकृत श्रीगुरुदेवकी भाषामें मूर्ख कहे जाते हैं। अधिरोहवादसे (प्राकृत–मनोविज्ञानसे) परिचालित होकर वेदान्तके अनुशीलनका फल होता है—भगवत् सेवामें उत्साहहीनता, जड़ता अथवा मूर्खता। किन्तु नाम भजनमें अधिकारी व्यक्ति ऐसे वेदान्त अनुशीलनके परे अविस्थित रहता है।

*''अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्*
*यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।*
*तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या*
*ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।''*

(भागवत ३/३३/७)

अर्थात् हे भगवन्! जिनके मुखमें आपका नाम वर्त्तमान है, वे चण्डालकुलमें अवतीर्ण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हैं। जो आपका नाम कीर्तन करते हैं, उन्होंने सब तरहके तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया। और भी देखिये—

*ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदःसामवेदोऽप्यथर्वणः।*
*अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्।।*

अर्थात् जो 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करते हैं उन्होंने ऋक्, साम, यजु और अथर्व चारों वेदोंका अध्ययन कर लिया।

श्रीकृष्णचैतन्य देव संकीर्त्तनका प्रचार कर युगधर्म प्रवर्त्तन करनेके लिए अवतीर्ण हुए थे। वे स्वयंरूप कृष्ण हैं। वे १८ फरवरी १४८६ में बंगालमें नवद्वीप धाममें फाल्गुन–पूर्णिमाके चन्द्र–ग्रहणके अवसरपर श्रीहरिसंकीर्त्तन मुखरित संध्यामें अवतीर्ण हुए थे। इनकी माताका नाम श्रीशचीदेवी और पिताका नाम श्रीजगन्नाथ मिश्र था। विभिन्न शास्त्रोंमें उनके अवतीर्ण होनेका उल्लेख मिलता है। महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णके भक्तभावसे अवतीर्ण होनेका प्रमाण मिलता है—

*सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।*
*सन्नासकृच्छमः शान्तो निष्ठा–शान्ति परायणः।।*

अर्थात् सुवर्णके समान शरीरका सौन्दर्य, तपाये सोनेकी तरह अंगकी छटा, सर्वाङ्ग–सुन्दर गठन और चन्दनकी मालासे सुशोभित—इन चार लक्षणोंसे युक्त श्रीमन्महाप्रभु गृहस्थ लीला करते हैं। फिर भगवद्–रहस्यकी आलोचनारूप समगुण विशिष्टता, हरिकीर्तनरूप यज्ञमें दृढ़ निश्चयता तथा केवलाद्वैतवादीके अभक्तभावोंको निवृत्त करनेवाला शान्तिमय महाभाव—ये उनके संन्यास लीलाका परिचय देते हैं। इनकी भगवत्ता और अवतीर्ण होनेका प्रमाण विभिन्न शास्त्रोंसे उद्धृत कर अन्यत्र दिखलाया जायेगा।

वेदानुग शास्त्रोंमें भगवान्के अवतार तथा उन अवतारोंके विशेष कार्यक्रमके सम्बन्धमें उल्लेख है। श्रीकृष्णचैतन्यदेवने शास्त्र सिद्धान्तके अनुरूप २४वें वर्ष तक गृहस्थ लीला करनेके बाद केशव भारतीसे संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके बाद वे तीन दिनों तक भावमें विभोर होकर राढ़देशमें, जो मुर्शिदावाद (बंगाल) जिलेमें गंगा नदीके पूर्व तटपर स्थित है, भ्रमण किया। वहाँ उन्होंने अपने

संन्यास ग्रहण करनेके निगूढ़ रहस्यका उद्घाटन किया था। उन्होंने श्रीमद्भागवतमें वर्णित अवन्ती नगरीके एक ब्राह्मणके संन्यास ग्रहणका उद्देश्य वर्णन किया—

*एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा–*
*मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।*
*अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं*
*तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।*

(भा० ११/२३/५८)

(क्रमशः)

# कुछ प्रश्न

१. रजस्वला स्त्री भगवानके लिए भोग बना एवं लगा सकती हैं या नहीं?

२. अन्यान्य सम्प्रदायोंके सन्तों, भक्तोंको श्रवण करना चाहिए अथवा नहीं?

३. द्वैतवाद और अद्वैतवादमें क्या अन्तर है? इनमें कौन-सा वाद समस्त भक्तोंमें अधिक मान्य है, किस वादको आधिक्य अथवा प्रधानता प्राप्त है? चैतन्य महाप्रभुका अचिन्त्य भेदाभेद इन विभिन्न वादोंसे किस तरह भिन्न है एवं सर्वश्रेष्ठ है? कृपया स्पष्ट रूपमें समझाकर कृतार्थ कीजिए।

४. हमारी परम्परामें भगवान शिवको भगवान न मानकर देवता माना जाता है एवं उनकी पूजा या भक्ति न करने एवं प्रसाद न ग्रहण करनेकी सलाह दी जाती है, जबकि उन्हें वैष्णवोंका आचार्य भी कहा जाता है। अतः यदि अन्य वैष्णव आचार्योंकी पूजा कर सकते हैं तो शिवजीकी क्यों नहीं? तब उनका प्रसाद क्यों नहीं ले सकते?

५. भगवान कृष्णको भोग लगानेके पश्चात् जो प्रसाद हमें प्राप्त होता है उसमें से क्या पंचयज्ञ हेतु निकाला जाना चाहिए, जो कि देवताओं, पितरों, ऋषि, मुनियों, मानवों एवं अन्य समस्त जीवोंके निमित्त हो?

६. क्या दीक्षित वैष्णव ग्रहोंकी शान्ति, रोग-निवृत्ति, शारीरिक और भौतिक सुखके लिए नवग्रहों, देव-देवियोंकी पूजा कर सकते या करा सकते हैं अथवा नहीं?

७. गुरुदेव! मैं आपका एक निकृष्ट तुच्छ एवं अज्ञानी शिष्य हूँ, फिर भी आपके चरणचिह्नों पर चलकर प्रचार कार्य करना चाहता हूँ। क्योंकि मैं अभी तक कोई भी सेवा नहीं कर पाया हूँ अतः 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'की भावनासे इस सेवामें अग्रसर होनेके लिए आपका शुभ आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता हूँ। कृपा करके आशीर्वाद देकर धन्य-धन्यकर दीजिए। आपकी ही अनुकम्पा एवं प्रेरणासे इसी वर्ष यहाँ घाटकोपरमें श्रीमद्भागवत सप्ताहमें प्रवक्ताकी सेवा प्राप्त हुई थी। दो वर्ष पूर्व भोपालमें पंचदिवसीय श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करनेका सौभाग्य भी आपकी कृपासे प्राप्त हुआ था।

आपका कनिष्ठ अधिकारी शिष्य
जयदेव दास शर्मा

***श्रील महाराजजीका उत्तर***

श्रीश्रीगुरु गौरांगौ जयतः
श्रीश्रीवैष्णव चरणोंमें दण्डवन्नति पूर्विकेयम्

श्रीजयदेव दास! मेरा स्नेहाशीष ग्रहण करना। तुम्हारा १४/८/९९ का पत्र मिला। उसमें लिखित प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें दे रहा हूँ।

(१) रजस्वला स्त्री भगवान या भक्तोंके लिए भोग–रन्धन नहीं कर सकती। यहाँ तक कि परिवारवालोंके लिए भी वह रसोई न बनाए, पूजा अर्चन न करे। तुलसीमें भी जल न चढ़ाए।

(२) दूसरे सम्प्रदायके सन्तों, भक्तों एवं वैष्णवोंका आदर करना चाहिए। किन्तु वे चार वैष्णव सम्प्रदायके अन्तर्गत हों। उन्हें सुनना तो चाहिए किन्तु अपने सम्प्रदायके वैष्णवोंकी हरिकथा सावधानीके साथ पालन करनेके लिए सुनना चाहिए। मायावादी, स्मार्त आदि सन्तोंकी बातें नहीं सुनना चाहिए, उससे भक्तिकी हानि होती है।

(३) अद्वैतवादमें एक निर्विशेष, निःशक्तिक निराकार ब्रह्म स्वीकृत है—जो सर्वशास्त्र विरुद्ध है। इसको मायावाद भी कहते हैं। यह शंकराचार्यकी कल्पना है। शास्त्रोंमें जो ब्रह्मवाद चार कुमारोंके विचारोंमें देखा जाता है, आधुनिक अद्वैतवाद उससे पृथक् है। मध्वाचार्यके द्वैतवादमें भगवान (ब्रह्म) तथा उनकी शक्तिसे प्रकाशित जीव और जगतमें भेद है। यह भेद पाँच प्रकारका है—(१) ब्रह्म और जीवमें भेद, (२) जीव एवं जीवमें भेद, (३) जीव एवं जड़में, (४) जड़ एवं जड़में भेद, (५) जड़ एवं ब्रह्ममें भेद। ये भेद नित्य हैं। इस मतमें बद्धजीव भक्तिका साधन कर मुक्त होकर भगवानकी सेवाको प्राप्त करते हैं। इसको द्वैतवाद या भेदवाद कहा जाता है, इसमें भक्ति तथा भगवानका स्वरूप स्वीकृत होनेके कारण भक्तजन इसका अधिक आदर करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अचिन्त्य भेदाभेदमें सभी वैष्णव सम्प्रदायोंके सिद्धान्तका सार निहित है। इसमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही ईश्वरोंके ईश्वर स्वयं भगवान हैं। उनकी शक्तिके परिणामसे यह जड़ जगत और असंख्य जीव उत्पन्न हुए हैं। शुद्ध भक्ति ही जीवोंके लिए एकमात्र साधन एवं कृष्ण प्रेम ही एकमात्र प्रयोजन है। इसलिए महाप्रभुका यह मत वेद, वेदान्त, उपनिषद पुराण आदिका सर्वाङ्गीन या सर्वदेशीय सिद्धान्त है। इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। भक्तिमें भी श्रीहरिनाम संकीर्तन साधन एवं साध्य दोनों है, सभी वैष्णव सम्प्रदाय किसी–न–किसी रूपमें इस विचारको माननेके लिए बाध्य हैं।

(४) श्रीमद्भागवतमें महादेव शंकरको परम वैष्णव बतलाया गया है, इसलिए हमारे सम्प्रदायमें उनको वैष्णवोचित सम्मान दिया जाता है। गोपीश्वर, कामेश्वर, वनखण्डी महादेव, रंगेश्वर आदिकी व्रजमें सर्वत्र पूजा होती है, किन्तु भक्तके रूपमें। भक्तके रूपमें पूजा करनेसे वे कृष्ण–प्रेम तक दे सकते हैं। किन्तु उनको भगवान मानकर मायावादियों, असुरों और स्मार्तोंकी विधिसे पूजा करनेसे जीवोंका सर्वनाश होता है, जैसे—रावण, भस्मासुर, कंस आदि उनकी पूजाकर सर्वनाशको प्राप्त हुए थे। लिंगरूपमें जो पूजा होती है, साधारणतः इसी रूपमें होती है। उनका प्रसाद, भस्म लेनेसे जीव संसार चक्रमें फँस जाता है, भगवानको भूल जाता है। उसमें सांसारिक कामना वासनाएँ होती हैं। विशेष कर 'शिवोऽहं' मैं ही शिव हूँ,—यह विचार जीवके हृदयमें प्रवेश कर उनका सर्वनाश करता है। इसलिए उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(५) शुद्ध भक्तों द्वारा लगाया हुआ कृष्णका भोग सब प्रकारसे कल्याणकारी है, उसमेंसे पञ्चसूना यज्ञके लिए देवता एवं पितरोंके लौकिक कल्याणके लिए निकालना उचित नहीं। स्मार्तलोग रन्धनके पश्चात् अनिवेदित अन्नसे ऐसा करते हैं। वैष्णवलोग भगवद् अर्पित प्रसादको भगवद् परिकरों, वैष्णवों, भक्तों एवं जीवमात्रके लिए निवेदन करते हैं, इससे सबका कल्याण होता है।

(६) आप शुद्ध भक्तिका प्रचार करना चाहते है, यह बहुत ही अच्छी बात है। किन्तु इससे पूर्व सिद्धान्तविद् गुरु–वैष्णवसे भक्तिके सम्पूर्ण सिद्धान्तोंको समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। पहले आप

कुछ श्रवण कीजिए। जो लोग उपरोक्त प्रश्नोंका समाधान नहीं कर सकते, जिन्होंने गुरु-वैष्णवोंसे श्रीमद्भागवत, गीता एवं श्रीचैतन्यचरितामृत आदिका विधिवत् श्रवण नहीं किया है, वे शुद्ध प्रचार नहीं कर सकते। जब सभी शंकाएँ दूर हो जायँ तब स्वतन्त्र रूपसे प्रचार करें। नहीं तो ऐसे प्रचारसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं। आप समय मिलने पर मेरे पास कुछ दिनोंके लिए आ जायँ, श्रवण करें, फिर प्रचार करें तो अच्छा होगा।

(७) विशुद्ध पारमार्थिक इच्छा रखनेवाले शुद्ध-वैष्णव दैहिक सुख, रोग-निवृत्ति, सन्तान प्राप्ति, नवग्रह आदिकी शान्तिके लिए देवदेवियोंकी उपासना, नवग्रहोंकी पूजा नहीं करते, तांत्रिक पत्थर, अंगूठी, तावीज आदि धारण नहीं करते।

वैष्णव या अवैष्णव कोई भी परलोकगमन करने पर भक्ति विरोधी प्रेत श्राद्ध नहीं करते, उन्हें भगवद् अनिवेदित पिण्ड दान नहीं करते, विशेष परिस्थितिमें शाश्वत वैष्णव श्राद्धके अनुसार भगवद् निवेदित प्रसादान्न तथा श्रीभगवत् चरणामृतके निवेदनके द्वारा परलोकगत आत्माका कल्याण करते हैं। भगवद्भक्ति परायण विशेषतः जीवन भर हरिनामका आश्रय करनेवाले जीवको देहत्यागके उपरान्त स्वभावतः सहजरूपमें भगवद् उन्मुखी गति प्राप्ति होती है। वे स्थूल शरीरको त्यागकर भूत-प्रेत योनियोंमें कदापि नहीं जाते। अतः उनका प्रेत श्राद्ध वैष्णव सिद्धान्तके विरुद्ध है। वैष्णव वेशमें यदि कोई भक्ति सिद्धान्त विरुद्ध इन विचारोंको ग्रहण करता है तो ऐसे व्यक्तिका संग सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना ही उचित है।

भवदीय नित्य मंगलाकांक्षी
*श्रीभक्तिवेदान्त नारायण*

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

*—डा० सत्यपाल गोयल*

पूर्वमें जिस भक्ति अंकुरके विकसित, पल्लवित और पुष्पित होकर कृष्णप्रेमरूपी फल प्रदान करनेकी चर्चाकी गयी है, यदि पूर्व जन्मोंमें संचित भक्ति परक सुकृतियाँ संचित हों तो वह अकस्मात भी हो सकता है अन्यथा उसके अभावमें श्रीकृष्ण प्रेमका हृदयमें उदय होनेके पूर्व साधकको कई सोपानोंसे गुजरना पड़ता है। इस संबंधमें श्रील रूप गोस्वामीपादने भक्ति रसतत्व तथा सिद्धांतसे परिपूर्ण अप्रतिम ग्रन्थरत्न श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें इस प्रकार प्रेमोदयका क्रम निर्धारित किया है—

*आदौ श्रद्धा ततः साधु संगोऽथ भजनक्रिया*
*ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः*
*अथाऽसक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति*
*साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः*

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/४/१०)

भगवान अपनी प्रेमा भक्तिको चाहे जिसको और चाहे जैसे प्रदान नहीं करते हैं। साधकके हृदयमें उसके लिये, कुछ न कुछ स्फुरण होना चाहिए जिसे श्रद्धा कहा गया है। जिस प्रकार किसी राजपुरुष या संत शिरोमणिका भाषण या प्रवचन प्रारंभ होनेसे पहले मंच तैयार किया जाता है, उसे सजाया जाता है, सभा स्थलकी गंदगीको स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार साधकके हृदयमें भक्ति देवीके प्रकट होनेसे पूर्व हृदयरूपी मंचको श्रद्धासे

भरा जाता है। इसीलिए श्रद्धाको 'आदौ' शब्दसे प्राथमिकता दी गयी है। जब तक भगवान श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी तब तक भक्ति, जो कि स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है, वह साधकके हृदयमें कैसे प्रकट हो सकती है? जागतिक व्यवहारमें भी जब श्रद्धाके अभावमें किसी कार्यकी सिद्धि होते नहीं देखी जाती है। साधकके हृदयमें दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। लहरदार या कम्पनवाली अस्थिर श्रद्धा नहीं। अन्यथा श्रद्धामें भी व्यभिचारवृत्तिजनक दोष आ जायेगा। आज श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धा तो कल रामके प्रति, परसों देवी दुर्गा, शिव गणेश प्रभृतिके प्रति श्रद्धा—इस प्रकारकी अस्थिरता, अस्थिरता ही होती है—श्रद्धा नहीं। इसीलिये श्रीरूप गोस्वामीपादने ठोक बजाकर 'आदौ श्रद्धा'का उल्लेख किया है।

कुछ लोगोंने इस श्लोककी व्याख्यामें पहले साधुसंगको स्थान देकर बादमें श्रद्धाको स्थान दिया है। प्रारंभमें साधकके हृदयमें किसी आराध्यके प्रति साधन भजनकी इच्छाका उदय होता है। यह इच्छाका उदय ही तारतम्य भेदसे श्रद्धा है। इस श्रद्धाके पश्चात् ही वह अपने आराध्यके उपासकोंका संग तलाशता है, पहले नहीं। अतएव निश्चित ही श्रद्धाका प्रथम स्थान है। 'ततः' शब्द उसके उपरांतका सूचक है।

जब साधकके हृदयमें सुनिश्चित श्रद्धाका उदय हो जाता है, तब उसे अपने आराध्यके प्रेमी जनोंका संग अनिवार्य हो जाता है। साधु कहनेसे तो साधारण गेरुए रंगसे रंगे कपड़े पहननेवालोंका भी बोध होता है, परन्तु साधु वहीं है, जिसने भगवानके श्रीचरणकमलोंका आश्रय ग्रहण किया है। ऐसे साधुओंमें भी जिस साधुका वही आराध्य है, जिसकी आराधना वह करना चाहता है, ऐसे सजातीय साधुके ही संगकी आवश्यकता है। ऐसा संग ही श्रद्धाको बलवान बनाता है। उनका निरंतर संग निश्चित ही साधकके हृदयमें भजनकी इच्छा तथा साधन आदिके प्रति भाव जाग्रत करेगा। यदि ऐसा नहीं होता है तो साधकको समझना चाहिए कि जिस स्तरके साधुसंगकी उसे आवश्यकता है वह नहीं हो रहा है। क्योंकि यदि मदिरापान करनेवालेके निरंतर संगसे मदिरा पानकी इच्छा तथा स्त्रैण लोगोंके संगसे स्त्रियोंके भोगकी इच्छा बलवती हो सकती है, तो निश्चित ही साधुसंग साधकके हृदयमें उत्पन्न श्रद्धाको पुष्टकर भजनकी ओर अग्रसर करेगी। अतएव प्रत्येक भजन पिपासु साधकको कृष्ण प्रेमी भक्तोंका संग करना चाहिए।

साधुजन कृष्णप्रेमकी रीति–नीति जानते हैं, कृष्ण किस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, इसे उनके अतिरिक्त और कौन जान सकता है? यदि हमें रोगका निवारण करना है तो निश्चित ही किसी सुयोग्य रोग विशेषज्ञ चिकित्सककी शरण लेनी होगी। अन्य लोगोंकी शरण लेनेसे तो रोग प्रतिकारकी अपेक्षा उसके बढ़नेकी ही संभावना है। संसार रोगसे प्रत्येक शरीर धारी पीड़ित है। न केवल इस जन्ममें ही अपितु करोड़ों जन्मोंसे भवव्याधि ग्रस्त हैं। इस भव–व्याधिकी उत्तम–से–उत्तम औषधि केवल संतोंके पास है। अतएव साधकका दूसरा सोपान साधुसंग है। पहले उसे यह तो प्रतीति हो कि उसे रोग है तथा इस रोगका उपचार कराना है।

निरंतर शुद्ध कृष्ण प्रेमी भक्तोंके संगसे साधक भजन क्रियाके अर्न्तगत प्रधान रूपसे कृष्ण नाम महामंत्र 'हरे कृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरेराम, हरेराम राम राम हरे हरे का जप एवं स्मरण किया करता है। इसके साथ–साथ भजन आवेशके लिये भक्तिके अन्य अंगोका भी पालन किया जाता

है, यथा—तिलकधारण करना। तिलक कई प्रकारके होते हैं, उनमें वैष्णवोचित उर्द्ध्वपुण्ड्र ही लगाया जाता है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें ही १२ प्रकारके तिलक प्रचलित हैं। जिस वैष्णव सम्प्रदायमें व्यक्ति सत्संग लाभ कर रहा है उस सम्प्रदायका तिलक धारणा करना ही अभीष्ट है। नाम जप तुलसीकी माला पर करना अभिप्रेत है। इससे तुलसी देवी शक्ति प्रदानकर साधकके चित्तको तीव्र गतिसे शुद्ध करती है। भागवत श्रवण करना भगवानकी लीला कथाओंको सुनना, तुलसीजीके पौंधेको जलसे सींचना, तुलसी परिक्रमा, तुलसीको दीप दान, युगल स्वरूपकी आरतीका दर्शन, प्रणाम, कीर्तन, उनके समक्ष नृत्य करना, हरिवासर तिथि (एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, गौरपूर्णिमा (होलीके दिन) नृसिंहचतुर्दशी आदि व्रत पालन करना भजन क्रियाके अंग है।

इस प्रकार भजन क्रिया करते करते साधकके अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। शास्त्रकारोंके अनुसार अनर्थ दो प्रकारका होता है—अप्रारब्ध तथा प्रारब्ध अनर्थ।

*अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्ध चेति तद द्विधा*

(भ. र. सि. १/१/१९)

पाप अप्रारब्ध और प्रारब्ध भेदसे दो प्रकारका होता है। प्रारब्ध पाप वासनाके रूपमें जीवके सूक्ष्म शरीरसे संबंध रखते हैं, जो जन्म-जन्मांतरसे उसके हृदयमें सुप्तरूपसे संचित रहते है तथा अवसर पाकर अपना कार्य करने लगते हैं। भजन क्रियासे अप्रारब्ध पापोंके विनाशके संबंधमें श्रीद्भभागवतमें लिखा है—

*यथाग्नि सुसमृद्धार्चिर्: करोत्येधांसि भस्मसात्।*
*तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनासि कृत्स्नशः।।*

(११/१४/१९)

भगवान श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा—जिस प्रकार अग्नि समिधा (लकड़ियों) को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति, साधकके समस्त संचित पापोंको जलाकर नष्ट कर देती है।

इसी प्रकार श्रीद्भभागवतके तृतीय स्कन्धमें देवहूतिजीने कपिलदेवके प्रति कहा है—

*यन्नामधेय श्रवणानुकीर्तनाद्*
*यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।*
*श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते*
*कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्।।*

(श्रीमद्भा.३/३३/६)

हे भगवन्! आपके नामोंका श्रवण और कीर्तन करनेसे या यदा-कदा आपको नमस्कार एवं स्मरण करनेसे चाण्डाल भी सोमयज्ञ करनेका अधिकारी हो जाता है। फिर आपका दर्शन और नाम जप करनेवाला शुद्ध हो जाता है—इसमें कहना ही क्या है?

प्रारब्ध कर्मसे ही कोई चाण्डाल योनिको प्राप्त होता है। अतएव हीन अस्पर्श जातिका भी दोषक्षरण केवल नमस्कार एवं स्मरणसे हो जाता है तो फिर उनके अनर्थोंकी निवृत्ति क्यों नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

*दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्।*
*दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्सस्यात् प्रारब्धमेव तत्।।*

(भ. र. सि. १/१/२२

अर्थात् दुर्जातिमें पापकर्मवश जन्म लेनेसे चण्डाल यज्ञका अधिकारी नहीं होता है। ऐसे प्रारब्ध कर्मके फलका नाश भगवानकी भक्ति करनेसे हो जाता है। स्मरण रहे पाप कर्मोंके फलका नाश तो भक्तिका गौण फल है, मुख्य फल तो कृष्ण प्रेम प्रदान करना है। जो भक्ति साधकके चित्तका शोधन कर उसमें कृष्ण प्रेमका उदय करनेमें समर्थ है, उसके लिये अप्रारब्ध या प्रारब्ध जनित अनर्थोंका

नाश करना परम सहज है। जिस प्रकार करोड़ों वर्षोंसे किसी कक्षमें अंधकार रहा हो, उसमें जरा–सा दीपक प्रकाशित होते ही अंधकार भाग जाता है। उसी प्रकार निरंतर साधुसंग और भजन प्रक्रियासे अनर्थ तत्काल उलटे पांव भाग जाते हैं। भगवान जिस पर प्रसन्न हों उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है—वहाँ किसी प्रकारका कुतर्क नहीं चलता है। दुष्कृत्यके कारण चाण्डाल योनिको प्राप्त व्यक्ति यदि जानकर या अनजानेमें कोई सुकृति कर लेता है तथा भगवान उसको दुष्कर्मसे मुक्त कर दें तो इसमें विरोध क्या है? श्रीभगवान इस क्षेत्रमें परम स्वतंत्र हैं, वे किसी नियमके अधीन नहीं हैं सारे नियम उनके अधीन हैं। अतएव यज्ञका अधिकारी होना, ब्राह्मणोंके समान पूज्य होना, उसे वैकुण्ठ या गोलोक प्रदान करना श्रीकृष्णकी कृपा पर ही निर्भर है, उनकी कृपा निरपेक्ष होती है।

भगवान किसी जीवका इतिहास नहीं देखते हैं कि यह कितना पापी है या पुण्यात्मा है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें कोई ऐसा जीव नहीं है जिसने कभी पाप नहीं किया हो। यदि भगवान पापी होनेका विचार करें तो किसी जीवका कभी उद्धार नहीं हो सकेगा। किसीको कृष्ण भक्ति अथवा प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता है। श्रीकृष्ण इतने कृपालु हैं कि वे साधकके वर्तमान भाव एवं क्रियाओंको देखते हैं। वे उसे अपने हृदयमें बिठा लेते हैं तथा स्वयं उसके हृदयमें स्थान बना लेते हैं। जितना साधक उनको चाहता है, श्रीकृष्ण उससे हजार गुणा उसे चाहते हैं। एक बार चाह कर तो देखो फिर उसके प्रेमके चंगुलसे बच नहीं पाओगे।

*अप्रारब्ध फलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्*
*क्रमणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम्*

(पद्मपुराण)

अर्थात् जिनका (हृदय) श्रीकृष्ण चरणोंमें आसक्त है उनके सभी अप्रारब्ध फल और कूट, बीज आदिका विनाश हो जाता है।

यहाँ यह तर्कका विषय नहीं है कि उक्त अप्रारब्ध एवं प्रारब्ध कितने समयमें नष्ट होते हैं या पहले कौन–सा नष्ट होता है। साधककी भजनकी तीव्र लालसा पर ही यह निर्भर करता है। श्रीकृष्ण तो अपरिमित शक्तिशाली हैं। वे चाहें तो एकक्षणमें अनन्तकोटि जीवोंके पापोंका नाश कर सबको अपना लें—इस क्षेत्रमें वे परम स्वतंत्र तथा निर्पेक्ष हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें उन्होंने नन्दबाबासे स्पष्ट कहा है—मैं चाहूँ तो किसीका भी भाग्य पलट सकता हूँ, किन्तु मेरे ही द्वारा निर्मित विधानका उल्लंघन होनेसे लोक संचालनमें व्यवधान उत्पन्न न हो इसलिये तटस्थ रहता हूँ। किन्तु मेरी यह तटस्थता प्रतिबंधित नहीं है।

*तैस्तान्यधानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।*
*नाधर्मजं तदधृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवयाः।।*

अर्थात् तप, दान, व्रतादि शुभ कर्मोंसे पाप राशिका नाश तो हो जाता है किन्तु हृदयमें स्थित पाप बीजोंका नाश नहीं होता है। परन्तु भगवानके नाम जपके प्रभावसे उन पाप बीजोंका भी नाश हो जाता है जो कि सूक्ष्म रूपमें जीवोंके हृदयमें अवस्थित रहते हैं।

अतएव साधुसंगके प्रभावसे साधक भजन क्रियाकी ओर अग्रसर होता है तथा उस भजन साधनके प्रभावसे उसके अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। इन अनर्थोंकी निवृत्तिसे साधकका हृदय शुद्ध हो जाता है तथा उसके हृदयमें अपने आराध्य श्रीकृष्णके चरणोंमें उत्तरोत्तर (भक्ति) आसक्ति बढ़ती जाती है। साधक अपनी साधनामें स्थिरत्व प्राप्त कर लेता है और उसकी श्रीकृष्णके चरणोंमें

निष्ठा बलवती हो जाती है अर्थात् अनर्थ निवृत्तिके उपरान्त उसके हृदयमें निष्ठाका उदय होता है।

सामान्य रूपसे जिसके प्रति निष्ठा होती है उसके प्रति हृदयमें अगाध प्रेम (आसक्ति) रहता है—ऐसी आसक्ति जो प्रयत्न करने पर भी निकलती नहीं है। एक बार एक ब्रज गोपी किसी एकान्तमें बैठकर मनको एकाग्र करनेके लिये प्राणायाम कर रही थी। उधरसे अकस्मात् नारदजी निकल रहे थे। ब्रजगोपीके इस प्रयासको देखकर नारदजीने उससे कहा—यह तू क्या कर रही है? यह विषय तो योगियोंका है, जिनका हृदय शुष्क होता है। तेरा हृदय तो कृष्ण प्रेम (निष्ठा) से लबालब भरा है। इस पर गोपीने कहा यही तो कष्ट है। मेरा मन बार बार नंदकुमार गोपेश कृष्णके पास चला जाता है, गृह कार्यमें मन लगता ही नहीं है। इसीलिए मैं योगके द्वारा मनको स्थिर कर रही हूँ ताकि गृहकार्यमें कोई त्रुटि न हो पर मेरा तो प्राणायाम भी निष्फल हो रहा है। मन इतना चंचल हो गया है कि प्रतिपल श्यामके चरणोंमें मंडराता रहता है। यह प्रगाढ़ निष्ठा है।

अतएव जिसके प्रति निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, उसके प्रति वह स्थिर रहती है। अनर्थ निवृत्ति होने पर साधकके हृदयमें निष्ठा बलवती होती है जिससे भजन साधकमें स्थिरता, निरन्तर भजनावेश बना रहता है। अहर्निश कृष्ण नाम जप चलता रहता है तथा हृदयमें प्यारेकी लीलाओंकी झांकी चलती रहती है।

यह बलवती निष्ठा ही साधकके हृदयमें रुचि उत्पन्न करती है। लोक व्यवहारमें भी रुचिके अभावमें प्रयास शिथिल हो जाते हैं। अतएव साधनाकी सफलताके लिये रुचिका होना आवश्यक है। निष्ठापूर्वक जप-स्मरण-चिंतनसे स्थायी रुचिका साधकके हृदयमें उदय होता है। यह रुचि ही श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्तिकी दृढ़ अभिलाषा या कामनाको जन्म देती है। कामना, अभिलाषा या रुचिके अभावमें साधन शिथिल हो पड़ता है—जो लक्ष्य प्राप्तिमें बाधक होता है।

श्रील रूप गोस्वामी पादने साधकके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति प्रेमोदयकी सभी स्थितियोंका क्रम विकास प्रतिपादित किया है क्रम विकास जडत्वमें ही अधिक देखा जाता है क्योंकि जहाँ विकासकी क्रिया है, वहींसे उसके विनाश का क्रम भी जुड़ा रहता है। भक्ति तो जीवकी श्रीकृष्ण चरणोंमें स्वाभिविक वृत्ति होनेके कारण उसका स्वरूप धर्म है। अतएव क्रम विकास शब्दके द्वारा श्रद्धा, साधुसंग, भजनक्रिया, अनर्थ निवृत्ति निष्ठा एवं रुचिका संकेतमात्र है। जन्म जन्मांतरोसे जीव मायाग्रस्त होकर पाप कर्मोंमें लिप्त रहनेसे उसका स्वरूप धर्म आच्छादित हो गया है—उस आच्छादनको दूर करनेके लिये उक्त क्रम है, जो स्वरूप धर्म की एक प्रक्रिया है। क्रम विकास जैसा भासने पर भी उसमें जड़त्व एवं हेयत्वका नितान्त अभाव है।

इस रुचिमें साधकको श्रीकृष्ण लीलाओंके मार्धुयका कुछ कुछ आस्वादन होने लगता है, यह आस्वादन साधकको लौटने नहीं देता है अपितु उसकी गाढ़ता प्रगाढ़ताकी ओर बढ़कर सान्द्र होती जाती है। इस स्थितिमें साधकके हृदयमें लौकिक सुखोंके प्रति विरक्ति आती जाती है। युक्त वैराग्य उदित होता है और साधक कृष्ण भजनमें अन्तर्मुखी होता चला जाता है।

रुचिके पश्चात् साधकके अन्दर कृष्ण भजन एवं कृष्णपादपद्मोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्तिको आवेश भी कहते हैं। यह आसक्ति

लोभमयी होती है। श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणोंकी प्रेम प्राप्तिका लोभ उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि श्रीगीताजीमें लोभको नर्कका द्वार कहा गया है तथापि श्रीकृष्णचरणोंके प्रेम प्राप्तिका लोभ उस श्रेणीका लोभ नहीं है। संसारमें धन, स्वर्ण, मकान, स्त्री तथा पद इत्यादिके लिये लोभ होता है तथा यह नर्ककी ओर गति प्रदान करता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो श्रीरामजीसे ही लोभ याचना की है। यथा—

*कामिहि नारि पिआरि जिति*
*लो महि प्रिय जिमि दाम*
*तिमि रघुनाथ निरंतर*
*प्रिय लागहु मोहि राम*

(रामचरितमान उ. का.)

यहाँ आवेशसे तत्परताको ही ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार लोभी व्यक्तिको दाम या रुपया प्रिय लगता है अर्थात् लोभीकी रुपयेमें जिस स्तरकी आसक्ति (लगाव) होती है वैसी ही आसक्ति श्रीराममें मेरी हो। लोभ बुरा नहीं है यदि वह अपने इष्टके प्रति हो। आसक्ति एक बार हो जाय तो छुड़ाये नहीं छूटती है।

उसके पश्चात् क्रमशः साधकके हृदयमें श्रीकृष्ण चरणोंमें आसक्तिके प्रगाढ़ होने पर भाव या रतिका उदय होता है। कृष्ण प्रेम स्वंय प्रकाश्य है। जीवका चित्त शुद्ध होने पर स्वरूपशक्तिकी वृत्तिविशेष रतिका उदय हो जाता है।

यह वह स्थिति है जहाँसे साधक पीछेकी ओर नहीं लौटता है। परन्तु उसे वैधी भक्तिको जीवनके अंतिम छोर तक नहीं छोड़ना है, यह वैधी भक्ति ही रागानुगा भक्तिको पुष्टि प्रदान करती है। यथावसर वैधी भक्ति और रागानुगा भक्तिके संबंधमें अपनी क्षुद्र बुद्धिसे प्रकाश डालनेका प्रयास श्रीगुरुपादपद्मकी कृपासे करूँगा। साधकोंको सदैव सावधान रहनेकी आवश्यकता है क्योंकि संसारके मूर्त और तत्काल अनित्य सुख प्रदान करनेवाले विषय सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। किन्तु जिन्होंने दृढ़तासे सद्गुरुका पदाश्रय किया है एवं कृष्ण नामको पकड़ रखा है, उनका माया कुछ बिगाड़ नहीं सकती है, क्योंकि माया तो भगवानकी दासी है। वह विषय रत जीवोंको ही नाना प्रकारके संसार दुःख देती है।

(क्रमशः)

# असत्संगके दोष

असत्संगसे बचना चाहिए। इनका संग करनेसे श्रेय वस्तुका साधन किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जो असत्संगमें रहते हैं, वे सहस्त्रों प्रकारके साधन करके भी कोई फल लाभ नहीं कर सकते। अजकल अधिकांश लोग साधु–संन्यासियोंका बाना पहनकर साधनके अंगोंका पालन करते हैं, किन्तु कुछ दिनोंके बाद विचार करने पर देखा जाता है कि वे कुछ उन्नति नहीं कर सके हैं। इसका मूलकारण असत्संग है। असत्संग दो प्रकारका होता है—एक स्त्रीसंगी अथवा स्त्रीसंगियोंका संग, और दूसरा कृष्णभक्तिसे रहित व्यक्तियोंका संग। इन दोनों प्रकारके असत्संगोंसे ही दूर रहना चाहिए। प्रत्येक हरिवासर (एकादशी) के दिन एक बार विचार करना कर्त्तव्य है कि पिछले दिनोंमें हमारा भजन कितना उन्नत हुआ है। यदि देखा जाय कि तनिक भी उन्नति नहीं हुई है अथवा उन्नतिके बदले अवनति हुई है, तो समझना चाहिए कि असत्संग ही इसका प्रधान कारण है और उसे तत्क्षण उसका परित्याग करनेका यत्न करना चाहिए।

***—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर***

# बगुला पकड़ना

एक व्यक्ति बगुला पकड़ना चाहता था। उसने बगुला पकड़नेका एक उपाय सोचा, वह विचार करने लगा कि बगुले तो बड़े चंचल होते हैं, उन्हें पकड़ना कोई सहज बात नहीं है। जब बगुले किसी सरोवरके तीर पर बैठेंगे तब उसके माथेपर घी ढाल दूँगा। सूर्यके तापसे घी पिघलकर उनकी आँखोंमें आयेगा तो निश्चिय ही वे अन्धे हो जायेंगे। तब उन्हें अनायास पकड़ा जा सकता है।

उस व्यक्तिका यह विचार अत्यन्त हास्यास्पद और मूर्खताको प्रकाशित करनेवाला है। इसका कारण यह है कि यदि बगुला पकड़में आ जाए तो उसके मस्तक पर घी डालनेकी क्या आवश्यकता है और यदि बगुला पकड़में नहीं आता तो उसके मस्तक पर घी डालनेकी चेष्टा केवल पागलपन ही है।

कितने ही धनाढ्य व्यक्ति कृत्रिम साधनों द्वारा चंचल मनको वशीभूत करना चाहते हैं। यदि चंचल मन ध्यान द्वारा ही वशीभूत हो जाए तब उसे वशीभूत करनेकी क्या आवश्यकता है? अस्थिर चित्तमें कभी भी ध्यान नहीं हो सकता है और चंचल मनमें ध्यान स्थिर नहीं हो सकता है तब ध्यानकी चेष्टाका प्रयास वृथा एवं समयको नष्ट करना है। ❑

# श्रीराधाष्टमी पर व्रजमण्डलमें श्रद्धालुओंकी गहमागहमी

(स्थानिक दैनिक 'दैनिक जागरण' से उद्धृत)

राधाष्टमीका परम्परागत त्यौहार अपूर्व श्रद्धा तथा भक्तिके वातावरण में मनाया गया।

श्रीराधाष्टमीके अवसरपर जवाहार हाट स्थित श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें विविध कार्यक्रम आयोजित किए गये। इसमें एक चावकी शोभायात्रा कोयलावाली गली स्थित श्रीरमेश गुप्ताजीके यहाँसे होलीगेट होते हुए एवं दूसरी ओर अम्बाखार स्थित श्रीभगवानदास (मधु बेकरीवाले) जीके यहाँसे। देशी-विदेशी बालिकाएँ एवं महिलाएँ अपने सिरपर चावके टोकरे लेकर गाजे बाजेके साथ चल रही थीं। शोभायात्रामें केशवजी गौड़ीय मठके तमाम श्रद्धालु थे। जिसमें गोरे-काले कृष्णभक्त भी शामिल थे। शोभायात्रामें श्रद्धालु भक्तिभावमें निमग्न होकर मृदंग तथा मजीरोंकी लयके साथ नृत्य कर रहे थे। चावमें शामिल महिलाएँ सिर पर उपहारकी टोकरी लिये श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ पहुँचीं। जहाँ मुख्य द्वार पर मठ प्रबन्धक त्रिदण्डि स्वामी श्रीभक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीने उनका भावभीना स्वागत किया।

इस अवसर पर श्रीराधाकृष्णको पंचामृतसे अभिषेक कराया गया। दोपहरमें लगभग दस हजार श्रद्धालुओंको प्रसाद वितरण किया गया।

गौड़ीय मठमें देर रात तक बधाई गायन की धूम रही। उसीके बीच श्रीमती मधु और उनकी पार्टीने 'श्याम सगाई' का कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

यमुनापार स्थित ग्राम रावलमें श्रीराधारानी मंदिरमें तीन दिवसीय राधाष्टमीके समारोहके दूसरे दिन मध्याह्न अभिषेकके दर्शन हुए। इस अवसरपर व्रजबालाओं द्वारा भावपूर्ण बधाई गायन किया गया। मंदिर पर देर रात श्रद्धालु उमड़ते रहे।

# ८४ कोस ब्रज–मंडलकी परिक्रमा और ऊर्जाव्रत

वैष्णवोंके लिए चातुर्मास्य व्रतका पालन करना एकान्त कर्त्तव्य है। श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं आदरके साथ इस व्रतका पालन करके जगत्में इसकी शिक्षा दी है। विशेषकर चातुर्मास्यका अन्तिम मास अर्थात् कार्त्तिक मास सर्व–साधारणके लिए पालनीय है, क्योंकि कार्त्तिक व्रत (उर्ज–व्रत) का पालन करनेसे श्रीराधा–रानीकी विशेष कृपा पाई जाती है। यह व्रत घरपर रह कर पालन करना उचित नहीं है। शास्त्रमें किसी–न–किसी तीर्थ स्थानमें जाकर साधुओंके संगमें इस व्रतको पालन करनेका निर्देश दिया गया है—

*प्रदक्षिणञ्च वै कुर्यात् कार्त्तिके विष्णुसद्मनि।*
*विष्णोः पूजा कथा विष्णोर्वैष्णवानाञ्च दर्शनम्।।*
*न गृहे कार्त्तिके कुर्याद्विशेषेण तु कार्त्तिकम्।*
*तीर्थे तु कार्त्तिकीं कुर्यात् सर्वयत्नेन भाविनी।।*

(हरिभक्तिविलास)

अर्थात् कार्त्तिकके महीनेमें विष्णुके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए। इस महीनेमें विष्णुका पूजन, विष्णुकी कथाका श्रवण और वैष्णवोंका दर्शन अर्थात् सत्संग करना चाहिये। कार्त्तिकके महीनेमें विशेषकर "कार्त्तिक–व्रत" अपने घरपर रह कर पालन नहीं करना चाहिये; बल्कि परम आदरके साथ तीर्थस्थानोंमें रहकर इसका पालन करना चाहिए।

बहुतोंका कहना है कि क्या घरमें रहकर धर्म–कर्म नहीं किया जा सकता? इसके लिए तीर्थस्थानोंमें जानेकी आवश्यकता ही क्या है? शास्त्रोंने इसका उत्तर दिया है,—धर्म–कर्मका पालन सभी जगहोंमें किया जा सकता है, यह सत्य है किन्तु उन सभी स्थानोंमें सत्संगका होना उचित ही नहीं वरन् अनिवार्य है। सत्संगके अभावमें तीर्थ–भ्रमण तथा धर्म–कर्म सभी व्यर्थ हैं। अपनी चेष्टा या विद्याबुद्धिके द्वारा तत्त्व–वस्तुका सम्यक् ज्ञान भी नहीं हो सकता। दण्डवत–प्रणामपूर्वक अकृत्रिम सेवासे संतुष्ट करने पर तत्त्वोंकी जिज्ञासाके द्वारा साधु–संगमें भक्ति–वृत्ति उदित होती है। शुद्ध भक्तोंके मुखसे भगवान्की वीर्यवती कथाओंका श्रवण करनेसे जीवोंका वास्तविक कल्याण होता है। विषयमें फंसे हुए सांसारिक जीवोंको ऐसे सुयोग बहुत ही कम मिलते हैं।

इसलिए महाजनोंकी वाणी और सात्वत वैष्णव–स्मृति श्रीहरिभक्तिविलासके इन वचनोंको मस्तकपर धारण कर श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति प्रत्येक वर्ष कार्त्तिकके महीनेमें कार्त्तिक व्रतका पालन करनेके लिए भगवान् और भगवत् धामकी परिक्रमाकी व्यवस्था करती है। इससे देशवासियोंको पारमार्थिक कल्याण लाभ करनेमें बहुत ही सहायता मिलती है।

इस वर्ष भी समितिके प्रतिष्ठापक और नियामक परमहंस स्वामी ॐ विष्णुपाद १०८ श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजीके अनुगृहीत एवं अन्तरंग कृपापात्र त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजके आनुगत्यमें श्रीकार्तिक मासमें २४ अक्टूबरसे २३ नवम्बर तक श्री ८४ कोस ब्रजमण्डलकी परिक्रमा और दर्शनका आयोजन किया जा रहा है। ❑

## श्रीव्रजमण्डल परिक्रमा—१९९९

| | | |
|---|---|---|
| | २४ अक्टूबर–रविवार | श्रीशरदपूर्णिमा, श्रीगुरुदेवका विरह महोत्सव, केशीघाटपर परिक्रमाका संकल्प। |
| | २५ अक्टूबर–सोमवार | (प्रतिपदा) कालीय दह, सनातन गो. भजनकुटी, श्रीमदनमोहन दानगगली। |
| | २६ अक्टूबर–मंगलवार | (द्वितीया) सेवाकुञ्ज, श्रीराधादामोदर, इमलीतला, गोपीनाथ गौड़ीय मठ, शृंगारवट, निधुवन, श्रीराधरमण, गोकुलानन्द, श्रीश्यामसुन्दर। |
| | २७ अक्टूबर–बुधवार | (तृतीया) श्रीगोपीनाथ, धीरसमीर, वंशीवट, गोपीश्वर, श्रीगोविन्दजी, बनखण्डी। |
| | २८ अक्टूबर–बृहस्पतिवार | (चतुर्थी) वृन्दावनमें अवशिष्ट दर्शन। |
| बससे | २९ अक्टूबर–शुक्रवार | (पंचमी) वृन्दावनसे श्रीमधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन। |
| | ३० अक्टूबर–शनिवार | (षष्टी) वृन्दावनमें विश्राम। |
| बससे | ३१ अक्टूबर–रविवार | (सप्तमी) भद्रवन, भाण्डीरवन, मानसरोवर, दाऊजी, ब्रह्माण्डघाट, महावन, रावलसे मथुरा। |
| | १ नवम्बर–सोमवार | (अष्टमी) विश्रामघाटमें संकल्प, पिपलेश्वर, रंगेश्वर, कंसटीला। (राधाकुण्डस्नान) |
| | २ नवम्बर–मंगलवार | (नवमी) पूज्यपाद श्रीधरमहाराजका आविर्भाव, भूतेश्वर, जन्मभूमि, आदिकेशव, दीर्घविष्णु। |
| | ३ नवम्बर–बुधवार | (दशमी) पद्मनाभ, आदिवराह, द्वारकाधीश, शतघड़ा। |
| | ४ नवम्बर–बृहस्पति | (एकादशी) मथुरा परिक्रमा। |
| | ५ नवम्बर–शुक्रवार | (द्वादशी) विश्राम। |
| बससे | ६ नवम्बर–शनिवार | (त्रयोदशी) मथुरासे पैंठा, चन्द्रसरोवरसे होकर, गोवर्धन मोदीभवनमें वास। & —815678 |
| | ७ नवम्बर–रविवार | (चतुर्दशी) गोवर्धन परिक्रमा, दानघाटी, आन्यौर, गोविन्दकुण्ड पूछरी, जतीपुरा, सुरभिकुण्ड, शामको मानसीगंगा, हरिदेव। |
| | ८ नवम्बर–सोमवार | (अमावस्या) दीपावली, दानघाटीमें अन्नकूट। |
| | ९ नवम्बर–मगंलवार | (प्रतिपदा) उद्धवकुण्डके समीप अन्नकूट महोत्सव, राधाकुण्ड परिक्रमा, कुसुमसरोवर, मानसीगंगा, हरिदेव। |
| बससे | १० नवम्बर–बुधवार | (द्वितीया) भैयादूज, गोवर्धन, डीग, आदिबद्री होकर, गोवर्धन विश्राम। |
| बससे | ११ नवम्बर–बृहस्पतिवार | (तृतीया) गोवर्धनसे काम्यवन, वृन्दादेवी, गोविन्दजी, कामेश्वर, पञ्चपाण्डव, विमलाकुण्ड, पिछल पहाड़ी, व्योमासुर गुफा, भोजनथाली, चरण पहाड़ी, मोदी भवन बरसानामें विश्राम। & —(922) 46272 |
| | १२ नवम्बर–शुक्रवार | (चतुर्थी) मोदीभवन बरसानामें श्रीभक्तिवेदान्त स्वामी महाराजका तिरोभाव। |
| | १३ नवम्बर–शनिवार | (पंचमी) गहवरवन परिक्रमा। |
| | १४ नवम्बर–रविवार | (षष्ठि) पीलीपोखर, उँचागाँव, सखीगिरिपर्वत। |
| बससे | १५ नवम्बर–सोमवार | (सप्तमी) बरसानासे नन्दगाँव, मार्गमें प्रेमसरोवर, संकेत, उद्धवक्यारी, ललिताकुण्ड, नन्दभवन, बरसाना। |
| बससे | १६ नवम्बर–मगंलवार | (अष्टमी) गोपाष्टमी, बरसानासे चरण पहाड़ी, पावनसरोवर, टेरकदम्बसे बरसाना। |
| बससे | १७ नवम्बर–बुधवार | (नवमी) बरसानासे कोकिलावन, जावट, बैठान, चरण पहाड़ी, कोसीमें विश्राम। |
| बससे | १८ नवम्बर–बृहस्पति | (दशमी) कोसीसे रामघाट, विहारवन, चीरघाट, वत्सवन, गरुड़गोविन्दसे वृन्दावन। |
| | १९ नवम्बर–शुक्रवार | (एकादशी) वृन्दावन परिक्रमा, श्रीगौरकिशोदास बाबाजीका तिरोभाव। |
| | २० नवम्बर–शनिवार | (द्वादशी) विश्राम। |
| | २१ नवम्बर–रविवार | (त्रयोदशी) बेलवन। |
| | २२ नवम्बर–सोमवार | (चर्तुदशी) विश्राम एवं दर्शन। |
| | २३ नवम्बर–मंगलवार | (पूर्णिमा) वैष्णव होम, उर्जाव्रत समापन। |

हरि बोल!

# शरणागति

(ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर)

भजु मन श्रीचैतन्य महाप्रभु।
करिकै दया जगत–जीवन पै, निज पार्षद, निज धाम साथ लै।
लीन्हो है अवतार विष्णु विभु।। भजु०।।
दीन्हो प्रेम–दान दुर्लभ अति, सिखलाई भगतन सरनागति।
भक्त–प्रानधन, जीवन सरबस।। भजु०।।
आत्म–निवेदन, दैन्य–प्रकासा, रखिहौं उर ऐसो विस्वासा—
रक्षा करिहै कृष्ण अवसि बस।। भजु०।।
गोप्ता जानि बरन मन लाई, काज भक्ति अनुकूल सोहाई।
काज भक्ति–प्रतिकूल त्याग कर।। भजु०।।
षट् प्रकार सरनागत जो जन, मन लावै सब विधि हरि–चरनन।
सुनैं प्रार्थना नन्द–सुवन वर।। भजु०।।
दाँत दाबि तृण रूप सनातन–पायन पर्‌यो पकरि युग–चरनन।
"भक्ति विनोद" करै सुनिवेदन।। भजु०।।
रोइ–रोइ कह अधम मन्दमति, हौं मैं मोहि सिखाइ सरनागति।
प्रभु बनाइए उत्तम जीवन।। भजु०।।

## वैष्णव व्रत तालिका

| | | |
|---|---|---|
| २०कार्त्तिक | ७ नवम्बर रविवार | छोटी दीपावली। |
| २१कार्त्तिक | ८ नवम्बर सोमवार | अमावस्या, दीपावली। |
| २२कार्त्तिक | ९ नवम्बर मंगलवार | अन्नकूट महोत्सव, गोवर्धन पूजा, गोक्रीड़ा, गोपूजा। |
| २३कार्त्तिक | १० नवम्बर बुधवार | भ्रातृद्वितीया(भैया दूज) यमद्वितीया। |
| २९ कार्त्तिक | १६ नवम्बर मंगलवार | गोपाष्टमी, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधनञ्जय पण्डित, श्रीगदाधर पण्डितजीका तिरोभाव। |
| २ अग्रहायण | १९ नवम्बर शुक्रवार | उत्थान एकादशी व्रत, श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराजजीका तिरोभाव, अगले दिन ९–३३ से पहले पारण। |
| ६ अग्रहायण | २३ नवम्बर मंगलवार | श्रीकृष्णकी हैमन्तिकी रासयात्रा, ऊर्जाव्रत, दामोदर व्रत, नियमसेवा समाप्त। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
वि. सं. २०५६ कार्तिक मास, सन् १९९९, २५ अक्टुबर —२३ नवम्बर { संख्या ८

# गोवर्द्धनाष्टकम्

*[श्रीमद्रूप गोस्वामी विरचितम् ]*

श्रीगोवर्द्धनाय नमः

*गोविन्दस्योत्तंसित – वंशीक्वणितोद्यल्लास्योत्कण्ठामत्त – मयूरव्रजवीत।*
*राधाकुण्डोत्तुङ्ग–तरङ्गांकुरिताङ्ग प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।१।।*

श्रीकृष्णके अधरप्रान्तमें विराजित मुरलीकी मधुर–ध्वनिको श्रवण कर उन्मत्त होकर नृत्य करते हुए मयूरों द्वारा तुम घिरे हुए हो तथा श्रीराधाकुण्डकी ऊँची–ऊँची तरंग–मालाओंसे (सिंचित होकर) तुम्हारे अंगोंके ऊपर नई नई हरे हरे तृण अंकुरित हुए हैं। हे शैलराज गोवर्द्धन! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।।१।।

*यस्योत्कर्षाद्विस्मितधीभिर्व्रजदेवी – वृन्दैर्वर्यं वर्णितमास्ते हरिदास्यम्।*
*चित्रैर्युञ्जन् स द्युतिपुञ्जैरखिलाशां प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।२।।*
*विन्दद्भिर्यो मन्दिरतां कन्दरवृन्दैः कन्दैश्चेन्दोर्बन्धुभिरानन्दयतीशम्।*
*वैदूर्याभैर्निर्झरतोयैरपि सोऽयं प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।३।।*
*श्वश्वद्विश्वालङ्करणालङ्कृतिमेध्यैः प्रेम्ना धौतैर्धातुभिरुद्दीपितसानो।*
*नित्याक्रन्द्रत्कन्दर वेणुध्वनिहर्षात् प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।४।।*
*प्राज्या राजिर्यस्य विराजत्युपलानां कृष्णेनासौ सन्ततमध्यासितमध्या।*
*सोऽयं बन्धुर्बन्धुरधर्मा सुरभीणां प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।५।।*
*निर्धुन्वानः संहति–हेतुं घनवृन्दं जित्वा जम्भारातिमसम्भावितबाधम्।*
*स्वानां वैरं यः किल निर्यापितवान् सः प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।६।।*
*विभ्राणो यः श्रीभुजदण्डोपरि भर्त्तुश्छत्रीभावं नाम यथार्थं स्वमकार्षीत्।*
*कृष्णोपज्ञं यस्य मखस्तिष्ठति सोऽयं प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।७।।*
*गान्धर्वायाः केलिकलाबान्धव कुञ्जे क्षुण्णैस्तस्याः कङ्कण–हारैः प्रयताङ्ग।*
*रासक्रीड़ा–मण्डितयोपत्यकयाढ्य प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम्।।८।।*
*अद्रिश्रेणीशेखर पद्याष्टकमेतत् कृष्णाम्भोदप्रेष्ठ पठेद्यस्तव देही।*
*प्रेमानन्द तुन्दिलयन् क्षिप्रममन्दं तं हर्षेण स्वीकुरुतां ते हृदयेशः।।९।।*

श्रीकृष्णके द्वारा सम्पादित (गोवर्द्धनकी) श्रेष्ठताके कारण विस्मित हुई गोपियोंने जिन्हें (गोवर्द्धनको) हरिदासवर्य अर्थात् श्रीहरिका श्रेष्ठ–सेवक कह कर पुकारा है और जिनका तेजःपुञ्ज विविध वर्णोंकी चन्द्रकान्तादि मणियोंसे जगमगा रहा है—हे गोवर्द्धन! तुम मेरी आकांक्षा पूर्ण करो।।२।।

मन्दिरके समान अपनी कन्दराओं, चन्द्रबन्धु कुमुद–मृणाल आदि की तरह अतिशय उज्ज्वल और सुस्वादु कन्द–मूलों तथा वैदूर्यमणिकी तरह स्वच्छ निर्झर–वारि–धारा द्वारा तुम श्रीकृष्ण और उनके परिकरोंको अत्यन्त प्रदान करते हो—हे गोवर्द्धन! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।।३।।

निखिल जगत्के भूषण–स्वरूप श्रीकृष्णके अङ्गोंके भूषणस्वरूप, विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रक्षालित गैरिकादि धातुओं द्वारा तुम्हारा शिखर–प्रदेश अतिशय उद्दीप्त है एवं वेणु–ध्वनिरूप आनन्दवशतः तुम्हारी कन्दराएँ सर्वदा प्रतिध्वनित होती हैं—हे गोवर्द्धन! तुम मेरी कामना पूर्ण करो।।४।।

तुम्हारे गण्ड–प्रदेशकी पर्वत–मालाएँ श्रीकृष्णके निरन्तर बैठनेसे अतिशय सुशोभित हैं तथा गो–समूहका पालन करनेके हेतु तुम उनके बन्धु हो, अतएव तुम्हारा पालन–धर्म विशेषरूपसे समृद्ध है—हे शैलपते गोवर्द्धन! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।।५।।

ब्रजका संहार करनेके लिये जगत् विप्लवकारी मेघ–समूहोंके प्रेरक एवं सर्वत्र विजयी महिषासुरके शुत्रु इन्द्रको पराजित करके तुमने अपने सजातीय पर्वत–समूहके शत्रुका विनाश किया है—हे इन्द्र–विजयिन् गोवर्द्धन! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।।६।।

श्रीकृष्णके भुजदण्डोंके ऊपर छत्रके रूपमें विराजित होकर तुमने अपना 'गिरिराज' नाम सार्थक किया है एवं तुम्हारा यज्ञ श्रीकृष्णको ही सबसे पहले विदित हुआ है—हे गोवर्द्धन! तुम मेरी आकांक्षा पूर्ण करो।।७।।

तुम गान्धर्वा श्रीमती राधिकाकी केलि-क्रीड़ाओंके सहायक हो, तुम्हारा अङ्ग निकुञ्जमें गिरे हुए श्रीमती राधिकाके कङ्कणों और मालाओंसे सुशोभित है तथा तुम्हारी तलहटी श्रीकृष्णकी रास-क्रीड़ाओंसे सुशोभित है—हे गोवर्द्धन! तुम मेरा मनोऽभीष्ट पूर्ण करो।।८।।

हे गिरिराज गोवर्द्धन! जो तुम्हारे इस पद्याष्टकको पाठ करते हैं, तुम्हारे हृदयेश्वर श्रीकृष्ण अति शीघ्र ही अपना निरतिशय प्रेमानन्द बढ़ा कर आनन्दपूर्वक उन्हें अपना लेते हैं।।९।। ❑

# सन्त [सज्जन] के लक्षण

*—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील प्रभुपाद*

### *(७) मृदु*

हरि-भजन परायण पुरुषोंका हृदय मृदु अर्थात् कोमल होता है। विषय-वासनाओंका पालन त्याग किये बिना हृदय कोमल नहीं हो सकता और हृदय कोमल हुए बिना वहाँ भक्तिदेवीका प्रादुर्भाव भी नहीं होता। विषयी पुरुषोंका चित्त विषयोंके घात-प्रतिघातसे अत्यन्त कठिन हो जाता है। भीषण-भीषण दुःखोंके थपेड़ोंसे उनके हृदयकी कोमलता जाती रहती है। नाना-प्रकारकी असुविधा और अभावसे जर्जरित होनेके कारण उनकी मृदुता तिरोहित हो जाती है। तर्क-वितर्क उनके हृदयको शुष्क बना देता है। दूसरोंके व्यवहारसे क्षुब्ध होकर परद्रोहका आचरण करने लगता है, ऐसी दशामें भला उनके हृदयमें कोमलता कैसे वास कर सकती है?

भगवान् विषयी पुरुषोंके निकट वज्रकी तरह कठोर होने पर भी सज्जन पुरुषोंके प्रति वे पुष्पसे भी अधिक कोमल होते हैं। भगवान् कोमलताके आश्रय-स्थल हैं। इसलिये उनमें स्थित कोमलताके प्रभावसे सज्जन पुरुषोंका चित्त भी अतीव कोमल हो जाता है। अनर्थोंके दूर होने पर साधकके हृदयमें जड़ विषयोंसे उपरति होती है और वहाँ शान्ति नामक एक अवस्था लक्षित होती है। इस शान्तिके विराजमान होने पर वहाँ भगवत्-विषयिणी रुचि पैदा होती है, जिससे साधकोंका चित्त सर्वदा आर्द्र रहता है। अनर्थमुक्त सज्जन शुद्धसत्त्वमें प्रतिष्ठित होते हैं। उनके हृदयमें अप्राकृत विषय और आश्रयके उद्दीपनीय भाव-समूह सर्वदा प्रवाहित रहते हैं। इसीलिये सज्जन मृदु होते हैं।

सज्जन पुरुष नित्यकाल मृदु होते हैं। वे साधनकालमें हरि-विरोधी आचरणरूप दुःसंगका त्याग करते हैं। उनके इस आचरणसे विषयी लोग उनमें मृदुताका अभाव मानते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। परम मृदु गौरहरिके आश्रितजनोंका स्वभाव सर्वदा मृदु होता है। दुःसंगका परित्याग करने पर भी वे अपने अन्तःस्थित नैसर्गिक कोमलताका परित्याग नहीं करते। अतः सज्जन पुरुषोंके अतिरिक्त दूसरे मृदु नहीं हो सकते। असद् व्यक्ति कभी मृदु नहीं हो सकते हैं।

### *(८) शुचि*

रुचिके भेदसे शुचिकी धारणा भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। एक जिसे शुचि कहता है, दूसरे उसे अशुचि कहते हैं। अन्याभिलाषी जिसे पवित्र समझकर शुचि मानता है, भगवद्भक्त उसे शुचि स्वीकार नहीं करते। कर्मी जिसे शुचिकी संज्ञा देता है, सज्जनोंके विचारसे वही अशुचि है। कर्म और ज्ञान-शास्त्रोंमें निर्धारित सदाचारको सज्जनगण शुचि स्वीकार करनेके लिये बाध्य नहीं हैं।

सज्जन पुरुषका कहना है—जिस जगह हरिकथा नहीं होती, वही स्थान अशुचि है; जिस कालमें हरिकी सेवा नहीं होती, वही काल अशुद्ध है। जो पात्र (मनुष्य आदि) भजनके अनुष्ठानसे विमुख है, वही पात्र अशुचि है। महाभारत, रामायण और वेद परम पवित्र ग्रन्थ हैं, क्योंकि इनके आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र ही श्रीहरिका गुणगान है। हरिगुण–गानके कारण ही इनकी पवित्रता है।

सज्जन पुरुष कहते हैं:—जहाँ हरि–कथाका आदर नहीं है, वह स्थान अशुचि है। भगवान् ही शुचिके एक मात्र आधार हैं। जहाँ भगवत्–चर्चाका अभाव है, जहाँ भगवत्–सम्बन्ध–शून्यता है, वह विषय अशुचि है। मायिक दृष्टिकोणसे कर्मीजन जल–अग्नि और सूर्यको शुचि मानते हैं; वास्तवमें उनमें हरि–सम्बन्ध नहीं देखनेसे ये कभी भी शुचि नहीं माने जा सकते हैं।

सज्जन पुरुषका कहना है—कृष्ण–सम्बन्ध रहित प्रत्येक विषय अशुचि है। कृष्ण ही सम्पूर्ण शुचिके केन्द्र हैं और कृष्णभक्त ही यथार्थ शुचि हैं। कृष्ण–सम्बन्धी वस्तुएँ शुचि हैं और कृष्ण–सम्बन्ध–रहित वस्तुएँ अशुचि हैं। वर्णके विचारसे लौकिक व्यवहारमें जो सब शुचि–अशुचिकी धारणाएँ हैं, वे तात्कालिक हैं और वैष्णवोंकी शुचि धारणा नित्य शौचाचारसे पुष्ट होती है, जिसमें नित्य–कल्याण निहित है। ❑

# शरणागति

—विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

दैन्य—दुःखात्मक (कायिक)

*मेरे दुःख की गाथा सुनिए, हे प्रभु जगदाधार।*
*सुधा समझ विष पिया विषय का, ऐसा मूढ़ गवाँर।।*
*जीवन रति अब अस्त हो रहा, कौन करूँ उपचार।*
*बचपन बीता खेलकूद में, पढ़ने में कैशोर।*
*नेक विवेक न आया मन में, माया घेरे घोर।।*
*भोग हेतु यौवन में मैंने, व्याह किया भगवान।*
*पुत्र, मित्र हो गये अनेकों, पाया कष्ट महान।।*
*आई जरा, सभी सुख भागे, पीड़ित, कातर भारी।*
*क्षीण कलेवर हुआ, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हैं सारी।।*
*नहीं भोग की शक्ति रही है, इससे दुःखिन अन्तर।*
*ज्ञान–लेशसे हीन, दीन मैं, भक्तिरहित, अति पामर।।*
*मेरा क्या उपाय अब होगा दीनानाथ! मुरारे।*
*पतित–बन्धु! मुझ पतिताधम से सारे पापी हारे।।*
*मेरा करो विचार प्रभो! तो पाओ गुण नहीं एक।*
*इस कारण मेरे दोषों का करो विचार न नेक।।*
*निज–पद–पंकज अमृत पिलाओ, मिटे प्रमाद–प्रमोद।*
*पार करो जीवन की नौका, कहता भक्तिविनोद।।*

• • • • • • • • •

# श्रीचैतन्यदेवकी अनुपम वाणी

वर्तमान सभ्यताका अनुशीलन करनेसे विदित होता है कि समस्त प्राणी एक ही पथपर आरूढ़ हो रहे हैं। वह पथ क्या है? सांसारिक कार्यकलाप—अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति। इनमें सर्वप्रथम धनकी आवश्यकता है। आजका संसार रूपयेको "खुदाका बड़ा भाई मानता है। परन्तु रूपये देनेवालेको तनिक भी याद नहीं करता। सूरदासका यह पद कितना मर्मस्पर्शी है—

*"जिन तन दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक हरामी"*

तुलसीदासजीने दुर्लभ मानव जीवन पर मानसमें लिखा है--

*'बड़े भाग मानुस तन पावा।*
*सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन गावा।।*

परन्तु—

*"जीवन हइल शेष, ना भजिले हृषिकेश"*

जीवन व्यर्थ ही चला गया। वस्तुतः इसके अधः पतनका मूल कारण क्या हो सकता है? संक्षेपमें यह है कि मनमाने धर्म अपनाये जा रहे हैं। प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है? क्या धर्मसे मानवधर्म, मनोधर्म, आत्मधर्मका अर्थ है या अन्य कोई अर्थ।

श्रीचैतन्यदेवने, जो कलियुगपावनावतारी भगवान् हैं, जगतवासियोंके कल्याणके लिये बतलाया कि 'धर्म' शब्द एकाङ्गी नहीं, व्यापक है। उसका अर्थ है—"स्वभाव" जिसे अंग्रेजी भाषामें 'nature' कहते हैं। वे कहते हैं—

*"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास"*

—[जीवका स्वरूप कृष्णका नित्य दास है]

दृष्टान्तस्वरूप जलको लीजिये। जलका स्वभाव तरलता है। तरलता जलका नित्य धर्म है। यदि कारणवश वह जल जमकर हिम हो जाय तो हिमरूप काठिन्य जलका नित्यधर्म न होकर नैमित्तिकधर्म होगा। क्योंकि वही हिमखण्ड गर्मी पाकर कठिनता परित्यागकर अपना पूर्व धर्म तरलता प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त कथन ठीक जीवोंपर घटता है। जीव स्वरूपतः भगवान्का नित्य दास है। अतः भगवत्सेवा ही उसका नित्यधर्म है। जीवका भगवान् या ब्रह्म होना तो दूर रहे वह कभी भी उसके समान या उससे अधिक नहीं हो सकता। उपनिषदोंका कहना है "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वेताश्वतर उ.) जीव भगवान्का विभिन्नांश है—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। अंश कभी भी पूर्णके बराबर नहीं हो सकता। अतः जीवका अपनेको ब्रह्म समझना अपराध है। जब जीव अपनेको ब्रह्म समझता है तब इसे अपराधरूप दण्डके कारण चेतन-शून्य अथवा सूवा-विहीनरूप हिमखण्ड हो जाता है। फिर कभी भाग्यवश साधुसङ्गरूप गरमीके स्पर्शसे क्रमशः अपराध क्षय होने पर पुनः भगवान्की नित्य-सेवा रूप तरलता-धर्म अर्थात् अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर लेता है।

आत्माका सम्बन्ध परमात्मासे है। परमात्मासे जीवको अलग नहीं किया जा सकता। निम्न उदाहरण भी सुसङ्गत होगा। जैसे सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध सूर्यसे है। सूर्यकी किरणोंकी सत्ता सूर्यसे अलग नहीं। हम एकको दूसरेसे पृथक् नहीं कर सकते। इसी तरह जीवात्माका सम्बन्ध भी परमात्मासे है। गुणगत दोनोंका साम्य है; किन्तु परिमाण विचारसे जीव अणु और क्षुद्र है तथा भगवान् विभु और विराट हैं। अतः दोनोंमें भेद है। जीव शक्ति है, भगवान् शक्तिमान हैं। "शक्तिशक्तिमतोरभेदः शास्त्र-वचनके अनुसार जीव

की सत्ता भगवान्‌से पृथक नहीं। किरणें कभी भी सूर्य नहीं हो सकतीं; साथ–ही साथ किरणोंका सूर्यसे पृथक् अस्तित्व भी नहीं रह सकता। इसी तरह जीवात्मा और परमात्माका भेद और अभेद साथ–साथ ही चलता है। किन्तु यह भेद और अभेद मानव–कल्पनासे परे है, इसलिये दार्शनिक विचारमें इसे अचिन्त्यभेदाभेद कहा गया है। यही सर्व–शास्त्र–सम्मत विशुद्ध विचार है।

कतिपय विद्वानोंका विचार है कि जीव ही ब्रह्म है। अतः वह भी पूर्ण है। प्रमाण–स्वरूप वे इस निम्न–लिखित मन्त्रकी अवतारण करते हैं—

*पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।*
*पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।*
*पूर्ण है वह, पूर्ण है यह,*
*पूर्णसे निष्पन्न होता पूर्ण है।*
*पूर्णमेंसे पूर्णको यदि ले निकाल,*
*शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा।।*

किन्तु उक्त मन्त्र भगवान् (अवातारी) और उनके अतवार–समूह को लक्ष्य करता है। अवतारी पूर्ण है और उनसे निकले अवतार–समूहभी पूर्ण हैं। उच्च गणित जाननेवाले विद्यार्थी जानते हैं कि—

अनन्त + अनन्त = अनन्त
अनन्त – अनन्त = अनन्त
अनन्त – ० = अनन्त

इसी तरहका सम्बन्ध भगवान् और भगवदवतारोंमें है न कि भगवान् और जीवमें।

यह सब ज्ञान परमेश्वरके कृपापात्रोंसे मिलता है। भगवान्‌की कृपा इन्हीं सन्तोंके द्वारा जगत्‌में अवतरण करती है। ये जीवको भगवत्–सेवाकी शिक्षा देते हैं। जैसे एक सती स्त्री अपनी सेवासे पतिको वशीभूत कर लेती है तथा पति भी अपनेको उसपर न्योछावर करनेके हेतु तत्पर रहता है। इसका मूल कारण है—सेवा। सेवा द्वारा ही सेव्यकी प्राप्ति हो सकती है। सेव्य वस्तुकी उपलब्धि करनेके लिये उसके (सेव्यके) ही विधानको अपनाना पड़ेगा। अपनी दैनिक चर्यापर दृष्टि डालिये। यदि आप कार्यालयमें नौकर हैं तो आप वहाँके नियमों व कानूनोंको पूर्णरूपसे पालन करते हैं। आपको समयपर पहुँचना तथा लौटना पड़ता है। ऐसा करनेसे आप अपने आफिसरको प्रसन्न रख सकते हैं। यदि आप प्रतिकूल चलते हैं—स्वयं ही मालिक बन जाना चाहते हैं तो आप नौकरीमें उन्नति नहीं कर सकते। आपको ताड़ना भी दी जाती है और एक दिन नौकरीसे हाथ भी धोना पड़ता है।

वास्तवमें यही पद्धति चिद्‌राज्यमें पहुँचनेके लिये आवश्यक है। हमारे लिये नितान्त आवश्यक है कि हम "महाजनो येन गतः स पन्था" का अनुसरण करें। वह पथ हमारे धर्मशास्त्र और प्राचीन ग्रन्थ प्रदर्शित करते हैं। इसके लिये केवल स्वयं चेष्टासे कार्य नहीं चलता। पथ प्रदर्शककी आवश्यकता है। वह कौन हो सकता है? वह है—गुरु। केवल लाल कपड़े धारण करनेवाले, साधु और सफेद कपड़े धारण करनेवाले, बाबाजी नहीं। वरन् वे जिन्होंने अपना जीवन भगवद् सेवामें लगा दिया है। जगद्‌गुरु कृष्णदास कविराजने श्रीचैतन्य चरितामृतमें लिखा है—

*किवा विप्र, किवा–न्यासी, शूद्र केने नय।*
*जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।*

तत्त्वविद् व्यक्ति किसी भी कुल, वर्ण या आश्रम का क्यों न हो वही सद्‌गुरु है। अतः ऐसे महापुरुषों की सेवा ही भक्ति है। किन्तु अतत्त्वविद् व्यक्तियोंकी सेवा कर्म है।

पाठकगण! गुरुकी महिमा अपरम्पार है। गुरु वही है जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ हो––भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीलाका कीर्त्तन, स्मरण, चिन्तन और मनन जिसके जीवनका अङ्ग हो। मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है—

*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*

*समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।*

शास्त्रमें गुरुकी महिमाके प्रति लिखा है—

*अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।*
*चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।*

सद्गुरुका आश्रय करनेसे अवश्य कृष्णप्रेमकी प्राप्ति होती है। ठाकुर भक्तिविनोदने लिखा है—

*"शुद्ध भकत चरण-रेणु, भजन-अनुकूल।*
*भकत-सेवा परम सिद्धि, प्रेम लतिकार मूल।।*
*भकति विनोद, कृष्ण भजने, अनुकूल पाय जाहाँ।*
*प्रति दिवसे परम सुखे, स्वीकार करये ताहाँ।।"*

यदि सच्चे गुरु व भक्तका संग मिल गया तो जीवन सार्थक हो गया, अन्यथा परिणाम उल्टा होगा। दूधका सेवन सभी करते हैं। गायके वछड़ेका भी जूठा दूध पीते हैं, क्योंकि वह बलवर्द्धक व पुष्टि-कारक होता है। यदि वही पय सर्प पान कर ले तो उसको कोई नहीं पीता। कारण वह विषाक्त हो गया। ठीक ऐसे ही असाधुके मुखसे निकली हुई कथा भी होती है। वह उस धानके समान है जो देखनेमें सुन्दर परंतु अन्दरसे निर्बीज है। उसके बोनेसे अन्य धानका पौधा कदापि नहीं उगेगा।

*"छाड़ि मन हरि विमूखन को संग।*
*जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग।।"*

साधुओंका चरित्र पावन होता है। उनके निवास स्थान तीर्थ स्थानोंसे भी श्रेष्ठ हैं। उनका चरित्र तो चन्दनके समान है, जो घिसे जानेपर भी सुगन्ध देता है। वह स्वर्ण है, जो जितना ही दग्ध किया जाय उसकी कान्ति उतनी ही उद्दीप्त होती जाती है। उस ईखकी तरह है जो टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर भी मिठास नहीं छोड़ती।

भगवत् प्राप्तिका एकमात्र उपाय भक्ति-निष्ठाका होना है। उसके लिए सती स्त्री जैसी निस्वार्थ चेष्टा व सेवाकी लगन होनी चाहिए, एक कुलटाकी नहीं, जो अनेक पर पुरुषोंको प्रेमका झूठा दावा दिखाकर बहकाती है जो मनसे किसी एककी भी नहीं। साधकको ऐसा न होकर एकनिष्ठा व विश्वाससे कार्य करना चाहिए। तभी ऐकान्तिक भक्ति व प्रेमके बीजारोपण हो सकेंगे, अन्यथा नहीं। संसारका प्रेम प्रेम नहीं, वह काम है। आज-कल प्रेम शब्दका दुरुपयोग किया जाता है। स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई मालिक-चाकर आदिके परस्परका व्यवहार तथा देशप्रेम और विश्वप्रेम आदि शास्त्रीय-प्रेम-शब्द-वाच्य नहीं, वे तो छाया-प्रेम या काम हैं। श्री चैतन्यदेवने कहा है—

*आत्मेन्द्रिय प्रीतिवांछा, तारे बोलि काम।*
*कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।।*

जो कार्य अपने इन्द्रियोंके पोषण हेतु किया जाता है, वह काम है। उसके द्वारा आत्मधर्ममें प्रवेश करना दुष्कर है। पर जो कार्य भगवत् प्रीति उपार्जन हेतु किया जाता है, वही नित्य-प्रेम है। भक्तका उठना, बैठना, चलना, फिरना, बात करना इत्यादि शुद्ध-प्रेम है। वही सहयोगी है अन्य नहीं।

भक्तकी एक निष्ठाका दर्शन कीजिए। सभी उपास्य विष्णु-तत्व अभिन्न हैं। फिर भी उपासकोंके तारतम्य भेदसे उपास्य तत्त्वका भेद दिखलायी पड़ता है। उपासककी अपने ही उपास्यतत्त्वमें विशेष निष्ठा होती है। फिर भी वह दूसरे उपास्य तत्त्वोंकी अवज्ञा नहीं वरन् सम्मान ही करता है। एकनिष्ठ भक्त श्रीहनुमानजीकी निष्ठा आदर्श है। वे कहते हैं—

*श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।*
*तथापि मम सर्वस्वः श्रीरामः कमललोचनः।।*

(अर्थात् लक्ष्मीपति श्रीनारायण और जानकीपति श्रीराम परमात्म तत्त्वकी दृष्टिसे अभिन्न अर्थात् एक ही हैं, तथापि कमललोचन श्रीरामचन्द्र ही मेरे हृदयसर्वस्व हैं।)

भगवान्ने भी कहा है—

*"नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च।*
*मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद।।"*

श्रीचैतन्यदेवने श्रीशिक्षाष्टकमें कहा है—

*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।*
*अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।*

अर्थात् तृणकी अपेक्षा भी अतिशय नम्र होकर वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं अमानी होते हुए और दूसरेको मान प्रदान करते हुए निरन्तर श्रीहरिसंकीर्त्तन करना चहिए।

आज–कलके कृत्रिम साधुओंकी भाँति नहीं जो मौनी बने हुए हैं अथवा प्रवीण वक्ता हैं। कहना जानते हैं पर आचरण रत्तीभर नहीं। ये कौन हैं? अमुक मौनी बाबा। बोलते नहीं। पर क्षुधानिवृत्तिके लिए लिखेंगे। सम्भवतया भय है कि बात करनेसे कलई खुल जायगी और प्रतिष्ठा लुप्त हो जायेगी।

श्रीमन्महाप्रभुने कहा है कि हरिनाम या हरिकीर्त्तन जोर–जोरसे करो, जिसकी मंगलध्वनि से वातावरण शुद्ध हो जाता है और हृदय–आकाशके श्यामल बादल सदैवके लिए विदीर्ण हो जाते हैं। इसीलिए किसी भक्तने गाया है—

***भजहुँ रे मन श्रीनन्दनन्दन, अभय चरणारविन्द रे।***
***दुर्लभ मानव जनम सत्संगे, तरहु ए भव सिंधु रे।।१।।***
***शीत आतप, वात बरिषन, ए दिन यामिनी जागि रे।***
***विफल से विनु कृपण दुरजन, चपल सुखलव लागि रे।।२।।***
***ए धन, यौवन, पुत्र परिजन, इथे कि आछे परतीति रे।***
***कमलदल–जल, जीवन टलमल, भजहुँ हरिपद निति रे।।३।।***
***श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन दास्य रे।***
***पूजन, सखीजन, आत्मनिवेदन, गोविन्ददास अभिलाष रे।४।***

(क्रमशः)

—सुशीलचन्द त्रिपाठी, एम. ए.

# सदाचार

***—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिमयुख भागवत महाराज***

शास्त्रके उपदेशोंको अपने जीवनमें आचरण करनेका नाम ही आचार है। भगवद्भक्त संतोंका आचार ही सदाचार कहलाता है। पद्मपुराणमें कहते है—

*स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।*
*सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः।।*

अर्थात्, विष्णुको सर्वदा स्मरण रखना चाहिये, और उनको कभी भी भूलना नहीं चाहिए। जिन–जिन क्रियाओंसे भगवत्स्मृति सदा बनी रहे, उनको 'विधि' कहते हैं तथा जिनसे भगवद्विस्मृति घटती है, उनको 'निषिद्ध' वा अनाचार कहते हैं। शास्त्रोंमें जिन–जिन विधियों और निषेधोंका विधान दिया गया है, वे सभी भगवत्स्मृतिरूप मूल विधि और भगवद् विस्मृतिरूप मूल निषेधके अधीन हैं।

सत्संगसे ही लोगोंकी मति भगवान्के चरणोंकी ओर आकृष्ट होती है और उनके मानसपटल पर भगवत्स्मृति उदित होती है। इसीलिए सत्संगको ही सर्वश्रेष्ठ आचार बतलाया गया है। दूसरी तरफ असत्संगसे जीवोंका अधःपतन होता है, इसलिए असत्संगका परित्याग करना भी जीवोंका अवश्य कर्त्तव्य अथवा सदाचार है। श्रीमद्भागवतमें सत्संगकी सर्वश्रेष्ठता सुस्पष्ट शब्दोंमें घोषित की गयी है—

*तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं न पुनर्भवम्।*
*भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।*

(श्रीमद्भा. १.१८.१३)

—भगवत्प्रेमी भक्तोंके सत्संगसे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।

*'साधुसंग' 'साधुसंग'—सर्वशास्त्रे कय।*
*लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय।।*

(चै. च. म. २२.५४)

आदि पद्यांशोंमें साधुसंगकी अपूर्व महिमाका

वर्णन किया गया है।

सदाचारमें जैसे सत्संग ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार असत्संगका वर्जन करना भी अपरिहार्य होता है। इस विषयमें चैतन्य-चरितामृतमें स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

*असत्संग त्याग—एई वैष्णव आचार।*
*स्त्रीसंगी—एक असाधु, कृष्णाभक्त आर।।*

(चै. च. म. २२.८४)

जगद्गुरु श्रीभक्तिविनोद ठाकुर इस पयारके अमृतप्रवाह भाष्यमें लिखते हैं—जैसे सत्संग अन्वय रूपमें वैष्णव आचार है, वैसे ही असत्संगका वर्जन करना भी व्यतिरेकरूपमें वैष्णव-आचार ही है। असत्संग दो प्रकारका होता है—(१) स्त्रीसंगी अर्थात् स्त्रियोंके प्रति आसक्त रहने वाला और (२) जिसके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति भक्तिभाव न हो। शुद्ध भक्तोंको हन दोनों प्रकारके असत्संगोंसे सदा बचना चाहिए।

*न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसंगतः।*
*योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो तथा तत्संगिसंगतः।।*

(श्रीमद्भा. ११.१४.३०)

अर्थात् स्त्रियोंके और स्त्रीसंगियोंके—लम्पटोंके संगसे पुरुषोंको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा अन्य किसी भी संगसे नहीं होता है। उक्त श्लोककी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लिखा है—

*योषित्सङ्गिसङ्गत्यागे भूयानेव यत्नः कर्त्तव्यः।*
*यतो योषित्संगे लज्जा स्त्रीया प्रतिष्ठा च बाधिकास्ति तत्संगीसंगे तु प्रायस्तेऽपि न बाधिके। परञ्च योषित्संगी यथा तत्कथाभिस्तस्यामासज्जयति लज्जाभयादिकमपि त्याजयति न तथा योषिदपि।*

साधक भक्तको स्त्रीसंगका अवश्य परित्याग करना चाहिये। क्योंकि किसी स्त्रीका संग करनेमें लोकलज्जा और बदनामीका डर रहता है और ये दोनों उसके पतनमें कुछ-न-कुछ हद तक बाधक होते हैं। किन्तु स्त्रीसंगियों—लम्पटोंके संगमें वैसी कोई बाधा न होनेके कारण अत्यन्त शीघ्र ही पतन हो जाता है। स्त्रीसंगी अपनी आपात-मधुर वाणियोंसे अपने साथी जीवकी लज्जा और बदनामीका डर दूर कर उसे स्त्रीसंगके जालमें फँसा देता है। इस तरह वह भोले भाले जीवका सर्वनाश कर डालता है। स्त्रीसंगियोंके संगका कितना भयङ्कर परिणाम होता है, श्रीमद्भागवतमें उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

*सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिश्रीर्ह्रीयशः क्षमा।*
*शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संक्षयम्।।*
*तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।*
*सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च।।*

(श्रीमद्भा. ३.३१.३३)

अर्थात् स्त्रियोंके क्रीड़ामृग (स्त्रीसंगी) अत्यन्त शोचनीय, अशान्त, मूढ़, बुद्धिभ्रष्ट और असाधु होते हैं। उनके सङ्गसे मनुष्यके सत्य, शौच (बाहर भीतरकी पवित्रता) दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धनसम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

और कात्यायन संहितामें तो यहाँ तक कहा गया है कि धधकती हुई आगसे युक्त पिजड़ेमें बन्द रहनेके क्लेशको सह लेना कहीं अच्छा है, किन्तु कृष्णचिन्तासे विमुख लोगोंका सङ्ग, जो अधःपतनका कारण है, कभी नहीं करना चाहिए—

*वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।*
*न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवास – वैशसम्।।*

श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन ही कलियुगका युगधर्म है। अतः कलियुगी जीवों के लिए हरिनाम-संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ आचार है—यह कहना ही अत्युक्ति होगी। भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीलाका श्रवण, कीर्त्तन, और स्मरण करना जीवोंके लिए नित्य आचरणीय विषय है। इसके अभावमें यत्र-तत्र-सर्वत्र

अनाचार अथवा दुःख अवश्यंभावी है। इसलिए प्रत्येक कल्याणकामी जीवको उक्त सदाचारका अवश्य ही पालन करना चाहिए।

धर्म ही सदाचार है और अधर्म ही अनाचार है। अधोक्षज भगवान्‌के प्रति भक्ति ही जीवोंका परमधर्म है। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि वह भक्तिरूप परम धर्म—सदाचारका अवश्य पालन करे। हृदयमें यदि धर्मका या सदाचरका स्थान न हो तो, उस नीरस हृदयमें अनाचार अपना अड्डा जमाकर जीवको अधोगामी करेंगे ही करेंगे। इसलिए शास्त्रोंका निर्देश है—

*तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।*
*श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम्।।*

(श्रीमद्भा. २.१.५)

श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित् महाराजसे कह रहे हैं कि परीक्षित्! जो अभयपदको प्राप्त करना चाहता है—नित्यानन्दको पाना चाहता है, उसे सब जीवोंके अन्तर्यामी, अभयप्रदाता भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कल्याण प्राप्तिका कोई और पथ नहीं है।

शास्त्रोंका कहना है—आचारहीन मनुष्यको इहलोकमें या परलोकमें—कहीं भी सुख नहीं मिलता है। उसके यज्ञ, दान और तपस्या सभी निष्फल होते हैं। चारों वेदोंका विधिवत् पाठ भी उनको पवित्र नहीं कर सकता। जैसे मनुष्यकी खोपड़ी अथवा कुत्तेके चमड़ेके बर्त्तनमें रखा गया जल अपवित्र होता है, उसी प्रकार असदाचारी मनुष्यके तीर्थ भ्रमण और दानादि पुण्यकर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकते। दूसरी तरफ आचार धर्मका मूल है। सदाचारसे ऐश्वर्य लाभ होता है, कीर्त्ति प्राप्त होती है, परमायु लाभ होती है तथा दरिद्रता और अपमृत्युका नाश होता है। सदाचार इस लोकमें धर्म, अर्थ और काम तथा परलोकमें नित्यानन्द प्रदान करता है। तीर्थ भी ऐसे सदाचारी संतोंके समागमकी कामना करते हैं।

भगवद्भक्ति ही सच्चा आचार है और आचारवान् व्यक्ति ही सच्चा भक्त है। वह सर्वदा आत्म और पर–कल्याणके लिए चेष्टा करता है। पहले आचार, पीछे प्रचार। इसलिए आचार्य ही सच्चे प्रचारक हैं। जैसे विद्वान् ही विद्यादानका अधिकारी है, उसी प्रकार आचारवान् व्यक्ति ही प्रचारका सच्चा अधिकारी है। आचारवान् ही जीवन्त मनुष्य है। अनाचारी तो जीवित रहने पर भी मृत है। आचार ही प्रचारका प्राण है। सदाचारके पीछे गुरुकी कृपा–शक्ति अथवा चिद्बल होता है। आचारवान् दुःखीको सुखी, भीतको निर्भय, दुश्चिंततको निश्चिंत तथा विमुखको उन्मुख करनेकी अद्भुत शक्ति रखता है। आचारहीन मनुष्य दुर्बल होता है। जैसे निर्धन धन नहीं दे सकता, मूर्ख विद्यादान नहीं कर सकता, उसी प्रकार आचारहीन व्यक्ति किसीके हृदयमें भजन–बल अथवा सेवाभाव जाग्रत नहीं कर सकता। आचारवान् व्यक्तिके निकट केवल श्रद्धापूर्वक बैठे रहनेसे ही निष्कपट और श्रद्धालु व्यक्तिके हृदयमें स्वतः भक्ति संचारित हो जाती है। आचारवान्‌का आचरण ही जीवको भक्ति–पथ पर आरूढ़ करा देता है। वे अधिक न बोलने पर भी उनका भजनमय व्यक्तित्व ही श्रद्धालु व्यक्तियोंको भगवत्चरणकमलोंकी तरफ बरबस खींच लेता है। और यदि वे कृपाकर हरिकथारूप अमृतका पान करा दें तो कहना ही क्या है। असदाचारी व्यक्ति—चाहे वह प्रकांड विद्वान् हो, कुलीन हो, धनी हो, मानी हो, लेखक हो, वक्ता हो, चाहे बड़ा से बड़ा प्रचारक भी क्यों न हो, परमार्थ की इच्छा रखनेवाले उनका आदर नहीं करते।

सदाचारी व्यक्तियोंके हृदयमें दंभ नहीं होता, बल्कि स्वाभाविक दैन्य विराजमान रहता है तथा

समस्त सद्गुणोंके साथ भक्ति भी वहाँ निवास करती है। सदाचारकी विराट् शक्ति होती है। सदाचारी व्यक्ति असत्संगका परित्यागकर सत्संग ग्रहण करनेके लिए दृढ़संकल्प होता है। श्रीगुरु—नित्यानन्दकी कृपा होने पर ही जीव शक्ति पाकर प्रचार करनेका सौभाग्य प्राप्त करता है। अन्यथा आचरणहीन व्यक्ति प्रचारक या वक्ता होनेका स्वांग रचकर भी केवल तुच्छ भोग और प्रतिष्ठाको ही संग्रह करता है। जगत्में प्रचारक या लेखक अथवा वक्ताओंका अभाव नहीं, किन्तु अभाव है सदाचारी व्यक्तियोंका। आचारहीन, लोभी और कामी वक्ता, गायक, लेखक, साहित्यिक, प्रचारक और कवि आत्म और पर की वंचना ही करते हैं। उनसे जगत्का कोई कल्याण नहीं होता। वक्ताके सम्बन्धमें जीव गोस्वामीने भक्तिसंदर्भमें श्रीब्रह्मवैवर्त्त पुराणका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

*वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परिकीर्त्तितः।*
*सरागो लोलुपः कामी तदुक्तं हृन्न संस्पृशेत्।।*
*उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति च।*
*अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत्।।*

धर्मवक्ता दो प्रकारका होता है—सराग और नीराग। सराग वक्ता लोभी और कामी होता है। उनके प्राणहीन नीरस सुन्दर उपदेश श्रोताओं के हृदयको छू नहीं पाते। ये लोग केवल उपदेश देना भर ही जानते हैं, उन उपदेशोंको अपने जीवनमें परीक्षाकर—आचरण कर उनकी सत्यताकी उपलब्धि नहीं करते। तोतेकी तरह रटी हुई मीठी बोलियोंसे अपना और दूसरोंका कल्याण नहीं किया जा सकता। इससे तो जगत्में जंजाल ही अधिकाधिक रूपमें बढ़ता है।

भगवान् श्रीचैतन्यदेवने स्वयं आचारवान् होकर अर्थात् हरि-भजन द्वारा अपना जीवन सार्थक कर परोपकार करनेके लिए—दूसरोंको हरि-भजनमें उन्मुख करनेके लिए उपदेश दिया है—

*भारत भूमिते हैल मनुष्य जन्म यार।*
*जन्म सार्थक करि कर पर उपकार।।*
(चै. च. आ. ६.४१)

श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीहरिदास ठाकुरके प्रति कहा था—

*आपने आचरे केइ ना करे प्रचार।*
*प्रचार करेन केह, ना करेन आचार।।*
*'आचार', 'प्रचार'—नामेर करह दुइ कार्य।*
*तुमि सर्वगुरु, तुमि जगतेर आर्य।।*
(चै. च. अ. ४/१०२)

अर्थात् कुछ लोग आचरण तो करते हैं, परन्तु प्रचार नहीं करते और कुछ लोग प्रचार करते हैं किंतु आचरण नहीं करते। परन्तु आप धन्य हैं, क्योंकि आपके जीवनमें इन दोनोंका सुन्दर समावेश हैं—आप स्वयं हरिनाम करते हैं और दूसरोंसे करवाते भी हैं। आप जगत्के पूज्य हैं। ❑

# धर्मघट

धर्म-पत्रिकाओंमें धर्मघट आदि राजनैतिक विषयोंकी समालोचना सर्व-साधारणकी दृष्टिमें अपाततः अनुचित समझी जा सकती है। परन्तु बात ऐसी नहीं। यदि मनुष्य अपने समस्त प्रकारके प्रयत्नोंको परमधर्मरूप सत्यानुशीलनके अनुकूल कर ले, तो वह शीघ्र ही पूर्ण संसिद्धिको प्राप्त करनेका अधिकारी हो सकता है। अतएव लौकिक-जीवन धर्म-जीवनके अधीन होनेपर ही अधिकतर कल्याण हो सकता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

धर्मका अर्थ किसी व्यक्ति–विशेष या समाज–विशेषके अन्धविश्वासमात्रसे नहीं है। श्रीमद्भागवतमें 'सत्यं परं धीमहि' वाक्य द्वारा परम सत्य अथवा वास्तव वस्तु या अद्वितीय ज्ञानको ही धर्मका तात्पर्य निरूपित किया गया है। परन्तु यह चेतन या व्यक्तिलक्षणसे युक्त है। धर्म क्या है?—सब प्रकारकी छलनाओं (स्वार्थ आदि) से रहित निर्मल और पूर्णज्ञान द्वारा प्रेरित कर्त्तव्य ही धर्म है। धर्मके वैज्ञानिक स्वरूप–विचारसे भ्रष्ट होनेपर ही धर्म एक अनावश्यक अथवा विकल–आवश्यक (कभी आवश्यक कभी अनावश्यक) व्यापार प्रतीत होता है। वैसी दशामें जीवनके एकमात्र मङ्गलदायक कर्त्तव्य—धर्मको एक गौण अथवा आंशिक प्रयोजन ही नहीं, अधिकन्तु उसे विलासिताका प्रसाधन और कोरी भावुकता भी माना जाने लगता है। वर्त्तमान भारत–सरकारके प्रधान–प्रधान कर्णधारवृन्द धर्मको इसी दृष्टिसे देखते हैं। इस भूलकी एक गुरुतर प्रतिक्रिया है—यह बात हमारे राष्ट्रनायकोंके उर्वर मस्तिष्कमें घुसती नहीं है। परस्पर विवदमान धर्मोंकी स्थूल–मूर्ति दर्शन कर वे अधिकतर भ्रान्त होकर धर्मके विषयमें निरपेक्ष रहना ही बुद्धिमत्ता समझते हैं। किन्तु दूसरी तरफ राजनैतिक अथवा समाजनैतिक समस्याएँ जितनी भी विभ्रान्तिकर और परस्पर विवदमान क्यों न हों, उनके प्रति निरपेक्षता प्रदर्शन करनेका कोई उपाय नहीं होता। अतएव यह केवल समझनेकी भूल है। जीवनमें संघर्ष अवश्यंभावी है—वह संघर्ष चाहे व्यक्तिगतरूपमें हो अथवा समष्टिगतरूपमें हो, चाहे वह तुच्छ भोगोंके लिए हो अथवा किसी महान् उद्देश्यके पालनके निमित्त ही क्यों न हो। तब केवल धर्मके प्रति ही यह निरपेक्षता क्यों?

वर्तमान प्रजातंत्र (डिमोक्रेसी) का स्वरूप इस प्रकार बतलाया जाता है—Government of the people, for the people and by the people. किन्तु यह विचार कहाँ तक संगत है—विचार करनेकी बात है। यदि हम ऐसा कहें—Education of the student, for the student and by the student. अथवा Treatment of the patient, for the patient and by the patient. तब कैसा रहेगा? ऐसी दशामें Expert या विशेषज्ञोंके ज्ञानका मूल्य ही क्या रहा? Mass is always ignorant अर्थात् समुदाय सर्वदा अविद्यारोगग्रस्त एवं अज्ञ होता है। इस तथ्यको भूलकर कार्य–क्षेत्रमें प्रवेश करनेसे उसका प्रतिफल अवश्य भोगना ही पड़ेगा।

'राजा प्रकृति रञ्जनात्' इत्यादि विचार और प्रजाके मनस्तुष्टिके आदर्श सम्राट श्रीरामचन्द्र द्वारा निरपराधिनी सम्राज्ञी श्रीसीतादेवीके निर्वासनका तात्पर्य प्रजाकी अज्ञताका समर्थन करना नहीं है श्रीरामचन्द्रजीने तो एक तरफ जहाँ अपनी प्राणप्रिया सहधर्मिणीको निर्वासित कर व्यक्तिगत रूपमें दुःखको वरण किया, दूसरी तरफ शूद्र (शोच्य व्यक्ति) के अनधिकार तपरूप आचरणके लिये उसे दण्ड भी तो दिया है। यहीं नहीं वे आर्यविधियोंके अनुसार भ्रातृबधूको अपहरण करनेवाले बालिका बध कर उसके अपराधका समुचित दण्ड देकर राजवंशोचित अधिकारका प्रयोग करनेमें भी तो कुंठित नहीं हुए। उच्छृंखलताकी पृष्ठपोषक मनोवृत्तिवाले हम लोग श्रीरामचन्द्रकी नैतिकताकी मापतौल करनेमें असमर्थ होनेके कारण नाना प्रकारकी जल्पना–कल्पना कर उनके लोकोत्तर चरित्र पर संदेह करते हैं। यह हमारी अज्ञताका ही परिचय है।

आर्य–भारतमें Government of the people, for the people किन्तु not by the people परन्तु by the departmental experts था।

इस विधान (आईन) के निर्माता मनु, याज्ञवल्क्य आदि महर्षिवर्ग थे तथा राजा लोग इसका उपयोग प्रजाके हेतु करते थे—केवल प्रजाके कल्याणके लिये ही। यही थी भारतकी प्राचीन

शासन-व्यवस्था। काम क्रोध आदि शत्रुओंके पंजोंसे स्वाधीनता प्राप्त करना ही यहाँ का मुख्य ध्येय (प्रयोजन) होता था। लोगोंका प्रधान युद्ध तो माया या Misunderstanding के विरूद्ध चलता था। सत्योपलब्धि ही जीवनका चरम लक्ष्य था। आजकल देशके लिये प्राण उत्सर्ग करना जैसे अविवेचनाकी बात नहीं, ठीक उसी प्रकार सत्यके लिये अथवा धर्मके लिये प्राण देना भी अत्यन्त सुविवेचनाकी बात हो सकती है। उच्छृंखल प्रजातंत्रकी दुर्गति अनिवार्य है। आज प्रतियोगिताके युगमें जबकि दूसरे दूसरे देश परस्पर प्रतियोगिता पूर्वक कठिन परिश्रम द्वारा स्वदेशकी उन्नतिका प्रयत्न कर रहे हैं, नव स्वन्तत्रताप्राप्त भारतवासी परिश्रम करनेके बदले धर्मघटकी हुमकी द्वारा वेतन और भत्तादि बढ़ानेको बाध्य करनेसे पतन अनिवार्य है। थोड़ा लाभ अधिक उत्पादनकी नीति अपनायी नहीं जानेसे प्रतियोगितामूलक विश्वमें देशके उत्थानकी संभावना कहाँ? धर्मघट-प्रिय भाइयोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि जरा सोच समझकर कोई कदम उठाया जाय।

[श्रीगोड़ीय-दर्शन (बंगला मासिक पत्र) के संपादकीयसे अनूदित]

# कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्डके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

सेवामें, सम्पादकजी,

पतित-पावन श्रीवैष्णव चरणोंमें असंख्य दण्डवतपूर्वक निवेदन है कि मुझ पतित पर कृपा कर नीचे लिखे संदेहों पर ध्यान देंगे तथा इनका यथार्थ उत्तर (शास्त्र-युक्ति और प्रमाणके साथ) प्रदानकर कृतार्थ करेंगे—

(१) कर्मकाण्ड क्या है? ज्ञानकाण्ड क्या है? और भक्तिकाण्ड क्या है? इन तीनोंका परस्पर क्या मेल है और क्या भेद है? इनमेंसे प्रत्येकका अलग-अलग क्या फल होता है?

(२) स्मार्त नामक दलका क्या सिद्धान्त है? स्मार्त, ब्राह्मण तथा वैष्णवोंमें क्या अन्तर है?

(३) कर्मी, ज्ञानी और भक्तसे स्मार्त्तदलका क्या भेद है?

श्रीगुरु-वैष्णव कृपालेश प्रार्थी—
परमेश्वर प्रसाद 'प्रबोध'

**उत्तर—**

कृष्ण प्रेमकी प्राप्ति ही जीवका परम प्रयोजन हैं। वेदादि समस्त शास्त्रोंका मूल तात्पर्य इसीका अनुसंधान प्रदान करना है। मायाबद्ध जीव जिस लम्बे साधन-पथको अतिक्रम कर कृष्ण प्रेमको प्राप्त करता है, उसे साधारणतः तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। इन विभागोंको कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासना या भक्ति-काण्ड कहा जाता है। वेद, उपनिषद् और स्मृति आदि शास्त्रोंमें इनका विस्तृत विवेचन है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

*योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।*
*ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।*
*निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।*
*तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।*
*यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।*
*न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।*

(श्रीमद्भा. ११.२०.६-८)

अर्थात् मनुष्योंके कल्याणके लिये वेदादि शास्त्रोंमें अधिकार भेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश है—कर्म, ज्ञान और भक्ति। सकाम कर्म–फलमें आसक्त व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं। जो लोग कर्मको तथा कर्मफलको नश्वर और दुःखप्रद जानकर उनसे विरक्त हो गए हैं, उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञान योगके अधिकारी हैं। तथा जो न तो अत्यन्त आसक्त हैं और न तो अत्यन्त विरक्त हैं, जो प्रत्येक वस्तुको भगवत्सेवाका उपकरण जानते हैं, भगवत्–कथाओंके श्रवण और कीर्त्तनमें जिनकी रुचि उत्पन्न हो गयी है, वे भक्तिके अधिकारी हैं।

यों तो कर्म, ज्ञान, और भक्तियोगकी बाह्य क्रियाओंमें कुछ विशेष भेद नहीं है, परन्तु भेद उन क्रियाओंके उद्देश्यमें होता है। जैसा उद्देश्य होगा, फल भी वैसा ही होगा। जैसे—एकादशी, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि व्रतपालन, भगवत्पूजन, संध्या–आह्निक, जीविकानिर्वाहके लिये संग्रह या उपार्जन आदि क्रियाएँ तीनोंमें हैं। परन्तु इन तीनों योगोंमें इन क्रियाओंके उद्देश्य भिन्न–भिन्न प्रकारके होते हैं। कर्मी इन्हें लौकिक अथवा पारलौकिक भोगके लिये करता है; ज्ञानी मोक्षके लिये करता है तथा भक्त भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे करता है। लौकिक और पारलौकिक (स्वर्गीय) भोगकी कामनासे किये जानेवाले कर्मोंको कर्म कहते हैं। मोक्षके उदेश्यसे किये जानेवाले कर्मोंको ज्ञान कहते हैं। तथा भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्मोंको भक्ति कहते हैं। नीचे इनका पृथक्–पृथक् कुछ विवेचन किया जाता है।

### *कर्मकाण्ड*

वेदोंके अतिरिक्त मनु, भृगु, पराशर, याज्ञवल्क्य आदि प्राचीन ऋषियोंने साधारण लोगोंके कल्याणके लिये वर्णव्यवस्थाकी विधि, साधारण धर्म, आचार–व्यवस्था, शासन–नीति, सामाजिक आचार–व्यवहार आदिका विधान अपने–अपने विचारोंके अनुसार निर्दिष्ट किया है। उनके विधानोंके संग्रहको स्मृति या संहिता कहते हैं। जो लोग इन स्मृतियोंका अनुसरण करते हैं उन्हें स्मार्त्त कहते हैं। स्मार्त्त दो प्रकारके होते हैं—अर्थी (भोग और मोक्षकामी) और परमार्थी (भक्त)। शास्त्रोंका तात्पर्य जीवको कर्मफलों और भोगोंमें आबद्ध करना नहीं है, बल्कि उन्हें आगे बढ़ाकर निष्काम कर्म, निर्मल ज्ञान और अन्तमें भगवद्भक्तिकी ओर अग्रसर करना है। भगवदर्पित कर्मोंसे चित्तशुद्धि, उससे निर्मल भगवत् ज्ञान और उससे परा–भक्तिका उदय होता है। ऐसी पराभक्ति ही कृष्ण–प्रेमरूप चरम प्रयोजनकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है। जो लोग इस रहस्यको न जानकर कर्मफलों अथवा लौकिक और परलौकिक भोगोंमें आबद्ध रहते हैं, उन्हें कर्मी या कर्मकाण्डी कहते हैं। ऐसे कर्मके विवेचनको कर्मकाण्ड कहते हैं।

जिन कर्मोंका उद्देश्य निर्मल ज्ञान अथवा भक्ति नहीं होता, वे दुःखजनक और बन्धनका करण होते हैं। भगवान्ने गीतामें इसे स्पष्ट कर दिया है—

*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।*

(गीता ३.९)

अर्थात् कृष्णप्रीत्यर्थ निष्काम–कर्मको यज्ञ कहते हैं। इसी यज्ञके उदेश्यसे कर्म किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके समस्त कर्म संसार–बधनके कारण हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी—

*नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।*
*न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः।।*

(श्रीमद्भा. ३.२३.५३)

अर्थात् जिस पुरुषके कर्म धर्म, अर्थ, काम—त्रैवर्गिकधर्मके उद्देश्यसे अनुष्ठित नहीं होते, जिनका वही धर्म निष्कामता प्राप्त कर कृष्णेतर विषयोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न नहीं करता और

जिनका वह वैराग्य भगवत्सेवामें पर्यवसित नहीं होता, वह जीवित रह कर भी मृतकके समान है, उसका जीवन धारण करना व्यर्थ है।

पुनः (१.५.१२) में—

*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं*
*न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।*
*कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे*
*न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।।*

अर्थात् कर्मशून्य ब्रह्मज्ञान, जो उपाधि निवारक अर्थात् मुक्तिका कारण है तथा नैष्कर्म्य भगवद्-भक्तिसे रहित हों तो उनकी कोई शोभा नहीं है, फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही अवस्थाओं में दुःखरूप और अमङ्गलजनक है, वह काम्य कर्म और अकाम्यकर्म जो भगवान्को अर्पण नहीं किया गया है, कैसे शोभा पा सकता है?

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है—

*कर्मनिन्दा, कर्मत्याग, सर्वशास्त्रे कहे।*
*कर्म हइते प्रेमभक्ति कृष्णे कभु नहे।।*
(मध्य ९.२६३)

अस्तु कर्मका आचरण तभी तक करना चाहिए, जब तक कर्ममें रुचि है। किन्तु कर्म और उसके फलको दुःखमय और संसार-बन्धनका कारण जानकर उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने अथवा भगवत्कथाके श्रवण और कीर्त्तनमें श्रद्धा उत्पन्न होनेपर तत्क्षण कर्मका परित्याग कर देना चाहिए—

*तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।*
*मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।*
(श्रीमद्भा. ११.२०.९)

प्रश्न हो सकता है, कर्मका त्याग कैसे हो? शरीर रहते-तहते कर्मका स्थूल परित्याग संभव नहीं है। जबतक शरीर है, तबतक शरीर-निर्वाहक कर्म तो करने ही पड़ेंगे। तब इसका उपाय यह है कि अपनेमें से कर्त्तापनका अहंकार दूर कर जो कुछ करे उसे भगवान्को अर्पण करता रहे। ऐसा करते-करते जो कुछ भी करे उसे भगवत्-प्रीतिके उद्देश्यसे करे। ऐसा करनेसे प्रत्येक कर्मका कर्मांश नष्ट होकर भक्तिके रूपमें पर्यवसित हो जायेगा। गीताकी यही शिक्षा है—

*यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।*
*यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुस्व मदर्पणम्।।*
(गीता ९.२७)

इसके पश्चात् चरम शिक्षा यह है—

*'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'*
(गीता १८.६६)

### *ज्ञान काण्ड*

साधारणतः ज्ञानको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्राकृतज्ञान, ब्रह्मज्ञान और भगवत्तत्त्वज्ञान। प्राकृतज्ञान अर्थात् भौतिकज्ञान अनित्य, परिवर्त्तनशील और नश्वर होनेके कारण अज्ञानकी कोटिमें आ जाता है। भगवत् तत्त्व-ज्ञानको भक्ति ही कहते हैं। अतः बचा हुआ केवल ब्रह्मज्ञान ही ज्ञान कहलाता है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान भगवत्तत्त्वज्ञानका विकृत और आंशिक प्रतिफलन मात्र है। ब्रह्मज्ञानके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मके अतिरिक्त पदार्थ नहीं है; जो कुछ प्रतीत होता है, वह व्यवहारिक अथवा मिथ्या है। (२) जीव कोई द्वितीय पदार्थ नहीं है। अविद्या-ग्रस्त ब्रह्मको ही जीव कहते हैं अथवा जीव ब्रह्मका ही विकार या विवर्त्त है। जीव-अभिमान अर्थात् अविद्या दूर होने पर वही ब्रह्म है। (३) जगत् मिथ्या है। (४) ब्रह्म निर्गुण या निःशक्तिक है। (५) मुक्ति ही चरम प्रयोजन है।

ब्रह्म-ज्ञानके साधकको ज्ञानी अथवा ज्ञानकाण्डी कहते हैं। भक्तिरहित ज्ञान नितान्त हेय होता है। ऐसे निर्विशेष ज्ञानका चरम लक्ष्य मुक्ति है। 'मुक्ति' शब्द अभाववाचक है। दुःखसे परित्राण अथवा

बन्धनसे छुटकारेका नाम 'मुक्ति' है। परन्तु 'भक्ति' शब्द भाववाचक है। इससे भावपदार्थ भगवत् सेवानन्द–रसके आस्वादनका बोध होता है। जैसे रोगसे मुक्ति और स्वास्थ्यसुखलाभ दोनों पृथक बातें हैं। स्वास्थ्य–सुख ही काम्य है, स्वास्थ्य–सुखकी प्राप्तिमें रोगकी निवृत्ति अनुस्यूत है। उसी प्रकार भक्ति द्वारा जिस कृष्ण–प्रेमकी प्राप्ति होती है, उसमें जड़–मुक्ति भी अनुस्यूत रहती है—

*अग्रे हय मुक्ति तबे सर्व बन्ध नाश।*
*तबे से हइते पारे श्रीकृष्णेर दास।।*

(चैतन्यचरितामृत)

भगवद् भक्तोंके चरणोंमें मुक्ति लोटती रहती है परन्तु भक्त उसकी तरफ आँख उठा करके भी नहीं देखता।

प्रत्येक शास्त्रोंमें भक्तिरहित निर्विशेष ज्ञानको अत्यन्त तुच्छ बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत्का तो स्पष्ट ही कथन है—

***नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव वर्जितं***
***न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।***

अर्थात् भगवद्भावरहित–ज्ञान उपाधि–निवारक होने पर भी उपेक्षणीय है।

दूसरी जगह (१०.१४.४) भी

***श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो***
***क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।***
***तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते***
***नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।।***

अर्थात् हे विभो! चरम कल्याण–स्वरूप आपको प्राप्त करनेके लिये भक्ति ही एकमात्र उपाय है। आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्त्रोत–उद्गम है। भक्ति उत्पन्न होने पर ज्ञानका आनुषंगिक रूपमें स्वतः प्रादुर्भाव होता है। उसके लिये पृथक परिश्रम अथवा साधनकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जो लोग भक्तिका परित्यागकर केवल ज्ञान प्राप्तिके लिये परिश्रम करते हैं वे दुःख भोग करते हैं, उनको बस दुःख–ही–दुःख हाथ लगता है और कुछ नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे थोथी भूसी कूटनेवालोंको केवल परिश्रम ही सार होता है, चावल नहीं।

***अस्तु, 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य'*** (भागवत १०.१४.६)

श्लोक द्वारा ज्ञान रूप प्रयासको परित्याग करनेका उपदेश दिया गया है। किन्तु भगवद्भक्तिको लक्ष्य करने वाला तत्त्व–ज्ञान कदापि उपेक्षणीय नहीं है। क्योंकि भक्ति उद्देशक ज्ञान भक्तिका पोषक होंता है। गीतामें ऐसे ज्ञानको परा भक्तिका प्रकाशक बतलाया गया है—

***ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।***
***समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।***

(गीता. १८.२४)

अतः जीव–स्वरूपविरोधी निर्विशेष–ज्ञान भगवद्भावरहित और भक्ति–प्रतिकूल होनेके कारण सर्वथा उपेक्षणीय है—शास्त्रोंका यही अभिमत है।

***भक्तिकाण्ड***

***श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधि***
***यथा मानुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।***
***पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा***
***अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर! भवानेव शरणम्।।***

—माता श्रुतिसे जिज्ञासा करने पर उन्होंने तुम्हारी आराधना करनेके लिये उपदेश दिया। माता श्रुतिने जो उपदेश दिये, बहिन स्मृतिने भी वही बतलाया। पुराण और इतिहास आदि भातृवर्ग भी उन्हींके अनुगामी हैं, अर्थात् उन्होंने भी तुम्हारी आराधनाकी ही बात बतलायी है। अतएव हे मुरारि! एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, यह मैंने ठीक ठीक जान लिया है।

तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम उपास्य तत्त्व हैं और उन्हें प्राप्त करनेके लिये भक्ति ही एक मात्र अभिधेय है—यह वेद, उपनिषद्, पुराण और स्मृति आदि समस्त शास्त्रोंका ही अभिमत

है। जिज्ञासा हो सकती है कि भक्ति किसे कहते हैं? महर्षि शाण्डिल्यने 'परानुरक्तिरीश्वरे'—'ईश्वरके प्रति ऐकांतिक अनुराग' को भक्ति बतलाया है। शास्त्रोंमें भक्तिके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

*(१)सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।*
*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।।*

(नारद पंचरात्र)

(अप्राकृत) इन्द्रियोंके द्वारा (अप्राकृत) इन्द्रियाधिपति श्रीकृष्णकी सेवाका नाम ही भक्ति है। यह भक्ति स्थूल और सूक्ष्म दैहिक-मानसिक दोनों प्रकारके औपाधिक धर्मोंसे सर्वथा मुक्त, कृष्णार्थ अखिलचेष्टायुक्त तथा निर्मल अर्थात् ज्ञान और कर्म रूप मलोंसे रहित होती है।)

*(२)मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।*
*लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।*
*अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।*

(श्रीमद्भा. ३.२९.११-१२)

(जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अबाध गतिसे समुद्रकी ओर होता है, उसी प्रकार तैलधारावत् अविच्छिन्न रूपसे मनका मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति होना तथा मुझ पुरुषोत्तममें कामनारहित और अनन्य प्रेमका होना निर्गुण भक्ति योगका लक्षण कहा गया है।)

*(३)अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*
*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।*

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

(कृष्णसेवाके अतिरिक्त दूसरी कामनाओंसे रहित, कर्म, योग ज्ञानादिसे सर्वथा निर्मुक्त केवल कृष्णकी प्रीतिके लिये कृष्णका अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है।)

*(४)*अन्यवांछा अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान-कर्म।
*आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन।।*
*एइ शुद्धभक्ति, इहा हैते प्रेमा हय।*
*पांचरत्रे भागवते एइ लक्षण कय।।*

(श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ४)

भगवद्भक्तिमें जीव मात्रका अधिकार है। भक्ति सर्वप्रथम जीव हृदयमें श्रद्धाके रूपमें आविर्भूत होती है और साधु-संगमें श्रवण-कीर्त्तनके प्रभावसे क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, और प्रेमका आकार धारण करती है। वही प्रेम पुनः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव तकका रूप धारण करता है। महाभावका प्राकट्य केवल श्रीमती राधारानीमें ही है। भक्तिकी सीमा गोपी-प्रेम है, जिसमें महाभाव-स्वरूपिणी श्रीमती राधिका चरम अवधि हैं।

भक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। भक्ति जहाँ साधन है, वहाँ साध्य भी है। सिद्धावस्थामें साधनकालवाली भक्ति ही मार्जित होकर कृष्ण-प्रेमके रूपमें उदित होती है। यही कृष्ण-प्रेम जीवका नित्यसिद्ध भाव—स्वरूपगत धर्म है। अग्निमें दाहिका शक्ति और फूलोंमें सुगन्धके समान आत्माके साथ कृष्ण-प्रेमका नित्य सम्बन्ध है। बद्धावस्थामें यही विकृत होकर जड़ानन्द जड़मुक्तावस्थामें ब्रह्मानन्दके रूपमें प्रतिबिम्बित होता है। यह किसी भी अवस्थामें नष्ट नहीं होता, आवृत हो सकता है। जैसे धूल द्वारा दर्पण आच्छादित होनेपर दर्पणकी प्रतिबिम्ब-शक्ति नष्ट नहीं होती, धूल पोंछ देने पर ज्यों का त्यों हो जाता है। अतः साधनका तात्पर्य उन आच्छादनोंको दूर करना है, जो जीवात्माको आच्छादित किये हुए हैं। माया अर्थात् कृष्ण-विमुखता ही वह आच्छादन है। यह आच्छादन दूर होते ही कृष्णप्रेम प्रकाशित हो पड़ता है। कृष्णप्रेम ही चरम प्रयोजन है। इस प्रेमके अभावमें भगवत् साक्षात्कारका कोई मूल्य नहीं। भगवत्साक्षत्कार रावण और कंसने भी किये थे और गोपियोंने भी। रावण आदिका भगवत्साक्षात्कार प्रीतिके अभावमें भक्ति नहीं कहा जा सकता। किन्तु

कृष्णके मथुरा या द्वारका चले जानेपर भी गोपियोंका प्रीतियुक्त विप्रलंभ भाव भक्तिका चरम निदर्शन है।

शास्त्रोंमें भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया गया है—

*न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।*
*न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।।*
*भक्त्याहमेकया ग्राह्य.....।*

(श्रीमद्भा. ११.१४.२०-२१)

*'भक्तिर्हि स्वतः प्रबलत्वात् अन्य निरपेक्षा।'*

इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्रमें भक्तिका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित है। शास्त्रोंके भक्ति विवेचन भागको भक्तिकाण्ड कहा जा सकता है। भक्तिके विचारोंके अनुसार उसके आचरणकारीको भक्त अथवा भक्तिकाण्डी कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह निकलता है कि—

(१) लौकिक अथवा पारलौकिक सुख-भोगके उद्देश्यसे की जानेवाली क्रियाओंको कर्म कहते हैं। मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंने स्मृतियों और संहिताओंमें कर्मका जो विवेचन किया है, उसे कर्म-कांड कहते हैं।

(२) स्मृत्तिमें निर्दिष्ट कर्मोंको भोगके उद्देश्यसे करने वालोंको स्मार्त कहते हैं।

(३) कर्म और कर्मफलको दुःखप्रद जानकर कृष्ण-प्रेमसे अपरिचित जो लोग मुक्तिके लिये प्रयास करते हैं, उन्हें ज्ञानी कहते हैं और उनकी क्रियाओंके विवेचनको ज्ञानकाण्ड कहते हैं।

(४) निखिल वासनाओंको त्यागपूर्वक कर्म और ज्ञानसे सम्पूर्ण निरपेक्ष कृष्ण-प्रीत्यर्थ कृष्ण-सेवाको भक्ति कहते हैं। शास्त्रोंके भक्ति-तत्त्व-विवेचनको भक्तिकाण्ड और भक्ति आचरणकारीको भक्त कहते हैं। भक्तोंको वैष्णव या भागवत भी कहा जाता है।

(५) कर्मका फल—भोग है, ज्ञानका—मोक्ष और भक्तिका—कृष्ण-प्रेम-आस्वादन।

भोग—नश्वर, दुःखप्रद और संसार बंधनका कारण है।

मोक्ष—जीव-स्वरूपका विरोधी, अभाव-वाचक अर्थात् आनन्दरहित शब्द मात्र है।

कृष्ण-प्रेम—जीवात्माका स्वरूपगत—स्वाभाविक धर्म है; जैसे पुष्पमें सुगन्ध, अग्निमें दाहकता।

(६) ब्राह्मणता किसीकी बपौती नहीं, गुण और कर्मसे सिद्ध होती है। जो ब्रह्मण्य देवकी उपासना करते हैं—ब्रह्म-वस्तुको ज्ञात हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। ऐसे ब्राह्मण और वैष्णव एक ही पर्यायभुक्त हैं। परंतु स्मार्त्त ब्राह्मण और वैष्णवमें आकाश-पातालका भेद है। उनकी क्रियाओंमें भी प्रचुर अन्तर लक्ष्य किया जाता है। स्मार्त्तोंकी क्रियाएँ भक्ति-रहित होती हैं; भोग ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। वैष्णवोंकी प्रत्येक क्रियाका उद्देश्य भगवत्प्रीति होता है। वैष्णवमें ब्राह्मणता अनुस्यूत होती है। अतः प्रत्येक वैष्णव ब्राह्मण है। भक्तिरहित ब्राह्मण शूद्रसे भी अधम है और शूद्रकुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी भगवद्भक्तिसे युक्त होनेपर ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ, पूज्य और भगवान्का प्रिय होता है। भगवान्का कथन है—

*न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः*
*तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्।।*

❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा० सत्यपाल गोयल

*क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता*
*आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।*
*आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले*
*इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जनः।।*
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

भजनशील या भजनावेशी साधकका हृदय इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें व्रजेन्द्रनंदन श्रीकृष्णको सपरिकर बैठ जाना पड़ता है। उक्त श्लोकमें श्रील रूपगोस्वामीपादने साधकके अनुभाव लक्षणोंको दर्शाया है। साधकके कार्य एवं व्यवहारमें उक्त सभी लक्षण दिखलायी पड़ते हैं।

### *'क्षान्ति'*

भजनशील साधकका हृदय क्षोभ रहित होता है। उसमें सहनशीलता होती है। प्रारब्धके अधीन कहो या संसारकी धक्कम पेल कहो—वह इतना सहनशील हो जाता है अथवा उसे सहनशील हो जाना चाहिए कि संसारके समस्त दुःख या प्रतिकूल परिस्थितियाँ व्याकुल न कर सके। धैर्य और सहनशीलता उसे भजनमें अग्रसर करती है। संसारमें प्राणीमात्र ही दुःखी है। अतएव सांसारिक दुःखोंके सामाने घुटने नहीं टेक देने चाहिए, अपितु उनकी चिंता किये बिना अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ते रहना चाहिए।

अशांति हृदयमें तभी उत्पन्न होती है जब हम उन भौतिक आकांक्षाओंसे जुड़े हों तथा उनकी प्राप्तिमें अड़चन उत्पन्न हो रही हो। अशांत होनेसे रक्तचाप बढ़ जाता है तथा मन भजनसे उदासीन होकर चंचल हो सकता है। जिन्हें कृष्ण प्रेम अभिप्रेत है उन्हें संसारके सुखोंकी गति को मोड़ना ही पड़ेगा। जिस स्वच्छ आसन (हृदय) पर प्रियतमको बिठाना है, उस पर विषयोंकी कीचड़ नहीं लगने देना चाहिए। अतएव साधकको प्रत्येक परिस्थितिमें उद्विग्न न होकर क्षांति अर्थात् सहनशीलताका आश्रय लेना चाहिए—यह साधकका विशेष गुण है। महाप्रभुजीने भी अपने शिक्षाष्टकमें सहिष्णु रहनेका उपदेश किया है।

श्रील रूप गोस्वामीजी कहते हैं कि ***क्षोभ हेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता*** अर्थात् क्षोभका कारण उपस्थित होने पर भी हृदयमें क्षोभ उत्पन्न न होना ही क्षान्ति है। महाराजा परीक्षितको ऋषिशाप मिलनेके पश्चात् भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। यथा—

***तं मोपयतं प्रतियन्तु विप्राः गंगा च देवी धृतचित्तमीशे।***
***द्विजोपसृष्टः कुहुकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः।।***
(श्रीमद्भा. १/१९/१५)

अर्थात् हे विप्रगण! मैने अपने हृदयमें श्रीकृष्ण भगवानको बिठा लिया तथा मैं आप लोगोंकी शरण हूँ। आप और गंगाजी मुझे शरण प्रदान करें। ऋषि शापसे प्रेरित तक्षक निश्चित ही मुझे काट ले मेरे हृदयमें इसका थोड़ा-सा भी क्षोभ नहीं है। अतः आप लोग मुझे भगवान कृष्णकी पवित्र लीलाओंका श्रवण करायें।

इस प्रकार जिसने कृष्ण प्रेम पानेके लिये भजन करनेका दृढ़ संकल्प ले लिया उसे किसी भी प्रकारकी विपत्तिमें क्षोभका आश्रय नहीं लेना चाहिए।

### *अव्यर्थकालत्व*

जीवनका कुछ निश्चित नहीं है। कुछ लोग

इस धारणासे ग्रस्त हैं कि बचपन या युवावस्थामें भजन करके क्या करेंगे? भजन तो वृद्धावस्थाका विषय है। किन्तु मृत्युका समय अनिश्चित रहनेसे समयको निरर्थक नष्ट नहीं करना चाहिए। त्यागियोंको तो प्रत्येक क्षण ही भजनमें लगाना चाहिए किन्तु गृही भक्तोंको भी लोक व्यवहार एवं शरीर रक्षणके लिये कम–से–कम समय जीविकाका साधन जुटानेमें लगाना चाहिए। अव्यर्थकालत्वके संबंधमें कुछ इस प्रकार दिशा निर्देश दिये है—

***वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽत्यनिशं न तृप्ताः***
***भक्ताः स्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरीरेव समर्पयन्तिः***

(श्रीहरिभक्तिसुधोदय)

अर्थात् साधकको चाहिए कि मनके द्वारा निरंतर भगवान कृष्णके नाम, रूप, लीला, गुणका स्मरण, चिंतन एवं मनन तथा वाणी द्वारा उनका स्तवन करना चाहिए।

उक्त श्लोकसे स्पष्ट होता है कि साधकोंको अपने मन, प्राण और शरीरके द्वारा बिना समय व्यर्थ किये निरंतर भजन करना चाहिए। यदि हम संसारके ही विषय चिंतन या संग्रह–परिग्रहमें तत्पर रहेंगे तो साधन भजन छूट जायेगा। संसार बंधन और दृढ़ हो जायेगा।

## *विरक्ति*

श्रीभक्तिरसामृतसिंधुमें श्रील रूप गोस्वामीपादने विरक्तिके संबंधमें लिखा है कि ***''विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्याद रोचकता स्वयं''*** अर्थात् साधकका इन्द्रियोंके विषय शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शके प्रति अरुचि हो जाना ही विरक्ति है।

***यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।***
***जहौ युवैव मलवदुत्तमःश्लोकलालसः।।***

(श्रीमद्भा. ५/१४/४३)

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शके प्रति तथा मुक्ति और अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंके प्रति जब साधकके मन और हृदयमें अरुचि हो जाये तो उसे विरक्त कहते हैं।

ये सिद्धियाँ आत्म प्रशंसाके अलावा और कुछ नहीं देती हैं। साधनाके समयमें इन सिद्धियोंसे संबन्धित शक्तियाँ साधकके मनको विचलित करती हैं। किन्तु दृढ़निष्ठ साधक उस ओर भ्रूपात भी नहीं करते हैं, क्योंकि एकबार इन सिद्धियोंका चस्का लग जाने पर साधक मूल पथसे भटक जाता है और कुछ समय बाद ये सिद्धियाँ भी स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

श्रीमद्भागवतके इस श्लोक (५/१४/४३ में श्रीशुकदेवजी भरतजीकी विरक्तिका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि उन्होंने श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्त करनेकी तीव्र उत्कण्ठामें अपने प्रियजन, राज्य एवं सभी विषयोंको मलमूत्रकी तरह त्याग दिया। इस प्रकारकी विरक्ति ही सही अर्थोंमें श्रीकृष्णका प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ है। यदि हम एक हाथसे श्रीकृष्ण चरणोंको पकड़े रहे तथा दूसरे हाथसे स्त्री, पुत्र, स्वजन, धन–सम्पत्तिको भी पकड़े रहे तो श्रीकृष्ण चरणोंको पकड़ना कपटपूर्ण ही होगा। वे सम्पूर्ण समर्पण चाहते हैं। लोक व्यवहारमें भी कपटपूर्ण प्रेमकी गाड़ी ज्यादा दूर तक नहीं खिंचती है। तब संसारके मोहसे जुड़े रहकर कृष्ण प्रेम प्राप्तिकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।

विरक्ति होने पर मन एकाग्र होने लगता है तथा लक्ष्य प्राप्तिका आवेश बढ़ जाता है। प्रतिपल प्रेमीका चिंतन और स्मरण करते हुए उसकी छविको निहारनेके लिये उत्कण्ठित रहने लगता है। इसलिए साधकको समस्त ऐन्द्रिक विषयोंके प्रति विरक्त रहकर श्रीकृष्ण नाम, रूप, गुण, लीला और धामके साथ अपने हृदयको जोड़ना चाहिए। भक्तियोगका अर्थ है—भगवानसे अपनेको जोड़ना।

### *मानशून्यता*

*उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता*

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

श्रील रूपगोस्वामीपाद भक्तिमार्गमें मानशून्यताके संबन्धमें कहते हैं कि स्वयंके उत्कृष्ट होने पर भी अपनेको तुच्छ समझ दीन-हीन तथा भावरहित एवं साधनामें कमजोर समझना ही मानशून्यता है। भजनबलका अहंकार साधकके समस्त भक्ति भावको समूल उखाड़ फेंकता है। अहंकारका बीज हृदयमें उत्पन्न नहीं होने देनेके लिये साधकको सदैव अपनेको तुच्छ मानना चाहिए तथा वैष्णव, गुरूजनोंके सामने तथा लौकिक व्यवहारमें भी कभी अहंभाव नहीं रखना चाहिए। महाप्रभु चैतन्यदेवजीने भी 'अमानिना मानदेन' की शिक्षा प्रदान की है।

*हरौ रतिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः।*
*भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते।।*

(श्रीमहापुराण)

अर्थात् समस्त महाराजाओंके शिरोमणि होने पर भी महाराजा भगीरथ श्रीकृष्ण चरणोंमें अनुरक्त थे। वे शत्रुओंकी भिक्षा भी ग्रहण करते तथा हीन जातियोंके लोगोंको भी प्रणाम करते थे।

महाराजा भगीरथका भक्ति भाव और लोक व्यवहार दोनों ही साधकोंके लिए अनुसरणीय हैं। सारा संसार प्रभुका है उन्हींके अंशसे निर्मित है और साधक स्वयं भी उन्हींका अंशभूत है तब किसको शत्रु और किसको नीच समझना। संसारमें व्याप्त अपने प्राण प्रियतम कृष्णकी भावनाकर सदैव दूसरोंको सम्मान देते हुए अपनेको सदैव कृष्ण भजनमें कंगाल समझना चाहिए। जो साधक भजनमें अपनेको कंगाल समझकर निरंतर भजन बलरूपी धनको प्राप्त करनेके लिये भजनावेशमें रहते हैं, उनको कृष्ण प्रेमकी प्राप्ति श्रीकृष्ण कृपासे शीघ्र होती है, इसमें संशय नहीं है। आवश्यकता मात्र श्रीरूपानुग भजन पद्धतिसे अपना भजन पथ एवं रीति नीति अपनानेकी है।

### *आशाबन्ध*

*आशाबन्धो भगवत्प्राप्तिसम्भावनादृढ़ा*

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

यदि साधकके मनमें यह आशा बंधी रहे कि श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अवश्य प्राप्त होगा, तो प्राप्तिकी संभावना दृढ़ हो जाती है। ऐसी संभावनाका नाम ही आशाबन्ध है।

श्रील रूपगोस्वामीपादने अपने ज्येष्ठ सहोदरके आशाबंध सम्बधी भावोंको निम्न श्लोकके माध्यमसे प्रस्तुत किया है।

***न प्रेमा श्रवणादि भक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा। हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाऽप्यच्छेद्यमूला सती हे गोपीजनवल्लभ! व्यथयते हा हा मदाशैव माम्।।***

श्रील सनातन गोस्वामीपादजी ने उक्त श्लोकमें अपने हृदयगत भावको व्यक्त किया है कि न तो मुझमें प्रेम ही है और न ही मैं प्रेमभक्ति प्रदान करनेवाला श्रवण कीर्तनादि करता हूँ, ध्यान धारणा आदिकी क्रियासे भी रहित हूँ, ब्रह्मनिष्ठ ज्ञान और वर्णाश्रमोंके लिये निर्धारित आचरण आदिके शुभ कर्म भी मैं नहीं करता हूँ, श्रेष्ठकुल आदि से भी हीन हूँ। अपने सुखकी कामनामें डुबा हुआ हूँ। तथापि हे गोपीजनवल्लभ! क्योंकि आप अकिञ्चन लोगोंका अधिक प्रयोजन साधन करते हैं, इसलिए आपको अवश्य पाऊँगा—ऐसी एक आशा सुदृढ़ होकर मुझे व्यथित कर रही है।

यद्यपि कृष्ण भजनके लिये जातिकुल आदिका विचार नहीं है। चाहे साधक निम्नसे निम्न वर्ण संस्कारोंमें जन्मा हो फिर भी यदि वह कृष्ण भजन करना चाहता है तो उसके लिये कोई अवरोध नहीं है। उक्त श्लोकमें उच्च कुल आदिकी जो बात कही है वह मात्र दैन्य प्रकाश है। साधकके अहंकारको दूर करनेके लिये सदैव अपनेको दूसरोंसे

छोटा समझना चाहिए। इससे भाव पुष्ट होते हैं जबकि अहंकार आने पर भक्ति समूल उखड़ जाती है एवं भक्तिका कपटपूर्ण बाना मात्र शेष रह जाता है। मूल बात है कि भगवानकी कृपा अवश्य होगी सदैव इस भावनाको दृढ़ करते रहना चाहिए इसीको आशाबन्ध कहते हैं। निराश होने पर साधक बीचमें ही साधना छोड़कर पुनः जागतिक वासनाओंमें लिप्त हो जायेगा। आशा सदैव भक्तिका संचार करती है। आशा उत्तरोत्तर साधकको भगवानके प्रेमकी प्राप्तिकी ओर बढ़ाती है। भक्ति मार्गमें अपने सुखकी वासनाका कोई स्थान नहीं है। वासना कर्मकाण्डका प्रधान अंग है। अतएव साधकको सदैव कृष्णसुखतात्पर्यमयी साधना करनी चाहिए। शुद्ध प्रेमका यही एक पथ है। ब्रजगोपियोंके पदानुगत्यमें यही भक्तिमय रास्ता है।

### *समुत्कण्ठा*

*समुत्कष्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता*

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अपने परम इष्ट श्रीकृष्णका प्रेमप्राप्तिके लिये हृदयमें जो तीव्र लालसा रहती है, उसे ही समुत्कण्ठा कहते हैं। आशाबन्ध और समुत्कण्ठा दोनों सहोदरा हैं। आशाबन्ध रहने पर समुत्कण्ठा तथा समुत्कण्ठा रहने पर आशाबन्ध अवश्य रहेगी। उत्कण्ठामें साधकके हृदयमें मधुर रागमयी बलवती इच्छा रहती है कि अब मेरे श्याम सुन्दर आने ही वाले है इसमें अपने प्रेमीकी सत्कार सेवा भावना भी निहित रहती है अर्थात सेवाभाव अधिक जाग्रत रहता है।

उक्त भावकी पुष्टि श्रीकृष्णकर्णामृतके इस श्लोकसे होती है—

*आनम्रामसितभ्रुवोरुपचितामक्षीण पक्ष्माङ्कुरे–*
*ष्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोरार्द्रां मृदों जल्पिते।*
*आताम्रामधरामृते मदकलामम्लानवंशीस्वने–*
*ष्वाशास्ते मम लोचनं व्रजशिशोमूर्तिं जगन्मोहिनीम्।।*

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अर्थात् जिनका कृष्ण वर्ण है तथा जिनकी भौंहे कुछ–कुछ झुकी हुई हैं तथा सघन पलकें उठी हुई हैं, जिनके नेत्र अपने प्रेमियोंको देखनेके लिये ललायित हैं अर्थात् परम चंचल है। जिनकी वाणीमें मृदुता एवं मिठास घुली हुई है, जिनके अधर स्पर्शके कारण ईषत् ताम्र वर्णके सदृश दिखलायी पड़ रहे हैं तथा मादकता उत्पन्न करनेवाली वंशी उन्होंने अपने कर कमलोंमें धारण कर रखी है, वंशीसे अति कर्णप्रिय स्वर चारों दिशाओंमें मादकता विस्तीर्ण कर रहा है—इस प्रकारकी जगतको मोहित करने वाली श्रीमुरलीधर प्राणप्रिय श्यामसुन्दरकी छविको देखनेके लिये मेरी आँखें लालायित हो रही हैं।

इस प्रकार साधकको एकांतमें कृष्ण नाम जप करते हुए उत्कण्ठा बनाये रखना चाहिए। ऐसा भाव सिद्ध होने पर श्रीश्यामसुन्दरका नटवर वपु साधकके चित्तमें प्रतिबिम्बित होने लगता है। अतएव जिस लीलामें आपकी उत्कण्ठा रहेगी वही लीला सिद्ध देहमें भाव सिद्ध होने पर दीख पड़ेगी, इसमें कुछ संशय नहीं है। ऐसा ही सिद्ध संतोका अनुभव ग्रथोंमें उपलब्ध हो रहा है।

### *नाम कीर्तनमें सदा रुचि*

*रोदनबिन्दुमरन्दस्यन्दिदृगिन्दावराऽद्य ।*
*गोविन्द तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलीं बाला।।*

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् कोई कृष्ण अनुरागिनी गोपबाला आपके सुमधुर नामोंका कीर्तन कर रही है। नामकीर्तन करते करते उसके नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही है।

उक्त गोपीभाव दर्शाता है कि कृष्णप्रेमी साधकोंको निरन्तर कृष्ण नामका कीर्तन करना चाहिए। हृदयमें अतिशय प्रेम छलक रहा हो, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झर रहे हो। जब हृदय सभी प्रकारसे अनर्थोंकी निवृत्ति होनेपर शुद्ध हो जाता है तब

नामके उच्चारणके साथ ही शरीर रोमाञ्चित तथा नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है। यदि ऐसा न हो तो समझिए अभी अनर्थोंकी समाप्ति शेष है, निश्चित ही अपनी भाव साधनामें कमी है तथा चित्त किसी जागतिक विषय वासनासे चिपका हुआ है। साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिए—उसे आशाबन्धके साथ साथ अपनी समुत्कण्ठामें कोई कमी नहीं लानी चाहिए। प्रेमपूर्वक कृष्ण नामका जप कीर्तन करते रहना चाहिए।

*समुत्कण्ठा हय सदा लालसा प्रधान।*
*नामगाने सदा रुचि लय कृष्णनाम।।*
(चै. च. २/२३/१६-१७)

### *गुणाख्यानमें आसक्ति*

साधकका हृदय अपने प्रेष्ठ श्रीकृष्णका गुणगान करते करते द्रवित हो जाना चाहिए। जिस प्रकार स्वामीनिष्ठा स्त्री सदैव अपने पतिके गुणोंपर रीझी रहती है—उसी प्रकार साधकके चित्तमें अपने प्यारेके गुण तैरते रहने चाहिए।

श्रील रूप गोस्वामी पादने इस भावकी पुष्टिमें कृष्णकर्णामृतसे यह श्लोक उद्धृत किया है—

*माधुर्यादपि मधुरं मन्मथता तस्य किमपि कैशोरम्।*
*चापल्यादपि चपलं चेतो वत हरति हन्त किं कुर्मः।।*
(श्रीकृष्णकर्णामृत)

अहो! कामदेवके अन्दर भी काम भाव पैदा कर देनेवाली श्रीकृष्णकी मधुरसे भी मधुर और चपलतासे भी अधिक चपल किशोरवय बलात् मेरे मनको अपनी ओर खींच रहा है, मैं क्या करूँ?

इस प्रकार साधक-साधिकाको कृष्ण भावसे सदा भावित रहना चाहिए। मन प्राण और हृदय तीनों ही क्षण प्रतिक्षण कृष्णके रूपमाधुरी और उनकी लीला तथा गुण माधुरीमें अटके रहना चाहिए।

### *श्रीधाम वृन्दावन (वसतिस्थले) से प्रीति*

अपने प्राण प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरने व्रजमें जिन जिन स्थानोंपर मधुर लीलाएँ अपने प्रेमीजनोंको सुख पहुँचानेके लिये की है—उन स्थानोंसे साधकको प्रीति रखना चाहिए। भावसिद्धिमें लीला स्थल अनुभावोंके माध्यमसे भावको चरम अवस्थामें पहुँचा देते हैं, उस स्थान विशेषको देखकर स्मरण हो आता है कि मेरे प्राण प्रियतमने यहाँ इस प्रकारकी लीला की थी। उस लीलाका दृश्य एवं भाव हृदयमें प्रेम विवर्द्धन करता है। —(क्रमशः)

# कुकर्मीकी कानी कौड़ी

कर्मी दो प्रकारके होते हैं—सुकर्मी और कुकर्मी। सुकर्मी पुण्य फलकी आकांक्षा करते हुए पुण्य कर्म करता है और कुकर्मी कुकर्म द्वारा सामयिक रूपसे लाभ प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। सुकर्मीके कर्मकी कौड़ियाँ व्यवहृत होते होते जब फूट जाती हैं, तब कुकर्मी उसका संग्रहकर लेता है। इन फूटी कौड़ियोंका कुछ भी मूल्य नहीं होता है, यह बाजारमें नहीं चलती है। इसे ही 'कानी कौड़ी' कहते हैं।

कुकर्मी सोचता है कि मैं अनेक कौड़ियोंका मालिक हूँ, बहुत सारा धन, बहुत सम्मान और अनेक कामिनियाँ मेरे भण्डारमें हैं। इन सभी द्रव्योंके द्वारा भण्डार भरकर रखनेपर भी ये सब कानी कौड़ियोंके स्तूपके समान अकर्मण्य है। जो व्यक्ति कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाको कृष्णकी सेवामें नहीं नियुक्त करता है, उसके भण्डारके सभी द्रव्य कानी कौड़ीके समान है और वह व्यक्ति कुकर्मी है।

श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद'ने अपेन एक गीतमें लिखा है—

तोमार कनक भोगेर जनक
कनकेर द्वारे सेवह माधव।
कामिनीर काम नहे तव धाम
ताहाँर मालिक केवल यादव।।
*वैष्णवेर पाछे प्रतिष्ठाशा आछे*
*ता ते नहे कभु अनित्य वैभव।*

इन पदोंका तात्पर्य यह है कि कनक अर्थात् अर्थके द्वारा लक्ष्मीपति भगवानकी सेवा करनी चाहिए। श्रीभगवानके नाम–गुणादिके प्रचारमें अर्थका नियोग ही अर्थका यथार्थ सद्व्यवहार है, यही परमार्थ है। जो अर्थ (धन–सम्पत्ति) कृष्णके नामप्रचारमें नियुक्त न होकर केवल भोगके लिए व्यवहृत होता है, वही 'कुकर्मीकी कानी कौड़ी' है अर्थात् उसका कोई मूल्य नहीं है। कामिनीके चेतन आत्माको कृष्णके भोगमें नियुक्त करना चाहिए। जो ऐसा नहीं कर कामिनीके स्थूल दैहिक रूपके प्रति मुग्ध होकर पतंगकी भाँति आत्मविसर्जन करता है, वह अत्यन्त मूढ़ है। जो अपनी पूजा प्राप्तिके लालायित रहता है, वह रावणकी भाँति उच्च सम्मान प्राप्त करनेकी आशासे चेष्टा करता है, किन्तु परिणामतः वह आत्मविनाशकी दशाको प्राप्त करता है।

जो कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाका भोग करना चाहते हैं, वे सभी कुकर्मी हैं। उनके ये सभी द्रव्य कानी कौड़ीके समान निरर्थक हैं। वैष्णवगण कुकर्मीकी कानी कौड़ी कभी ग्रहण नहीं करते है। सुकर्मी लोग अपनी कानी कौड़ी देकर स्वर्गको खरीदना चाहते है और सत्कर्म द्वारा स्वर्ग जाकर कुछ समय तक सुख भोग करनेके बाद पुण्यके क्षय होनेके पश्चात् वहाँसे मर्त्यलोकमें पतित होते हैं। किन्तु कानी कौड़ी देकर वैकुण्ठ राज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता है। जिसकी कौड़ी विष्णु और वैष्णवकी सेवामें नियुक्त होती है, वे ही वैकुण्ठपति अजित भगवानको जीत सकते हैं।

श्रील प्रभुपाद कर्मियोंके भोगके विषयोंको कानी कौड़ी कहते। क्योंकि विष्णु और वैष्णव इसे ग्रहण नहीं करते। अतएव हम कर्मी न होकर शुद्ध भक्तोंका दासानुदास होनेके लिए यत्नशील होंगे। उनके पूर्ण आनुगत्यमें सेवावृत्तिविशिष्ट होनेपर ही वे हमें ग्रहण करेंगे। ❑

## वैष्णव व्रत तालिका

| | | |
|---|---|---|
| ६ अग्रहायण | २३ नवम्बर मंगलवार | श्रीकृष्णकी हैमन्तिकी रासयात्रा, दामोदरव्रत, नियमसेवा समाप्त। |
| १६ अग्रहायण | ३ दिसम्बर शुक्रवार | उत्पन्ना एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३९से पहले पारण। |
| २० अग्रहायण | ७ दिसम्बर मंगलवार | अमावस्या। |
| ३ पौष | १९दिसम्बर रविवार | मोक्षदा एकादशी व्रत, अगले दिन ९–५० से पहले पारण। |
| १० पौष | २६ दिसम्बर रविवार | श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरप्रभुपादजीका तिरोभाव। |
| १५ पौष | ३१ दिसम्बर शुक्रवार | ***श्रील गौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान सभापति परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजजीकी ७९तम आविर्भाव तिथिपूजा।*** |
| १७ पौष | २ जनवरी रविवार | सफला एकादशी व्रत, अगले दिन ९–५४ से पहले पारण। |
| २४ पौष | ९ जनवरी रविवार | श्रील जीव गोस्वामीजीका तिरोभाव। |
| ३० पौष | १५जनवरी शनिवार | मकरसंक्रान्ति, पौष पार्वण, गंगासागर स्नान। |
| २ माघ | १७ जनवरी सोमवार | पुत्रदा एकादशी व्रत,अगले दिन ९–५९ से पहले पारण। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३ वि. सं. २०५६ मार्गशीर्ष मास, सन् १९९९, २४ नवम्बर — २२ दिसम्बर { संख्या ९

# श्रीस्वयम्भगवत्ताष्टकम्

*[श्रील–विश्वनाथ–चक्रवर्त्ति–ठक्कुर–विरचितम्]*

***स्वजन्मन्यैश्वर्यं बलमिह बधे दैत्यविततेर्यशः पार्थत्राणे यदुपुरि महासम्पदमधात्।***
***परं ज्ञानं जिष्णौ मुषलमनु वैराग्यमनु यो भगैः षड्भिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।१।।***

जिन्होंने अपने प्राकट्यके समय श्रीवसुदेव–देवकीके सम्मुख अपना ऐश्वर्य धारण किया, दैत्यवृन्दका वध करते समय बलका प्रकाश किया, पाण्डवोंकी रक्षाके अवसर पर निर्मल कीर्त्तिका विस्तार किया, यादवोंकी राजधानी द्वारिकामें अतुल वैभवको स्वीकार किया, सखा अर्जुनको उपदेश देते समय श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको प्रकट किया और अन्तमें लौहमय मूसलके व्याजसे यदुकुलका संहार करते समय वैराग्यका आदर्श उपस्थित किया, वे उक्त छहों भगवद्गुणोंसे परिपूर्ण भगवान् नन्दनन्दन सबका आनन्दवर्द्धन करें।।१।।

*चतुर्बाहुत्वं यः स्वजनि–समये यो मृदशने जगत्कोटीं कुक्ष्यन्तर परिमितत्वं स्ववपुषः।*
*दधिस्फोटे ब्रह्मण्यतनुत परानन्ततनुतां महैश्वर्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।२।।*
*बलं बक्यां दन्तच्छदनवरयोः केशिनि नृगे नृपे वाह्वोरङ्घ्रेः फणिनि वपुषः कंसमरुतोः।*
*गिरित्रे दैत्येष्वप्यतनुत निजास्त्रस्य यदतो महौजोभिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।३।।*
*असंख्याता गोप्यो व्रजभुवि महिष्यो यदुपुरे सुताः प्रद्युम्नाद्याः सुरतरु–सुधर्मादि च धनम्।*
*वहिर्द्वारि ब्रह्माद्यपि बलिवहं स्तौति यदतः श्रियां पूरैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।४।।*
*यतो दत्ते मुक्तिं रिपुविततये यन्नरजनि–र्विजेता रुद्रादेरपि नतजनाधीन इति यत्।*
*सभायां द्रोपद्या वरकृदतिपूज्यो नृपमखे यशोभिस्तत् पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।५।।*
*न्यधाद्गीतारत्नं त्रिजगदतुलं यत्प्रियसखे परं तत्त्वं प्रेम्नोद्धव–परमभक्ते च निगमम्।*
*निजप्राणप्रेष्ठास्वपि रसभृतं गोपकुलजा–स्वतो ज्ञानैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।६।।*
*कृतागस्कं व्याधं सतनुमपि वैकुण्ठमनयन्ममत्वस्यैकाग्रानपि परिजनान् हन्त विजहौ।*
*यदप्येते श्रुत्या ध्रुवतनुतयोक्तास्तदपि हा स्ववैरागयैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।७।।*
*अजत्वं जन्मित्वं रतिररतितेहाररहितता सलीलत्वं व्याप्तिः परिमितिरहन्ता–ममतयोः।*
*पदे त्यागात्यागावुभयमपि नित्यं सदुरी–करोतीशः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः।।८।।*
*समुद्यत् सन्देहज्वरशतहरं भेषजवरं जनो यः सेवेत प्रथित–भगवत्त्वाष्टकमिदम्।*
*तदैश्वर्यस्वादैः स्वधियमतिवेलं सरसयन् लभेतासौ तस्य प्रियपरिजनानुग्यपदवीम्।।९।।*

*अनुवाद—*

इतना ही नहीं, जिन्होंने अपने प्राकट्यके समय चतुर्भुज रूप ग्रहण किया, मृद्भक्षणके अवसर पर करोड़ों ब्रह्माण्ड अपने मुखमें प्रकट किये, दधिभाण्ड फोड़ देनेपर दयावश माताके हाथों बँधकर असीम होने पर भी अपने शरीरको उदरके परिमाणका करके दिखा दिया तथा ब्रह्माजीको छकानेके लिये अनन्त परात्पर स्वरूप धारण किया, वे महान् ऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीनन्दकिशोर सबको आनन्दित करें।।२।।

जिन्होंने पूतना वधके समय अपने श्रेष्ठ ओठोंका बल, केशी दैत्यको मारते तथा राजा नृगको गिरगिटके रूपमें कुँएँसे बाहर निकालते समय बाहुबल, कालियनागका दर्प चूर्ण करनेके लिये चरणोंका बल, महाबली कंस एवं बवंडरके रूपमें प्रकट होने वाले तृणावर्त दैत्यका संहार करते समय शरीरका गुरुतारूप बल और बाणासुरके साथ युद्ध करते समय उक्त असुरके पक्षमें युद्ध करते हुए भगवान् शंकरको मोहित करनेके लिये तथा दैत्योंका वध करते समय अस्त्रबल प्रकट किया, वे महान् बलशाली भगवान् नन्दनन्दन हमें सदा आनन्दित करते रहें।।३।।

ब्रजमें रासलीलाके समय जिन्होंने असंख्य गोपियोंके साथ क्रीड़ा की, यदुपुरी द्वारिकामें सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके साथ विहार किया, प्रद्युम्न आदि लक्षाधिक पुत्र उत्पन्न किये तथा पारिजात एवं सुधर्मा सभा आदिके रूपमें अतुल वैभव प्रकट किया और जिनकी ड्योढ़ी पर ब्रह्मादि लोकपालगण उपहार लेकर स्तुति करते हुए खड़े रहते थे, वे परम श्रीसम्पन्न भगवान् नन्दकुमार हमें आनन्द समुद्रमें निमग्न करते रहें।।४।।

जिन्होंने शत्रुवर्गको भी खुले हाथों मुक्तिका दान किया, नररूपमें प्रकट होकर भी रुद्र आदि देवगणों पर विजय प्राप्त की और सर्वेश्वर एवं परमस्वतन्त्र होकर भी भक्तजनोंकी अधीनता स्वीकार की,

कौरवों की सभामें द्रौपदीको अनन्त वस्त्रराशिरूप वर प्रदान किया और महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उपस्थित सुर-मुनिजनोंके समक्ष प्रथम पूजा ग्रहण की, वे अमित यशस्वी भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन हम सबको आह्लादित करें।।५।।

यही नहीं, जिन्होंने अपने प्रिय सखा अर्जुनको गीतारूप ऐसा देदीप्यमान रत्न प्रदान किया, जिसकी त्रिलोकीमें कोई तुलना नहीं है। परम भक्त उद्धवको परमधाम पधारते समय प्रेमके वशीभूत होकर परमतत्त्वका उपदेश किया तथा अपनी प्राणप्रियतमा श्रीगोपाङ्गनाओंके लिये परम रहस्यमय रस-तत्त्वका निरूपण किया; वे सम्पूर्ण ज्ञानके आश्रय-स्वरूप भगवान् गोपेन्द्रकुमार हम सबका आनन्द सम्पादन करें।।६।।

जिन्होंने अपने अपराधी जरा नामक ब्याधको (जिसने उनके चरणको मृग समझकर बाणसे बींध दिया था) सदेह वैकुण्ठ भेज दिया और इसके विपरीत यादवोंका—जो उनके कुटुम्बी थे और ममताके मुख्य पात्र थे—परित्याग कर दिया, यद्यपि वेदोंने उनकी देहको भगवान्की भाँति नित्य बताया है, वे परम वैराग्यशाली भगवान् नन्दनन्दन हमें आनन्दमग्न करते रहें।।७।।

जो अजन्मा होते हुए भी जन्मग्रहणकी लीला करते हैं, जिनमें आसक्ति और अनासक्ति एक कालमें विद्यमान रहती हैं, जो चेष्टारहित होते हुए भी विविध प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, जो एक ही साथ सर्वव्यापक और परिछिन्न दोनों हैं तथा जो सदा ही अहंता और ममताके आश्रयभूत अपने श्रीविग्रह एवं निजजनोंका त्याग और रक्षा दोनों स्वीकार करते हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नन्दनन्दन सदा हम सबके आनन्दके हेतु बनें।।८।।

उपर्युक्त भगवत्तत्त्वाष्टक नामक इस विख्यात स्तोत्रका—जो बढ़ते हुए संहेदरूप सेकड़ों प्रकारके ज्वरोंको शान्त करनेवाली श्रेष्ठ औषधिके समान है, जो भी मनुष्य सेवन करेगा, वही भगवान् नन्दनन्दनके ऐश्वर्य-रसास्वादनके द्वारा अपनी नीरस बुद्धिको असीम सरस बनाता हुआ उनके प्रिय परिजनोंके सेवकपदको प्राप्त करेगा।।९।। ❑

# संत (सज्जन) के लक्षण

*—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती*

### *अकिञ्चन*

### *अकिञ्चनका लक्षण*

जो अहंग्रहोपासनासे दूर रहते हैं, जो कर्म-फलकी कामना नहीं करते और जो भगवान्के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रखते, जो ज्ञान-सम्पत्ति, कर्म-समृद्धि एवं लौकिक सुख आदिको प्राप्त करने की वासना नहीं रखते, वे अकिंचन हैं। कर्मी, ज्ञानी और त्यागी अकिंचन नहीं हैं। इस जड़ जगत्में जीव प्रायः निर्विशेष-ज्ञान, स्वर्ग आदि सुख-भोग और ऐहिक सुखोंमें मत्त होकर अपनेको धनी अभिमान करता है। वह सर्वदा मेरा था, मेरा है या मुझे चाहिए—इस प्रकार 'कुछ' की खोजमें लगा रहता है। जीव जबतक 'कुछ' के पीछे-पीछे भागता रहता है, तबतक 'कुछ' भी उसका पीछा नहीं छोड़ता। 'कुछ' संगृहीत होते ही जगत्के लोग उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगते हैं।

### *सज्जन कौन हैं?*

जिनको 'कुछ' नहीं है, वे ही अकिंचन हैं, वे ही सज्जन हैं। उन्हें कुछ ढूंढ़ना नहीं होता। कुछ था, कुछ है या कुछ रहेगा—इसके लिये उन्हें

चिन्ता नहीं होती। सच बात तो यह है कि वह 'कुछ' आश्रय जातीय वस्तु है। जीव स्वयं सुनिर्मल आश्रय जातीय होकर भी अन्यान्य वस्तुओंको आश्रय और अपनेको विषय अर्थात् अपनेको समस्त वस्तुओंका भोक्ता समझ बैठा है। वह भूल गया है कि भगवान् ही एकमात्र विषय हैं और सभी आश्रय जातीय हैं, अर्थात् भगवान् ही सबके एक मात्र भोक्ता है और सभी उनके भोग्य हैं। जीव जबतक इस सत्यकी पुनः उपलब्धि नहीं कर लेता तबतक वह कर्मी या ज्ञानी अथवा अन्याभिलाषी बना रहता है।

भगवान्के अनन्य भक्तजन ही अकिंचन हैं। अकिंचन तृणसे भी अधिक सुनीच होते हैं अर्थात वे किसी भी जड़ीय उपाधिको अपनी सम्पति नहीं मानते हैं। वे वृक्षसे अधिक सहिष्णु होते हैं अर्थात वे किसी भी जड़ीय वस्तुके द्वारा आक्रमणके योग्य अपनेको नही समझते। वे सबको सम्पत्तिमान जानते हैं, वे किसी भी जड़ीय प्रतिष्ठारूप सम्पत्तिकी कामना नहीं रखते। अतएव भक्तजन ही एकमात्र अकिंचन हैं। वे सर्वत्र कृष्ण–सेवा–परायण होते हैं। उनका किसीके प्रति हिंसा–द्वेष नहीं होता।

*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके*
*स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।*
*यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्–*
*जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।।*

वे श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकके रहस्यकी उपलब्धि कर अकिंचन या सज्जन हुए हैं। किसी भी अनित्य वस्तुके प्रति उनकी आसक्ति नहीं होती। ❑

# अभिधेय विचार—कर्म

*—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिविनोद ठाकुर*

किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए उपयुक्त उपायका अवलम्बन आवश्यक होता है। हमारे पूर्व–पूर्वके महात्माओंने प्रयोजन–सिद्धिके लिए अपने–अपने अधिकारके अनुसार नाना–प्रकारके साधनोंका आविष्कार किया है। प्रस्तुत निबन्धमें इन उपायोंके सम्बन्धमें विचार किया जायेगा।

परमार्थ सिद्धिके जितने प्रकारके उपाय बतलाए गये हैं, उन्हें तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। वे हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

संसार–यात्रा निर्वाह करनेके लिए जो कुछ किया जाता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। कर्मके दो विभाग हैं—विधि और निषेध। अकर्म और विकर्म—ये निषिद्ध कर्म हैं। कर्म ही विधि है। कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिक–कर्म और काम्यकर्म। जो सदाके लिए कर्तव्य हैं, वे नित्यकर्म हैं। शरीर–यात्रा, संसार–यात्रा, दूसरोंकी भलाईके कार्य, कृतज्ञता पालन और ईश्वर पूजा—ऐसे ऐसे कार्य नित्यकर्म कहलाते हैं। जो नित्यकर्म नहीं हैं, परन्तु किसी घटनावश सामयिकरूपमें कर्तव्य होते हैं, उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं। किसीके मरनेपर जो कर्तव्य होता है, वह नैमित्तिक कर्म है। फलकी कामनासे जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें काम्यकर्म कहते हैं। जैसे सन्तानके लिए यज्ञ आदि कर्म।

सुन्दररूपसे जीवन–यात्रा चलानेके लिए यह आवश्यक है कि हमारे कर्म सुन्दर हों और इसके लिये यह आवश्यक है कि हमारी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक समस्त प्रकारकी विधियोंका सम्बन्ध भगवद्भक्तिसे हो। विवाह, नीति, दण्ड, राज्यशासन, अर्थ–संग्रह, प्रजापालन आदि समस्त विधियोंको ईश–भक्तिके साथ संयोग करना पड़ेगा। उपरोक्त विधियाँ संसारके समस्त देशोंमें

किसी न किसी रूपमें अवश्य ही दृष्टिगोचर होगीं। परन्तु भारत भूमिमें इन विधियोंने ईश्वर-भक्तिके साथ मिल कर जिस सर्वांगसुन्दर वर्णाश्रमधर्मको पैदा किया है। वैसा संसारके किसी देशमें नहीं देखा जाता। आजतक संसारकी कोई जाति कर्मके सम्बन्धमें ऐसी सुन्दर व्यवस्था नहीं कर सकी है। दूसरी-दूसरी जातियोंमें स्वभावके अनुसार कार्य होता है और पूर्वोक्त विधियाँ पृथक् पृथक्रूपमें पालित होती हैं। परन्तु भारतीय आर्योंने बिना किसी दूसरी जातिकी सहायतासे ही कैसी सर्वांगसुन्दर और परमआश्चर्यजनक व्यवस्थाको जन्म दिया था, जो लाखों वर्ष बीत जानेपर भी आज भी किसी न किसी रूपमें विद्यमान है। इसलिए भारतको कर्मभूमि कहा गया है।

ऋषियोंने देखा कि स्वभावसे ही मनुष्यका धर्माधिकार उत्पन्न होता है। इसलिए अधिकारका विचार किए बिना जो कर्मकी व्यवस्था होती है, वह कभी भी दोषरहित नहीं हो सकती है। इसलिए उन्होंने स्वभावका विचार कर उसके अनुसार ही कर्मका अधिकार स्थिर किया। स्वभाव चार प्रकारके हैं—ब्रह्म-स्वभाव, क्षात्र-स्वभाव, वैश्य-स्वभाव और शूद्र-स्वभाव। इन्हीं चार प्रकारके स्वभावोंके अनुसार चार प्रकारके वर्ण बनाये गये। गीतामें भी कहा गया है—

*ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।*
*कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।*
*शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।*
*ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।*
*शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।*
*दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्।।४३।।*
*कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।*
*परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।*
*स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।*
*स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।*

(गीता १८/४१-४५)

—स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार भागोंमें आर्योंको विभक्त करके उनके कर्मोंका विभाग किया गया है।

शम (मनको दमन करना), दम इन्द्रियोंको दमन करना), तपः (अभ्यास), शौच (शुद्ध या पवित्रता), क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरलता), ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणके नौ स्व भावज कर्म हैं।

शूरता, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें निर्भयता, दान और ईश्वरभाव ये क्षत्रियके स्वभावज कर्म हैं।

कृषि, गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्यके स्वभावज कर्म हैं। सेवारूपकर्म शूद्रका स्वभावज है। अपने अपने स्वभावज कर्ममें लगा हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्वभावज गुण और कर्म द्वारा वर्णविभाग करने पर भी ऋषियोंने देखा कि संसारी मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार आश्रम निरूपण करना भी आवश्यक है। तब उन्होंने चार आश्रमोंकी भी स्थापना की। भ्रमण करनेवाले विद्यार्थी—ब्रह्मचारी कहलाये; विवाहित पुरुष—गृहस्थ, अधिक आयुमें कर्मसे अवसरप्राप्त पुरुष वानप्रस्थ और सर्वत्यागी मनुष्य—संन्यासी कहलाये।

स्त्री और शूद्रोंके लिये एकमात्र गृहस्थाश्रममें रहनेकी ही विधि दी गयी है। उन्होंने ऐसे नियम बनाये कि केवल ब्रह्म-स्वभावके पुरुष ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं—दूसरे नहीं। इससे उनकी महान बुद्धिमत्ताका परिचय पाया जाता है। इस वर्णाश्रम धर्ममें समस्त शास्त्रोंके निखिल विधि-निषेधोंको तो लिया गया है ही, अधिकन्तु युक्तिगत विधियोंको भी स्थान दिया गया है। इस छोटेसे लेखमें उन समस्त विधियोंका वर्णन करना कठिन है; अतएव इस विषयमें केवल यही कहकर मौनावलम्बन करता हूँ कि संसार-यात्राके विषयमें वर्णाश्रम-धर्म एक सर्वांगसुन्दर और परमचमत्कारपूर्ण विधि है।

आर्य–मस्तिष्कसे बाहर होने वाली समस्त व्यवस्थाओंमें वर्णाश्रम–विधि ही सबसे आदरणीय है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

दूसरे देशोंके लोग कुछ मूर्खताके कारण और कुछ ईर्ष्याके कारण इस व्यवस्थाकी निन्दा करते हैं। हमारे देशके भी कुछ पाश्चात्य आवोहवामें पले हुए नवयुवक इस व्यवस्थाकी निंदा करते हैं। इसका प्रधान कारण है—स्वदेशके प्रति विद्वेष। दूरदर्षिताका अभाव और विदेशी आचार–विचारकी अनुकरणप्रियता भी प्रधान कारणके अन्तर्गत हैं।

आजकल पूर्वोक्त वर्णव्यवस्था कुछ दोषपूर्ण हो गयी है—इसमें संदेह नहीं। दूरदर्शी एवं तात्पर्यविद् विद्वानोंके अभावमें इस व्यवस्थाका पथ–प्रदर्शन सुचारू रूपमें न होनेके कारण यह कुछ भिन्न रूपमें चल रही है। इसीलिए आजकल वर्णाश्रम धर्मकी निंदा हो रही है। वर्णाश्रम–व्यवस्था सर्वथा दोषरहित हैं। परन्तु गलत पथ–प्रदर्शन द्वारा यह किस प्रकार निर्दोष रह सकती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वभावज धर्मको वंशज धर्म बना लिये जानेसे विपरीत कार्य हो रहा है। ब्राह्मणका पुत्र ब्राह्मण ही होगा, चाहे वह शूद्र स्वभावका क्यों न हो और शूद्रका पुत्र शूद्र ही रहेगा, चाहे वह कितना भी बड़ा पण्डित और शान्त स्वभाव भी क्यों न हो—यह नियम मूल वर्णाश्रमधर्मके नितान्त विरूद्ध है।

प्रचीन रीतिके अनुसार जब सन्तान उपयुक्त आयुका हो जाता, तब कुलके वृद्ध पुरुष, कुलगुरू, कुलके आचार्य–पुरोहित और गाँवके पण्डितजन उसके स्वभावकी परीक्षा या विवेचना करते और उसके अनुसार उसका वर्ण स्थिर करते थे। वर्ण स्थिर करनेके समय इस बात पर विचार किया जाता था कि पुत्र अपने पिताके वर्णको प्राप्त करनेके योग्य है अथवा नहीं। निसर्गवशतः एवं उच्चाभिलाषाजनित परिश्रमके फल–स्वरूप उच्चवंशकी संताने अधिकतर पिताका ही वर्ण लाभ करती थीं, शायद ही कभी अयोग्यताके कारण संतान पितृवर्णसे नीचेका वर्ण प्राप्त होती थी। परन्तु नीच वर्णोंके मनुष्यकी संताने उल्लिखित संस्कारके समय अनेक समय उच्च वर्ण लाभ करते थे। पौराणिक इतिहासमें इसके भूरि–भूरि प्रमाण मिलते हैं। जिस समयसे यह अन्ध–परम्परा चल पड़ी है कि ब्राह्मणका पुत्र ब्राह्मण होगा, क्षत्रिय पुत्र क्षत्रिय होगा, वैश्यका पुत्र वैश्य होगा तथा शूद्रका पुत्र शूद्र होगा, तबसे उपयुक्त व्यक्ति उपयुक्त कार्य न पा सकनेके कारण आर्य–यशःरूपी सूर्य अस्तप्राय हो चुका है। श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्धमें धर्म–शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए देवर्षि नारदने कहा है—

*यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।*
*यदन्यत्रापि दृश्येत् तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।।*

मनुष्यके वर्णसूचक जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे लक्षण यदि दूसरे वर्णमें पैदा हुए व्यक्तिमें पाये जायँ, तो उस लक्षणके अनुसार ही उस व्यक्तिका वर्ण स्थिर करना चाहिए। केवल जन्म द्वारा ही वर्ण स्थिर नहीं होता। प्राचीन ऋषियोंका स्वप्नमें भी ऐसा ख्याल न था कि स्वभावज–धर्म क्रमशः वंशज–धर्म हो जायगा। महान् व्यक्तियोंकी सन्तान महत होती है—यह किञ्चित परिमाणमें स्वाभाविक है; परन्तु यह कदापि एक निश्चत नियम नहीं हो सकता है।

इस अंध परम्परासे जगत्का उद्धार करनेके लिये स्वभावज वर्णाश्रम–धर्मकी स्थापना हुई थी; परन्तु दुर्भाग्यवश कुछ स्वार्थपर और तत्वज्ञान–रहित स्मार्तोंके हाथोंमें समाजका पथ–प्रदर्शन कार्य आ जानेके कारण जिस विपत्तिकी आशंकासे ये विधान बने थे, वह आज समाजमें—वर्ण–व्यवस्थामें प्रवेश कर उसे दूषित कर रही है। आज हमारे देशके हितैषियोंका क त्तर्व्य उसी दोषोंको ही निकालना है। कुछ अंशमें दोष प्रवेश करनेसे मूल व्यवस्थाको

ही दूर करना बुद्धिमानीका कार्य नहीं है।

अतएव स्वदेश-हितैषी महात्माओंसे प्रार्थना है कि वे अपने पूर्वजोंकी निर्दोष व्यवस्थाओंमें फैली हुई कुरीतियों—दोषोंको दूर करें—उन्हें निर्मल बनाएँ। विदेशी लोगोंके बुरे परामर्शसे अपनी प्राचीन सद्विधियोंका लोप करनेका प्रयत्न न करें। ब्रह्म मनु, दक्ष, मरीचि, पराशर, व्यास, जनक, भीष्म और भरद्वाज आदि महानुभाव, जिन्होंने अपने ज्ञानालोकसे संसार भरको अलोकित किया है—सही मार्ग दिखलाया है—उनकी पुणयभूमि भारतमें पैदा होकर नयी-जातियोंवाले देशोंसे सांसारिक व्यवस्थाके विषयमें शिक्षा लेना लज्जाकी बात है; उनकी वैज्ञानिक भित्तिपर स्थापित कल्याणप्रद विधियोंको उलटकर पाश्चात्य देशोंकी ऊपरसे चिकनी और भीतरसे विषभरी आचार-विधियोंका नकल हमारे लिये बड़े दुर्भाग्यकी बात है। ऐसी दशामें वर्णाश्रम व्यवस्थाको निर्दोषरूपमें पुनः प्रचलित होने पर ही भारतकी उन्नति हो सकती है, उसकी लुप्त कीर्ति पुनः प्राप्त हो सकती है—इसमें सन्देह नहीं। ईश्वर-भाव-मिश्रित कर्मानुष्ठान द्वारा सभी आत्मकल्याणके पथ पर अग्रसर हों—वर्णाश्रमधर्मका यही पुनीत उद्देश्य है।

उपरोक्त मूल उद्देश्यको ध्यानमें रखकर कर्मवादी पण्डितोंने कर्मको ही प्रयोजनसिद्धिका एकमात्र उपाय बतलाया है। कर्मके बिना बद्ध जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता है। जीवन-निर्वाहरूप कर्मोंको न करनेसे जीवित नहीं रहा जा सकता है। जीवनके अभावमें प्रयोजन सिद्धिका और दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतएव कर्म अपरिहार्य है।

जब बिना कर्म किये रहा नहीं जा सकता है, तब हम जिन कर्मोंको करें, उन्हें भगवान्‌को अर्पण कर देना चाहिये; क्योंकि जो कर्म भगवद् अर्पित नहीं होते, वे अशुभ फल प्रदान करते हैं—

*एतत् संसूचितं ब्रह्मसन्तापत्रय-चिकित्सितम्।*
*यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्।।*

(श्रीमद्भा०)

कर्म अकाम होने पर भी उपद्रव ही पैदा करता है। इसलिये वह अधिकार भेदसे ब्रह्मज्ञान-योग द्वारा ईश्वरको अर्पित न होने पर अथवा राग मार्ग द्वारा भगवान्‌को अर्पित न होने पर कल्याणप्रद नहीं होता। रागमार्गका वर्णन आगे किया जायगा। अतएव समस्त कार्मोंके द्वारा परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। परमेश्वरके प्रति कृतज्ञताके साथ कर्त्तव्यानुष्ठानको ही ईश्वर-पूजा कहते हैं। सकाम-कर्म निम्नाधिकारीके लिये ही कर्त्तव्य होता है, तथापि ऐसे कर्ममें भी ईश्वर भाव मिश्रित करनेकी व्यवस्था देखी जाती है—

*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।*
*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरूषं परम्।।*

(श्रीमद्भा. २।३।१०)

जो बुद्धिमान पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—उसे तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये। ❑

# चार्वाक मतका जन्म-रहस्य

*—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभुदेव श्रौती महाराज*

एक समय देवता और दानवोंमें घोर संग्राम हुआ। दैत्यगण बुरी तरहसे पराजित होकर भागे और अपने गुरु शुक्राचार्य के निकट जाकर उन्होंने रोते-रोते अपने पराजयकी बात कही। शुक्राचार्यने उन्हें धैर्य देकर लौटा दिया और स्वयं उनकी रक्षाके लिए महादेवकी आराधनामें संलग्न हुए। उनकी कठिन तपस्यासे आशुतोष महादेव प्रसन्न होकर उनके सामने प्रकट हुए और उनसे वर माँगनेके

लिए कहा। शुक्राचार्यने वर माँगते हुए महादेवसे कहा—"देव! मैं देवताओंकी पराजय और असुरोंकी विजयकी अभिलाषा रखता हूँ। आप मुझे एक ऐसा मन्त्र प्रदान करें, जो देवगुरु वृहस्पतिके पास न हो तथा जिससे मेरी अभिलाषा सहज ही पूर्ण हो।"

महादेवजीने कहा—"वत्स! वर कठिन है। फिर भी यदि तुम एक हजार वर्ष तक कणधूम पीकर सिरके बल खड़े होकर तपस्या करो, तब मैं तुम्हें ऐसा मंत्र प्रदान कर सकता हूँ।" ऐसा कहकर महादेव अन्तर्द्धान हो गये।

महादेवकी आज्ञानुसार भृगुपुत्र शुक्राचार्य कठिन तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुए। इधर देवताओंने वृहस्पतिको अपना सेनापति बनाकर असुरोंपर बड़े जोरोंसे धावा बोल दिया। शुक्राचार्यकी अनुपस्थितिमें असुरोंकी पराजय अवश्यम्भावी थी—इसे असुरगण अच्छी तहर जानते थे। इसलिए वे बड़े चिन्तित हुए। कोई उपाय न देखकर अन्तमें वे गुरुपत्नी काव्यमाताकी शरणमें आये। काव्यमाताने असुरोंकी रक्षाके लिए आक्रमणकारी समस्त देवताओंको अपनी मायाके प्रभावसे निद्रित कर दिया। इधर देवताओंकी ऐसी अवस्था देखकर भगवान् विष्णुको बड़ी दया आयी। वे देवराज इन्द्रके निकट गये और माया-निद्रासे जगाकर उनसे कहा—"देवराज! तुम मेरे शरीरके अन्दर प्रवेश कर जाओ, ऐसा करोनेसे तुम्हारा कल्याण होगा।" इन्द्र भगवानके शरीरमें प्रवेश कर गये। इसे देख कर काव्यमाताको बड़ा ही क्रोध हुआ। उसने इन्द्रके साथ-साथ भगवान् विष्णुको भी जलाकर खाक कर डालनेके लिए अपनी तपस्याका प्रभाव प्रकट किया। उसकी तपस्याके प्रभावको देखकर इन्द्र बहुत ही डर गये। उन्होंने उस मायावीको मार डालनेके लिए भगवान्से प्रार्थना की। इन्द्रकी प्रार्थनासे भगवन्ाने सुदर्शन चक्रसे उसका मस्तक काट कर अलग कर दिया, किन्तु महर्षि भृगुने अपनी मृत-पत्नीका सिर उसके धड़से लगाकर मंत्र बलसे उसे पुनर्जीवित कर दिया। काव्यमाताको इसप्रकार पुनः जीवित होते देखकर इन्द्र बड़े विस्मित और भयभीत हुए। उन्होंने अपनी कन्या जयन्तीको बुलाकर कहा—"बेटी! हम लोगोंका विनाश करनेके लिए दैत्यगुरु शुक्राचार्य आजकल महादेवकी कठिन तपस्या कर रहे हैं। तुम उनके पास जाओ और अपनी सेवाओंसे संतुष्ट कर उन्हें मोहित करो। मैंने तुम्हें शुक्राचार्यको दान कर दिया।"

पिताकी आज्ञा मानकर जयन्ती शुक्राचार्यके निकट पहुँची। वे उस समय कणधूमका पान करते हुए सिरके बल खड़े होकर कठिन तपस्यामें संलग्न थे। जयन्ती बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करने लगी। इस प्राकर एक हजार वर्ष पूरा होनेपर शुक्राचार्यकी तपस्या पूरी हुई। भगवान् शिवने प्रसन्न होकर उन्हें देवताओंको पराजित करनेकी शक्ति तथा दूसरोंके द्वारा मारे न जानेका वरदान दिया। महादेवके अन्तर्द्धान होने पर शुक्राचार्यने इन्द्रकी कन्या जयन्ती की अभिलाषानुसार लोगोंकी आँखोंसे अदृश्य होकर एकसौ वर्ष तक भोग-विलास किया। इसी बीच देवराज इन्द्र अपने गुरु वृहस्पतिके पास पहुँचे। उन्होंने उनसे शुक्राचार्यके अन्तर्द्धान होकर भोग-विलासमें मत्त रहनेकी बात बताकर उनसे दैत्योंको अपने वशमें करनेके लिए अनुरोध किया।

वृहस्पति इन्द्रकी इच्छानुसार दैत्योंको मोहित करने के लिए शुक्राचार्यका रूप धारणकर दैत्योंके दलमें पहुँचे और एक सौ वर्ष तक उनका पौरोहित्य किया। शुक्राचार्य इस समय जयन्तीके साथ भोग विलासमें मत्त थे। एक सौ वर्षके बाद वे घर लौटे। इन्हें देखकर असुर-समुदायके विस्मयका ठिकाना न रहा। उन्होंने एक शुक्राचार्यको अपने सभा-मण्डपमें बैठे हुए देखा और दूसरे शुक्राचार्यको सभामण्डपसे बाहर खड़े हुए देखा। वे बड़े सोचमें पड़े। आखिर बात क्या है? इन दोनों शुक्राचार्योंमें

यथार्थ शुक्राचार्य कौन हैं? और इस समय हमारा कर्त्तव्य क्या है?

शुक्राचार्यने योगबलसे समझ लिया कि मेरा रूप धारण करनेवाला यह व्यक्ति वृहस्पति है तथा यह देवताओंका कार्य करनेके लिए असुरोंकी बुद्धि मोहित कर रहा है। वे वृहस्पतिसे बोले—"देवगुरो! तुम यहाँ क्यों आये हो? ये लोग यह नहीं जानते हैं कि तुम वृहस्पति हो तथा मेरा रूप धारणकर इन लोगों को मोहित कर रहे हो। तुम्हें ऐसा काम शोभा नहीं देता। तुम्हें याद होगा—तुम्हारे पुत्र कचने सञ्जीवनी विद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये अपना परिचय छिपाकर मेरा शिष्यत्व ग्रहण किया था, किन्तु जब इसका भेद खुला तो असुरोंने उसे तुरन्त मार डाला था। इसलिये तुम्हारा ऐसा कार्य तुम्हारे लिए ही अहितकर है।"

शुक्राचार्यकी बात सुनकर वृहस्पति हँसने लगे। उन्हें इस प्रकार हँसते हुए देखकर शुक्राचार्यने दैत्यों से कहा—"असुरगण! इस संसारमें परद्रव्यका अपहरण करनेवाले अनेक चोर हैं; किन्तु तुम्हारे सामने बैठे हुए इस व्यक्तिके समान कोई चोर विरला ही मिलेगा। तुम लोगोंकी बुद्धि मारी गई है। मेरी अनुपस्थितिमें तुम लोगोंने दूसरे व्यक्तिको अपना पुरोहित क्यों बनाया? मैं तुम्हारे कल्याणके ही निमित्त महादेवकी अराधना करनेके लिए गया हुआ था। तपस्या पूर्ण होनेपर उनका वर प्राप्तकर मैं सफल मनोरथ होकर अभी लौट रहा हूँ। किन्तु यहाँ अपने आसन पर अपने ही रूपमें बृहस्पतिको बैठा हुआ देख रहा हूँ। इसने छलसे तुम लोगोंको मोहित कर रक्खा है। इसीलिए तुम लोग कुछ भी समझ नहीं पा रहे हो। तुम लोग जल्दीसे इसे बाँधलो और समुद्रमें फेंक दो।" शुक्राचार्य की बात सुनकर वृहस्पति बड़े ही गम्भीर शब्दोंमें दैत्यराजसे बोले—राजन्! शुक्राचाय् मैं ही हूँ— इसमें आप तिल भर भी संदेह न करें, और ये—देवता हैं अथवा दानव हैं या नर हैं—मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ। जैसा भी हो ये श्रीमान् मेरा रूप धारणकर हमें ठगने और देवताओंका कोई विशेष कार्य करनेके लिये यहाँ पधारे हैं। अतः हमें इनसे सावधान रहना चाहिए।"

ऐसा सुनकर समस्त दैत्यगण एक स्वरसे बोल उठे—"साधु! साधु! आपने बिलकुल ठीक कहा है। पहले हमारे जो पुरोहित थे, अब भी वही हमारे गुरु हैं। इस नये व्यक्तिसे हमारा कोई मतलब नहीं। ये जहाँसे पधारे हैं, वहीं लौट जायँ।"

अब तो शुक्राचार्यके क्रोधका पारावार न रहा। उन्होंने दैत्योंको अभिशाप देते हुये कहा—"तुम लेगोंने मुझे परित्याग किया है। इसलिए शीघ्र ही तुम लोगोंका राज्य-पाट ध्वंस हो जायगा और घोर विपत्तिमें पड़कर तुम लोग भी मृत्युको प्राप्त होगे।" ऐसा कह कर वे तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये। वृहस्पतिकी बाधा दूर हो चुकी थी। वे कुछ दिनों तक और भी वहाँ रहकर दैत्योंका पौरोहित्य करत रहे।

एक दिन दैत्योंने वृहस्पतिसे पूछा—"गुरो! आप कृपाकर हम लोगोंको ऐसे ज्ञानका उनदेश कीजिये, जिससे हमलोग बड़ी आसानीसे इस असार संसार-सागरसे उत्तीर्ण होकर मोक्ष प्राप्त कर सकें। देवगुरु वृहस्पतिने उनकी ऐसी प्रार्थना सुनकर उत्तर दिया—"मेरी भी ऐसी ही इच्छा थी। अच्छी बात है; तुम लोग पवित्र और एकाग्र चित्त होकर मेरे निकट बैठ जावो। मैं तुम्हें उस मोक्षदायक ज्ञानका उपदेश कर रहा हूँ। देखो, इस जगतमें ऋक्, साम और यजुरादि वेदोंको प्राणियोंके लिये अतिशय दुःखप्रद समझना। वेदके बनानेवाले भण्ड थे, धूर्त थे, और पूरे स्वार्थी थे। इन्हीं स्वार्थी व्यक्तियोंने यज्ञ और श्राद्ध आदि ढकोसलोंको जन्म दिया है।

वैष्णव धर्म तथा शैव धर्म सभी हिंसासे परिपूर्ण हैं, अतः वे कुधर्म हैं। अर्द्धनारीश्वर रुद्र भूत-प्रेतोंसे घिरे रहते हैं, हड्डियोंकी माला पहनते हैं, सर्वदा अशुचि रहते हैं। भला ऐसे शिव किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं? इनका आदर्श ग्रहणकर जीव कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है? विष्णु तो सर्वदा हिंसा कार्यमें ही मग्न रहा करते हैं। फिर ये भी कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं? ब्रह्माकी तो बात ही न पूछो, ये रजोगुणका आश्रय लेकर सृष्टि कार्यमें ही निरन्तर व्यस्त रहा करते हैं। अतः इनका भी मोक्ष असम्भव ही है। वैदिक कर्मोंका अनुमोदन करनेवाले देवर्षि और महर्षिगण प्रायः सभी माँसाहारी होनेके कारण क्रूर और पापी हैं। मद्यपान द्वारा देवतावृन्द और माँसाहारके कारण ब्राह्मणगण भी किस प्रकारसे स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं? वेदोंमें यज्ञ अथवा श्राद्ध आदि कर्मोंका जैसा माहात्म्य वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण असम्भव है। यदि पशुओंकी बलिसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, तब नरकमें कौन जायगा? यदि एक व्यक्तिके भोजन करनेसे (श्राद्धमें) दूसरे व्यक्तिकी तृप्ति होना सम्भव है, तब किसीके विदेशमें जानेपर घरपर उसका श्राद्ध करनेसे वह व्यक्ति श्राद्धमें दिये गये भोजन और वस्त्रादि सामग्रियोंको क्यों नहीं पाता? आकाशमें विचरण करनेवाले ब्राह्मण भी माँस भक्षण करनेके कारण पृथ्वीपर पतित हो पड़ते हैं। मैथुनके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? चन्द्रमाने वृहस्पतिकी स्त्री ताराका हरणकर उससे बुधको जन्म दिया था। वृहस्पति उसे अपना ही पुत्र मानते हैं। इन्द्रने गौतमकी स्त्री अहिल्याका सतीत्व नष्ट किया था, अब तुम्हीं लोग बतलाओ—यह कैसा धर्म है? जहाँ इस प्रकारका धर्म प्रचलित हो, वहाँ परमार्थकी सम्भावना कहाँ?

गुरुकी ऐसी पारमार्थिक-वाणियोंको सुनकर दैत्योंको बड़ा कौतूहल हुआ। वे वृहस्पतिके चरणोंमें गिर-कर बोले—"गुरुदेव! हम लोग संसारसे सम्पूर्ण विरक्त होकर मोक्षकी अभिलाषा रखते हैं। आप कृपाकर इस भवकूपसे हमारा उद्धार करें। हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। आप हमें दीक्षा प्रदान करें और हमें यह बतलानेकी कृपा करें कि हम किस देवताका आश्रय लें? स्मरण, ध्यान, धारणा अथवा उपवास आदि किस उपायका हमें अवलम्बन करना चाहिये, जिससे हम इस संसार सागरसे पार हो सकें। हम लोग इस समय संसारमें कुटुम्बके भरण-पोषण आदि कार्योंसे सर्वथा विरक्त हो चुके हैं।"

उनकी ऐसी श्रद्धाको लक्ष्यकर देवगुरु बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि इन श्रद्धालु व्यक्तियोंको श्रुति-विरुद्ध युक्तियों द्वारा मोहित करनेसे मुझे नरकगामी होना पड़ेगा। तथा यह मत-वाद भी एक असत् और अत्यन्त हास्यास्पद मतवाद है। अब मुझे क्या करना चाहिये ऐसा सोचकर उन्होंने भगवान् विष्णुका ध्यान किया। भगवान्ने उनको दर्शन दिये और तत्क्षण महामोहको उत्पन्न कर वृहस्पतिसे बोले—"यह महामोह अपने-आप ही समस्त दैत्योंको वेदसे बहिर्भूत मतवाद द्वारा मोहित करेगा। तुम कोई चिन्ता न करो।" ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्द्धान हो गये। तत्पश्चात् महामोहने दिगम्बर और रक्ताम्बरके रूपमें प्रकटित होकर दैत्योंको जिन आपात मधुर युक्तियोंका उपदेश प्रदान किया था, वे ही लोकायत और अर्हत् (जैन) धर्मके रूपमें इस जगत्में प्रचलित हैं। ❑

# सदाचार

*—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिमयूख भागवत महाराज*

भगवद्भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। यद्यपि इस भक्तिके अनन्त भेद हैं तथापि शास्त्रोंमें ६४ प्रकारकी भक्तिको ही प्रधान माना गया है। प्रत्येक कल्याणकामी साधकको भक्तिके इन अंगोंका यथाशक्ति पालन करना चाहिए। भक्तिके ६४ अंग ये हैं—

१) गुरु पदाश्रय, २) गुरुके निकट कृष्णदीक्षा और शिक्षा, ३) विश्वासपूर्वक गुरुसेवा, ४) साधुमार्गका अनुसरण, ५) स्वधर्मकी जिज्ञासा, ६) कृष्णके उद्देश्यसे भोग-विलासका त्याग, ७) द्वारका आदि धामोंमें तथा गंगाके निकट वास, ८) जीवन निर्वाहोपयोगी यथायोग्य विषय या व्यवहार स्वीकार, ९) एकादशी, जन्माष्टमी आदि हरिवासरोंका सम्मान, १०) आँवला और पीपलके वृक्षोंको गौरव दान, ११) कृष्ण बहिर्मुख व्यक्तियोंका संग त्याग, १२) अनधिकारीको शिष्य करना, १३) आडम्बरपूर्ण उद्यमों (महोत्सव आदि) का परित्याग, १४) अनेक ग्रन्थोंका पठन-पाठन और व्याख्याणका परित्याग, १५) व्यवहारमें कृपणताका त्याग, १६) शोकादिके वशमें न होना, १७) अनय देवताओंकी अवज्ञा न करना, १८) प्राणी-मात्रको उद्वेग न देना, १९) सेवापराध और नामापराधसे सर्वदा बचना, २०) भगवान और भगवद्भक्तोंकी निन्दा आदि श्रवण न करना, २१) वैष्णव-चिह्न धारण, २२) हरिनामाक्षर धारण, २३) निर्माल्य (भगवानको दी हुई माला) आदि धारण, २४) भगवानके आगे नृत्य, २५) श्रीगुरु, वैष्णव और भगवानको दण्डवत्-प्रणाम, २६) उन्हें देखकर आसनसे उठकर अभिवादन, २७) अनुव्रज्या अर्थात् श्रीमूर्तिका अनुगमन करना, २८) भगवानके मन्दिरोंमें जाना, २९) मन्दिर परिक्रमा, ३०) अर्चन, ३१) परिचर्या अर्थात् सेवा, ३२) गान, ३३) भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा, ३४) त्रिसन्ध्या आचमनपूर्वक जप, ३५) विज्ञप्ति अर्थात् दीनतासूचक प्रार्थना, ३६) स्तव, ३७) भगवत्प्रसाद आस्वादन, ३८) श्रीचरणामृत ग्रहण, ३९) धूपमाल्यादिका सौरभ ग्रहण, ४०) श्रीमूर्तिका स्पर्श, ४१) श्रीमूर्तिका दर्शन, ४२) आरति और उत्सव आदि दर्शन, ४३) श्रीहरिके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका श्रवण, ४४) संकीर्तन ४५) स्मरण, ४६) ध्यान, ४७) दास्य, ४८) सख्य, ४९) आत्मनिवेदन, ५०) अपनी प्रिय वस्तु कृष्णको समर्पण, ५१) श्रीकृष्णके सुखके लिए निरन्तर चेष्टा, ५२) भगवानके चरणोंमें शरणागति, ५३) तुलसी सेवा, ५४) श्रीमद्भागवत आदिको सम्मान देना, ५५) भगवानके आविर्भाव स्थान मथुरा आदिका माहात्म्य श्रवण और कीर्तन करना तथा उन धामोंकी परिक्रमा आदि करना, ५६) वैष्णवोंकी सेवा, ५७) शक्तिके अनुसार सामग्रियोंसे साधुओंकी गोष्ठीमें महोत्सव, ५८) चातुर्मास्य व्रत विशेषरूपसे कार्तिक मासमें नियम-सेवा पालन, ५९) भगवानके जन्मके दिन उत्सव, ६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्तिकी पूजा, ६१) रसिक भक्तोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ आस्वादन करना, ६२) स्वजातीय आशयस्निग्ध अथवा अपनेसे श्रेष्ठ साधु-संतोंका संग, ६३) श्रीनाम संकीर्तन, ६४) मथुरा आदि भगवद्धामोंमें वास। भक्तिके इन अंगोंका श्रद्धापूर्वक पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ सदाचारका पालन करना है।

उपर्युक्त भक्त्यंगोंमें नामापराध और सेवापराधसे बचनेके लिए कहा गया है। इनमें नामापराध दस प्रकारका होता है—

१) श्रीहरिनामका महात्म्य प्रचार करनेवाले साधु-संतोंकी निन्दा करना।

२) मंगलमय भगवानके नाम, रूप गुण और लीलामें बुद्धि द्वारा भेद दर्शन करना अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी तरह भगवानके नाम, रूप, गुण और लीलाओंको भगवानसे भिन्न मानना, अथवा शिव आदि देवताओंको भगवद्भक्त न मानकर उन्हें स्वतन्त्र ईश्वर मानना।

३) तत्त्वविद् गुरुको मरणशील मानव समझना।

४) वेद और सात्वत पुराणादि शास्त्रोंकी निन्दा।

५) हरिनाम–माहात्म्यको अतिस्तुति मानना।

६) हरिनामको काल्पनिक समझना।

७) नामके बलपर पाप करते रहना।

८) अन्यान्य शुभ कर्मोंको श्रीहरिनामके समान मानना।

९) श्रद्धाहीन तथा नाम श्रवणसे विमुख लोगोंको नामका उपदेश देना।

१०) नाम–महात्म्य श्रवण करनेपर भी 'अहं' और 'मम' रूप देहात्म–बुद्धिसे युक्त होकर भगवन्नाममें अनुराग न होना।

इन दस नामापराधोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना भी सदाचारके अन्तर्गत है।

सेवापराध—पादुका पहनकर मन्दिरमें गमन, जन्माष्टमी, रामनवमी, दोल पूर्णिमा आदि भगवानके जन्मतिथियोंका पालन न करना, भगवान और भक्तोंको प्रणाम न करना, अशौच अवस्थामें भगवानको प्रणाम, एक हाथसे प्रणाम अथवा हाथमें मालिका या ग्रन्थ लेकर प्रणाम, श्रीविग्रहके सामने दूसरोंकी परिक्रमा, भगवानके सामने—पैर पसारना, जाँघ या घुटनोंको भुजाओं द्वारा बन्धनकर बैठना, शयन, भोजन, झूठ बोलना, उच्च भाषण, परस्पर बातचीत करना, झगड़ा करना, किसीको डाँटना या प्रीति करना, पर–निन्दा, पर–स्तुति, सामर्थ्य रहनेपर भी हीन या थोड़ी सामग्रियोंसे पूजन, धन रहने पर भी भगवानके उत्सवोंमें कृपणता, अनिवेदित द्रव्य भोजन, समयोपयोगी उत्पन्न द्रव्य (फल, शाक, अन्न आदि) भगवानको अर्पण नहीं कना, संगृहीत द्रव्योंका अग्रभाग दूसरोंको देकर अवशेष अंश भगवानको अर्पण करना, श्रीमूर्तिके सामने पीठ फिराकर बैठना, श्रीमूर्तिके सामने श्रीगुरुदेवके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्तिको प्रणाम करना, अन्य देवताओंकी निन्दा करना, विषयी व्यक्तियोंका अन्न भोजन करना, अन्धकार घरमें श्रीमूर्तिका स्पर्श करना, विधियोंका उल्लंघन कर स्वेच्छापूर्वक, श्रीमूर्तिकी सेवा करना, बिना शब्द किये या कोई वाद्य बजाये श्रीमन्दिरमें प्रवेश, पूजाके समय मौन भंग करना, गन्ध, माला देनेके पूर्व ही धूप दान, अयोग्य (बासी, शुष्क, मलिन आदि) पुष्पोंसे पूजन, दन्तधावन न कर पूजा करना, स्त्रीसमागमके बाद बिना स्नान किये श्रीमन्दिरमें प्रवेश, दीप स्पर्श कर, शव स्पर्शकर एवं अधौत या मलिन वस्त्र पहनकर पूजा, पूजाके समय क्रोध करना, मृतक दर्शन, श्मशानमें गमन, गाँजा और अफीमका सेवन करना, तेल लगाकर हरिसेवा करना, भक्ति–शास्त्रोंके प्रति अनादरका भाव प्रकाश करना, आसुरिक बेलाओंमें भगवत् पूजा, जमीनपर बैठकर पूजा करना, मूर्तिको स्नान कराते समय बाया हाथ लगाना, तिरछा पुण्ड्र धारण करना, बिना पैर धोये मन्दिरमें प्रवेश, अवैष्णव व्यक्तियों द्वारा रन्धन की गयी सामग्रियोंको भगवानको निवेदन करना, अवैष्णव लोगोंके सामने अर्चन, गुरु–पूजा न कर भगवानकी पूजा करना, भगवानके नामसे शपथ ग्रहण करना—ये सब सेवापराध हैं। इनका वर्जन करना भी सदाचार है।

तीव्र गन्धोंवाला अथवा गन्धहीन पुष्प भगवानको अर्पण नहीं करना चाहिए। पद्म, तुलसी, बकुल और अगस्त (बक) पुष्पोंके अतिरिक्त अन्य बासी अथवा शुष्क पुष्पोंसे पूजा नहीं होती। धतूरा, अपराजिता, सिरीस और अर्क पुष्पोंसे विष्णुकी पूजा नहीं होती। शुष्क, दलित, वासी, भूपतित, छिद्रयुक्त, कीटयुक्त, उग्र गन्धयुक्त पुष्पोंसे या जिस पुष्पको

हाथमें लेकर प्रणाम किया गया हो अथवा जलमें डुबोकर धोये गये पुष्पोंसे अर्चन नहीं करना चाहिए। अपवित्र स्थान और अपवित्र वस्तुसे संलग्न, सूँघे हुए और अधौत वस्त्रमें रखे गए पुष्प वर्जनीय हैं।

कृष्ण-कृष्ण उच्चारणपूर्वक ब्रह्ममूहुर्त्तमें शय्या त्याग करनी चाहिए। फिर हाथ-पैर धोकर दाँतोंको धोना चाहिए। अनन्तर रातके पहने हुए कपड़ोंको उतारकर दूसरे शुद्ध कपड़े पहनना चाहिए तथा श्रीगुरुदेव और श्रीकृष्णका स्मरण कर जपादि करना चाहिए। इसके बाद अपने-अपने कार्योंमें लग जाना चाहिए। प्रत्येक कार्योंमें अपने इष्टदेवका स्मरण करना चाहिए। समस्त कर्मोंको भगवानकी प्रीतिके लिए करना ही कर्त्तव्य है। भगवानकी सेवासे भगवानके सुखकी ही कामना करनी चाहिए, अपने सुख अथवा अन्यान्य किसी भी फलकी कामना नहीं रखनी चाहिए। कपटताका सर्वथा वर्जन करना चाहिए। दीन और सरल व्यक्तियोंके ऊपर ही भगवानकी कृपा होती है। कपट व्यक्ति बुद्धिमान होनेपर भी भगवानकी कृपा नहीं पा सकता। इसलिए सज्जन व्यक्तियोंको चाहिए कि वे दम्भका परित्याग कर सरल और निष्कपट होकर भगवानका भजन करें।

हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि भगवान सर्वत्र हैं और वे हमारे हृदयमें विराजमान होकर सर्वदा ही हमारी रक्षा कर रहे हैं। भगवान द्वारा प्रेरित होकर ही हम भगवानकी सेवामें लगे हुए हैं। भगवान कृपा कर हमें जिस काममें नियुक्त करते हैं, शरणागत हम उनके आदेशसे वही करते हैं। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यह भाव केवल मौखिक ही न हो, बल्कि आन्तरिकतासे पूर्ण हो। समस्त जगत भगवान द्वारा नियंत्रित, रक्षित और पालित हो रहा है—ऐसा सोचकर 'मैं कर्ता हूँ' इस अहंकारको दूर कर 'क्या करता हूँ'—इस शरणागत सेवकके अभिमानसे भगवानकी सेवा करनेकी कामना करनी चाहिए। हे भगवन! मैं कब अपना कर्त्तृत्वाभिमान छोड़कर केवल तेरी सेवाके लिए ही समस्त कर्मोंको कर सकूँगा—इस प्रकार भगवानके चरणोंमें प्रार्थना कर सेवामय जीवन बिताना ही सदाचार है।

निष्पाप वृत्तिका अवलम्बन कर जीविका निर्वाह करना चाहिए। भगवानके आश्रित व्यक्तियोंको अपने भरण-पोषणकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जो विश्वम्भर भगवान सम्पूर्ण जगतका पालन कर रहे हैं, क्या वे अपने आश्रित व्यक्तिकी रक्षा न करेंगे? भगवान अपने आश्रितोंकी अवश्य ही रक्षा करते हैं। शास्त्र कहते है—

*भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।*
*याऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानपेक्षते।।*

स्नेह और प्रलोभनके वश होकर न तो किसीका शिष्य होना चाहिए और न किसीको शिष्य ही करना चाहिए। एक वर्ष तक एक-दूसरेकी परस्पर परीक्षा करनेके बाद उचित समझनेपर गुरु-शिष्यका सम्पर्क स्वीकार करना चाहिए। ऐसा न होनेसे अमंगल होनेकी सम्भावना रहती है। जो गुरु संसारसे उद्धार कर हमें भगवानके चरणोंतक पहुँचानेका सामर्थ्य नहीं रखता, वैसे गुरुसे दूर रहकर सद्गुरुका चरणाश्रय करना ही हमारा एकान्त कर्तव्य है। यही सदाचार है।

श्रीगुरु और गोविन्दके चरणोंमें सर्वतोभावेन शरणागत होकर, निर्भय और निश्चिंत होकर आनन्दपूर्वक भगवानका भजन करना चाहिए। हरिनामके आचार्य श्रीगुरुदेवके चरणोंमें तथा हरिनाममें सुदृढ़ विश्वास रखना चाहिए। श्रीगुरु-निष्ठाके बिना श्रीनामके प्रति निष्ठा होना असम्भव है। जिसे शिक्षकके प्रति निष्ठा नहीं है, उसे उस शिक्षककी शिक्षाके प्रति कैसे निष्ठा हो सकती है? गुरुभक्ति जगतके मूलाधार या मूलभित्ति हैं। भित्ति कमजोर होनेसे साधन कैसे सफल हो सकता है? गुरुकी

कृपाके बिना भक्ति असम्भव है। इसलिए गुरुदेवको भगवानका परमप्रिय जानकर तन, मन और वचनसे उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हुए भगवानका भजन करना ही शास्त्रकी विधि है। गुरु–सेवा ही सर्वोत्तम धर्म है।

*गुरुशुश्रूषणं नाम सर्वधर्मोत्तमोत्तमम्।*

श्रीगुरुदेवकी आज्ञाका उल्लंघन कदापि नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेसे महाअपराध होता है। 'गुरोराज्ञा ह्यविचारणीया'। श्रीगुरुदेवका नाम उच्चारण करनेके समय उनके नामके पहले 'ॐ विष्णुपाद' 'श्री श्रील' आदि शब्द प्रयोगकर प्रणाम करना चाहिए। श्रीगुरुदेवकी शय्या, पादुका, आसन, वसन और छायाको कभी भी लाँघना नहीं चाहिए। उनके सामने पैर पसारना जम्भाई लेना, हँसना और जोरसे बोलना सर्वथा वर्जनीय है। गुरुदेवके सामने उनकी आज्ञाके बिना किसीको प्रणाम करना उचित नहीं है। उनके सामने पाण्डित्य अथवा प्रभुता प्रकाश नहीं करना चाहिए। जहाँ कहीं भी गुरुदेवको दर्शन करे जमीन पर गिर कर प्रणाम करना चाहिए। श्रीगुरुदेवकी अवज्ञा सहन केवल पाप ही नहीं है प्रत्युत् आत्माको अधःपतित करनेवाला महापराध है। गुरुको उपदेश नहीं देना चाहिए। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृतमें बड़े ही दुःखके साथ लिखा है—'शिष्य हईया गुरुके कहे, भय नाहि करे। साधु और गुरुकी बातोंका प्रतिवाद न कर उनका हृदयानुवाद कर लेना चाहिए। इसीसे कल्याण होगा।

यथासाध्य पवित्र होकर हरिसेवा करनी चाहिए। श्रीहरिनामको साक्षात् जगदीश्वर, नित्याराध्य, नित्योपास्य और प्राण–प्रिय समझना चाहिए। श्रीनामको ही अपना जीवन बनाना चाहिए। ऐसी चेष्टा करनी चाहए, जिससे हमारा जीवन हरिनाममय हो उठे। चलते–फिरते, उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–जागते, दिन–रात सब समय हरिनाम करना हमारा अवश्य कर्तव्य है। तृणसे भी दीन–हीन, वृक्षकी तरह सहिष्णु, अमानी और मानद होकर सर्वदा हरिनाम करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ और यत्नशील होना होगा। श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीभागवत–पत्रिका और अन्यान्य नित्यमंगलकर शास्त्र–समूहका अनुशीलन करना चाहिए। अपने इष्ट श्रीगुरुदेव, श्रीगोविन्द, महामन्त्र, श्रीनाम, शास्त्र और भक्त आदि नित्यवस्तुओंके प्रति आन्तरिक प्रीति होनी चाहिए। अनित्य वस्तु या व्यक्तियोंके प्रति आसक्ति या प्रीति बन्धनका कारण है, किन्तु श्रीहरि–गुरु–वैष्णवोंके प्रति जो प्रीति होती है, वह भगवत्प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। ❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नामजप साधना

*—डॉ० सत्यपाल गोयल*

*अत्रासीत्किल नन्दसद्म शकटस्यात्राभवद्भञ्जनं*
*बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभूद्बद्धोऽत्र दामोदरः*
*इत्थं माथुरवृद्धवक्त्र विगलत्पीयूषधारां पिव–*
*न्नानन्दाश्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम्?*

(श्रीपद्यावली)

श्रीश्यामसुन्दरके वास स्थानमें प्रीति संबन्धी उद्धरण श्रीपद्यावलीमें निम्न प्रकार उपलब्ध है—

इस स्थल पर अवश्य ही श्रीनन्दजीका निवास था। यहीं पर शकटका भंजन हुआ था। यहीं पर श्यामसुन्दरको ऊखलसे बाँधा गया था—इस प्रकारकी लीला कथाओंका श्रवण मैं व्रजवासियोंके मुखारविन्दसे कब कर सकूँगा और कब मुझे वहाँ वासकर भ्रमण करनेका अवसर मिलेगा?

इस प्रकार श्रद्धा, साधुसंग, भजनक्रिया, अनर्थ–

निवृत्ति आदि सोपानोंको पार करने पर भाव संचरण होता है।

श्रीगोस्वामीपादने सावधान करते हुए लिखा है कि—

*व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।*
*मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद्भवेदेषा रतिर्न हि।।*

(भ.र.सि.)

कर्म, ज्ञान और योग साधक और मुक्ति चाहने वालोंमें भी उक्त प्रकारके लक्षण कभी कभी दिखायी पड़ते हैं, परन्तु वे लक्षण भक्तियुक्त नहीं होते हैं। उनमें वास्तविक प्रेम भावका उदय नहीं होता है। अतएव झूठे प्रेम लक्षणोंको देखकर उन्हें कृष्णप्रेमी समझकर उनका संग नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगोंका संग करनेसे शुद्ध प्रेमी साधकोंके भाव भी लुप्त होने लगते हैं। अतएव बहुत सावधान होकर सजातीय एवं सभावीय शुद्ध प्रेमी भक्तोंका संग करना चाहिए अन्यथा भाव भंगकी संभावनाओंसे बचा नहीं जा सकता है।

लाखों करोड़ों लोग निरन्तर कृष्ण नामका जप करते हैं परन्तु उनको यह कहते सुना जाता है कि हमें आज तक न तो कृष्णप्रेम प्राप्त हुआ और न ही किसी प्रकारकी अनुभूति हुई है। उनका कहना यथार्थ है। या तो वे पूर्ण निष्ठाके साथ जप न करके मात्र यंत्रवत् जपकर रहे हैं या नामापराधयुक्त जप कर रहे हैं जिसके भयंकर दुष्परिणाम भजन मार्गमें देखे जाते हैं।

भजन मार्गमें नामापराध, सेवापराध, वैष्णव-अपराध तथा धामापराधोंसे दूर रहकर भजन करनेसे कृष्णप्रेम अति सुलभ है—इसमें कोई संशय नहीं है। इन अपराधोंका वर्णन हम आगामी पृष्ठोंमें करेंगे।

*नामापराधायुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघाम्।*
*अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि यत्।।*

(पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ४८/४९)

अर्थात् नामापराधसे उत्पन्न दोष निरन्तर नामजपसे ही दूर हो सकता है। अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है।

समझदार साधकोंको चाहिए कि वे नाम-अपराधसे दूर रहकर ही भजन साधन करें। अपराध रहित नाम जप होनेपर बहुत शीघ्र शुद्ध नामका जप होने लगता है। कृष्ण नाम कृपा करके साधककी रसना पर आ विराजते हैं। अनेक बार ऐसा भी होता है कि नाम जपके समय शरीरमें रोमांच भी होने लगता है फिर भी शुद्ध नाम जप नहीं होता है।

*नामैकं यस्यवाचि स्मरण पथगतं श्रौतमूलं गतंवा*
*शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम् तच्चेद्*
*देह द्रविण जनता लोभ पाषाण मध्ये निक्षिप्तं स्यान्नफलं*
*जनकं शीघ्रमेवात्र विप्र।*

(पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ४८/६०-६१)

अर्थात् एक भी कृष्ण नामका किसीके जीभसे उच्चारण होता है। या उसके कर्ण विवरोंमें प्रवेश करता है या उसकी स्मृतिमें आता है, तो वह भी उसका उद्धार कर देता है। नाम उच्चारणमें नामके अक्षरोंके शुद्ध अशुद्ध उच्चारणका महत्त्व नहीं है। परन्तु यदि कृष्ण नामका उच्चारण या जप किसी सांसारिक उपलब्धिके लोभवश किया जाता है तो नाम प्रभु इस गौण फलको प्रदान कर देते हैं, किन्तु साधकको शुद्ध कृष्णप्रेम एवं सेवाकी प्राप्ति नहीं होती है। साधनामें भाव और उद्देश्यकी ही प्रधानता रहती है। यदि आपका उद्देश्य जागतिक विषयोंकी प्राप्ति है तो कभी कृष्णप्रेम नहीं मिल सकता है और यदि आपका भाव केवल कृष्णसुखैक तात्पर्यमय है तो बहुत शीघ्र ही कृष्ण नाम कृपाकर स्वयं अपनेको ही दे डालेंगे—इस भावके स्थिर रहने पर नामापराधकी संभावनाएँ नहीं रहती हैं।

शास्त्रोंमें दस प्रकारके नामापराधोंका प्रधान

रूपमें उल्लेख मिलता है। कृष्णप्रेमके भावके अतिरिक्त जितनी भी भावनाएँ हैं, वे सभी किसी न किसी रूपमें नामापराधयुक्त होती हैं। श्रीपद्म पुराणमें दस नामापराधोंका वर्णन निम्न प्रकार है—

### *संतोंकी निन्दा*

*सतां निन्दानाम्नः परमपराधं वितनुते।*
*यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्।।*

अर्थात् यदि कोई कृष्णनामका जप करता है और वैष्णव संतोंकी निंदा भी करता है तो नामप्रभु सहन नहीं करते हैं—क्योंकि संतजन ही संसारमें कृष्णनामकी महिमाका प्रचार व प्रसार करते हैं। वे स्वयं भी कृष्ण नामका जप करते हैं और दूसरे लोग, जो भटक गये हैं या संसारके विषय भोगोंमें लिप्त है, उन्हें भी प्रेरितकर कृष्ण नामका जप करवाते हैं। संत उनको प्राणसे भी प्रिय हैं। उन प्राणोंसे भी प्यारे संतोंकी निन्दा नामप्रभु सहन नहीं कर पाते हैं। अतएव संतोंकी निन्दा प्रथम नामापराध है। इससे सदैव बचना चाहिए। कभी भी संतोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। सदैव कृष्णप्रियोंको प्रणाम करना चाहिए, उनका पदानुगमन करना चाहिए। सदैव उनको उच्चासन देकर स्वयं उनसे निम्न आसन पर बैठना चाहिए। उनके वचनों पर विश्वास करना चाहिए। जहाँ वे निवास करते हैं, उसका मार्जन करना चाहिए। किसी भी रूपमें उनकी उपेक्षा, तिरस्कार आदि नहीं करना चाहिए। जहाँ संत निन्दा हो रही हो वहाँ समर्थ रहने पर उसका प्रतिकार करना चाहिए, अन्यथा वह स्थान छोड़कर अन्यत्र चला जाना चाहिए। जो संत निन्दक हैं उनका कभी संग नही करना चाहिए। कभी–कभी संतके जीवनमें भी कुछ विकार दिखलायी पड़ते हैं, उन्हें अनदेखा कर देना चाहिए। जिस प्रकार गंगाजीमें भी गंदला पानी और फेन दिखायी पड़ते हैं, पर इससे उसकी पवित्रतापर कोई आँच नहीं आती।

### *शिव और कृष्णको समान मानना*

*शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलं।*
*धियाभिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः।।*

अर्थात् इस संसारमें मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा परम मंगलमय श्रीकृष्णके नाम, गुण, रूप, लीला आदिमें तथा शिव आदि देवताओंको श्रीविष्णुसे अभिन्न (धियाभिन्न) मानते हैं उनका नामापराध निश्चित ही अहितकर हैं।

श्रीशिवजी परम संत हैं। उनको भगवान कृष्णने इस सृष्टिका विनाशका अधिकार सौंपा है, जो श्रीहरिके तामसी गुणका कार्य है। अतएव शिव श्रीकृष्णके गुणावतार हैं। वे निरन्तर कृष्णनामका जप कर अपने इस दायित्वका निर्वहन करते हैं। जिसने भी शिवको स्वतंत्र ईश्वरके रूपमें मानकर साधनाकी है, उसको असुर भाव ही प्राप्त हुआ है स्वयं शिव भी इस भावसे की गयी आराधनाको स्वीकार नहीं करते हैं।

पद्मपुराणमें ही श्रीशिव एक स्थल पर कहते हैं कि स्वयं मैंने युगल मंत्रका जपकर श्रीवृन्दावनधाममें श्रीकृष्णके युगल रूपके दर्शन उनके परिकरों सहित किया है। मेरे जैसे करोड़ों शंकर उनके एक अंशसे निर्मित हैं तथा एक–एक ब्रह्माण्डका कार्यभार संभालते हैं। अतएव श्रीशिव किसी भी प्रकारसे अधिक तो क्या उनके बराबर भी नहीं हैं।

### *गुरुकी अवज्ञा*

श्रीकृष्णनाम तत्त्वविद् गुरुमें साधारण मनुष्यकी बुद्धि रखना, उनको मरणशील समझना तथा उनकी अवज्ञा करना, उनको कटु वचन बोलना, उनके निकट अभद्रतापूर्वक उठना, उनके सामने जोरसे बोलना, उनकी अवहेलना करना, स्वयं उच्च आसन पर बैठना, स्वयंको उनसे अधिक योग्य और उच्च संत मानना, उनकी सेवा न करना, उनकी छायाका उल्लंघन करना, वे जब किसीसे वार्ताकर रहे हों

उनके बीचमें बोलना, उनको प्रणाम न करना, उनके द्वारा प्रदत्त मंत्रको दूसरोंके समक्ष प्रकट करना आदि नामापराधकी सीमामें आते हैं। एक तथ्य निश्चित जानिये—यदि कृष्ण नाराज हो जायें तो गुरु उनको मना सकते हैं, किन्तु गुरुके असंतुष्ट या नाराज हो जाने पर कृष्ण भी उनको मना नहीं सकते। अतएव इस अपराधका कोई शोधन नहीं है। परम सावधानीके साथ गुरुसेवा करते हुए नामजप करनेसे कृष्ण प्रेम पानेमें विलम्ब नहीं होता है, क्योंकि गुरुकी कृपासे क्या असम्भव है?

### *श्रुतिशास्त्र निंदा*

पाश्चात्य दर्शन एवं चिन्तनके प्रभावमें कतिपय भारतीयोंकी यह धारणा होती जा रही है कि वेद-पुराणोंमें जो कुछ लिखा है, वह सब कल्पना पर आधारित है, जिसमें ब्राह्मणों एवं उच्च वर्णके लोगोंका पक्ष लिया गया है। अतएव इनकी बातें गतयुगीन हैं, आजके सन्दर्भमें उनका कोई महत्त्व नहीं है। पण्डितोंके तर्क-वितर्क पर आधारित कथा कहानियाँ हैं, जो साधारण लोगोंको धर्मकी घुट्टी पिलानेके लिये लिखे गये हैं, ताकि राजा-महाराजाओं और सामन्तोंका जनता पर वर्चस्व बना रहे। इस प्रकारके तथ्यहीन नास्तिक विचार व्यक्त कर जो साधक श्रुति शास्त्रोंकी निंदा करते हैं अथवा सुनते हैं, उन्हें नामापराध लगता है। वेद अपौरुषेय हैं, उनकी वाणी स्वयं भगवानकी वाणी है। घोर नास्तिक एवं भौतिकवादी, जिनका अस्तित्वमें विश्वास नहीं है, किन्तु स्वयंके अस्तित्वको मानते हैं, वे ही श्रुति शास्त्रोंकी निंदा करते हैं। न तो साधकको वेद-पुराण शास्त्रोंकी निंदा करनी चाहिए और न ही सुननी चाहिए।

### *अर्थवाद*

प्रत्येक श्रुति, उपनिषद, पुराण और वेदोंमें श्रीकृष्ण नाम, राम नाम, विष्णु नामकी महिमा गायी गयी है।

जीभसे कृष्णनामके स्पर्श मात्रसे करोड़ों जन्मोंके संचित पाप भस्मीभूत हो जाते हैं। जीवका उद्धार हो जाता है। उन्हें कृष्णप्रेम प्राप्त होता है। वैकुण्ठ लोक, वृन्दावनकी प्राप्ति होती है। जीवका हृदय शुद्ध होकर उसमें भक्ति देवी विराजित होती हैं। स्वयं श्रीकृष्ण रसना पर नृत्य करने लगते हैं। एक नामके प्रभावसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका उद्धार हो सकता है। इस प्रकारकी महिमा सभी धर्मग्रन्थों तथा संतोंने गायी है। इसे मात्र अर्थवाद समझना घोर नामापराध है। असंख्य साधुजनोंने नामकी महिमाका अनुभव अपने जीवनमें किया है। जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशालामें रासायनिक सूत्रोंको प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जाता है। एक बार विज्ञानके सिद्धान्त असफल हो सकते हैं परन्तु नामकी महिमा जो शास्त्रोंमें गायी गयी है, वह असिद्ध नहीं हो सकती है। केवल नामके प्रभावसे ही सारा संसार प्राणवान है। नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। नामी से भी अधिक शक्ति नाममें है। इस प्रकार अंतिम श्वास तक विश्वास करना चाहिए। जो लोग नामकी महिमाको केवल अर्थवाद मानते हैं, वे घोर नर्ककी ओर प्रयाण करते हैं तथा नाम भगवानके श्रीचरणोंमें जघन्य अपराधी हैं। उनकी इस अपराधसे मुक्ति केवल गुरु-वैष्णवकी कृपासे ही संभव है। अतएव साधकको चाहिए कि वे नामकी महिमामें पूर्ण विश्वास रखें—

*"राम न सकें नाम गुण गायी"*

नामके गुणोंकी महिमाको स्वयं राम भी नहीं गा सकते हैं। संतोंके हृदयमें नाम विश्राम करते हैं। नाम संतोंके प्राण हैं। अतएव संतोंने ही नामको समझा है और अनुभव किया है। उनके सत्संगसे और साधनासे ही नाम तत्त्व एवं उसकी महिमाकी वास्तविक अनुभूति संभव है।

जैसा कि पूर्वमें कहा गया है कृष्ण नाम या राम नाम कल्पित नहीं है। श्रीनाम अचिन्त्य हैं।

वे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके गोचरीभूत नहीं हैं। नित्यशुद्ध हृदयमें ही उनके वास्तविक स्वरूप प्रभावकी अनुभूति संभव है। कोटि कोटि जन्मोंसे जीवका मन, हृदय और वासनाएँ इतनी अशुद्ध हो गयी हैं कि उनको शुद्ध करनेके लिये नामका जप ही एममात्र साधन है। नाम जप ही निबिड़ अंधकारको, पलक झपकनेमें जितनी देर लगती है उसके सौवें भागसे कम समयमें ही दूर कर, जीवके हृदयको परम शुद्धकर उसमें भगवत्स्वरूप एवं उनके प्रेमको प्रकाशित कर सकते हैं। अतएव हरिनाम कल्पना नहीं है। जो इसे कल्पना मानते हैं उनको नामापराध लगता है।

### *नामके बल पर पाप करना*

श्रीकृष्ण नाममें करोड़ों जन्मोंके संचित पापोंको एक क्षणमें भस्मीभूत करनेकी शक्ति सन्निहित है। इस आधार पर यदि कोई व्यक्ति यह सोचकर पाप भी करता रहे और नाम जप भी करता रहे कि मेरे पाप तो नाम जपके प्रभाव से नष्ट हो जायेंगे, तो यह नामापराधकी सीमामें आता है। नामके बलपर पाप करने वाले व्यक्तिका कभी उद्धार नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसा करना नामकी शक्तिका घोर दुरुपयोग है। अतएव स्वप्नमें भी इस प्रकारकी धारणा रखकर पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। ❑ (क्रमशः)

# वैष्णव अपराध कितना भयंकर होता है

वैष्णव अपराध किसे कहते हैं? उत्तर है—जो विष्णुकी सेवा करते हैं, विष्णुका नाम जप करते हैं; विष्णु ही जिनके सर्वस्व हैं, उन्हें वैष्णव कहते हैं और ऐसे वैष्णवोंके प्रति अपराधको वैष्णव अपराध कहते हैं। जो वैष्णव–सन्तोंकी हत्या करते हैं, निन्दा करते हैं, द्वेष करते हैं, उन्हें देखकर प्रणाम आदि नहीं करते, उनके प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं तथा उनके दर्शनसे आनन्दित नहीं होते—ऐसे मूढ़ व्यक्तियोंको वैष्णव अपराध लगता है। वे अपने पितरोंके साथ महारौरव नरकमें पतित होते हैं।

साधारण मनुष्य कल्पना तक नहीं कर सकता कि वैष्णव अपराधका फल कितना भयंकर होता है; अतः नीचे वैष्णव अपराधका कुछ परिचय दिया जा रहा है—

एक दिन अखिल ब्रह्माण्ड–नायक श्रीचैतन्यदेवने श्रीनिवास प्रभुके घर अपने भगवत्–भावका प्रकाश किया। सभी भक्त प्रेम–भक्तिका वरदान पा–पाकर कृतार्थ हो रहे थे। भक्तोंने श्रीशची माताको प्रेमभक्ति प्रदान करनेके लिये उनसे अनुरोध किया। किन्तु महाप्रभुने उनकी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए कहा—"इन्होंने श्रीअद्वैताचार्यके चरणोंमें अपराध किया है। यदि ये अद्वैताचार्यजीसे क्षमा माँगें और यदि अद्वैताचार्यजी इन्हें क्षमा कर दें, तभी ये प्रेम–भक्तिकी अधिकारिणी हो सकती हैं; अन्यथा नहीं। वैष्णव अपराध बड़ा ही भयङ्कर होता है। मैं इन्हें कदापि क्षमा न कर सकूँगा। वैष्णव अपराधीको वही क्षमा कर सकता है, जिनके चरणोंमें अपराध किया गया है।"

श्रीमहाप्रभुके बड़े भाईका नाम विश्वरूप था। ये अद्वैतप्रभुकी संस्कृत पाठशालामें अध्ययन करते थे। ये स्वभावसे ही परम विरक्त थे। कुछ बड़े होने पर संसार–धर्मके प्रति विरक्त होकर संन्यास लेकर घरसे निकल पड़े थे। शचीमाताने मन–ही–मन सोचा कि अद्वैताचार्यकी शिक्षासे ही मेरे नवयुवक पुत्रने हमें छोड़कर संन्यास ले लिया है; किन्तु वैष्णव अपराध होनेके डरसे प्रकट रूपमें उस समय कुछ नहीं बोलीं। किन्तु जब विधवा माँ और नव–विवाहिता पत्नीके एकमात्र सहारा श्रीचैतन्यदेव भी संसार धर्मके प्रति अनासक्त होकर अद्वैताचार्यके संगमें सदा भक्तिरसके आस्वादनमें ही मत्त रहने लगे, तव शचीदेवीने दुःखसे कातर होकर

कहा था—"ओह! अद्वैताचार्य कितने निष्ठुर हैं। मेरे एक पुत्रको संन्यासी बनाकर इनका पेट न भरा, अब मेरे दूसरे पुत्र को भी हमसे छीन लेना चाहते हैं।" शचीदेवीका यही अपराध था, जो उनकी प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हो रहा था।

अन्ततोगत्वा शचीमाताको लेकर भक्तगण अद्वैताचार्यके निकट पहुँचे। अद्वैताचार्य बड़े लज्जित हुए और शचीमाताका गुणगान करते-करते प्रेममें विभोर हो गये। सुयोग देखकर शचीमाताने उनकी चरण-धूलि उठा कर मस्तक पर धारण कर ली। चरण-धूलिका धारण करना था कि वे भी कृष्ण-प्रेममें विभोर हो गयीं। इस प्रकार अद्वैताचार्यके चरणोंमें क्षमा माँगकर भयंकर वैष्णव अपराधसे मुक्ति पायीं।

एक समय देवल ऋषि एक सरोवरमें स्नान कर रहे थे। उसी सरोवरमें हूहू नामक एक गन्धर्व भी सुरा-पान कर अप्सराओंके साथ जल-विहारमें मत्त हो रहा था। सुरापानके कारण उसकी कामुकता लज्जा और भय की अन्तिम सीमा भी पार कर गयी थी। वह ज्ञानशून्य होकर जलमें डूबकर ऋषिके पैरोंको खींचने लगा। देवल ऋषिने उसे उचित शिक्षा देनेके लिये शाप दिया—"अरे पापिष्ठ! तू अबसे मगर होकर ही इस पापका फल भोग।" ऋषिके अभिशापसे उस दुराचारीने शीघ्र ही मगर होकर जन्म लिया।

प्राचीन कालकी बात है। पाण्ड्य देशके इन्द्रद्युम्न नामक एक बड़े ही धर्मात्मा राजा थे। उन्होंने एक समय मलय पर्वतमें एक कुटी बनवायी और मौनव्रत धारण कर वहीं भगवद् आराधनामें मग्न हो गए। एक दिन महर्षि अगस्त्य अपने शिष्योंके साथ घूमते-घामते उनकी कुटी पर पधारे। किन्तु राजाने भगवद् भजन छोड़कर महर्षिका अभिवादन करना अनावश्यक समझा। इसलिये वे अभ्यर्थना करना तो दूर रहे, आसनसे उठे भी नहीं। राजाकी उद्दंडता देखकर महर्षिके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने राजाको अभिशाप देते हुए कहा—"अरे नीच! तू धनैश्वर्यके मदमें मत्त होकर संतोंका सम्मान करना भी भूल गया है। तू हाथीका जन्म लेकर वैष्णव अवज्ञाका फल भोग।" महर्षिके शापसे इन्द्रद्युम्न राजाने हाथी होकर वैष्णव अपराधका फल भोगा।

श्रीनिवास पण्डित श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके प्रधान भक्तोंमें से थे। संन्यास लेनेसे पूर्व श्रीमन्महाप्रभुजी इन्हींके घर अपने प्रिय भक्तोंके साथ कीर्त्तन किया करते। किन्तु वह कीर्त्तन सार्वजनिक नहीं होता था। कृष्ण-बहिर्मुख और भक्त-द्वेषियोंका वहाँ प्रवेशाधिकार न था। रातमें दरवाजा बन्द कर दिया जाता और सारी रात उच्च स्वरसे संकीर्त्तन होता। उस समय नवद्वीपमें चापाल गोपाल नामक एक अत्यन्त पाषण्डी ब्राह्मण रहता था। एक दिन उसकी इच्छा यह देखनेको हुई कि ये लोग सारी रात दरवाजा बन्द कर क्या करते हैं? किन्तु महाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन कौन करता? फलतः वह भीतर न जा सका। इससे वह क्षुब्ध होकर रातमें संकीर्त्तन भवनके बन्द दरवाजेके सामने मद्य, मांस, जावापुष्प आदि बहुत सी अपवित्र वस्तुएँ रख आया। प्रातःकाल दरवाजा खुलनेपर उन अपवित्र पदार्थोंको पड़ा हुआ देखकर श्रीनिवास प्रभु हाय! हाय! करने लगे। कुछ दिन बीतते-न-बीतते ही चापाल गोपाल महाकुष्ठ रोगसे छट-पट करता हुआ रास्तेके बगलमें कराह रहा था।

अन्तमें महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीनिवास प्रभुके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने पर वह इस भयंकर रोगसे मुक्त हो सका। अब वह महाप्रभुजीका भक्त हो गया।

एक समय ब्रह्माजीने एक अतिशय रूपवती कन्याकी सृष्टि की। भगवद्भक्तोंके चरित्रको समझना देवताओंके लिये भी कठिन ही नहीं असम्भव होता है। ब्रह्माजी उस कन्याके प्रति अत्यन्त कामासक्त जैसी चेष्टाएँ करने लगे। उस समय ब्रह्माके छः पौत्रगण जो सिद्ध पुरुष थे—ब्रह्माकी अवस्था देखकर जोरोंसे हँस पड़े। फल यह हुआ कि उनका वैष्णव अपराध हो गया। वे उसी समय स्वर्गसे च्युत होकर जन्म जन्मान्तर तक नाना-प्रकारकी योनियोंमें

भटकते रहे। एकबार हिरण्यकशिपुके पुत्रके रूपमें पैदा हुए और इन्द्रके वज्रसे निहत भी हुए। अन्तमें देवकीके गर्भसे पैदा होने पर मामा कंसके हाथोंसे निर्दयतापूर्वक मारे गये। कंसके मारे जानेपर कारामुक्त देवकी अपने पुत्रोंके शोकसे विह्वल हो गई और कृष्णसे उन्हें लौटा लानेके लिये अनुरोध किया। कृष्ण द्वारा लाए गये अपने पुत्रोंको देखकर देवकीका वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा। वे इन्हें अपना स्तन पान कराने लगीं। भगवान् कृष्ण द्वारा पान किये गये स्तनोंका पान करते ही वे अपने पूर्व वैष्णव अपराधसे मुक्त हो गए और भगवान् कृष्णकी स्तुति तथा माता–पिताको प्रणामकर पुनः ब्रह्मलोक चले गए। वहाँ ब्रह्माके चरणोंमें गिर पड़े।

यदि सिद्ध पुरुषोंको भी वैष्णव महात्माओंकी अवज्ञा आदि करनेसे ऐसा दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, तब असिद्ध पुरुषोंकी बात ही क्या है?

एक समय कैलाशमें देवताओं और ऋषि–मुनियों की एक विराट् सभा हो रही थी। महायोगेश्वर श्रीशिव पार्वतीदेवीको अपनी गोदमें बैठाकर एक हाथसे उन्हें आलिङ्गन किये हुए सबके बीच एक उच्च आसन पर विराजमान हो रहे थे। दैवयोगसे महायोगी चित्रकेतु विमान पर बैठकर आकाश मार्गसे कैलाशसे होकर कहीं जा रहे थे। वे महेशको ऐसी अवस्थामें बैठे देखकर जोरोंसे हँस पड़े तथा पार्वतीको सुना–सुनाकर अपने गुरुभ्राता श्रीशिवके चरित्रकी कुछ व्यंगपूर्ण बुरी–भली आलोचना भी करने लगे। पार्वतीजी चित्रकेतुकी ऐसी धृष्टता देखकर क्रोधसे काँपती हुई बोलीं—"अरे मूढ़! जान पड़ता है कि ब्रह्माजी, भृगु, नारद और जनकादि परमर्षि, कपिलदेव और मनु आदि बड़े–बड़े महापुरुष धर्मका रहस्य नहीं जानते। क्योंकि ये लोग श्रीशिवके चरित्रकी निन्दा नहीं करते। ब्रह्मा आदि समस्त देववृन्द जिनके चरण–कमलोंका ध्यान करते हैं, जो समस्त मङ्गलोंके मंगलस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु शिवका तूने साक्षात् तिरस्कार करनेका दुस्साहस किया है? तू बड़ा ढीठ और अहङ्कारी हो गया है। तुझे भगवान् श्रीहरिके चरण–प्रांतमें वास करनेका अधिकार नहीं। दुर्मते! तू पापमय असुर योनिको प्राप्त हो।" चित्रकेतु मृत्युलोकमें वृत्रासुर नामक एक भक्त हुए थे।

नलकूबर और मणिग्रीव—ये दोंनों कुबेरके पुत्र थे। एक समय वे दोनों भाई सुरापान कर कैलाशके एक सुरम्य सरोवरमें नग्न होकर अप्सराओंके साथ जल–विहारमें मस्त थे। सुरापान और कामुकताका इतना गहरा नशा हुआ कि उन्हें तनिक भी काण्डज्ञान न रहा। अचानक देवर्षि नारद उसी सरोवरसे होकर निकले। अप्सराओंको तो काटे खून नहीं। उन्होंने जल्दीसे दौड़कर अपने–अपने वस्त्रोंको पहनकर देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम किया और लज्जित भावसे दृष्टि नीची कर पैरोंसे नीचेकी जमीन कुरेदने लगीं, मानों मूक भाषामें अपने कुकर्मोंकी क्षमा माँग रहीं हों। किन्तु वे दोनों भाई सुरापानसे इतने मतवाले हो रहे थे कि उन्होंने देवर्षिकी तनिक भी परवाह न की, बल्कि अप्सराओंको इस प्रकार कपड़े पहन कर नारदके निकट देखकर वे झुँझला उठे। देवर्षि उन्हें इस प्रकार उच्छृङ्खल, निर्लज्ज और संतोंकी अवज्ञा करनेवाला देखकर शाप देते हुए बोले—"तुम लोग इस देव–स्थानमें वास करनेके योग्य नहीं हो। इसलिये तुम दोनों वृक्ष–योनिको प्राप्त हो जाओ।" तबसे ये लोग हजारों वर्षों तक गोकुलमें यमलार्जुन वृक्षके रूपमें पड़े रहे। अन्तमें नन्दनन्दन श्रीगोपालकी कृपासे उन्हें वृक्ष–योनिसे छुटकारा मिला।

श्रीदेवानन्दजी कुलिया नवद्वीपके एक प्रख्यात ब्राह्मण पण्डित थे। उच्च कुल, विराट पाण्डित्य, तिस पर भी फलाहार और दुग्धपान—यह सब उनकी विख्यातिके लिये कम न था। श्रीमद्भागवतकी ऐसी सुन्दर व्याख्या करते कि सुननेवाले हिलना तक भूल जाते। महाप्रभुके प्रिय भक्त श्रीनिवास भागवतके बड़े ही प्रेमी थे। एक दिन वे भी देवानन्द पण्डितकी सभामें श्रीमद्भागवतका श्रवण करने पहुँचे। अतीव मधुर व्याख्या चल रही थी। श्रीमद्भागवतके मधुर श्लोकोंको श्रवणकर श्रीनिवासके

शरीरमें पुलक, कम्प आदि तथा नेत्रोंसे निरंतर अश्रु-प्रवाह आदि अष्टसात्विक विकार होने लगे। वे कृष्ण-विरहजनित खेदसे क्रंदन करते-करते बाह्य ज्ञानशून्य हो पड़े। अवैष्णव देवानन्द पण्डितने भक्तके अष्ट-सात्विक विकारोंको समझनेमें असमर्थ होकर अपने शिष्यों द्वारा उन्हें सभा स्थलसे बाहर निकलवा दिया। श्रीमन्महाप्रभु उसे कब सहन कर सकते थे। वे बड़े ही क्रुद्ध हुए और बोले—"उसने मेरे भक्तका अपमान किया है। उस बेटेको श्रीमद्भागवत पाठ करनेका अधिकार नहीं।" इतना कहकर वे देवानन्द पण्डितको दण्ड देने दौड़े, किन्तु वे भक्तोंके अनुरोधसे लौट पड़े।

देवानन्द पण्डित पश्चातापकी अग्निमें जल रहे थे। वे महाप्रभुके चरणोंमें गिर कर क्षमा माँगना चाहते थे। किन्तु साहस न होता था। महाप्रभुजी संन्यास लेकर जब कुलियाँ पहुँचे, देवानन्द पण्डितने अत्यन्त कातर होकर उनके चरणोंपर गिरकर रोते-रोते क्षमा माँगी। करुणावरुणालय श्रीचैतन्यदेवने उन्हें हृदयसे लगा लिया तथा अपने भक्तके रूपमें अङ्गीकार कर लिया। इस प्रकार उन्हें वैष्णव अपराधसे मुक्ति मिली। इसीलिये कुलिया तभीसे 'अपराध भञ्जन पाट' के नामसे प्रसिद्ध है।

साधो सावधान! वैष्णव अपराध बड़ा ही भयंकर होता है। यह भयानक मतवाला हाथी है जो भक्ति-लताको अनायास ही समूल उखाड़ फेंकता है। एक बार मत्त हो जाने पर इसे शान्त करना कठिन होता है। अतः इससे सर्वदा बचनेका प्रयत्न करना चाहिये। ❑

—[श्रीगौड़ीय पत्रिका (बंगला) के एक लेख के आधार पर]

# गुरुके ऊपर गुरुगिरी

लोक समाजमें एक लोकोक्ति है—'गुरुके ऊपर गुरुगिरी' या 'खुदाके ऊपर खुदागिरी'। इसका अर्थ है—शिक्षादाताको शिक्षा देनेकी चेष्टा करना। बहुतसे लोग ऐसे होते हैं कि वे शिष्य बन ही नहीं सकते, कोटि-कोटि जन्मोंमें बन भी जायेंगे कि नहीं, इसमें सन्देह है। अथच ऐसे लोग गुरु और वैष्णवोंके छिद्रोंका अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इन्हें निर्विशेषवादी कहा जाता है।

कोई कोई स्वयं भगवान श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र और श्रीचैतन्यदेव तकमें भूल और दोष दिखाते हैं। "श्रीकृष्णने पाण्डवोंके प्रति पक्षपात किया था, वे दुर्नैतिक थे। रामचन्द्र स्त्रैण थे। श्रीचैतन्य देवने स्त्री और माताको अनाथकर अन्याय कार्य किया था अथवा जगाई-मधाई द्वारा अत्याचारके समय उन्होंने चक्र-चक्र चिल्लाकर अत्यन्त क्रोधका प्रकाश किया था, वे नाना प्रकारके उत्कृष्ट द्रव्योंका भोजन करते थे।" इत्यादि बातों द्वारा खुदाके ऊपर खुदागिरी करते हैं।

रामचन्द्र पुरी नामक एक संन्यासीने श्रीचैतन्यदेवकी कुटीसे अनेक चीटियोंको निकलते देख यह दोषारोपण किया था कि महाप्रभु संन्यासी होकर भी मिठाई खाते हैं। यही है खुदाके ऊपर खुदागिरी। रामचन्द्रपुरीने अपने गुरुदेव श्रीमाधवेन्द्रपुरीको कृष्णप्रेममें क्रन्द्रन करते हुए देखकर यह कहा था कि आप ब्रह्मविद् हैं, आपके पक्षमें क्रन्द्रन करना अनुचित है। गुरुदेवको इस प्रकारकी शिक्षा देनेकी चेष्टा गुरुके ऊपर गुरुगिरी करना या निर्विशेषवाद है। इसके समान पाषण्डता और कुछ भी नहीं है। ऐसे लोगोंका कभी मंगल नहीं होता है। कोई कोई व्यासकी भ्रान्ति दिखानेकी चेष्टा करते हैं, इससे कुछ लोग उन्हें भ्रान्त मानते भी हैं। उन्हें भ्रान्त होनेकी आशंकाकर उनकी बातोंकी लीपापोती करनेकी चेष्टा भी करते हैं। ये सब विचार गुरुके ऊपर गुरुगिरी या निर्विशेषवाद हैं।

कोई ऐसा मानते हैं कि वर्तमान जगतमें गुरु और वैष्णव नहीं हैं। पूर्व कालमें अच्छे गुरु और वैष्णव हुए थे, परन्तु वैसा आज नहीं देखा जाता। अपने बुद्धिबलसे गुरुकी अच्छाई–बुराईका विचार कर सकता हूँ, गुरुत्याग कर सकता हूँ—कोई कोई ऐसी दाम्भिकता भी प्रकाशित करते हैं। ये सब विचार भी गुरुके ऊपर गुरुगिरी है। वस्तुतः 'गुरु' शब्दका अर्थ है—भारी। जिनसे अधिक भारी और कुछ नहीं है, वे गुरुदेव हैं। जिसके ऊपर शासन किया जाय, जो शासनके योग्य है वह है शिष्य। गुरुदेवके ऊपर शासन नहीं किया जा सकता है, लघुका ही त्याग किया जाता है।

अनेक लोग निर्विशेष चिन्ताम्रोतमें बहकर शास्त्रके वास्तविक मर्मको नहीं समझ पानेके कारण इस नीतिका अवलम्बन कर गुरुके ऊपर गुरुगिरी करनेके लिए उद्यत होते हैं कि मैं अच्छा हूँ, मैं सत्यप्रिय हूँ; जो शासन करते हैं, कटु सत्य वचन कहते हैं, लोगोंकी इन्द्रियतृप्ति नहीं करते हैं, इसलिए वे विपथगामी हैं, वे विलासी हैं, प्रतिष्ठाकामी हैं अतएव उनका परित्यग किया जा सकता है। जिसके द्वारा शक्तिलाभ हुआ है, उस शक्तिके द्वारा उसका ही हनन करना चाहता है।

राजा बाणको यह अभिमान था कि मैं महादेवका परम भक्त हूँ। महादेवसे ही एक हजार भुजाएँ वरदानमें पाकर उसने महादेवके साथ ही युद्ध किया। महादेवने वाण राजाको अभिशाप दिया था। कृष्णके साथ युद्धमें वाण राजाकी हजार भुजाओंमेंसे केवल चार भुजाएँ ही बाकी रहीं। वाण राजा जगतसे भीषण शत्रुता कर मृत्युमुखमें पतित हुआ।

पौण्ड्रकको भी शिवभक्त होनेका अभिमान था। शिवजीसे वर प्राप्तकर उसने श्रीकृष्णके विरुद्ध युद्ध किया और उसमें निहत हुआ।

वृक्षको भी शिवभक्त होनेका अभिमान था। शिवजीकी कठोर तपस्या कर उसने यह वर प्राप्त किया था कि मैं जिसके सिरपर हाथ रखूँ वह उसी क्षण मर जाय। किन्तु इस वरदानकी परीक्षाके लिए वह सर्वप्रथम वरदाता शिवके ही मस्तक पर हाथ रखनेको उद्यत हुआ। कोई और उपाय न देखकर शिवजीने विष्णुकी शरण ग्रहण की। विष्णु एक ब्राह्मणके वेशमें वहाँ उपस्थित हुए और वृक्षको रोकते हुए बोले—"शिवकी बातपर कभी विश्वास मत करना। उसका वर झूठा होता है। परीक्षाके लिए तुम अपने ही सिर पर हाथ रखकर क्यों नहीं देख लेते, कुछ भी नहीं होगा।" जैसे ही उसने अपने मस्तक पर हाथ रखा, मस्तक फट गया और वह वहीं मर गया।

रावण ब्रह्माका भक्त था। ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मृत्युबाणके द्वारा ही वहा मारा गया। क्रौञ्च ब्रह्माका भक्त था। ब्रह्मासे महावरदान प्राप्तकर वह देवताओंको पीड़ित करने लगा। ब्रह्माजीने कार्तिकेयको सेनापति बनाकर उसे युद्धमें भेजा और क्रौञ्च कार्तिकेय द्वारा निहत हुआ।

जो गुरुके ऊपर गुरुगिरी करते हैं, गुरुदेव द्वारा प्राप्त शक्तिसे गुरुदेवको ही नाश करनेकी चेष्टा करते हैं, वे गुरुदेव द्वारा प्राप्त अस्त्र द्वारा ही आत्महत्या करते हैं।

अतएव गुरुके ऊपर गुरुगिरी करनेकी चेष्टा न कर गुरुदेवकी कृपाका अनुसरण करना ही कर्तव्य है। ❑

# विरह संवाद

विक्रम संवत् २०५६, कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी, तदनुसार २२ नवम्बर १९९९, सोमवारको जगद्गुरु श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' के प्रिय शिष्य और विश्वव्यापी श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठके प्रतिष्ठाता-आचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज अपने आश्रित जनोंको विरहानलमें छोड़कर निशान्त बेलामें नित्यलीलामें प्रविष्ट हो गए।

२२ दिसम्बरको ही प्रातःकाल श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सह-सभापति श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अध्यक्षतामें श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावनमें विरह सभाका आयोजन किया। इस सभामें श्रीभक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज, भक्तिवेदान्त विष्णु महाराज आदि त्रिदण्डि संन्यासियों और कतिपय वरिष्ठ वैष्णवोंने अपनी भावभीनी वाणी द्वारा इनके चरणोंमें पुष्पाजली प्रदान की।

गौड़ीय वेदान्त समितिसे इनका निकटतम और मधुर सम्बन्ध था। श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सभी सदस्यगण इनके चरणोंमें विरहप्रसूनाञ्जलि प्रदान करते हैं।

श्रीलभक्तिप्रमोद पुरी महाराज भी श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादके प्रतिभाशाली शिष्योंमें अन्यतम थे। इनका जन्म पूर्वी बंगालके यशोहर जिलेके गंगाननपुर ग्राममें एक शिक्षित संभ्रान्त परिवारमें १८९८ ई. में हुआ। इनके पिताका नाम तारिणीचरण चक्रवर्ती एवं माताका नाम श्रीमती रामरंगिणी देवी था। इनके बचपनका नाम प्रमोदभूषण चक्रवर्ती था।

श्रीप्रमोदभूषण यशोहरमें स्कूलकी शिक्षा समाप्त करनेपर कलकत्ताके बंगवासी कॉलेजमें भर्ती हुए और वहींसे रसायन शास्त्रमें Honours की डिग्री प्राप्त की। १९१७ ई. में ये श्रील प्रभुपादसे मिले। उनकी हरिकथासे ये इतने प्रभावित हुए कि मन-ही-मन उनको गुरुके रूपमें वरण किया। किन्तु ये श्रील प्रभुपादकी हरिकथा सुनने आते-जाते रहे। १९२३ ई. में जन्माष्टमीके दिन श्रील प्रभुपादने इन्हें हरिनाम एवं दीक्षा दोनों ही प्रदान किया और तबसे ये प्रणवानन्द ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध हुए।

ये मठके प्रारम्भिक जीवनमें दैनिक 'नदिया प्रकाश' के सम्पादक रहे। साप्ताहिक श्रीगौड़ीयक लिए भी ये प्रबन्ध लिखते थे। श्रील प्रभुपादने कृपाकर इन्हें 'महोपदेशक प्रत्नविद्यालंकर' की उपाधि प्रदान की थी। इनके भावपूर्ण कीर्तन और हरिकथाको सुनकर सभी लोग मुग्ध हो जाते।

श्रील प्रभुपादके अप्रकट होनेपर १९४२ ई. में इन्होंने अपने सतीर्थ श्रीमद्भक्तिगौरव वैखानस महाराजसे संन्यास वेश ग्रहण किया। तबसे इनका नाम श्रीश्रीमद्भक्तिप्रमोद पुरी महाराज प्रसिद्ध हुआ। संन्यास लेनेके पश्चात् ये मायापुर योगपीठके श्रीमन्दिरमें पाँच वर्षो तक प्रधान पुजारी और मठरक्षक रहे। तत्पश्चात् ये श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता आचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके साथ बहुत दिनोंतक रहे। तत्पश्चात् श्रीनवद्वीपधामके निकट अम्बिका कालनामें अपनी भजन कुटीका निर्माणकर वहीं श्रीश्रीराधागोपीनाथजीकी सेवा करने लगे। वहाँ रहते समय श्रीश्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी महाराजके साथ इनका मधुर संबंध रहा तथा ये उनके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीचैतन्यवाणीके प्रधान सम्पादक नियुक्त हुए। ❑

## WINTER TOUR 2000

| | |
|---|---|
| **PHILIPPINES** | 11 DEC.-9 JAN. |
| MANILLA. | 11 DEC-14 DEC. |
| CEBU ISLAND | 29 DEC-02 JAN. |
| MANILLA | 03 JAN-09 JAN. |
| **AUSTRALIA (MURWILLUMBAH)** | 13 JAN.-21 JAN. |
| **AUSTRALIA (SYDNEY)** | 21 JAN.-25 JAN. |
| **FIJI** | 26 JAN.-03 FEB. |
| **MELBOURNE** | 03 FEB.-07 FEB. |
| **SINGAPORE & MALAYSIA** | 07 FEB.- 19 FEB. |
| **DELHI (return)** | 19 FEB. |

## वैष्णव व्रत तालिका

| | |
|---|---|
| ६ माघ २१ जनवरी शुक्रवार | पूर्णिमा। |
| ८ माघ २३ जनवरी रविवार | गोपाल भट्ट गोस्वामीजीका आविर्भाव, श्रील रामचन्द्र कविराजजीका तिरोभाव। |
| १७ माघ १ फरवरी मंगलवार | षटतिला एकादशी व्रत, अगले दिन १०–०० से पहले पारण। |
| २१ माघ ५ फरवरी शनिवार | मौनी अमावस्या। |
| २६ माघ १०फरवरी बृहस्पतिवार | श्रीकृष्णकी वसन्त पञ्चमी, श्रीगौरशक्ति विष्णुप्रियादेवी एवं श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीका आविर्भाव, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका तिरोभाव। |
| २८ माघ १२ फरवरी शनिवार | महाविष्णुके अवतार श्रीअद्वैताचार्य प्रभुजीका आविर्भाव व्रत, अगले दिन ९–५८ से पहले पारण। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
वि. सं. २०५६ पौष मास, सन् २०००, २३ दिसम्बर — २१ जनवरी { संख्या १०

# श्रीश्रीदयितदासदशकम्

*[त्रिदण्डिस्वामि–श्रीमद्भक्तिरक्षक–श्रीधर–महाराज–कृतम्]*

***नीते यस्मिन् निशान्ते नयनजलभरैः स्नातगात्रार्वुदानां उच्चैरुत्क्रोशतां श्रीवृषकपिसुतया धीरया स्वीयगोष्ठीम्।
पृथ्वी गाढ़ान्धकारैर्हृतनयनमणीवावृता येन हीना यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।१।।***

श्रीवृषभनुनन्दिनी द्वारा प्रभातके समय विलाप करते-करते आँसुओंकी धारासे नहाए हुए लाखों व्यक्तियोंके बीचसे अधीर भावसे अपनी गोष्ठी (मंडली) में ले जाए जानेपर जिनको खोकर पृथ्वी, नयनकी मणियोंको (श्रील सरस्वती ठाकुरका गूढ़ नाम नयनमणि था) खोये हुए लोगोंके जैसे घने अन्धकारसे आच्छन्न हो गयी थी—हे (प्रभुके दर्शनके लिए विरहसे कातर) मेरे दीन नयन! (पक्षान्तरमें, हे दीनोंको उद्धार करनेवाले! या साथमें न ले जानेके कारण करुणामें कृपणता प्रकाश करनेवाले हे नयन नामक प्रभुलोग!) वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।१।।

*यस्य श्रीपादपद्मात् प्रवहति जगति प्रेमपीयूषधारा यस्य श्रीपादपद्मच्युतमधु सततं भृत्यभृङ्गान् विभर्त्ति।*
*यस्य श्रीपादपद्मं व्रजरसिकजनो मोदते सम्प्रशस्य यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।२।।*
*वात्सल्यं यच्च पित्रो जगति बहुमतं कैतवं केवलं तत् दाम्पत्यं दस्युतैव स्वजनगण–कृता बन्धुता वञ्चनेति।*
*वैकुण्ठस्नेहमूर्त्तेः पदनखकिरणैर्यस्य सन्दर्शितोऽस्मि यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।३।।*
*या वाणी कंठलग्ना विलसति सततं कृष्णचैतन्यचन्द्रे कर्णक्रोडज्जनानां किमु नयनगतां सैव मूर्त्तिं प्रकाश्य।*
*नीलाद्रीशस्य नेत्रार्पणभवनगता नेत्रताराभिधेया यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।४।।*
*गौरेन्दोरस्तशैले किमु कनकघनो हेमहृज्जम्बुनद्या आविभूर्तः प्रवर्षैर्निखिलजनपदं प्लावयन् दावदग्धम्।*
*गौराविर्भावभूमौ रजसि च सहसा संजुगोप स्वयं स्वं यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।५।।*
*गौरो गौरस्य शिष्यो गुरुरपि जगतां गायतां गौरगाथा गौड़े गौड़ीय–गोष्ठ्याश्रितगण गरिमा द्राविड़े गौड़गर्वी।*
*गान्धर्वी गौरवाढ्यो गिरिधरपरमप्रेयसां यो गरिष्ठो यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।६।।*
*यो राधाकृष्णनामामृतजलनिधिनाप्लावयद्विश्वमेतदाम्लेच्छाशेषलोकं द्विजनृपवणिजं शूद्रशूद्रापकृष्टम्।*
*मुक्तैः सिद्धैरगम्यः पतितजनसखो गौरकारुण्यशक्तिर्यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।७।।*
*अप्याशा वर्त्तते तत् पुरटवरवपुर्लोकितुं लोकशन्दं दीर्घनीलाब्जनेत्रं तिलकुसुमनसं निन्दितार्द्धेन्दुभालम्।*
*सौम्यं शुभ्रांशुदन्तं शतदलवदनं दीर्घबाहुं वरेण्यं यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।८।।*
*गौराब्दे शून्यवाणान्वितनिगममिते कृष्णपक्षे चतुर्थ्यां पौषे मासे मघायाममरगणगुरोर्वासरे वै निशान्ते।*
*दासो यो राधिकाया अतिशयदयितो नित्यलीला प्रविष्टो यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।९।।*
*हाहाकारैर्ज्जनानां गुरुचरणजुषां पूरिताभूर्नभस्य यातोऽसौ कुत्र विश्वं प्रभुपादविरहाद्धन्तु शून्यायितं मे।*
*पादाब्जे नित्यभृत्यः क्षणमपि विरहं नोत्सहे सोमत्र यत्रासौ तत्र शीघ्रं कृपणनयन हे नीयतां किङ्करोऽयम्।।१०।।*

जिनके चरण–कमलोंसे इस जगत्में प्रेमसुधाकी नदी प्रवाहित होती है, जिनके चरण–कमलोंसे गिरे हए मधुका निरन्तर पान करते–करते सेवकरूपी मधुकरवृन्द अपना जीवन धारण करते हैं, ब्रजके रसिकजन (विश्रम्भ रसवाले भक्त) जिनके पादपद्मकी प्रशंसा करते हुए सुखी होते हैं—हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।२।।

माता–पिताका सन्तानके प्रति जिस स्नेहका आदर इस जगत्में होता है, (भगवद्भजनमें बाधास्वरूप होनेके कारण) वह छलना मात्र है; समाजमें जिसे दाम्पत्य प्रेम कहा जाता है—वह दस्युताके सिवा और कुछ नहीं है और परस्पर जागतिक बन्धुत्वकी भावना भी एक तरहकी छलना ही है—ये विचार जिस अप्राकृत स्नेहमय विग्रह महापुरुषके पद–नखकी किरणोंके द्वारा प्रदर्शित हुए हैं, हे दीन नयन, वे महापुरुष जिस स्थान पर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।३।।

जो वाणी श्रीकृष्णचैतन्यके कंठ–स्वरके रूपमें सर्वदा लोगोंके कर्ण–क्रोड़में विलास करती थी, क्या वही फिर दृष्टिगोचर मूर्त्ति प्रकाशकर श्रीजगन्नाथदेवके (रथयात्राके समयमें) नयन अर्पणरूप (दृष्टिरूप) कृपा प्राप्त करनेवाले भवनमें आविर्भूत होकर अपने नयन मणि नामकी सार्थकता प्रदर्शन की थी? हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थान पर हैं इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।४।।

श्रीमद्भागवतमें कहे गये जम्बुनदके स्वर्णिम जलको आकर्षण करके ही क्या सोनेके जैसा यह मेध श्रीगौरचन्द्रके अस्ताचलमें (अन्तर्ध्यानके लीला क्षेत्रमें) अवतीर्ण होकर त्रितापरूपी दावाग्निसे दग्ध

हुए सम्पूर्ण देशको सुवृष्टि द्वारा प्लावन करते हुए श्रीगौराङ्गदेवके आविर्भाव लीला स्थलीकी धूलिमें अकस्मात् छिप गये? हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थान पर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।५।।

जिनके शरीरका रंग गौर वर्ण है, जो गौर-सुन्दरका नाम-गुणगान करने वाले निखिल जगत्के गुरु होकर भी श्रीगौरकिशोर नामक किसी महात्माका शिष्यत्व स्वीकार किए हुए हैं; जो समग्र गौड़-मण्डलमें शुद्ध गौड़ीय गोष्ठीके (समाजके) आश्रय दाताओंके कीर्त्तन स्थल हैं, जो द्राविड़के वैष्णोंके (लक्ष्मीनारायणके उपासकोंके) प्रति श्रीचैतन्य महाप्रभुके दिये हुए (श्रीराधा-गोविन्दके ब्रज-भजनकी कथा) कीर्त्तन करते-करते गर्व अनुभव करते हैं, श्रीमती राधिकाजीकी सखियोंमें जिनकी गरिमाकी सम्पद् दीख पड़ती है एवं गिरिधारीके प्रिय-पात्रोंमें जो श्रेष्ठ स्थानपर विराजित हैं अर्थात् जो मुकुन्दके अतिशय प्रियपात्र हैं—हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।६।।

जिन्होंने श्रीराधाकृष्णके नामामृतके समुद्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यहाँ तक कि म्लेच्छ तक को डुबा दिया है, मुक्त और सिद्धोंके द्वारा अगम्य होनेपर भी जो पतितोंके बन्धु और गौराङ्गकी करुणाशक्तिके नामसे परिचित हैं—हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।७।।

क्या जगत्का मंगल विधान करने वाले उस सुवर्णकान्तिसे युक्त मूर्त्तिके दर्शन मिलनेकी कोई आशा है? उन बड़े-बड़े नील-कमल जैसे नेत्रोंके उस तिलके फूलको भी मात करनेवाली नासिकाके, अर्द्धचन्द्रको भी लज्जित करनेवाले उस ललाटके, उस सौमय वदन-कमलके, उस ज्योत्सनाकी तरह शुभ्र दशन-पक्तियोंके तथा अजानुलम्बित भुजाओंसे युक्त उस रमणीय विग्रहके दर्शनकी कोई आशा है? हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।८।।

४५० गौराब्दमें पौषके माहमें, कृष्ण-पक्ष, चतुर्थी तिथि, और मघा नक्षत्रमें वृहस्पतिवारके प्रभातमें श्रीमती वृषभानु नन्दिनीके अति प्रिय जिस सेवकने नित्य लीलामें प्रवेश किया है—हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थानपर हैं इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।९।।

श्रीगुरुदेवके चरण-कमलोंकी निरन्तर सेवा करने वाले शिष्यों तथा साधारण लोगोंके हाहाकारसे सम्पूर्ण पृथ्वी और आकाश परिव्याप्त हो गये हैं। वे महापुरुष कहाँ गये? हाय! आज समस्त विश्व प्रभुपादके विरहमें शून्य बोध होता है। श्रीगुरु-सेवक-गण एक क्षण भी उनका विरह सहन करनेमें असमर्थ हो रहे हैं, हे दीन नयन! वे महापुरुष जिस स्थान पर हैं, इस किङ्करको भी शीघ्र वहीं ले चलो।।१०।। ❑

# *संत (सज्जन) के लक्षण*

*—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती*

***सर्वोपकारक (१०)***

संसारमें जीव चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) अन्याभिलाषी, (२) कर्मी, (३) ज्ञानी, (४) भक्त।

जो लोग कर्म, ज्ञान या भक्तियोग स्वीकार नहीं करते और अपनी रुचिके अनुसार भली-बुरी जैसी

इच्छा होती है, आचरण करते हैं एवं वैसे स्वेच्छाचार द्वारा सुख–भोगको ही पुरुषार्थ मानते हैं, वे अन्याभिलाषी कहलाते हैं।

द्वितीय श्रेणीके जीव कर्मी कहलाते हैं। वे लोग सत्कर्मोंका आचरण करते हैं तथा उसके द्वारा सुखभोग करनेके उद्देश्यसे पुण्य–संग्रह करते हैं। लौकिक विषय–सुख और पारलौकिक स्वर्ग–सुखके उद्देश्यसे; मह, जन, और सत्य आदि लोकोंकी प्राप्तिकी आशासे कर्मीजन स्कूल और अस्पताल बनवाते हैं, छायादार पेड़ लगाते हैं, पथ निर्माण करते हैं, जलदानकी व्यवस्था करते हैं, ब्राह्मण–भोजन करवाते हैं तथा लोकहितकर शिक्षा–भवन आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और इन सत्कर्मोंके द्वारा पुण्य संचय कर बदलेमें फलस्वरूप अपनी प्रतिष्ठा एवं विषय–भोग आदि प्राप्त करते हैं। इसीको ये लोग धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्गकी सिद्धि मानते हैं। कर्मीजन की गति अनित्य फल भोग तक ही सीमित रहनेके कारण वे जगत्का यथार्थ कल्याण करनेमें असमर्थ होते हैं।

पूर्वोक्त स्वेच्छाचारी अन्याभिलाषियोंसे उपरोक्त पुण्यवान् कर्मी श्रेष्ठ हैं तथा अन्याभिलाषीके स्वेछाचारसे पुण्यकामी कर्मीलोगोंके व्रत, हठ–योग और वैदिक वर्णाश्रमधर्म आदि अनित्य सत्कर्म अपेक्षाकृत सत् हैं। यद्यपि अन्याभिलाषीकी तुलनामें सत्कर्म परायण मनुष्य दूसरोंका अनित्य और आंशिक उपकार अधिक मात्रामें करता है, परन्तु वे सर्वोपकारक नहीं हैं। असल बात तो यह है कि कर्मीजन यथार्थ उपकार किसे कहते हैं, नहीं जानते। इसलिये वे अपना भी यथार्थ उपकार नहीं कर पाते। इसका प्रधान कारण यह है कि उनलोगोंको न तो अपने स्वरूपका बोध होता है और न दूसरे लोगोंके स्वरूपका ही बोध होता है, जिनको वे अपना मानते हैं। खण्डकालके अन्तर्गत लौकिक, स्वर्गीय और मह, तप एवं सत्यलोक तकके सारे सुख अनित्य होते हैं—कर्मीजन इसे अनुभव नहीं कर पाते, यह बड़े दुःख की बात है। कर्मीजन संसारमें भाषण द्वारा उपदेश देते हैं और उससे स्वयं अनित्य जड़–सख भोग करते हैं तथा दूसरोंको अनित्य जड़ सुखकी ओर खींचते हैं।

ज्ञानी—तीसरी श्रेणीके जीव हैं। ज्ञानीजन कर्मकाण्डमें निपुण कर्मियोंकी तरह आंशिक और अनित्य सुखके कंगाल नहीं होते। इनके विचारसे खण्डकालके अनित्य सुख कभी भी पूर्ण नहीं हैं, इसलिये ये लोग कर्मियोंको नितांत तुच्छबुद्धि–सम्पन्न भोगी मानते हैं। इनके विचारसे अन्याभिलाषीका स्वेच्छाचार और कर्मीका पुण्य—दोनों ही वर्जनीय हैं। ये लोग अपनेको भोगीसे विपरीत त्यागी या वैरागी कहनेमें व्यस्त दीखते हैं। ज्ञानीका कहना है कि भोगबुद्धिमें अज्ञान निवास करता है, जो काल द्वारा बदलता रहता है। जो बदलता रहता है, वह अद्वय पदार्थ नहीं हो सकता है। वस्तु या पदार्थको अद्वय होनेके लिये उस वस्तुका निराकार निर्विशेष होना आवश्यक है। निर्विशेष वस्तुमें विचित्रताका अभाव रहनेसे उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनगत नित्य विशेषता नहीं होती। भेद अथवा द्वैतकी भावना अज्ञानसे उत्पन्न होती है। अतः उस अवस्था में अशान्ति कल्पित होती है। अज्ञान दूर होनेपर अखण्ड ज्ञान, अखण्ड सत्ता और अखण्ड आनन्द (अनवच्छिन्न आनन्द) का उदय होता है। तब ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—उपास्य, उपासक और उपासना—आनन्द, अनुभवकर्ता और आनन्द अनुभवकी क्रिया—ये तीन विशेष अनन्तकालके लिये विलुप्त हो जाते हैं और एकमात्र अद्वयताका निर्विशेषत्व ही बच रहता है।

यह निर्विशेष केवलाद्वैतसिद्धि ही ज्ञानीको

अभीष्ट है। वे मन ही मन सोचते हैं कि वे ऐसे शुद्ध, पूर्ण, नित्य, मुक्त भगवत् सत्ताको जड़का एक प्रकारका भेद बतलाकर जगत्का कल्याण करेंगे। परन्तु वैसा काल्पनिक जड़ विचार भगवानकी अनन्त शक्तिमत्ताका ह्रास करनेमें समर्थ नहीं है। ज्ञानीजन भगवान्की चित् सत्ता—चित् सविशेष भाव स्वीकार न कर न्यूनाधिकरूपमें स्वेच्छाचारी अन्याभिलाषियों के विचारोंका ही समर्थन करते हैं। अतएव निज-तत्त्व एवं पर-तत्त्वके सम्बन्धमें अनभिज्ञ ज्ञानीजन भी जगत्का पूर्णरूपमें उपकार नहीं कर पाते—जड़ मुक्तितक ही सीमित रह जाते हैं। जीवोंको नित्य, पूर्ण, शुद्ध परमानन्दका परिचय नहीं दे पाते हैं।

भगवान सर्वशक्तिमान हैं। वे अखिल रसामृतसिन्धु हैं। सर्वशक्तिमान भगवान अपनी सच्चिदानन्द स्वरूप-शक्ति प्रकट कर नित्यकाल पूर्ण चिद्-विलासका विस्तार कर जिस सर्वोपकारिताका पूर्ण परिचय देते हैं, वह निर्विशेषवादियोंके ज्ञानगम्य नहीं, एकमात्र भक्ति द्वारा ही लभ्य है। निष्ठुर ज्ञानी मोक्षका एक काल्पनिक चित्र चित्रित करते हैं और अतत्त्वज्ञ जीवोंको बहकाकर उस तरफ खींचते हैं। भक्तिकी अवज्ञा करनेके कारण इनका सज्जन पुरुषों के चरणोंमें अपराध हो जाता है। ज्ञानयोग द्वारा कभी भी किसीका कोई उपकार नहीं होता। संसारके सुख-दुःखसे मुक्त होनेके अभिप्रायसे चिन्मय शक्तिमान् भगवान्को निर्विशेष-तत्त्व बतला कर वे जो अपराध संचय करते हैं, उससे मुमुक्षुजनोंका कोई उपकार साधन नहीं होता और साथ ही भक्तजनोंका भी उपकार नहीं होता।

भक्त चौथी श्रेणीके जीव हैं। कृष्णभक्त ही एकमात्र सर्वोपकारक होते हैं। वे ही सच्चे अर्थोंमें सज्जन होते हैं। शुद्धभक्त ही मायावादियोंका मायावादके दूषित विचार-जालसे उद्धार करनेमें समर्थ हैं, वे ही कर्मियोंको तुच्छ विषय-भोगरूप पंकसे उबार सकते हैं तथा अन्याभिलाषियोंको स्वेच्छाचार रूप अंधकूपसे निकाल कर भगवात्सेवामें नियुक्त कर सकते हैं। इसीलिये शुद्धभक्त कुलशेखरने कहा है—धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गकी कामना अथवा पार्थिक अशान्तिसे परे होनेकी अर्थात् मोक्षकी वासना शुद्धभक्तोंके हृदयमें वास नहीं कर सकती। उनका हृदय तो सर्वदा हरि-सेवामयी वृत्तिसे भरपूर रहता है, अतः कृष्ण-सेवासे इतर कामनाएँ वहाँ वास ही कैसे कर सकती हैं? यह हरिसेवा ही जीवमात्रकी नित्य और स्वाभाविक वृत्ति है, जिसे वह हरि-विमुखताके कारण भूल बैठा है। जीवोंमें इस हरिसेवा वृत्तिका पुनः उदय कराना ही सर्वश्रेष्ठ उपकार है। भगवद् भक्तजन यही करते हैं। इसलिये वे ही सर्वश्रेष्ठ परोपकारी हैं।

अस्तु, एकमात्र कृष्णके शरणागत सनवज्जवृन्द ही अपना उपकार करने तथा सम्पूर्ण विश्वके जीवों को हरिसेवा प्रदान करनेके कारण सर्वोपकारक कहलाते हैं। शुद्धभक्तोंका यह सर्वदा ही प्रत्यत्न होता है कि जीव किस प्रकार अन्याभिलाषी, कर्मी और ज्ञानीके कुसंगसे दूर रह कर हरि-सेवामें नियुक्त हो सके। संसारमें इस दयासे बढ़कर कोई दूसरी दया नहीं। इसलिये सज्जन अर्थात् भगवद्भक्त सर्वोपकारक होते हैं। ❑

*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।*
*तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। (गीता ३/९)*

श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिए किये गए निष्काम कर्मको यज्ञ कहते हैं। अतः यज्ञके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्मके अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मोंको इस प्राकृत जगत्में बन्धनका हेतु जानो। इसलिए हे अर्जुन! कर्मफलकी आकांक्षासे रहित होकर श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिए कर्मोंका आचरण करो।।

# अभिधेय विचार—ज्ञान

—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

ज्ञानको भी कहीं कहीं परमार्थ सिद्धिका उपाय बतलाया गया है। परब्रह्म जड़से परे हैं, जीवत्मा भी जड़से परे है। ज्ञानवादी–सम्प्रदायका सिद्धान्त यह है कि कोई जड़ातीत क्रिया ही जड़ातीत परमार्थ–सिद्धिका एक मात्र उपाय हो सकती है। कर्म यद्यपि संसार और शरीर–यात्रा–निर्वाहक होता है, तथापि वह स्वयं जड़ होनेके कारण जड़ातीत परमार्थ तत्त्वके अनुशीलनमें सर्वदा अनुपयोगी होता है। कर्म–द्वारा परमेश्वरमें चित्तको लगानेका अभ्यास हुआ करता है, परन्तु जड़ाश्रित–कर्मोंका परित्याग किये बिना नित्यफलकी प्राप्ति नहीं की जा सकती है। केवल आध्यात्मिक प्रयत्नोंसे ही आध्यात्मिक फलकी प्राप्ति होती है। सर्वप्रथम प्रकृतिकी आलोचना करते–करते धीरे–धीरे प्रकृतिकी समस्त सत्ता और गुणोंका वर्जन कर ब्रह्म–समाधिद्वारा जीव ब्रह्मसम्पत्तिको पाप्त होता है।

जबतक जीव जड़ शरीरमें निवास करता है, तबतक शरीर सम्बन्धी कार्य स्वीकार्य हैं। ऐसे ज्ञान को दो भागों विभक्त किया गया है। एक ब्रह्मज्ञान, दूसरा भगवत्–ज्ञान। ब्रह्मज्ञान द्वारा आत्माके ब्रह्मनिर्वाणरूप फलका उद्देश्य होता है। निर्वाणके पश्चात् आत्माकी कोई स्वतन्त्र सत्ता ब्रह्मज्ञानी स्वीकार नहीं करते। उनके विचारसे ब्रह्म निर्विंशेष होता है एवं आत्मा मुक्त होने पर निर्विशेष होकर ब्रह्ममें लीन हो जाती है। शास्त्रमें ऐसे साधनको बड़ा ही हेय बतलाया गया है—

*ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पयु–पासते।*
*सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।*
*संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।*
*ते प्राप्तुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः।।*
*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।*
*अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।*

(गीता १२.३–५)

जो इन्द्रिय–समूहको भलीभाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितोंमें रत रहकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य ब्रह्मकी उपासना करते हैं अर्थात् ज्ञानमार्गका अवलम्बन कर निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन करते हैं, वे भी मुझ सर्वैश्वर्यपूर्ण भगवानको ही अन्तमें प्राप्त होते हैं। परन्तु उन अव्यक्तमें आसक्त चित्तवालोंको अधिक क्लेश भोगना पड़ता है, क्योंकि शरीरी बद्धजीवोंके लिये अव्यक्त गति दुःखजनक होती है।

उपर्युक्त श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानके अनुशीलन द्वारा जीवकी जड़–बुद्धि दूर होने पर सत्संग और भगवत्कृपाके सहारे सर्वशक्तिसमन्वित अप्राकृत विशेषताओंसे पूर्ण षडैश्वर्यपूर्ण भगवत्–तत्त्वकी प्राप्ति होती है। जड़–जगतके भाव–समूह मानव–समाधिको इतना दूषित कर देते हैं कि अहंकारसे लेकर पाँचों स्थूल–भूतों तक प्रकृतिको दूर करके समाधिकी प्रारम्भिक अवस्थामें निर्विशेष ब्रह्मको लक्ष्य करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु जिस समय आत्मा जड़–यन्त्रणासे ब्रह्म–निर्वाणको प्राप्त होती है, तब कुछ समयके भीतर ही बुद्धिके स्थिर होने पर समाधि नेत्र द्वारा वैकुण्ठके 'विशेष' को देख पाती है। ऐसी दशामें अनिर्देश्य ब्रह्म दर्शन–शक्तिको ढक नहीं पाता। क्रमशः वैकुण्ठका सौन्दर्य आध्यात्मिक नेत्रोंको आकर्षित करने लगता है। यहीं पर ब्रह्मज्ञान भगवत्–ज्ञान हो पड़ता है। भगवत्–ज्ञान उदित होने

पर भगवत्-रहस्य भी प्राप्त हो जाता है। अतएव परमार्थ प्राप्तिके साधकरूप ज्ञानको अभिधेय तत्त्वके अन्तर्गत बतलाया गया है। भगवत्-ज्ञानकी आलोचाना करनेसे स्व-स्वरूपमें अवस्थित प्रयोजनरूपा विशुद्धा प्रीति पायी जानेकी संभावना अधिक होती है।

ज्ञानके सम्बन्धमें और भी एक बात बतलानी आवश्यक है। ज्ञानकी स्वाभाविक अवस्था भगवत्-ज्ञान ही है और अस्वाभाविक अवस्था अज्ञान और अतिज्ञान हैं। अज्ञान द्वारा प्राकृतपूजा और अतिज्ञानसे नास्तिकता और अद्वैतवाद उत्पन्न होते हैं।

प्राकृत पूजा दो प्रकारकी होती है। एकमें भौम-मूर्त्तिको भगवान मानकर पूजा होती है और दूसरीमें प्राकृत धर्मको ही ब्रह्मज्ञान समझा जाता है। इनसे ही निराकार, निर्विकार, निरवयववादकी प्रतिष्ठा होती है। श्रीमद्भागवातमें भी इन दो श्रेणीकी पूजाओंके सम्बन्धमें उल्लेख है—

*एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।*
*मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ।।*
*अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।*
*अनादि-मध्य-निधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्।।*
*अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।*
*उभे अपि न गृह्णन्ति माया सृष्टे विपश्चितः।।*

(भा. २.१०.३३-५५)

—मैंने पृथ्वी आदि आठ आवरणोंसे घिरे हुए भगवान्के स्थूल रूपका वर्णन तुम्हें सुनाया है। इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्मरूप भी कल्पित होता है जो अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्तरहित, नित्य एवं वाक्य और मनसे अतीत है। ये दोनों ही रूप प्राकृत हैं। सारग्राही पण्डित भगवानके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको त्याग कर अप्राकृत रूपका दर्शन करते हैं। अतएव साकार और निराकारवाद दोनों ही अज्ञानसे उत्पन्न और परस्पर विवदमान हैं।

यदि युक्ति ज्ञानका अतिक्रमण कर तर्कनिष्ठ होती है तो वह आत्माको नित्य नहीं मानना चाहती। इसी दशामें नास्तिकताका उदय होता है। जब ज्ञान युक्तिके अधीन होकर अपने स्वभावका परित्याग करता है, तब तह आत्माके निर्वाणका अनुसंधान करने लगता है। इस अतिज्ञानसे उत्पन्न चेष्टाके द्वारा जीवका कल्याण नहीं होता।

*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-*
*स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।*
*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः*
*पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।*

(श्रीमद्भा. १०.२.३२)

हे कमलनयन! जो लोग आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण आपके चरणकमलोंकी शरण नहीं लेते एवं ज्ञानसे उत्पन्न युक्तिको चरम फल समझकर भक्तिका अनादर करते हैं, वे अपनेको झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वस्तुतः वे बद्ध ही हैं। वे अनेक कष्ट उठाकर परमपद प्राप्त होकर भी अतिज्ञान के कारण (भगवत्-चरणोंका अनादर कर) उससे नीचे गिर जाते हैं।

सद्युक्ति द्वारा भी अतिज्ञान स्थापित नहीं हो सकता है। निम्नलिखित चार विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—यदि ब्रह्म-निर्वाणको आत्माका चरम प्रयोजन स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वरकी निष्ठुरतासे आत्माकी सृष्टि हुई है—ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि ऐसी असत् सत्ताकी सृष्टि नहीं करनेसे और कष्ट भी नहीं होता। यदि ब्रह्मको निर्दोष प्रमाणित करनेके लिये यह कहा जाय कि सृष्टि माया द्वारा होती है, तो माया नामक एक और स्वाधीन तत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। फिर तत्त्व दो हो पड़ेंगे—एक माया और दूसरा ब्रह्म। परन्तु तत्त्व सर्वत्र एक ही माना गया है।

२—आत्माके ब्रह्मनिर्वाणसे न तो ब्रह्मको ही कुछ लाभ होता है और न जीवको ही।

३—परब्रह्मके नित्य-विलासके रहते हुए आत्माके ब्रह्मनिर्वाणकी आवश्यकता नहीं है।

४—भगवात् शक्तिके उद्‌बोधनरूप 'विशेष' नामक धर्मको सभी अवस्थाओंमें नित्य स्वीकार नहीं करनेसे सत्ता, ज्ञान और आनन्दकी संभावना नहीं होती। उसके अभावमें ब्रह्मके स्वरूप और स्थितिका भी अभाव हो पड़ता है। ऐसी दशामें ब्रह्मके अस्तित्वके सम्बन्धमें संदेह होता है। 'विशेष' नित्य होने पर आत्माका ब्रह्मनिर्वाण नहीं होता।

मायावाद-शतदूषणी नामक ग्रन्थमें इस विषयका बड़ा ही हृदयस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञान और प्रीतिका सम्बन्ध भलीभाँति जान लेने पर ज्ञानी और प्रीति सम्प्रदायमें परस्पर विरोध नहीं रह जाता। आत्माका 'वेदन' धर्म ही उसका स्वरूपगत धर्म है। वेदन-धर्मकी दो व्याप्तियाँ होती हैं। (१) वस्तु और तद्धर्म-ज्ञानात्मक व्याप्ति, (२) रसानुभवात्मक व्याप्ति। पहली व्याप्तिका नाम ज्ञान है, वह स्वभावतः शुष्क और चिन्ताप्राय होता है। दूसरी व्याप्तिका नाम प्रीति है। वस्तु और तद्धर्मके अनुभवके समय आस्वादक और आस्वाद्यके बीच एक अपूर्व रसानुभूति होती है, ऐसी व्याप्तिका नाम प्रीति है। उक्त दो प्रकारकी व्याप्तियोंमें अर्थात् ज्ञान और प्रीतिके सम्बन्धमें एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञानरूप व्याप्तिकी वृद्धि जितनी ही अधिक होती है, प्रीतिरूप व्याप्तिका उसी परिमाणमें ह्रास होता है। और दूसरी ओर प्रीतिरूप व्याप्तिकी जिस परिमाणमें वृद्धि होती है, ज्ञानरूप व्याप्तिका उतने ही अधिक परिमाणमें ह्रास होता है। एक बात और भी बड़े महत्वका है। वह यह कि ज्ञान-व्याप्तिका सम्पूर्णतासे अवलम्बन होने पर मूल वेदन धर्म एक अखण्ड तत्त्व हो उठता है; परन्तु नीरसताकी सीमा प्राप्त कर सम्पूर्ण रूपसे आनन्दरहित हो पड़ता है। दूसरी ओर प्रीति-व्याप्ति सम्पूर्णतासे अवलम्बित होने पर ज्ञानव्याप्तिके अकुंररूप वेदनधर्मका लोप नहीं होता; बल्कि वह सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनानुभूतिरूप चैतन्यका रूप धारण कर प्रीत्यात्मक आस्वादन रसका विस्तार करता है। अतएव प्रीति-व्याप्ति ही जीवका एक मात्र प्रयोजन है। ❑

# मनुष्यके कुकर्म भगवानकी लीलाएँ नहीं हैं

*—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्‌भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज*

एक प्रसिद्ध स्वामीजीसे दिल्लीके एक प्रमुख चिकित्सक महोदयने यह पूछा—'मनुष्य दुःख क्यों भोगता है? यदि सभी जीव भगवान (?) हैं—जैसा आप बतला रहे हैं—तो भगवान् क्यों इतना दुःख भोगते हैं? तब तो भगवान् भी बड़े दुःखी हैं?' स्वामीजीने उत्तर दिया—'यह सब भगवान् की लीला है।' चिकित्सक महोदयने पुनः प्रश्न किया—'यदि यह सब भगवानकी लीला है, तब कर्मफलका अर्थ क्या है? क्या भगवान् भी कभी कर्मफलके अधीन होते हैं?' इस प्रकार कुछ देर तक परस्पर प्रश्न और उत्तरका क्रम चलता रहा, परन्तु स्वामीजी अपने उत्तरसे चिकित्सक महोदयकी शंका दूर नहीं कर सके। उस दिन स्वामीजीके ज्ञानका पर्दा फाश हो गया था।

बहुधा बहुतसे सज्जन ऐसे-ऐसे प्रश्न करते सुने जाते हैं। बात यह है कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' (जीव ब्रह्म ही है)—ऐसा माननेवाले अद्वैतवादी यदि जीवोंके कर्मफलरूप दुःख-भोगको भगवान्‌की

लीला न कहें, तो जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हो पड़ेंगे और उनके अद्वैतवादकी गाड़ी उलट पड़ेगी। अतएव उपरोक्त स्वमीजी डाक्टर साहबको कोई दूसरा उत्तर न दे सके। परन्तु इस अस्वाभाविक उत्तरसे भला किसी भी बुद्धिमान व्यक्तिको संतोष कैसे हो सकता है?

सच्चिदानन्द आदि पुरुष भगवान्का नाम है—लीला पुरुषोत्तम अर्थात् वे उत्तम पुरुष सदा-सर्वदा आनन्द चिन्मय रसकी लीलाका उपभोग करते हैं। ऐसे लीलापुरुषोत्तम भगवान्की लीला और अपने कर्मफलका भोग करनेवाले जीवोंके दुराचारको एक मानना कितना भयंकर अपराध है, असुर-स्वभाववाले व्यक्तियोंके दिमागमें यह प्रवेश नहीं करता। वेदान्त सूत्रमें भगवान् पुरुषोत्तमके लिये 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र कहा गया है। परतत्त्वको निर्विशेष मानने वाले अद्वैतवादी उक्त सूत्रकी मनमाने ढङ्गसे तरह-तरहसे टीका और व्याख्या करके भी इस बातका सामंजस्य करनेमें सर्वथा असफल रहे हैं कि निर्विशेष ब्रह्म आनन्दका उपभोग कैसे कर सकता है? इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्मको निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध करनेकी उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं।

आनन्द एक ऐसी चीज है, जो निर्विशेष वस्तुमें कदापि सिद्ध नहीं है। जब तक विशेषता न हो तब तक वहाँ आनन्दकी स्थिति स्वीकृत नहीं हो सकती। मायावादियोंके ब्रह्म निर्विशेष हैं, अतएव मायावादियोंके ब्रह्म आनन्दमय कैसे हो सकते हैं? श्रुतियोंमें सर्वत्र ब्रह्मको आनन्दमय कहा गया है। मायावादी इन वाक्योंका सामंजस्य नहीं कर पाते। अँग्रेजीमें भी एक कहावत है—'Variety is the mother of enjoyment* अर्थात् विचित्रता ही (विशेषता ही) आनन्द प्राप्तिका एकमात्र उपाय है लोग बड़े-बड़े शहरोंमें जाते हैं। किसलिए, आनन्दके लिए। यदि बड़े बड़े शहर निराकार, निर्विशेष रेतीके मैदान होते तो वैसे शहरोंमें और तो क्या, कोई निराकारवादी स्वामीजी भी तथाकथित यज्ञानुष्ठान आदिके लिये नहीं पधारेंगे। स्वामीजी लोग अधिकतर ऐसे स्थानोंमें ही पधारनेकी कृपा करते हैं, जहाँके सारे पदार्थ साकार होते हैं, जहाँ विभिन्न प्रकारकी विशेषताएँ मौजूद रहती हैं और जहाँ भौतिक रूप, रस, गंध, स्पर्श और सुहावने शब्द आदि इन्द्रिय तृप्तिकर विषयोंकी अधिकता होती है। लोग शहरोंमें जाते हैं, परन्तु जनशून्य आनन्दरहित रेगिस्तानोंमें क्यों नहीं जाते? क्या रेगिस्तानोंमें जगहकी कमी होती है? नहीं, बात यह है कि शहरोंमें भौतिक सुख-भोगके सारे प्रसाधन मौजूद रहते हैं—सुन्दर-सुन्दर पथ, भव्य भवन, सजी-सजायी दूकानें, सिनेमागृह, नयी डिजाइनोंके ट्राम, बस, रेल, एरोप्लैन आदि यान-वाहन, सुहावने पार्क, सङ्गीत, व्यापार, नौकरी, इच्छानुसार खाने-पीनेकी चीजें एवं मनोरञ्जनकी और भी सारी वस्तुएँ—यह सब कुछ शहरमें उपलब्ध है। मनुष्य क्या चाहता है? इसका केवल एक उत्तर है—आनन्द। परम ब्रह्म आनन्दमय है। परब्रह्मका अंश होनेके कारण जीवात्मामें भी आनन्दकी चाह स्वाभाविक है। परन्तु निर्विशेषवादियोंके कुसङ्गके प्रभावसे वह भगवान्के चिद्विलास और चिन्मय आनन्दको अस्वीकार कर जड़ानन्दका भोग करते-करते परेशान हो जाता है और इस परेशानी ही को भगवानकी लीला मान कर चिदानन्दसे वंचित हो जाता है। अँग्रेज कवि काउपर (Cowper) महोदयने कहा है—'गाँव ईश्वरके बनाये हुए हैं और शहर मनुष्योंके'। तात्पर्य यह कि आनन्दकी विशेषता देहात और शहर दोनोंमें है; परन्तु गाँवका आनन्द निर्मल और अकृत्रिम होता है एवं शहरका आनन्द कृत्रिम और विकृत होता है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मका आनन्द विशुद्ध चिदानन्द होता है। इसलिये ब्रह्म सविशेष हैं, निर्विशेष नहीं। निर्विशेष

निराकारवादियोंका अनुभव निर्मल न होनेके कारण वे चिन्मय विशेषताओंको—चिन्मय नाम, रूप, गुण और लीलाको भी मायिक मानने लगते हैं।

निरपेक्ष रूपसे विवेचन करने पर यह पता चलता है कि आनन्दका भी तारतम्य है। विद्वान् पुरुषोंका आनन्द शराबियोंके आनन्दसे भिन्न होता है। शराबके नशेमें चूर शराबियोंकी बेसिर–पैरकी बातें और सांसारिक भोगोंसे विरक्त महात्माओंकी परस्पर हरिलीला–कथाओंकी चर्चा—'बोधयन्तं परस्परं', एक चीज नहीं। उसी प्रकार लीला–पुरुषोत्तमकी चिन्मय आनन्दसे पूर्ण सविशेषता—अप्राकृत लीला और जड़विलासी मायावादीकी जड़ानन्दरूप मायिक विशेषता—सांसारिक दुःख–सुख भोग—एक चीज नहीं हैं। माया द्वारा अपहृत–ज्ञानवाले, असुर स्वभाव–विशिष्ट मायावादी इन बातोंको नहीं समझ सकते। इतना ही नहीं वे लोग अन्तमें भगवानको हटाकर (अस्वीकार कर) स्ययं भगवान् बन बैठते हैं तथा सबको धोखा देते हैं। त्रिकालज्ञ श्रीवेदव्यास भविष्यकी बात सोचकर इन लोगोंसे सावधान करनेके लिये ही वेदान्त–सूत्रकी रचना कर स्वयं उसका भाष्य भी लिख गये हैं, जिसका नाम है—श्रीमद्भागवत ***"भाष्योऽयं ब्रह्मसूत्राणां।"***

बड़े–बड़े निराकारवादी स्वामीजी लोग जनशून्य स्थानोंका परित्याग कर जगन्मिथ्याका उपदेश देनेके लिये बड़े–बड़े शहरोंमें जो पधारते हैं उसका मूल कारण भौतिक रूप, रस आदिका आस्वादन ही जान पड़ता है। प्राकृत भोगोंसे रहित वनका सात्त्विक भाव जिनको रुचिकर नहीं होता, राजसिक भोगैश्वर्य ही जिनको प्रिय हैं, वे भला त्रिगुणातीत कैसे हो सकते हैं? क्या यही उनके निर्गुण पदकी प्राप्तिका लक्षण है? जिनमें सात्त्विक गुणोंका भी अभाव है, वह निर्गुण अवस्था नहीं प्राप्त कर सकता है। त्रिगुणातीत मुक्त महापुरुष ही वैसी अवस्थाके अधिकारी हैं और वैसी स्थिति केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही सम्भव है।

***माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।***
***स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।***

(गीता १४।२६)

जो व्यक्ति चिद् विलासको अस्वीकार कर केवल वाक चातुरीका आश्रय लेकर उदर पूर्त्तिके लिये त्यागी–वेश धारण करते हैं, उनको मायाके जड़ विलासमें अवश्य ही फँसना पड़ता है, चाहे वे जितना भी चिल्लावें कि 'मैं मुक्त हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' या 'मैं नारायण हूँ'। जन्म–मृत्यु–जरा–व्याधिके अधीन रहकर भला कोई मुक्त कैसे हो सकता है? यह बात असम्भव है। शुष्क नेति–नेति विचार परायण ज्ञानी लोग अनेकानेक जन्मोंके पश्चात् भगवान् वासुदेवके शरणागत होते हैं—***'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'*** और तब कहीं मुक्त होते हैं। वासुदेवके चरणोंमें शरण लिये बिना कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु मायावादी हठपूर्वक जड़ीय विशेषोंको निर्विशेष बतलाते बतलाते अंतमें वास्तविक वस्तुको भी निर्विशेष बतलानेकी धृष्टता करने लगते हैं। इतना ही नहीं, वे मायिक विलासको—सुख–दुःखको भगवान्की लीला बतलाते हैं। उनके विचारसे मायिक–तत्त्व परतत्त्वसे सर्वथा भिन्न है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। मायिक–तत्त्व परतत्त्वकी छाया है। जिस प्रकार सिनेमागृहका चलचित्र असल खेलकी एक विपरीत प्रतिच्छबि मात्र है। यदि असल खेल निराकार हो तो उसकी प्रतिच्छवि कदापि साकार नहीं होती। प्रतिछवि कहनेका तात्पर्य है—असल खेल कहीं और है। जड़ जगत—चिज्जगतकी छायामात्र है।

अतएव सिद्धान्त यह है कि निरवच्छिन्न आनन्द चिद्विलास भगवान्में ही है। उसके अतिरिक्त जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सब कुछ चिदानन्दकी मायिक छाया मात्र है। मायिक जगत्में ही जलमें

काँचबुद्धि, मिट्टीमें जलबुद्धिरूप भ्रम होता है। परन्तु चिज्जगतमें सब कुछ अद्वयज्ञान वस्तु होनेके कारण वैसे भ्रमका तनिक भी अवकाश नहीं है। चिद्-विलासका वैशिट्य इतना ही है कि उसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता एक ही वस्तु अर्थात् अद्वयज्ञान तत्त्व है। अद्वैतज्ञान अद्वयज्ञानकी ही मायिक उपलब्धि मात्र है।

षडैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द-विग्रह पुराणपुरुष शाश्वतपुरुष हैं। वे पहले अव्यक्त थे, बादमें वे मायिक शरीर धारण कर व्यक्त हुए हैं—साकार हुए हैं, यह मायावादी सिद्वान्त बिलकुल गलत है। चिद्विग्रह भगवान् नित्यकाल साकार हैं; उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। जो लोग सच्चिदानन्द विग्रहको मायिक शरीर मानते हैं, उनकी बुद्धि निर्मल नहीं है। ऐसे लोगोंको शास्त्रमें 'मूढ़'की संज्ञा दी गयी है। षडैश्वर्यशाली भगवान अपनी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे अपनी असंख्य विलास-मूर्त्तियोंको प्रकट कर अपना विस्तार करते हैं। परन्तु इससे उनके मूल रूपका अस्तित्व लुप्त नहीं होता। पूर्ण तत्त्व अपनेको पूर्णरूपसे विस्तार करके भी पूर्ण ही रहते हैं। जैसे पिता पुत्र और कन्याके रूपमें अपना विस्तार करके भी स्वयं अपना अस्तित्व सुरक्षित रखता है। मायावादी यह समझते हैं कि जब ब्रह्मने अपना विस्तार कर दिया, तब उनका आकार कहाँ रहा? परन्तु वे यह समझ नहीं पाते कि मायिक वस्तु ही टुकड़े-टुकड़े होने पर अन्तमें निराकार हो सकती है—परन्तु अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न भगवान् सर्वथा ही पूर्ण रहते हैं।

भगवान्की विविध शक्तियोंके परिणाम-स्वरूप चिद् और अचित् सम्पूर्ण विश्व भगवान्से एक ही समय भिन्न और अभिन्न दोनों हैं अर्थात् अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्धयुक्त हैं। यही भगवान्की अचिन्त्यशक्तिका परिचय है। अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न लीलापुरुषोत्तम आनन्दमय पुरुष हैं। उन्होंने अपने चिद्विलासको परिपूर्ण रखनेके लिये अपना विविध-प्रकारसे विस्तार किया है। यह उनका स्वाभाविक कार्य है। स्मरण रहे कि भगवानकी यह लीला सर्वथा जड़ातीत है। इसका रहस्य समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। इस लीला-रहस्यको तो वही जान सकता है जिसे स्वयं भगवान् ही कृपा कर जना देते हैं—

*ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।*
*सरहस्यं तदङ्ग्च्च गृहाण गदितं मया।।*

(श्रीमद्भागवत २।९।३०)

करुणामय भगवान नारायण ब्रह्माजीको चतुश्लोकी भागवतका उपदेश करते हुए कह रहे हैं—मैं विज्ञानसमन्वित रहस्य और तदङ्गयुक्त अपना परम ज्ञान तुमको बतला रहा हूँ, तुम ग्रहण करो। तात्पर्य यह कि भगवत्-तत्त्वमें विविध प्रकार की विशेषताएँ विद्यमान हैं और वे विशेषताएँ बड़ी रहस्यपूर्ण हैं। इन विशेषताओंको कोई जीव अपने सीमित भौतिक ज्ञानसे जाननेमें समर्थ नहीं है। उनको तो वही जान सकता है, जिसे भगवान स्वयं कृपा कर जना देते हैं। अतः शरणागत भगवद्भक्त ही विभिन्न प्रकारकी चिद्विशेषताओंसे पूर्ण भगवत्-तत्त्वको जाननेमें समर्थ हैं—अन्याभिलाषी, कर्मी और ज्ञानी नहीं। भगवद्विज्ञान अथवा भगवद्दर्शन समझनेके लिये भगवद्गीता ही प्रथम वर्ण-परिचय है। परन्तु इस पारमार्थिक वर्ण परिचय रूपी गीता केवल परम्परागत गुरुदेवकी कृपासे ही समझी जा सकती है। दुर्भागा व्यक्ति गुरुदेवकी कृपाकी अवज्ञा कर अपनी सीमित विद्या-बुद्धि द्वारा उसे समझनेका प्रयत्न करता है, परन्तु उसका सारा परिश्रम विफल हो जाता है।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्तिको भगवद्विज्ञानके अनुशीलनमें ही अधिक समय देना कर्त्तव्य है; क्योंकि मनुष्य जीवनका चरम उद्देश है—तत्त्व-जिज्ञासा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन सबका सम्बन्ध

मायासे है। भगवद्दर्शन या भगवद्विज्ञान ही अकेला मायासे परे है। धर्मकी सार्थकता अर्थ–प्राप्तिमें नहीं है, अर्थ केवल धर्मके लिये है। धर्म–पथमें रह कर जीविकानिर्वाहोपयोगी अर्थोपार्जन करना चाहिए, परन्तु शरीर–रक्षाके नाम पर भोग–विलास अथवा इन्द्रियोंको तृप्त करना कर्त्तव्य नहीं है। ऐसा करना पाप है। इस विषयमें मेरा पृथक लेख 'पापका परिचय' जो पहले प्रकाशित हो चुका है—पठनीय है। जीवन–निर्वाहका तात्पर्य है—तत्त्व जिज्ञासु होना। जो लोग मनुष्य जीवन लाभ कर भी तत्त्व–जिज्ञासु नहीं होते, वे जीवित रहकर भी मृतकके समान हैं। तत्त्वजिज्ञासाका तात्पर्य है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌का यथार्थ तत्त्व जाननेके लिये तत्त्वविद् पुरुषोंसे श्रद्धापूर्वक पूछना। मनुष्य जीवनका एकमात्र और चरमफल तत्त्व–ज्ञानकी प्राप्ति ही है।

भौतिक शरीरमात्र दुःखदायी होता है। यों तो मनुष्य शरीरमें भी बहुतसे दुःख हैं, परन्तु दूसरे शरीरमें तो और भी अधिक दुःख हैं। हरेक बुद्धिमान मनुष्य यह सहज ही अनुभव कर सकता है कि भौतिक शरीर कितना दुःखप्रद है। आत्मज्ञानी पुरुष इस मनुष्य शरीरके रहते हुए भी दुःखोंसे सर्वथा अतीत होते हैं। देहात्मबुद्धि वाले (शरीर को आत्मा माननेवाले) सर्वदा दुःखी रहते हैं। आधुनिक बड़ी–बड़ी योजनाओंके निर्माणकर्ता कहते हैं—हम तरह–तरहकी क्रान्तिकारी योजनाओंके द्वारा संसारको पूर्णसुखमय बना लेंगे। परन्तु बड़े–बड़े योजना–निर्माता आये और चले गये, परन्तु आजतक सांसारिक अभाव और दुःख ज्यों–के–त्यों हैं, अधिकन्तु और भी नयी–नयी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं। हमें इस विषयपर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

भगवान आनन्दस्वरूप हैं; अतएव उनकी लीला कभी दुःखदायी नहीं हो सकती। बद्धजीवोंका दुःख–भोग भगवान्‌की लीला नहीं हो सकती। भगवान्‌की लीलाएँ गुणोंसे अतीत और प्राकृत–विधानोंसे परे होती हैं।

जीवकी दुःखप्राप्तिका कारण अपनी क्षुद्र स्वतंत्रताका अपव्यवहार करना है। भगवात्सेवाके लिये जीवको एक प्रकारसे स्वतंत्रता दी गयी है। जीव उस स्वतंत्रताका अपव्यवहार कर अपने इन्द्रिय–सुखके लिये जभी उसका प्रयोग करते हैं, उसी समय वे जड़ा प्रकृतिके परतंत्र हो जाते हैं। इसी परतंत्रताका दूसरा नाम वद्धावस्था है। इस परतंत्रतासे छुटकारा प्राप्त होनेका नाम ही मुक्ति है। मुक्तिका तात्पर्य पुनः भगवत्सेवाको प्राप्त करना है। भगवत्सेवामें सदा–सर्वदा लगे रहने वाले जीव शरीरके रहते भी जीवन्मुक्त हैं।

उपरोक्त स्वामीजी अपनेको अद्वैतवादी मानते हैं; उनके लिये जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। अतएव मनुष्यका दुःख भोगना—परमात्माका ही दुःख भोगना है। परन्तु परमात्माका दुःख–भोग अयुक्तिसंगत एवं शास्त्र–विरुद्ध है। इस दोषसे साक्षात् रूपमें बचनेके लिये वे लोग मनुष्यके दुःख–भोगको परमेश्वरकी मायिक लीला (?) बतलाकर कन्नी काट कर बच निकलना चाहते हैं। इस प्रकार धोखेकी बात कहना स्वामीजीके लिये स्वाभाविक है। जीवात्माका दुःख भोगना दैवी मायाके अधीन कार्य है, उसका भगवानकी लीलासे कोई सम्बन्ध नहीं है। ❑

***भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी।।८।।***

(३/३/५३ सूत्रका माध्वभाष्यधृत माठर–श्रुति–वचन)

भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीवको भगवद्दर्शन कराती है। वे परम पुरुष भगवान् एकमात्र भक्तिके ही अधीन हैं। भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।।८।।

# सदाचार

*—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिमयूख भागवत महाराज*

भगवान् विष्णुके जगदीश होनेके नाते जगत्-वासी हमलोग सभी उसकी संतान या उसके सेवक अर्थात् वैष्णव हैं। इसलिए विष्णुकी सेवा करना हमारा धर्म है। इसलिए एकमात्र विष्णुकी सेवा और विष्णुसेवाके अनुकूल समस्त कर्मोंको सदाचार कहते हैं। और यही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। विष्णु-सेवाके प्रतिकूल कार्य अतीव सुखकर प्रतीत होने पर भी यथार्थ कल्याणप्रद नहीं होते। अतः इन्हें असदाचार कहा जाता है। असदाचार सर्वथा वर्जनीय है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

*"केह माने, केह ना माने, सब कृष्ण-दास।*
*ये ना माने, तार हय सेई पापे नास।।*
*जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्यदास।'*
*कृष्णेर 'तटस्था शक्ति' 'भेदाभेद प्रकाश'।।"*

(चैतन्यचरितामृत)

भावार्थ यह है कि निखिल प्राणी कृष्णके नित्य दास हैं। कुछ लोग इस वास्तव तथ्यको स्वीकार करते हैं और कुछ लोग स्वीकार नहीं करते। जो लोग स्वीकार नहीं करते, उनका इसी पापके कारण विनाश हो जाता है। जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्य दास है। वह चिज्जगत् और मायिक जगत्—इन दोनोंके मध्य सीमारेखा पर अवस्थित होकर दोनों जगतोंसे सम्बन्ध रख सकता है। इसलिये जीवको तटस्था शक्ति भी कहा गया है। जीव कृष्णका भेदाभेद प्रकाश है। चिन्मय धर्मके सम्बन्धसे जीव कृष्णका अभेद प्रकाश है तथा अणु-चैतन्य धर्मवशतः जीव वृहद् चैतन्य कृष्णका भेद प्रकाश है। भेद और अभेद दोनों युगपत् सिद्ध हैं।

श्रीमद्भागवतका कहना है—'वृक्षकी जड़में जल देनेसे जिस प्रकार उसकी शाखा प्रशाखाओंमें पृथक्रूपमें जल देनेकी आवश्यकता नहीं होती, प्राणोंमें आहार देनेसे जिस प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंको अलग-अलग आहार नहीं देना पड़ता, उसी प्रकार सर्वेश्वर विष्णुकी उपासना करनेसे दूसरे-दूसरे देवताओंकी पृथक्-पृथक् पूजा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जो मनुष्य समस्त प्रकारके कर्मोंका परित्यागकर श्रीहरिको सबका मूल जानकर उसी अखिल लोकशरण्य श्रीमुकुन्दके चरणोंमें सर्वतोभावेन शरण ले लेता है, वह देवता, ऋषि, पितृगण, भूतसमूह और आत्मीय-स्वजनों—किसीका भी ऋणी नहीं रहता।'

प्रत्येक कल्याणकामी साधकको सबसे पहले सद्गुरुका पदाश्रय करना चाहिये। उनसे विधिवत् मंत्र-दीक्षा ग्रहणकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए तथा उनके आनुगत्यमें रहकर श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका यथायथ पालन करना चाहिये।

भगवद्भक्तिके अनुकूल ग्रहण, प्रतिकूल वर्जन कृष्ण मेरी अवश्य ही रक्षा करेंगे—यह सुदृढ़ विश्वास, भगवानको अपने रक्षक और पालकरूपमें वरण, स्वतन्त्रता परित्याग कर आनुगत्य और दैन्य भाव ग्रहण—शरणागतिके इन छः अङ्गोंका पालन करना चाहिये। सत्संग, संकीर्त्तन, भागवत-श्रवण श्रीधाम अथवा मन्दिर या आश्रममें वास तथा श्रद्धापूर्वक श्रीअर्चामूर्तिकी सेवा—भक्तिके इन पाँचों अङ्गोंका पालन ही यथार्थ सदाचार है।

शुद्ध भक्तोंकी पद-धूलि, पद-जल और अधरामृत ग्रहण करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। इसलिये श्रद्धापूर्वक इनका सेवन करना चाहिये। यदि प्रतिदिन सत्संग न मिले तो उसके अभावमें

सत् शास्त्रोंका आलोचनरूप सत्संग अवश्य करणीय है। भगवान्‌की अर्चामूर्तिको काठ या पत्थर मानना, गुरुदेवको मरणशील मानव समझना, भक्तोंकी जातिपाँतिका भेदभाव रखना, विष्णु और वैष्णवोंके पादोदकको साधारण जल समझना, भगवन्नाम और मंत्रको साधारण शब्द मानना, और सर्वेश्वर विष्णुको दूसरे-दूसरे देवताओंके समान समझना महा अपराध-जनक और नरकप्रापक होता है।

सुख-दुःख जभी जो कुछ आ पड़े, उसे भगवान्‌की दया मानकर सर्वदा सन्तुष्ट रहना चाहिये। जो लोग सांसारिक अमंगलोंको भगवान्‌की कृपा न मानकर जागतिक उन्नति और वैषयिक सुखोंके लिये प्रधावित होते हैं, उन्हें अन्तमें केवल निराशा ही हाथ लगती है। सांसारिक असुविधाओंके मिस भगवान् अपनी सेवाका विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें अनन्त मंगलराशि निहित रहती है। हमें उसका अनुभव करना चाहिये।

जो साधक भगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं, उन्हें ब्राह्ममुहूर्त्तमें ही बिछौनेसे उठ जाना चाहिये तथा नित्य क्रिया समाप्तकर श्रीविग्रहका जागरण सर्व-प्रथम कराना चाहिये। फिर पहले दिनका निर्माल्य हटा देना चाहिये। यदि पूर्व दिनका निर्माल्य उस समय न हटाया गया तो वह भगवान्‌की छातीमें अरुणोदय तक काँटोंकी तरह चुभता है, सूर्योदयके एक घंटा बादतक बाणोंकी तरह हृदयको विद्ध करता है और उसके बाद बज्रकी तरह प्रहार करता है।

खुली हुई जगहमें आचमन और अर्चन नहीं करना चाहिये। पहले गुरुपूजा, पीछे गौरपूजा और अन्तमें राधाकृष्णकी पूजा करनी होती है। अन्यथा वह पूजा व्यर्थ हो जाती है। द्वादशीके दिन अर्चामूत्तिको स्नान कराना और तुलसी चयन करना निषेध है। स्नान करनेके बाद चयन किया हुआ पुष्प भगवान् ग्रहण नहीं करते। इसलिये नित्यप्रति स्नानके पहले ही पुष्प-चयन कर लेना उचित है। तुलसी चयन स्नानके बाद करना चाहिये, नहीं तो वे भगवान् की सेवाके लिये अनुपयोगी हो जाती हैं। भगवान्‌की पूजाके अतिरिक्त किसी भी रोगके लिये तुलसीका व्यवहार करना नितान्त अपराधजनक होता है। भगवान्‌को प्रतिदिन नाना-प्रकारके उत्तम-उत्तम अन्न पेयादि भोग निवेदन करना चाहिये। घृतहीन भोजनको आसुरिक भोजन कहा गया है। अतएव घृतहीन पदार्थ भगवान्‌को भोग नहीं लगाना चाहिये। लहसुन, प्याज, मसूरी, जला हुआ अन्न (भात); लाल रंगका पुई शाक, मांस-मछली आदि अमेध्य पदार्थोंका भोग निवेदन नहीं करना चाहिये। सामर्थ्य रहते हुए वेतनभोगी रसोइयेके हाथसे तैयार किया हुआ नैवेद्य भोग लगाना और वेतन-भोगी पुजारी द्वारा विष्णु-पूजा करवाना—ये दोनों सर्वथा अनुचित हैं। तुलसीकी माला धारण किये बिना विष्णुकी पूजा पूर्ण फल-दायक नहीं होती। उपनयन रहित व्यक्ति विष्णुकी पूजाके लिये अयोग्य है। उन्हें विष्णु पूजा नहीं करनी चाहिये।

श्रीगुरुदेवके चरणोंमें तुलसी निवेदन नहीं करना चाहिये। तुलसी देवी आश्रयजातीया शक्तितत्त्व और गोविन्दजीकी प्रिया हैं। उनके द्वारा एकमात्र विषय-विग्रह श्रीविष्णुका ही अर्चन किया जा सकता है। श्रीगुरुदेव और तुलसी देवी ये दोनों ही आश्रय जातीय सेवक भगवान् हैं। एक आश्रय जातीय शक्ति तत्त्वको एक दूसरे आश्रय जातीय शक्ति तत्त्वके चरणोंमें निवेदन करना अपराधजनक होता है। इसीलिये श्रीगुरुदेव, श्रीलक्ष्मीजी और श्रीमती राधिकाजीके चरणोंमें तुलसी अर्पण करना अवैध है। हाँ, उनके हाथोंमें तुलसी प्रदान करनेकी शास्त्रीय पद्धति है। हाथोंमें तुलसी देनेमें यह भावना होनी चाहिये कि गुरुदेव अथवा लक्ष्मीजी या श्रीमती

राधारानी तुलसीदेवीको भगवान्‌की सेवामें अर्पण कर रही हैं। श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीगौरांगदेव, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीनारायण और श्रीरामचन्द्र आदि भगवद्‌वतारोंके चरणोंमें ही तुलसी प्रदान करनेकी विधि है। भगवदवतारोंके अतिरिक्त किसी भी अन्य देव-देवियोंके चरणोंमें तुलसी प्रदान करना अवैध है। क्योंकि वे सभी शक्ति तत्त्व हैं।

श्रीविग्रहके सामने चरणामृत पान करना और महाप्रसाद भोजन करना निषेध है। कृष्ण-प्रीतिके लिये कार्त्तिकके महीनेमें आकाश-दीप प्रज्वलित करना और ग्रीष्मकालमें तुलसीके पौधेके ऊपर जल धारा देना प्रधान सदाचार है। भगवानकी आरतिका प्रतिदिन दर्शन करना चाहिए। इससे दुःख-दारिद्र्य और पापोंका नाश होता है। आरति दर्शन खड़े होकर करना चाहिए। अयुग्म (दो बत्तियोंको एक साथ न मिला कर) और अनेक बत्तियोंवाले प्रदीप द्वारा आरति करनी चाहिए। चरणामृत पीनेके बाद आचमन नहीं करना चाहिए। भगवान्‌के उत्सवोंमें नीच जातिके लोगोंसे स्पर्श होनेसे अस्पृश्यताका दोष नहीं लगता। एकादशी और जन्माष्टमी आदि हरिवासरोंके दिन उपवास रहकर हरिनाम संकीर्त्तन करना चाहिए। उस दिन किसी भी हालतमें अन्न भोजन नहीं करना चाहिए। उस दिन क्षौर कर्म भी करना मना है। स्मार्त्तमतके विधानके अनुसार विद्धा एकादशी और जन्माष्टमीको परित्याग कर वैष्णवमतानुसार शुद्ध एकादशी आदि हरिवासरोंका पालन करना चाहिए। उन्मीलनी, व्युञ्जली, त्रिस्पृशा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी—इन आठ महाद्वादशियोंका पालन विशेषरूपसे करना चाहिए। एक वस्त्र पहन कर भगवानकी पूजा और आहार करना निषेध है। ताँबेका बर्तन परम पवित्र और भगवानका अत्यन्त प्रिय होता है। ताँबेके बर्तनमें दुग्ध और मधु रखनेसे मद्यके समान हो जाते हैं। किन्तु उस बर्तनमें घी लगाकर दुग्ध और मधु रखनेसे ये दूषित नहीं होते। ग्रहणके समय भगवान्‌की सेवा और महाप्रसादकी सेवा करनेमें कोई बाधा नहीं है। जन्म और मरणमें वैष्णवोंको अशौच स्पर्श नहीं करता। इसलिये वे उस समय भी भगवान्‌की सेवा बन्द न करेंगे।

गृह, आश्रम या मठमें कोई भी भक्त उपस्थित होने पर यथाशक्ति उनकी अभ्यर्थना और सम्मान करना कर्त्तव्य है। एकादशीके दिन किसी अतिथिको अन्न भोजन कराना सदाचारके विरुद्ध है। श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रन्थोंको अथवा श्रीहरिनामकी मालिकाको जहाँ-तहाँ रखना अथवा साधारण वस्तुओंके साथ रखना सर्वथा वर्जनीय है। महाप्रसादके सामने कलह, प्रजल्प अथवा क्रोध प्रदर्शित करनेसे महाअपराध होता है। महाप्रसादके साथ अमेध्य द्रव्योंको (मद्य, मांस, मसूर आदि अपवित्र पदार्थोंको, जिनका व्यवहार यज्ञमें नहीं किया जाता है) मिश्रित कर भोजन नहीं करना चाहिये। गंगा-यमुनाके तटपर मल-मूत्र आदि परित्याग करना तथा उनके जलमें कफ थूक इत्यादि फेंकना अपराधजनक है।

शास्त्रोंका कहना है—श्रीनामसंकीर्त्तन, परिक्रमा और श्रीहरि-यात्राके समय तुरन्त उठ कर प्रणाम करना चाहिये और कुछ दूर तक उनका अनुगमन करना चाहिये। सन्तोंको और गुरुदेवको देखते ही प्रणाम करना चाहिये। यदि वे कहीं जा रहे हों, तो कुछ दूर तक उनका अनुगमन करना चाहिये। पुत्रके संन्यास ग्रहण करने पर गृहस्थ पिताका कर्त्तव्य है कि वे संन्यासी पुत्रको प्रणाम करें। त्रिदण्डि संन्यासी शिखा और सूत्र (उपवीत) धारण करेंगे, कषाय वस्त्र पहनेंगे और पवित्र रहकर निरन्तर हरिनाम करेंगे। 'हे भगवन्! आप मुझ पर प्रसन्न होइये'—ऐसा कह कर भगवान्‌को प्रणाम करना चाहिये।

प्रणामकी दो विधियाँ हैं—पञ्चांग और अष्टांग।

दोनों हाथ, दोनों घुटनों और सिरको पृथ्वी पर टेक कर वचन और बुद्धिसे प्रणाम करनेको पंचांग प्रणाम कहते हैं और दोनों घुटने, दोनों हाथ, दोनों पैर, छाती और मस्तकको पृथ्वीपर टेककर दृष्टि, मन और वचनसे प्रणाम करनेको साष्टांग प्रणाम कहते हैं।

भगवान्‌के सामने मस्तक रख कर प्रणाम करनेसे अपराध होता है। श्रीगुरुदेव, वैष्णवों और भगवान्‌को अपनी बाईं ओर रख कर प्रणाम करना चाहिये। श्रीविग्रहके शयन अथवा भोजनकालमें प्रणाम नहीं करना चाहिये। इस विषयमें 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थमें नारदपंचरात्रका निम्निलिखित वचन उद्धृत किया गया है—

*सन्धि वीक्ष्य हरिं चाद्यं गुरुन् स्वगुरुमेव च।*
*सर्वथा नमेत्*

(नारद पञ्चरात्र)

श्रीसनातन गोस्वामीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है—सन्धि भोजनशयनाद्यवसरं। वीक्ष्य आलोच्य तद्व्यतिरिक्तकाले इत्यर्थः।

जूठे हाथोंसे अथवा अपवित्र अवस्थामें प्रणाम करना निषेध है। एक हाथसे प्रणाम नहीं करना चाहिए। भगवान्‌के पीछेसे अथवा अत्यंत निकटसे या गर्भ मन्दिरके भीतर प्रणाम और जप नहीं करना चहिये। श्रीमन्दिरमें अथवा सभा आदि स्थलोंमें जहाँ बहुत से भक्त एकत्रित हों, वहाँ सबको अलग–अलग प्रणाम नहीं करना चाहिये। भगवान्‌की प्रदक्षिणा चार बार करनी चाहिए, भगवान् और तुलसी की प्रदक्षिणा एक बार नहीं करनी चाहए।

पवित्र आसन पर पूर्व अथवा उत्तर मुख बैठ कर आचमन कर अपने इष्टदेवकी कृपा भिक्षाकर संख्यापूर्वक अपने इष्टमंत्रका त्रिसंध्याओंमें जप करना चाहिए। एक वस्त्र पहन कर जप करना मना है। निर्दिष्ट संख्यापूर्वक जप करना चाहिए। महामन्त्र बिना संख्या रक्खे हुए ऊँचे स्वरसे भी कीर्त्तनीय है। जप करनेके समय सुमेरु (जप माला के बीचका वह सबसे बड़ा दाना जहाँसे जप आरम्भ और शेष किया जाता है) का लंघन और बायें हाथसे मालाका स्पर्श नहीं करना चाहिए। तर्जनी अँगुली (अँगूठेकी बादवाली अँगुली) से भी मालाका स्पर्श करना निषेध है। जप करनेके समय मालाका हिलाना अनुचित है। मालाको वस्त्रसे ढककर जप करना उचित है। प्रकाश्य रूपमें लोगोंको दिखलाकर जप करनेसे भूत, वैताल, राक्षस, सिद्ध और गन्धर्वोंके द्वारा उस जपका फल अपहरण कर लिया जाता है। सुयोग प्राप्त रहनेसे तुलसी, गुरु, भगवान्‌के श्रीविग्रह अथवा भक्तोंके सम्मुख जप करना ही विधि है।

हरिभक्तिविलासका कथन है—जप करनेके पहिले विधिवत् पुरश्चरण कराना नितांत आवश्यक है। विना पुरश्चरण कराये सैकड़ों वर्षों तक जप सिद्ध नहीं हो सकता। पुरश्चरणके द्वारा साधककी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। पुरश्चरणको मंत्रकी शक्ति अथवा प्रधान वीर्य कहा गया है। किन्तु अधिक व्ययसाध्य, श्रमसाध्य और समयसाध्य होनेके कारण शास्त्रोक्त विधियोंके अनुसार पुरश्चरण करना सबके लिए संभव नहीं है। इसलिए बुद्धिमान भक्त श्रीगुरुदेवको ईश्वर मानकर तन मन, और वचन से प्रीतिपूर्वक गुरुकी सेवा करते हैं और जिनकी कृपामात्रसे ही उनका पुरश्चरण अपने–आप सिद्ध हो जाता है।

*अथवा देवतारूपं गुरुं ध्यात्वा प्रतोषयेत्।*
*तस्य छायानुसारी स्याद्भक्तियुक्तेन चेतसा।।*
*गुरुमूलमिदं सर्वं तस्मान्नित्यं गुरुं भजेत्।*
*पुरश्चरणहीनोऽपि मन्त्री सिध्येन्न संशयः।।*

(हरिभक्तिविलास १७।१३०)

शास्त्रके अनुसार विधिवत् पुरश्चरण करना चाहिये अथवा श्रीगुरुदेवको साक्षात् ईश्वर मानकर निष्कपट सेवाके द्वारा उन्हें प्रसन्न कर छायाकी तरह उनका अनुसरण करना चाहिये। किन्तु जो

लोग न तो पुरश्चरण ही करते हैं और न गुरुकी सेवा ही करते हैं, उनकी मन्त्रसिद्धिकी कोई संभावना नहीं होती। श्रीगुरुदेव समस्त कर्मोंके मूल हैं। अतएव प्रतिदिन उनकी सेवा करना कर्त्तव्य है। ऐसा होनेसे पुरश्चरण न करके भी मन्त्रकी सिद्धि हो सकती है। उक्त श्लोककी टीकामें श्रीसनातन गोस्वामीने लिखा है—"केवल श्रीगुरुप्रसादेनैव पुरश्चरणसिद्धिः स्यात्।"

शास्त्रोंमें और भी कहा गया है—

*यस्य देवे च मन्त्रे च गुरौ त्रिष्वपि निश्चला।*
*न व्यवच्छिद्यते बुद्धिस्तस्य सिद्धिरदूरतः।।*
*मंत्रात्मा देवता ज्ञेया देवता गुरुरूपिणी।*
*तेषां भेदो न कर्त्तव्यो यदाच्छेदिष्टमात्मनः।।*

(हरिभक्तिविलास १७।३०)

जिनकी भगवान्, गुरु, और इष्टमन्त्रके प्रति अचला भक्ति है वे शीघ्र ही सिद्धि लाभ कर लेते हैं। प्रत्येक कल्याणकामी साधकको श्रीमंत्र और श्रीगुरुदेवको साक्षात् ईश्वर मानना चाहिए। इन तीनों वस्तुओंमें कभी भेदभाव नहीं रखना चाहिए।

गुरुकी कृपासे अनायास ही सर्वार्थकी सिद्धि होती है तथा भगवान्‌की कृपा पायी जा सकती है। श्रीगुरुदेवकी सेवा करनेसे भगवान् जितने सन्तुष्ट होते हैं, वे और किसी भी उपायसे उतना प्रसन्न नहीं होते।

*गुरुशुश्रूषणं नाम सर्वधर्मोत्तमोत्तमम्।*
*तस्मात् धर्म्मात् परो धर्मः पवित्रं नैव विद्यते।।*

(हरिभक्तिविलास ४।१४०)

श्रीगुरुसेवा समस्त उत्तम धर्मोंमें भी उत्तम धर्म है। इससे बढ़कर कोई भी दूसरा श्रेष्ठ और पवित्र धर्म नहीं है।

जगत्‌गुरु श्रीजीव गोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें लिखा है—

*यो मंत्रः स गुरुः साक्षाद्, यो गुरुः स हरिः स्वयम्।*
*गुरुर्यस्य भवेत् तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्।।*
*हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।*
*तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसीदयेत्।।*
*प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्चनम्।*
*कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत्।।*
*नाहमिज्या–प्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च।*
*तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा।*

*टीका च–ज्ञानप्रदाद् गुरोरधिको सेव्यो नास्ति। अतएव तद्भजनादधिको धर्मश्च नास्ति। इज्या गृहस्थधर्मः, प्रजातिः प्रकृष्टं जन्मोपनयनं, तेन ब्रह्मचारिधर्म उपलक्ष्यते ताभ्यां; तथा तपसा वनस्थधर्मेण; उपशमेन यतिधर्मेण वा। अहं परमेश्वरस्तथा न तुष्येयं, यथा सर्वभूतात्मापि गुरुशुश्रूषया।*

मंत्र और गुरु एक ही वस्तु हैं। गुरु ही साक्षात् हरि हैं। अतः गुरुदेव जिस पर प्रसन्न होते हैं, श्रीहरि भी उसके प्रति प्रसन्न होते हैं। हरि यदि अप्रसन्न भी हो जायँ तो गुरु उसकी रक्षा कर सकते हैं। किन्तु गुरु रुष्ट होनेपर कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए गुरुदेवको प्रसन्न करनेके लिए जी–जानसे प्रयत्न करना चाहिए। स्वयं भगवान् कहते हैं—'पहले गुरु–पूजा कर पीछे मेरी पूजा करो। ऐसा होनेसे ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा पूजा व्यर्थ हो जाती है। मुझे गुरु–सेवासे जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी प्रसन्नता गृहस्थ धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म, वानप्रस्थधर्म अथवा संन्यासधर्म आदिके पालनसे नहीं होती। भगवत्–ज्ञानको देनेवाले श्रीगुरुदेवसे बढ़कर कोई भी सेव्य तत्त्व नहीं है। अतएव उनकी सेवासे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है। इज्यासे गृहस्थ धर्मका, प्रजाति या प्रकृष्ट जन्म अर्थात् उपनयनसे ब्रह्मचर्यधर्मका लक्ष्य होता है। इसी प्रकार तपसे वानप्रस्थ और उपशमसे संन्यासधर्म लक्षित होता है। परमेश्वर मैं, गुरुसेवासे जितना संतुष्ट होता हूँ, उतना संतुष्ट पूर्वोक्त गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंके पालनसे नहीं होता। ❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नामजप साधना

—डॉ० सत्यपाल गोयल

## दानव्रत आदिको कृष्ण नामके बराबर समझना

*धर्मव्रततत्यागहुतादिसर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः*

कर्मकाण्डी विचार धारासे पोषित लोग श्रीकृष्ण नाम जपके फलको दान, व्रत, होमादि शुभ कर्मोंके समान समझते हैं। साधकको इस विचारको दूरसे ही त्याग देना चाहिए। दान, व्रत, होमादिका प्रधान फल स्वर्गादि प्रदान करना है, जबकि श्रीकृष्ण नामका यह गौण फल है। इस नामजप साधनामें भावकी ही प्रधानता है। यदि आप स्वर्गादिकी कामनासे कृष्ण नामका जप करेंगे तो ऐसी बात नहीं है कि वे स्वर्ग आदि प्रदान नहीं कर सकते। स्वर्गादि प्रदान करना तो नाम जपका नैमित्तिक या गौण फल है, जबकि दान, व्रत, होमादिका पालन इस वासनाके साथ ही किया जाता है कि हमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति हो। अतः उसका भक्तिसे दूरका भी सम्बन्ध नहीं है। कृष्णनाम जपका फल (प्रधान रूपसे) श्रीकृष्णकी प्रेमा भक्ति प्रदान करना है। उनके नित्यधाम वृन्दावनकी सेवा प्रदान करना है। जबकि दानव्रत होमादिके फलोंका वहाँ प्रवेशाधिकार ही नहीं है।

कर्मकाण्ड धर्मकी प्रथम एवं निम्न शाखा है। निम्नसे तात्पर्य कनिष्ठ शाखासे है। ज्ञान मध्यम शाखा है, भक्ति धर्मकी उत्कृष्ट शाखा है। स्वर्गादि फलकी कामनासे रहित होकर यदि कोई कर्म केवल श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये किया जाता हो तो वह कर्म न रहकर भक्ति योगके अन्तर्गत आता है। भावकी प्रधानतासे ही कर्मका स्वरूप बदल जाता है। अतएव साधकवर्ग दान व्रत और होम आदिके फलके समान कृष्णनामका फल नहीं माने अन्यथा नामापराध हो जायेगा एवं वह भजनके प्रधान फल—कृष्ण प्रेमसे वंचित रहेगा।

## श्रद्धाहीनको नामोपदेश

सभी शास्त्रोंमें हरिनामका जप, स्मरण, चिन्तन और ध्यानादिको सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है—ऐसा समझकर जो श्रद्धापूर्वक श्रीकृष्ण नामका जप करते हैं, उनको ही हरिनामका जप, स्मरण चिन्तनका अधिकार प्राप्त है। ऐसे श्रद्धावान लोगोंकी श्रद्धाको निष्ठामें बदलनेके लिये उन्हें नामजपका उपदेश प्रदान करना चाहिए और उसकी महिमाका वर्णन करना चाहिए। परन्तु जिनकी नाममें श्रद्धा नहीं है अथवा शास्त्रोक्त वचनोंको जो अर्थवाद या काल्पनिक मानते हैं, ऐसे लोगोंको नामजपका उपदेश करनेसे, नामापराध होता है। अश्रद्धालु लोगोंका तो नाममें श्रद्धा न होने से अपराध होता ही है इसके अतिरिक्त उन लोगोंका भी होता है जो ऐसे श्रद्धाहीनको नामका उपदेश करते हैं। धर्माचार्यों और धर्म उपदेशकोंके लिये ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि धर्म प्रचारके लिये उन्हें अश्रद्धालुओंमें भी श्रद्धा जगानी होती है। अतएव वे शक्ति सामर्थ्य रहनेके कारण दोषमुक्त रहते हैं।

## नामकी महिमा जानकर भी अहं–मम भावका होना

*श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।*
*अहं ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ।।*

अर्थात् श्रीकृष्ण नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो इस नाशवान शरीरमें 'मै' और 'मेरा' की बुद्धि रखते हैं, गृह, स्त्री पुत्र और धनादिमें ममत्व है, किन्तु कृष्ण नाममें निष्ठा नहीं है वे भी नामापराधी हैं। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि नाममें अश्रद्धालुजन भी नाम संकीर्तन करते पाये जाते हैं। शुद्ध विचारवान वैष्णवोंको ऐसे संकीर्त्तनोंमें

भाग नहीं लेना चाहिए। अपितु जहाँ शुद्ध वैष्णवजन मिलकर संकीर्त्तन कर रहे हों, वहाँ अवश्य संकीर्त्तन करना चाहिए। पंचोपासकों तथा नामके फलको दान, व्रत, होमके समान समझनेवाले संकीर्त्तनकारियोंका संकीर्त्तन भी शुद्ध संकीर्त्तन नहीं होता है, मनके भावोंका सामूहिक प्रभाव भी साधकके चित्तको प्रभावित किये बिना नहीं रहता है। पंचोपासकों और कर्मवासनासे प्रेरित लोगोंका संग शुद्ध हरिभक्तोंके संगकी सीमामें नहीं आता है।

साधकको सावधानी पूर्वक उक्त कथित दस नामापराधोंसे अवश्य बचना चाहिए इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकारका भी अपराध होता है जिसे नामाभास कहते हैं, यह शुद्ध कृष्णनाम जपमें नहीं आता है परन्तु पूर्व कथित दस नामापराधोंमें भी शामिल नहीं है।

आभास शब्दका अर्थ छाया, कान्ति या प्रतिबिम्ब होता है। वैष्णव लोग कृष्णनामका जप करते हैं परन्तु जब नामका जप नामाभासके रूपमें करते हैं तो वह शुद्धनाम जप नहीं होता है। ऐसा होने पर वे वैष्णवाभासकी कोटिमें आते हैं। यथा श्रीमद्भागवत में—

*अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।*
*न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः।।*

(श्रीमद्भागवत ११/२/४७)

अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक भगवानके श्रीविग्रहकी अर्चन-पूजा करते हैं परन्तु श्रीकृष्णके अन्य जीव और भक्तोंकी श्रद्धापूर्वक पूजा नहीं करते हैं वे प्राकृत (कनिष्ठ) भक्त हैं।

इस श्लोकमें जो श्रद्धा 'शब्द' है वह शुद्ध श्रद्धा न होकर श्रद्धाभास है। इसके लिए ऐसे साधक शुद्धभक्त नहीं बल्कि भक्ताभास हैं।

मायावादी लोग यदि वैष्णव चिह्न धारणकर नाम जप करें तो वे वैष्णवाभासके अन्तर्गत भी नहीं आते हैं अपितु विशुद्ध वैष्णव अपराधी हैं। उनका संग मल-मूत्रकी तरह त्याग देना चाहिए।

नामापराध, नामाभास एवं वैष्णवाभाससे दूर रहकर शुद्ध रूपमें कृष्णनामका जप करना ही मंगलजनक है। शुद्ध नाम ग्रहण करनेके लिये साधकको कर्म-ज्ञानको तथा अन्य अभिलाषाओंको त्यागकर सर्वथा कृष्णके अनुकूल रहकर कृष्णनामका जप करना चाहिए। जब अज्ञानवश अर्थात् भ्रम अथवा प्रमादवश अशुद्ध नाम होता है तब वह नामाभास कहलाता है और जब मायावाद आदिसे प्रेरित होकर मोक्ष और भोगवासनाओंसे लिप्त होकर कृष्णनामका जप किया जाता है तब वह नामापराध कहलाता है। नामापराध रहित (पूर्वोक्त दस नामापराध) होकर भी जप किया जाता है तो आशा रहती है कि एक दिन शुद्ध नामका भी उदय हो जायेगा। किन्तु नामापराधमें अहितके अतिरिक्त और आशा नहीं करनी चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें चार प्रकारके नामाभास बतलाये गये हैं यथा—

*सांकेत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।*
*वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।।*

(श्रीमद्भागवत ६/२/१४)

अर्थात् संकेत (दूसरी वस्तुको लक्ष्यकर) परिहास, स्तोभ (असम्मानपूर्वक) और हेला (अवहेलना) पूर्वक लिये गये नाम नामाभासके अंतर्गत आते हैं। विद्वज्जन इन चारोंको भी पाप नाशक मानते हैं।

### *संकेत नामाभास*

संकेत नामाभाससे तात्पर्य उस नाम उच्चारणसे है, जहाँ भगवानका नाम लेनेका कोई उद्देश्य नहीं है। किन्तु किसी वस्तु या व्यक्तिका नाम लेकर पुकारना जो कि भगवानके नाम पर हो; यथा—अजामिलका मरते समय भगवान नारायणका नाम लेनेका कोई उद्देश्य नहीं था अपितु उसने सहयोगके लिये अपने पुत्रको नारायण कहकर बुलाया। परन्तु भगवान ऐसे कृपालु हैं कि उन्होंने उसे भी अपना ही नाम लेना मान लिया तथा अजामिलको नारायण उच्चारणके फलरूपमें सद्गति प्रदान की। शास्त्रोंमें उल्लेख है कि अंत समयमें

जो भगवानका स्मरण करता है अर्थात् भगवानके नामका उच्चारण करता है वह भगवानको ही प्राप्त होता है; यथा—

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।*
*यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।*
*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।*
*तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।।*

(गीता ८/५-६)

अर्थात् जो व्यक्ति अंत कालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग करता है वह मुझे प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है। मनुष्य अंत कालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है वह उस-उस भावको ही प्राप्त होता है क्योंकि वह सदा उसी भाससे भावित रहता है।

अतएव संकेत अर्थात् अन्य वस्तुको लक्ष्यकर पुकारा गया भगवानका नाम संकेत नामाभासमें आता है।

### *परिहास नामाभास*

परिहास से तात्पर्य हास्स-उपहाससे है। जिन लोगोंकी नाममें श्रद्धा नहीं है किन्तु किसी कारणवश भगवानका नाम लेते हैं; यथा—असुर लोग राम या कृष्णको संकेतकर हास उपहासमें उनका नाम लेते हैं यथा क्या राम राम जपते रहते हो, कुछ कल्याणका काम क्यों नहीं करते? इस प्रकार हास-परिहासमें लिया गया कृष्णनाम परिहास नामाभासकी कोटिमें आता है। आगको जानकर स्पर्श करो या अज्ञानमें उसका स्वरूप धर्म तो जलाना है। उसी प्रकार कृष्ण नामका उच्चारण हास-परिहासमें भी किया गया हो तो भी मनुष्योंको स्वरूपतः गति प्रदान करता है—नामका स्वरूप धर्म जीवोंका उद्धार करना है।

### *स्तोभ नामाभास*

एक व्यक्ति भक्ति भावसे रहित नितान्त भोगी और अनीश्वरवादी है। वह किसी कृष्ण नाम साधकको जप करता हुआ देखकर यदि उसमें बाधा उत्पन्न करता है तथा असम्मान पूर्वक कृष्ण नामका उच्चारण करता है तो इस प्रकारके कृष्णनाम उच्चारणको स्तोभ नामाभास कहते हैं। इस प्रकारके नाम उच्चारणसे भी उस पाषण्डी व्यक्तिकी मुक्ति तक हो सकती है—कृष्णनामके उच्चारणमात्रक ऐसा प्रभाव है।

कृष्ण नाममें तो प्राणीमात्रके उद्धार और प्रेम प्रदान करनेकी शक्ति है। कृष्ण नामका उच्चारण विधिपूर्वक करो या अविधिपूर्वक करो उसका फल अवश्य प्राप्त होगा। जिस प्रकार कृषिक्षेत्रमें किसी बीजको विधिपूर्वक डालो अथवा अविधि पूर्वक डालो जब भी उसे जल और वायुका स्पर्श प्राप्त होगा, वह अंकुरित होकर अवश्य फल प्रदान करेगा। यदि विधिपूर्वक अच्छी खाद डाली जाये, समय पर जल सिंचन किया जाये तथा खरप्रतवार आदिको निकालते रहें तो उस बीजसे उन्नत किस्मका फल अधिक मात्रामें मिलेगा, अन्यथा साधारण फल देकर रह जायेगा।

### *हेला नामाभास*

श्रीपद्मपुराणमें भगवानके नामको अनादरपूर्वक ग्रहण करनेको हेला नामाभास कहा गया है। पुराणमें नामाभासका फल भी संसारसे उद्धार होना बताया गया है, यथा—

*मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां*
*सकल-निगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम्।*
*सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा*
*भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।।*

(प्रभास खण्ड)

श्रद्धया एवं हेलयासे स्पष्ट होता है कि कृष्ण नामका जप या उच्चारण श्रद्धासे करो या अनादरपूर्वक—कृष्णनाम तो मंगलका भी मंगल करने वाला है जो कि अत्यंत मधुर है। 'तारयेत् नरमात्रं' से स्पष्ट घोषणा है कि नाम हिन्दु, मुसलमान, पारसी और ईसाईमें भेद नहीं करता है, वह तो नरमात्रका—प्रत्येक नामोच्चारणकारी मनुष्यका उद्धार करता है।

अपराध और नामाभासमें यह अंतर है कि अपराध जान बूझकर किया गया अनादर होता है जबकि अज्ञानवश किया गया अनादर नामाभासकी कोटिमें आता है जो कि मनुष्यका उद्धार करनेमें समर्थ है। नामाभाससे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं परन्तु प्रयोजनीय कृष्ण प्रेम तो शुद्धनाम जपसे ही संभव है। नामाभासी व्यक्ति यदि निरन्तर शुद्धचित्त कृष्ण भक्तोंका संग करते हुए कृष्ण नामका जप करें तो वे मध्यम श्रेणीके वैष्णव कहलाते हैं। अतएव साधकोंको नामापराध व नामाभासको छोड़कर शुद्धनाम जपका प्रयास करना चाहिए।

पाँच महापापोंका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। इन पाँच महापापोंको करोड़ों गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है उतनी पापराशि एक नामापराधसे होती है। नामापराधीका भी कभी कभी शठताशून्य नामका उच्चारण हो जाता है। उस शठताशून्य नामके प्रभावसे मनुष्यको शुद्ध संतोंका संग प्राप्त हो जाता है तथा उसका नामापराध क्षीण होकर उसमें भक्तिका उदय हो जाता है। अनेकों मायावादी कृष्ण भक्तोंका संग करके शुद्ध होकर हरिभक्त बन गये।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जब एक शुद्ध नामके उच्चारणसे ही कृष्ण प्रेम मिल सकता है तब निरन्तर नाम जपकी आवश्यकता क्या है? जन्म—जन्मान्तरके कुसंस्कारोंके प्रभावसे जीवकी रुचि कुकर्मोंकी ओर आकर्षित होती रहती है। अतएव निरन्तर भजन-सत्संगकी परम आवश्यकता है।

*असाधु संगे भाई कृष्ण नाम नाहि हय।*
*नामाक्षर बहिराय वटे तबु नाम कभु नय।।*
*कभु नामाभास हय सदा नाम अपराध।*
*ए सब जानिवे भाई कृष्ण भक्तिर बाध।।*
*यदि करिवे कृष्णनाम साधुसंग कर।*
*भुक्ति मुक्ति सिद्धि वांछा दूरे परिहर।।*

(श्रीप्रेमविवर्त)

*अष्टम विदेश यात्रा*

# फिलीफिन्सकी राजधानी मनिलासे फेक्स

*—श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी 'विद्यालङ्कार'*

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादके अनुकम्पित प्रिय पार्षदप्रवर श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीके अनुगृहीत श्रीसमितिके वर्तमान उप-सभापति एवं साधारण सम्पादक (General Secretary) तथा मदीय शिक्षा गुरुदेव त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज अष्टम बार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी प्रेमवाणी प्रचारार्थ सिंगापुर, हांगकांगमें प्रचार समाप्त कर फिलीफिन्सकी राजधानी मनीलामें पहुँचे। परमार्थकी साधनभूमि भारतवर्षके मुम्बई महानगरीसे श्रील महाराजजीने विगत ६/१२/९९ को यात्रा प्रारम्भ की थी। विदेश यात्राके पहले दिन ५/१२/९९ को मुम्बई नगरीके सुप्रसिद्ध मरीन ड्राइव स्थित 'ताराबाई हॉल' में 'राधातत्त्व' के विषयमें श्रील महाराजने प्रवचन दिया। श्रील महाराजजीने बताया—'वेद, महाभारत, विभिन्न पुराण भगवान श्रीकृष्णके महिमासूचक ग्रन्थ होनेपर भी पुराणसम्राट प्रमाणशिरोमणि, श्रीमद्भागवत ही श्रीमती राधिकाकी महिमासे भरपुर है। श्रीमद्भागवतके प्रति स्कन्ध, अध्याय, श्लोकमें

शुकदेव गोस्वामीकी आराध्यदेवीका नाम अन्वय या व्यतिरेक रूप है। श्रीमद्भागवतका पहला श्लोक उद्धृत कर श्रील महाराजजी बोले— इस श्लोकमें राधाजीका नाम सुस्पष्टरूपमें विराजमान है। इस श्लोकका गूढ़ रहस्य जाननेके लिए हम लोगोंको श्रीमन्महाप्रभुके शरणागत होना पड़ेगा। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभु एवं रघुपति उपाध्यायके प्रसंगमें देखा जाता है—श्रीमन्महाप्रभु प्रश्न कर रहे हैं एवं रघुपति उपाध्याय उत्तर दे रहे हैं—

*प्रभु कहे—उपाध्याय श्रेष्ठ मान काय?*
*श्याममेव परम रूपं कहे उपाध्याय।।*
*श्यामभक्तेर वासस्थान श्रेष्ठ मान काय।*
*पुरी मधुपरी कहे उपाध्याय ।।*
*बाल्य पौगण्ड कैशोर श्रेष्ठ मान काय।*
*वरं कैशोरकं ध्येयं कहे उपाध्याय।।*
*रस गण मध्ये तुमि श्रेष्ठ मान काय।*
*आद्य एव परो रसः कहे उपाध्याय।।*

(चै. च. म. १९/१०१-१०४)

इस प्रसंगमें भगवत्तत्त्व, धाम, वयस (उम्र), एवं रसका सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है। पाँच मुख्य रस एवं सात गौण रस रहते हुए आद्य (शृंगार) रसको हम सर्वश्रेष्ठ कैसे समझेंगे? दास्य, सख्य, वात्सल्य-सम्बन्धी लीलाओंकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि सर्वत्र ही श्रीकृष्ण साधारण नर बालककी भांति व्यवहार कर रहे हैं, जिसको देख देवराज इन्द्र भी झुक कर बैठते हैं। इन्द्र ही जब भूल करते हैं तब अन्यान्य देवता एवं साधारण मनुष्यकी बात ही क्या? शिशुपाल, कालयवन, जरासंघ जैसे राजागण भी भूलकर साधारण नर बालक समझते हैं। इस सन्दर्भमें और एक विषय स्पष्ट कर देता हूँ नहीं तो हमारे अन्दर भी भूल रह जाएगी।

ब्रह्ममोहनलीला सुनकर बहुतसे लोग सोचते हैं ब्रह्माने भी तो इन्द्र जैसे भूल की, लेकिन बात यह नहीं है ब्रह्ममाध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके आदि गुरु ब्रह्मनि एक शतांश भी भूल नहीं किया। जिन्होंने ब्रह्मसंहिता जैसा इतना सुन्दर ग्रन्थ लिखा, जिस ग्रन्थको श्रीमन्महाप्रभुने इतना आदर दिया, अगर वे ऐसे भूल करेंगे तो हमारे सम्प्रदायमें सर्वत्र ही भूल रह जायेगा, आपलोग जानते हैं—एक कार्ये करेन प्रभु कार्य पांच सात। अर्थात् भगवान् एक लीला करते हैं आनुसंगिक रूपमें और दो चार कार्य स्वाभाविक रूपमें हो जाते हैं। व्रजकी मातृ-स्थानीय गोपियोंने शोचा अहो! कान्हा मेरा लाला होता तो मैं भी यशोदाकी भांति जीभरके स्नेह करती, पालन पोषण करती।' अहो! कृष्ण मेरा बछड़ा होता तो जीभरके दूध पिलाती रहती, व्रजकी किशोरियोंने मन ही मन एक अभिलाषा की, अहो! श्यामसुन्दर हमारे पति होते तो जीवन सार्थक हो जाता।'

अन्तर्यामी भगवान श्रीकृष्ण तो वाञ्छाकल्पतरु हैं, सबकी इच्छा परिपूर्ण करते हैं। व्रजवासी जो जो इच्छा कर रहे हैं, यशोदानन्दन क्या उन उन इच्छाओंको अपूर्ण रख सकते हैं? नहीं कभी नहीं। श्रीकृष्णकी इच्छा जानकर लीलाशक्ति योगमाया देवीने ब्रह्ममोहन लीलाका सम्पादन किया। व्रजवासियोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए श्रीकृष्णने ब्रह्माको ही क्यों चुना? देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, पवन, अग्नि आदि और किसीके द्वारा भी तो कर सकते ये किसी भी कठिन कार्यको भगवान अपने प्रिय व्यक्तिके द्वारा ही करवाते हैं। पूर्वोक्त देवाताओंको इस कार्यके लिए अयोग्य मानकर उन्होंने ब्रह्माको ही चुना। जैसे मायावाद प्रचारार्थ देवादिदेव महादेवको ही चुना था, ऐसे ही व्रजवासियोंकी इच्छा पुरी करनेके लिए योग्यपात्रके रूपमें ब्रह्माको ही चुना। हमारे सम्प्रदायके आदिगुरु ब्रह्मा श्रीकृष्ण एवं उनके परिकरोंकी सेवाके लिए योग्य क्यों नहीं होंगे? श्रीकृष्णने स्वयं जिनको गोपालमन्त्र दिया, वंशीके माध्यमसे कामगायत्री मन्त्र प्रदान किया उनके सिवाय ओर कौन इतने योग्य पात्र हो सकते हैं? श्रीकृष्णने और किसीको तो स्वयंरूपमें मन्त्र प्रदान नहीं किया। इसलिए श्रीकृष्णने योगमायाके द्वारा बह्माका आकर्षण करवाकर सखाओं और बछडोंको चुरवाया। इन्द्रकी

भाँति ब्रह्माने भी भगवानको न समझकर भगवत्ताकी परीक्षाके लिए उन्हें चुराया था, यह बात ठीक नहीं। योगमायाके द्वारा यह कार्य हुआ। श्रीकृष्ण योगमायाके प्रभावसे भगवत्ता भूलकर साधारण गोप बालककी भाँति सखा एवं बछड़ोंको ढूँढ़ने लगे। मुख सूख गया, सोचने लगे, अहो! मैं अकेला व्रजमें लौटूँ तो व्रजवासी क्या सोचेंगे? ऐसी चिन्ता आते ही बाकी कार्य योगमायाने कर दिया। और अन्य लीलाओंकी भाँति इस लीलामें भी मनोहारिता रहनेपर भी श्रीकृष्ण अपना सन्तुलन नहीं खोए मनको पुरा काबूमें रखा।

अब एक मधुर लीलाका उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस लीलामें कृष्ण अपने मनके प्रति आधिपत्य नहीं रख सके। इस लीलाका नाम है—मधुरलीला। मनके प्रति आधिपत्य रखनेमें असमर्थ होनेके कारण श्रीकृष्ण कहनेके लिए बाध्य हुए—

*सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्ता ता मनोहरा।*
*नाहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्।।*

श्रीकृष्णके इस मन्तव्यसे स्पष्ट समझमें आता है कि पाँच मुख्य रस एवं सात गौण रस रहते हुए भी आद्य या मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ है। आद्य (मधुर) रसकी इस लीलामें श्रीमती राधाजीका प्राधान्य सर्वाधिक है। समस्त गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका समव्यवहार देखकर राधाजी राससे अन्तर्धान हो गईं, रास ही भंग हो गया। गोपियाँ, खास तौरसे राधाजीके न रहनेपर अकेला कृष्ण रहनेपर आद्य या मधुर रस नहीं हो सकता। आद्य रसकी सृष्टि जिसकी उपस्थितिसे होती है, किसकी उपस्थितिसे? श्रीमती राधा ठाकुरानीकी उपस्थितिसे। अतः इस श्लोकमें राधाजीके नामका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

और एक प्रसंग उत्थापन कर श्रील महाराजीने बताया— श्रीमद्भागवतको गायत्रीका भाष्य कहा गया—'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ'। बहुतसे लोग सोचते हैं गायत्री मन्त्रका अधिष्ठातृ देवा सूर्य है, किन्तु गहराईसे विचार करनेपर यह खरा नहीं उतरता। गायत्रीका भाष्यस्वरूप श्रीमद्भागवत राधाजीका महिमासूचक प्रमाणित हुआ तब गायत्री मन्त्र राधाजीका महिमासूचक अवश्य होगा। विषयको और थोड़ा सा परिष्कार कर देता हूँ। गायत्री मन्त्र राधाजीका महिमासूचक है इसमें तनिक भी संशय नहीं है, समझनेमें कोई कठिनाई नहीं, अत्यन्त सहज सरल है। 'गायत्री' शब्दके अन्दर ही इसका अर्थ छिपा हुआ है, 'गायत्री' शब्द स्त्रीलिंग वाची है, स्त्रीलिंगवाची होनेके कारण इस मन्त्रका अधिष्ठाता सूर्य (पुलिंग) कैसे हो सकता है? सम्भव नहीं है। अतः इस मन्त्रका अधिष्ठाता कोई देव न होकर निश्चित रूपसे कोई देवी होगी। वह देवी है कौन? बृहद् गौतमीय तन्त्रमें कहा है—देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। उक्त देवी व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरकी अन्तरंगा शक्ति या ह्लादिनी शक्ति, गौड़ीय वैष्णवोंकी उपास्या श्रीमती राधिकाजी हैं। आजकी सभाका विषय 'राधा-महिमा विवेचन' होनेपर भी साधारण सभामें इससे अधिक बोलना सम्भव नहीं है। इसमें बहुत साम्प्रदायिक रहस्य छिपा हुआ है।

वक्तृताके उपरान्त कुछ जिज्ञासुओंने आकर पूछा—स्वामीजी! महाप्रभु कहनेसे आप क्या वल्लभाचार्यजीको कहना चाहते हैं?

श्रील महाराज—वक्तृताके प्रारम्भमें श्रीवल्लभाचार्यका मैंने उल्लेख नहीं किया। महाप्रभु कहनेसे श्रीशचीनन्दन गौरहरिको ही समझना चाहिए।

दूसरा श्रोता—स्वामीजी! श्रीगौरहरिके बारेमें श्रीमद्भागवतमें कुछ उल्लेख है क्या? वास्तवमें गौरहरि हैं कौन?

श्रील महाराज—श्रीमद्भागवतमें गौड़ीयोंके प्राणेश्वर गौरहरिका नाम है, वे साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर हैं।

तीसरा श्रोता—(विस्फारित नेत्रोंसे) स्वामीजी! अगरे वे श्यामसुन्दर हैं तो श्यामवर्णका क्यों नहीं?

श्रील महाराज—(मन्द मुस्कान करते हुए) आपलोग जानते होंगे—व्रजमें प्रसिद्ध माखनचोर, अनेक जन्मोंका पापचोर, गोपियोंका दुकूल चोर,

चोरोंके सरदार राधाकान्त एकरस होकरके भी अनेक रस आस्वादनार्थ निजकान्ता श्रीमती राधाजीके भाव एवं अंगकान्तिको चुराकर श्रीगौरसुन्दरके रूपमें जगतमें अवतीर्ण हुए हैं।

पहला श्रोता—स्वामीजी! मुम्बईमें बहुतसे प्रसिद्ध भागवत पाठक आते हैं, महाप्रभुके सम्बन्धमें क्यों नहीं कुछ बोलते?

श्रील महाराज—(स्वभावसुलभ गम्भीर भावसे)—वे लोग नहीं जाननेके कारण नहीं बोलते हैं। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें तो श्रीमन्महाप्रभुके बारेमें सुस्पष्ट उल्लेख हैं।

तीसरा श्रोता—स्वामीजी! हमलोगोंने सुना है विदेशमें महाप्रभुकी वाणी प्रचारके लिए आप कल (६/१२/९९) रवाना हो रहे हैं। आपकी कार्यसूचीमें तो परिवर्तनके लिए नहीं कह सकते। फिर भी हमलोगोंका एक नम्र निवेदन है कि भविष्यमें मुम्बई आनेपर महाप्रभुकी कथा अवश्य सुनायेंगे।

श्रील महाराज—मैं आश्वासन देता हूँ, जब भी मुम्बई आऊँगा आपलोंगोंको परम कारुणिक श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी बात आवश्य सुनाऊँगा। श्रील महाराज द्वारा श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीको कीर्तन करनेका आदेश देनेपर ब्रह्मचारी 'यदि गौरांग नहित. .....' कीर्तन करके निताई-गौर हरि बोल शुरु करनेपर आबालवृद्धवनिता सभी श्रोता हाथ उठाकर कीर्तन करने लगे एवं नाचने लगे। अन्तमें श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारीके जयध्वनी देनेपर सभा समाप्त हुई।

परदिवस दिनांक ६-१२-९९ को श्रील महाराजजीके साथ श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीव्रजनाथ दासाधिकारी, श्रीमती वृन्दादेवी एवं श्रीमती तुंगविद्यादेवी सिंगापुरके लिए रवाना हुए।

सिंगापुरमें श्रील महाराजजीने प्रथम पर्यायके प्रचारमें श्रोताओंके विभिन्न प्रश्नोंके उत्तर दिया था। सिंगापुरसे हांगकांगमें प्रचार कर श्रील महाराज फिलीफिन्सकी राजधानी मनीलामें पहुँचे। हांगकांग में प्रचार सेवाकी व्यवस्था हांगकांग स्थित फिलिप्स कम्प्यूटरके इस्ट एशिया रिजनल मार्केटिंग मैनेजर श्रीरमेश एवं उनकी धर्मपत्नी चारुदेवीने किया था। हांगकांग वर्तमान चीनका अविच्छेद अंग होनेपर भी हांगकांग जानेके लिए विसाकी जरुरत नहीं होती। हांगकांग प्रचारमें एक प्रसंग उत्थापन करके श्रील महाराजजीने बताया—लोग सोचते हैं सुन्दर, बलिष्ठ शरीर, प्रचुर सम्पदा, सर्वोपरि जागतिक प्रतिष्ठा प्रचुर परिमाणमें मिलनेपर हरिभजन करनेका क्या प्रयोजन? प्रह्लाद महाराजजीका उपाख्यान उद्धृत करके बताया समस्त प्रकारका जागतिक सुख स्वाच्छद्य रहनेपर भी हरिभजन न करनेसे हिरण्यकशिपुकी भाँति मृत्युके मुखमें पतित होना पड़ेगा। हिरण्यकशिपुकी मौतके समय नृसिंहदेवका आविर्भाव हुआ था। भजन नहीं करनेवालोंके मरते समय यमदूत आएगा। उस समय विस्तरमें टट्टी, पेशाब हो जायेगा। हिरण्यकशिपु जितनी सुख-सुविधा इस समय किसी भी व्यक्तिके लिए यहाँ तक कि अमेरिकाके राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के लिए भी सम्भव नहीं। हिरण्यकशिपुके इशारे पर देवता उठते बैठते थे। शाश्वत सुख-शान्ति पानेके लिए सभीके लिए हरिभजन एकान्त कर्तव्य है।

फिलीपिन्स में श्रील महाराजजीने श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके एक शाखा मठका उद्घाटन किया, 'श्रीमनीला गौड़ीय मठ' Shri Manila Goudiya maht, 15 Bitian st., North araneta, suv division Bgy Donia Imelda, Queton city, Philippine। उद्घाटन समारोहमें मठकी प्रयोजनीयता एवं मठवासीका कर्तव्यके सम्बन्धमें तत्त्वपूर्ण वक्तृता सुनकर सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए। फिलीपिन्समें प्रचार समाप्त कर श्रील महाराजजी आस्ट्रेलिया, फिजी, मलेशिया, सिंगापुर प्रचार कर १९ फरवरी २००० को भारत पहुँचेंगे। ❑

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३
वि. सं. २०५६ माघ मास, सन् २०००, २२ जनवरी — १९ फरवरी { संख्या ११

# श्रीमनःशिक्षा

*[श्रीरघुनाथदास–गोस्वामी–विरचिता]*

*श्रीश्रीगान्धर्वा–गिरिधराभ्यां नमः*

*गुरौ गोष्ठे गोष्ठालयिषु सुजने भूसुरगणे स्वमंत्रे श्रीनाम्नि व्रजनवयुवद्वन्द्व–शरणे।*
*सदा दंभं हित्वा कुरु रतिमपूर्वामतितरामये स्वान्तर्भ्रातश्चटुभिरभियाचे धृतपदः।।१।।*

भाई मन! मैं तुम्हारी खुशामद करता हूँ, तुम्हारे पैरोंको पकड़कर प्रार्थना करता हूँ, तुम दम्भ छोड़कर श्रीगुरुदेव, श्रीव्रजधाम, व्रजवासीजन, सज्जनवृन्द, विप्रगण, इष्टमंत्र, श्रीकृष्णनाम और श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें दृढ़ अनुराग रखो।।१।।

*न धर्मे नाधर्मे श्रुतिगणनिरुक्तं किलकुरु व्रजे राधाकृष्ण–प्रचुर परिचर्यामिह तनु।*
*शचीसूनुं नन्दीश्वरपतिसुतत्वे गुरुवरं मुकुन्दप्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्रं ननु मनः।।२।।*
*यदीच्छेरावासं व्रज–भुवि सरागं प्रतिजनु–र्युवद्वन्दं तच्चेत् परिचरितुमारादभिलषेः।*
*स्वरूपं श्रीरूपं सगणमिह तस्याग्रजमपि स्फुटं प्रेम्ना नित्यं स्मर नम तदा त्वं शृणु मनः।।३।।*
*असद्वार्त्ता–वेश्या विसृज मतिसर्वस्वहरणीः कथामुक्तिव्याघ्र्या न शृणु किल सर्वात्मागिलनीः।*
*अपि त्यक्त्वा लक्ष्मीपतिरतिमितो व्योमनयनीं व्रजेराधाकृष्णौ स्वरतिमणिदौ त्वं भज मनः।।४।।*
*असच्चेष्टा–कष्टप्रद–विकट–पाशालिभिरिह प्रकामं कामादि–प्रकट–पथपातिव्यतिकरैः।*
*गले बद्धा हन्येऽहमिति बकभिद्वर्त्मपगणे कुरु त्वं फुत्कारानवति स यथा त्वां मन इतः।।५।।*
*अरे चेतः प्रोद्यत्कपट–कुटिनाटी–भर–खर क्षरन्मूत्रे स्नात्वा दहति कथमात्मानमपि माम्।*
*सदा त्वं गान्धर्वा–गिरिधरपद–प्रेमविलसत् सुधाम्भोधौ स्नात्वा स्वमपि नितरां माञ्च सुखयः।।६।।*
*प्रतिष्ठाा घृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत् कथं साधुप्रेमा स्पृशति शुचिरेतन्ननु मनः।*
*सदा त्वं सेवस्व प्रभुदयित–सामन्तमतुलं यथा तां निष्काश्य त्वरितमिह तं वेशयति सः।।७।।*
*यथा दुष्टत्वं मे दवयति शठस्यापि कृपया यथा मह्यं प्रेमामृतमपि ददात्युज्ज्वलमसौ।*
*यथा श्रीगान्धर्वा–भजन–विधये प्रेरयति मां तथा गोष्ठे काक्वा गिरिधरमिह त्वं भज मनः।।८।।*
*मदीशानाथत्वे व्रजविपिनचन्द्रं व्रजवनेश्वरीं मन्नाथत्वे तदतुलसखीत्वे तु ललिताम्।*
*विशाखां शिक्षाली–वितरण–गुरुत्वे प्रियसरो–गिरीन्द्रौ तत्प्रेक्षा ललितरतिदत्वे स्मर मनः।।९।।*
*रतिं गौरीलीले अपि तपति सौन्दर्यकिरणैः शची–लक्ष्मी–सत्याः परिभवति सौभाग्यवलनैः।*
*वशीकारैश्चन्द्रावलीमुख–नवीन व्रज–सतीः क्षिपत्याराद् या तां हरिदयित–राधां भज मनः।।१०।।*
*समं श्रीरूपेण स्मरविवश–राधागिरिभृतोर्व्रजे साक्षात्सेवा–लभन–विधये तद्गणयुजोः।*
*तदिज्याख्या–ध्यान–श्रवण–नति–पञ्चामृतमिदं धयन्नीत्या गोवर्द्धनमनुदिनं त्वं भज मनः।।११।।*
*मनः शिक्षादेकादशकवरमेतन्मधुरया गिरा गायत्युच्चैः समधिगत–सर्वार्थतति यः।*
*सयूथः श्रीरूपानुग इह भवन् गोकुलवने जनो राधाकृष्णातुल–भजनरत्नं स लभते।।१२।।*

*अनुवादः—*

हे मन! तुम न तो वेद-विहित धर्मका अनुष्ठान करो और न वेद-विरुद्ध अधर्मका आचरण ही। बल्कि व्रजमें वासकर श्रीश्रीराधाकृष्णकी खूब प्रेमपूर्वक सेवा करो एवं श्रीशचीनन्दन गौरहरिको साक्षात् श्रीव्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्ण तथा श्रीगुरुदेवको श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रियजन जानकर प्रीतिपूर्वक निरन्तर स्मरण करो।।२।।

हे मन! यदि तुम जन्म-जन्म तक व्रजभूमिमें प्रीतिपूर्वक वास करना चाहते हो और यदि श्रीराधाकृष्णकी साक्षात् सेवा प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हो तो मेरी कही सुनो—तुम श्रीस्वरूप गोस्वामी, गोष्ठीके साथ श्रीरूप गोस्वामी तथा उनके अग्रज श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुको निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करो।।३।।

हे मन! तुम असत्-कथारूपिणी वेश्याका परित्याग कर दो, क्योंकि वह सद्बुद्धिरूप सब कुछ अपहरण कर लेती है। उसी प्रकार मुक्तिरूपिणी शेरनीकी कथा भी न सुनो, क्योंकि यह तो सारे शरीरको ही निगल जाती है। इतना ही नहीं तुम लक्ष्मीनारायणकी भक्तिको भी, जो परव्योममें वैकुण्ठगति देनेवाली है, परित्याग कर व्रजमें अपने प्रेमरत्नको प्रदान करनेवाले श्रीश्रीराधाकृष्णकी आराधना करो।।४।।

हे मन! इस संसारमें प्रकटरूपमें लूटमार करनेवाले काम, क्रोध, लोभादि शत्रु मेरे गलेको विषयभोग आदि अनित्य सुखकी कामनारूप भयंकर क्लेशदायक रज्जु-समूहसे जकड़कर मुझे खूब पीट रहे हैं—ऐसा कहकर जोरसे श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्णके वर्त्मरक्षकों—भक्तोंको अत्यन्त कातर होकर पुकारो, वे इन शत्रुओंसे तुम्हारी रक्षा करेंगे।।५।।

हे मन! तुम सर्वदा प्रकाशमान् कपटता आदि रूप गदहेके गिरते हुए मूत्रमें स्नान कर अपनेको और साथ-ही-साथ मुझे भी क्यों दग्ध कर रहे हो? (भाई, ऐसा न करके) तुम श्रीराधाकृष्णके चरण-कमलोंके प्रति प्रेम-भक्तिरूप उमड़ते हुए समुद्रमें प्रतिदिन स्नान कर अपनेको और साथ-ही-साथ मुझे भी सुखी करो।।६।।

हे मन! प्रतिष्ठाकी आशारूपी निर्लज्जा चंडाल-रमणी मेरे हृदयमें सर्वदा नृत्य करती है। भला वैसे अपवित्र हृदयको परम पवित्र साधुप्रेम कैसे स्पर्श कर सकता? अतएव मेरी सुनो, तुम श्रीकृष्णके अतुलनीय (बलवान्) सेनापतियोंकी अर्थात् गुरुदेव और भक्तोंकी सेवा करो, वे लोग उस प्रतिष्ठाकी आशारूप निर्लज्जा चण्डाल-रमणीको तुम्हारे हृदयसे बाहर निकाल कर वहाँ साधुप्रेमको घुसा देंगे।।७।।

हे मन! तुम इस गोष्ठमें रहकर वैसी व्याकुलताके साथ (कातरतापूर्ण वचनोंको उच्चारण करते हुए) श्रीश्रीगिरिधारीजीकी सेवा करो, जिससे वे (प्रसन्न होकर) मेरे जैसे अतिशय नीच और दुष्ट व्यक्तिकी भी दुष्टता दूर कर मुझे अपना अति उज्वल प्रेमामृत प्रदान करेंगे और श्रीमती राधिकाकी सेवा करनेके लिये आदेश देंगे।।८।।

हे मन! तुम वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णको मेरी ईश्वरी श्रीराधिकाके ईश्वरके (नाथके) रूपमें, श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाको अपनी ईश्वरीके रूपमें, श्रीमती ललिताको श्रीमतीराधाकी अतुलनीय प्रियतम सखीके रूपमें, श्रीमती विशाखाको सब प्रकारकी भजन-शिक्षादात्री गुरुके रूपमें एवं श्रीराधाकुण्ड और श्रीगिरिराज गोवर्द्धनको श्रीश्रीराधाकृष्णके दर्शनों और उनके प्रेम-विलासके प्रति गाढ़ी रतिदायकके रूपमें निरन्तर स्मरण करो।।९।।

जो अपने सौन्दर्यकी किरणोंसे मदन-प्रिया रतिदेवी, शिवपत्नी गौरीदेवी और श्रीलीलादेवी (भगवान्की एक शक्ति) को ताप प्रदान करती है, अपने (प्रियतमकी सबके अधिक प्रिया होनेके) सौभाग्यसे शची (इन्द्राणी), लक्ष्मी और सत्यभामाको भी पराभूत करती हैं एवं अपने प्रियतमको वशमें करनेवाले अपने स्वभाव-सुलभ वशीकरण धर्म द्वारा चन्द्रावली आदि तरुण व्रजललनाओंको भी मात करती है—हे मन! उन श्रीकृष्णकी सर्वोत्तमा प्रेयसी श्रीमती राधिकाका भजन करो।।१०।।

हे मन! तुम अपने गुरुदेव श्रीरूप गोस्वामीके साथ व्रजके गोष्ठमें ललिता आदि सखियों और सुबल आदि सखाओंसे घिरे हुए और एक-दूसरेके प्रति कन्दर्पभावसे विवश हुए श्रीश्रीराधा और गिरिधारीजीकी साक्षात् सेवाको प्राप्त करनेके लिये श्रीगोवर्द्धनके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन और प्रणामरूप पञ्चामृतका (श्रीगुरु द्वारा दी गयी) भजनप्रणाली द्वारा पान करते हुए प्रतिदिन श्रीगोवर्द्धनकी आराधना करो।।११।।

जो श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी तथा श्रीजीवगोस्वामी आदि अपने यूथको साथ वर्त्तमान श्रीरूप गोस्वामीके अनुगत होकर मनके लिये शिक्षाप्रद इन उत्तम ग्यारह श्लोकोंका इनके समस्त प्रकारके यथार्थ अर्थोंको धारणपूर्वक मधुर-स्वरमें जोर-जोरसे कीर्तन करते हैं, वे इसी व्रजभूमिमें श्रीश्रीराधाकृष्णका अतुलनीय भजनरत्न लाभ करते हैं। ❑

# सन्त (सज्जन) के लक्षण

—श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

### शान्त (११)

शुद्ध वैष्णव परम शान्त होते हैं। शुद्ध वैष्णवको छोड़कर जो लोग अपनेको शान्त कहनेका दम भरते हैं, वह उनका दिखावा मात्र है। बिना भगवद्भक्तिके हृदय अशान्त रहता है, फिर अभक्त शान्त कैसे कहे जा सकते हैं? प्रकृतिसे बुद्धि या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा होता है। बद्ध जीवोंमें, अभक्त जनोंमें अहंकार प्रबल रहनेके कारण वे अप्राकृत–दर्शनसे विमुख होते हैं और फलतः प्राकृत रूप–रस–गन्ध–स्पर्शके वशीभूत होते हैं। प्राकृत रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शके अधीन अहंकारयुक्त व्यक्ति त्रितापसे दग्ध होकर सर्वदा अशान्ति अनुभव करता है, वह भला शान्त कैसे हो सकता है? श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस विषयका बड़ा ही रोचक और स्पष्ट विवेचन पाया जाता है—

केशकी नोकके सौ टुकड़े कर उसके एक टुकड़ेके पुनः सौ टूकड़े करो, तो उसके एक टुकड़ेके बराबर जीवका स्वरूप सूक्ष्म अर्थात् छोटा होता है। जीव संख्यामें अनन्त हैं। ये असंख्य जीव दो भागोंमें विभक्त हैं—चलनेवाले—जंगम और न चलनेवाले—स्थावर। इनमें जंगम तीन प्रकारके हाते हैं—जलचर, थलचर और नभचर। इनमेंसे बहुत ही थोड़ेसे जीव मनुष्य–योनिके हैं। मानव जातिमें भी म्लेच्छ, पुलिन्द, बौद्ध, औश्र शबर आदि लोग ही अधिक हैं। वेद माननेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। वैदिक मनुष्योंमें भी आधे लोग ही वेदकी विधियोंको मानकर चलते हैं और इनमें भी कर्मनिष्ठ पुरुष थोड़े हैं। ऐसे–ऐसे करोड़ों कर्मनिष्ठोंसे एक ज्ञानी श्रेष्ठ है और ऐसे–ऐसे करोड़ों ज्ञानियोंमेंसे विरला ही कोई एक मुक्त होता है। करोड़ों मुक्तोंमें एक कृष्णभक्तका होना बड़ा दुर्लभ है। कृष्ण भक्तके अतिरिक्त भोगकामी, मुक्तिकामी अथवा सिद्धिकामी—सभी अशान्त होते हैं, क्योंकि ये सभी कामनाओंके दास होते हैं। परन्तु कृष्णभक्त शान्त होता है, क्योंकि वह निष्काम होता है।

*कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त।*
*कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।।*
*भुक्ति, मुक्ति–सिद्धिकामी सकलेई अशान्त।*

भगवत्–स्वरूप, जीव–स्वरूप और माया–स्वरूप तथा इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है—यह जानकर भगवद्भक्ति द्वारा भगवत्सेवा अर्थात् कृष्णप्रेमकी प्राप्ति ही समस्त शास्त्रोंकी सार शिक्षा है। परन्तु भौतिक–ज्ञान द्वारा वेदकी ये शिक्षाएँ समझमें नहीं आती हैं। भौतिक–ज्ञान प्रबल रहनेसे हरि–सेवा–प्रवृत्ति क्रमशः दूर होती जाती है और भौतिक ज्ञानी अनन्त कोटि जन्मोंमें भी संसारसे उद्धार नहीं पाता। ये लोग सर्वदा विष्णु और वैष्णवोंके प्रति अपराध ही संचय करते हैं। मुँहसे वेद मानकर भी ये वेद विरुद्ध आचरणमें मत्त रहते हैं। इनमेंसे कोई कोई अप्राकृत–रसकी अनुभूति जड़ीय स्त्री–संग द्वारा करना चाहते हैं—जो सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है। भगवानकी इच्छा, सभी इनसे घृणा करते है। इसलिए सबसे उपेक्षित होकर उत्तरोत्तर संसारमें फँसते जाते हैं। वेदोंका मूल तात्पर्य समझ न पानेके कारण ये लोग अपने असत् विचारोंकी पुष्टिके लिए इनको शुद्ध–वैष्णवोंके शुद्ध विचारों और शास्त्र सम्मत आचरणका तीव्र प्रतिवाद करना आवश्यक प्रतीत

होता है। इनको जब तक कृष्ण विमुखताके विषमय फलकी उपलब्धि नहीं होती, तब तक ये लोग शुद्ध-वैष्णवोंको भी अपने समान अहंकारी, कपटी समझते हैं।

शुद्ध वैष्णव धर्म इन अनभिज्ञ अर्वाचीन अशान्त जीवोंकी केवल उपेक्षा भर करता है। श्रीमद्भागवतमें त्रिदण्डि भिक्षुकी कथा आती है। त्रिदण्डि भिक्षु परम भागवत थे; अशान्त अहंकारी मनुष्य उनको खूब सताया करते थे, परन्तु वे केवल उनकी उपेक्षा करते थे। प्रत्येक वैष्णवके लिए त्रिदण्डि-भिक्षुका चरित्र आदर्श है। परमहंस भागवतजन इन अहंकारी अशान्त जीवोंकी अशान्ति दूर न कर केवल उनकी उपेक्षा करेंगे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने स्वयं संन्यास ग्रहण कर जीव मात्रको शिक्षा दी है। श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षापर चलनेसे जीवकी अशान्ति सहज ही दूर हो सकती है।

दुर्जन लोग वैष्णव त्रिदण्डि संन्यासियोंको नाना प्रकारसे सताया करते हैं, उनका तिरस्कार करते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हैं, कभी-कभी उन पर थूक देते हैं, पेशाब कर देते है और उनको पीटते भी हैं। परन्तु सन्त लोग उनके व्यवहारसे क्षुब्ध नहीं होते, उसे अपने पूर्व जन्मोंके कर्मोंका फल मानकर शान्त चित्तसे हरि भजनमें तत्पर रहते हैं। ऐसे भक्त संसारमे विरले ही होते हैं।

प्राचीन कालमें उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-बारी और व्यापार आदि करके बहुत सा धन इकठ्ठा कर लिया था। परन्तु वह बड़ा ही लोभी और कृपण था। धर्म-कर्मसे उसे बड़ी चिढ़ थी। इसलिए उसके घरवाले, बेटा-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी सभी उससे अप्रसन्न थे। समय पलटा; ग्रामवासी और देवता भी उसके प्रतिकूल हो गए। उसका सारा धन, जिसे बड़े ही परिश्रम और कंजूसीसे इकठ्ठा किया था, आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। कुछ धन आगमें जल गया, कुछ चोरी चला गया, कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही हड़प लिया और कुछ शासकोंके पल्ले पड़ा। इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। घरवालोंने उसका तिरस्कार करना आरम्भ किया। उसे बड़ी ग्लानि हुई। उसे संसारकी नग्न मूर्ति दीख पड़ी। संसारका सच्चा स्वरूप देखकर उसे संसारके प्रति दुःख-बुद्धि और उत्कट वैराग्य हो गया। घरसे निकल पड़ा। त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण कर संन्यासका मार्ग पकड़ा।

उसने संन्यास-संस्कार आदि सब कुछ स्वयं किया कोई कृत्रिमता न थी। उसका हृदय सरल था। वह सच्ची शान्ति प्राप्त करना चाहता था। अतः उसका संन्यास सच्चे वैराग्यका प्रतीक था। संसारका सच्चारूप उपलब्धि किये बिना—उसमें दुःख बुद्धि और उत्कट वैराग्य हुए बिना किसीको जोरपूर्वक संन्यास दे देनेसे संन्यास सिद्ध नहीं होता, वैराग्य बुलानेसे नहीं आता।

उज्जैन निवासी ब्राह्मण घर संसारसे अपना सारा सम्बन्ध तोड़कर भगवद्भजनके उद्देश्यसे पृथ्वीपर स्वच्छन्द रूपसे विचरण करने लगा। उसने अपनी सारी आसक्तिको भगवान् श्रहरिके चरणोंमें लगा दिया। अब तक वह बहुत ही बुड्ढा हो चुका था। दुष्ट लोग उसे बड़े तंग करते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करते। कोई उसका दण्ड छीन लेता, कोई जलपात्र झपट लेता, कोई भिक्षापात्र उड़ा लेता। कोई कंथा और आसन-माला लेकर भाग जाता। जब वह मधुकरी माँग कर किसी सरोवरके तटपर खाने बैठता, तो दुष्ट लोग उसके सिर पर मूत देते, रोटी फेंक देते, उसके ऊपर थूक देते ओर उसे बेतरह पीटते। कोई कहता धर्मका ढोंग तो देखो, यह कृपण अब भीख माँगने का धंधा अपनाया है। कोई उसे चोर कहता, कोई पागल कहता। कोई कहता—सौ चूहोंको खाकर बूढ़ी बिल्ली चली हजको। बाँध लो, मार डालो, इस बगुला भगतको। इस प्रकार दुष्ट लोग उसे बड़े

तंग करते।

परन्तु वह अवधूत सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसके मनमें कोई विकार नहीं पैदा होता। वह समझता यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और उसे मुझे अवश्य ही भोग करना पड़ेगा। मेरे सुख-दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न ग्रह है और न काल ही हैं, बल्कि कर्मोंमें आसक्तिकी रस्सी द्वारा बँधा हुआ मन ही सारे प्रपञ्चोंकी जड़ है। दूसरी बात यह है कि जीव मात्र जब स्वरूपतः कृष्ण-दास है, तब उनकी यह प्रवृत्ति एक न एक दिन अवश्य ही रुकेगी। मैं इस समय अपना भजन छोड़ कर इन दुष्टोंको समझाने क्यों जाऊँ? इनमें अभी श्रद्धाका अभाव है। ये अभी किसीकी कुछ भी न सुनेंगे।

मैं त्रिदण्डि—भगवानका दास हूँ। अतएव इनको तन, मन और वचन किसी प्रकार भी कष्ट नहीं देना चाहता। मैं विशुद्ध महाजनोंके पथको छोड़कर अन्याभिलाष, कर्म और ज्ञानके मार्गोंका अनुसरण नहीं कर सकता। संसारसे सम्पूर्ण आसक्ति हटाकर मैं एकान्त मनसे भगवद्भजन करूँगा। इसके लिए मैं भी उन्हीं महाजनोंके पथका अनुसरण करूँगा, जो संसारिक समस्त प्रकारकी कुप्रवृत्तियोंका त्याग कर अनन्य भावसे हरिभजनमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने इस कथाका उल्लेख कर अपने आश्रित वैष्णव त्रिदण्डिजनोंको श्रीहरि भजनका जो पथ दिखलाया है, उसीके अनुसार प्राचीन वेश-पद्धतिओंमें त्रिदण्ड ग्रहण करनेकी व्यवस्था लिपिबद्ध है। 'गृही-गौरांग' के दास गृहमेधी पुरुषोंके दिमागमें ये बातें कभी भी प्रवेश नहीं कर सकती हैं। वे सकीर्ण मायावादका आश्रय कर वैध और अवैध प्राकृत सहजिया होकर जड़-भोगको ही प्रेम कहते हैं। परन्तु शान्त महाजन ऐसे घृणीत वैध या अवैध सहजियावादको सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर व्रजके प्रेमी सन्तों द्वारा निर्दिष्ट श्रीरूपानुग भजन-मार्गका अनुसरण करते हैं। ❑

# अभिधेय विचार—भक्ति

*—विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

अभिधेय विचारसे भक्तिको सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। महर्षि शण्डिल्यने भक्तिकी परिभाषा निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त की है—

*'भक्तिः परानुरक्तिरश्वरे।'*

ईश्वरके प्रति उत्तम अनुरक्तिको भक्ति कहते हैं। बद्धजीवात्माकी परमात्माके प्रति अनुरक्तिरूप जो चेष्टा होती है, वही भक्तिका स्वरूप है। वह चेष्टा किंचित परिमाणमें कर्मरूपा और किंचित परिमाणमें ज्ञानरूपा होती है। भक्ति आत्मगत प्रीतिरूप धर्मके लिये साधन करती है। इसलिये इसे प्रीति नहीं कह सकते। प्रीति उत्पन्न होने पर ऐसा समझना चाहिए कि भक्ति परिपक्व अवस्थामें पहुँच गयी है। भक्तिका साङ्गोपाङ्ग विचार करना इस क्षुद्र लेखमें संभव नहीं। यहाँ संक्षेपमें मूल-तत्त्वका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। पाठक मूल तत्त्वको जानकर शाण्डिल्यसूत्र और भक्ति-रसामृत-सिन्धु आदि भक्ति शास्त्रोंके अध्ययन द्वारा भक्तिका विस्तृत स्वरूप जान सकते हैं।

प्रीतिकी भाँति भक्तिकी भी दो प्रवृत्तियाँ हैं—ऐश्वर्य प्रवृत्ति और माधुर्य प्रवृत्ति। भगवानकी महिमा और ऐश्वर्य द्वारा आकृष्ट होने पर जो भक्ति होती है, उसे ऐश्वर्य-भक्ति कहते हैं। भगवानके विराट ऐश्वर्यके प्रभावसे भगवत्तत्त्वमें असाधारण प्रभुता लक्षित होती है। तब परम

ऐश्वर्यसे युक्त परमपुरुष सर्व-राज-राजेश्वरके भावसे जीवका कल्याण करते हैं। यह भाव क्षणिक नहीं होता, वरन् नित्य और सनातन होता है। परमेश्वर स्वभावतः सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे पूर्ण होते हैं। उनको ऐश्वर्यसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। परन्तु इस ऐश्वर्यसे भी अत्यन्त चमत्कारपूर्ण भाव उनमें स्वरूपसिद्ध होता है; वह स्वरूपसिद्ध भाव है—माधुर्य भाव। जिस समय भक्तिका माधुर्य भाव प्रबल होता है, उस समय भगवत्-सत्तामें माधुर्यका प्रकाश हो पड़ता है तथा ऐश्वर्य भाव सूर्योदयके समय चन्द्रमाके प्रकाशकी तरह लुप्त हो पड़ता है। ऐश्वर्य भावके लीन होने पर वह भगवत्ता परमोच्च रसका विषय हो उठती है। उस समय साधकका चित्त सख्य, वात्सल्य और मधुर रस तकका आश्रय करता है। भगवत् सत्ता भी उस समय भक्तोंके प्रति कृपालु, परमानन्दस्वरूप सबके मनको हरण करनेवाले श्रीकृष्णके रूपमें प्रकाशित होती है।

नारायण सत्तासे कृष्ण सत्ताका उदय होता है, ऐसी बात नहीं है; बल्कि दोनों सत्ताएँ आश्चर्यरूपसे सनातन और नित्य हैं। भक्तोंके अधिकार और प्रवृत्तिके भेदसे भगवत्-प्रकाशका भी भेद स्वीकार किया जा सकता है। आत्मगत पाँच प्रकारके रसोंमें सर्वोत्तम रसोंका आश्रय होनेके कारण भक्ति-तत्त्व और प्रीतिमें श्रीकृष्ण-स्वरूपकी सर्वोत्तमता मानी जा सकती है। श्रीकृष्ण संहितामें इस विषयका विशेषरूपसे वर्णन पाया जाता है।

भलीभाँति विचार करनेसे देखा जायेगा कि एकमात्र भगवान ही परतत्त्वकी सीमा हैं। परतत्त्व एक होने पर भी उसके तीन प्रकाश हैं—

*वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।*
*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।१।।*

(भा. १।२।११)

सबसे पहले व्यतिरेक चिन्ता द्वारा परतत्त्व मायातीत ब्रह्म प्रतीत होते हैं। ब्रह्मका अन्वय-स्वरूप लक्षित नहीं होता, केवल व्यतिरेक स्वरूप ही ज्ञानका विषय हो उठता है। ज्ञानकी प्राप्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासाकी सीमा है। इस तत्त्वमें आस्वादक और आस्वाद्यका भेद नहीं होनेके कारण आस्वादन क्रियाका अभाव है।

अन्वय और व्यतिरेक दोनों भावोंका सम्मिश्रण होने पर आत्माके अवलम्बनसे परमात्मा लक्षित होते हैं। यद्यपि इसमें पृथकताका थोड़ा सा आभास पाया जाता है, तथापि सम्पूर्ण अन्वय स्वरूपके अभावमें परमात्म तत्त्व केवल कूट समाधि-योगके विषय होते हैं। इस तत्त्वमें आस्वादक और आस्वाद्यकी स्पष्ट रूपमें उपलब्धि नहीं होती।

अतएव भगवान ही एकमात्र अनुशीलनके विषय हैं—उक्त श्लोक द्वारा यही सूचित होता है। भगवान समस्त गुण सम्पूर्ण रूपमें प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त यह भगवत्-तत्त्व विशुद्ध जीव-समाधिमें प्रकाशित होता है। ब्रह्म या परमात्म तत्त्वमें भगवानका एक-एक गुण ही कल्पित होता है। इसलिये समस्त प्रकारके परमार्थ-स्वरूपोंमें भगवत्-तत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। इसीलिये इस तत्त्वको प्रकाश करनेवाली परमहंस संहिताका नाम 'भागवत' हुआ है। विष्णु पुराणमें भगवत्-तत्त्वकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

*ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।*
*ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।*

समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश अर्थात् मङ्गल, श्री अर्थात् सौन्दर्य, ज्ञान अर्थात् अद्वयत्व एवं वैराग्य अर्थात् अप्राकृतत्त्व—इन छहोंका नाम गुण है। जिसमें ये छहों गुण सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित रहते हैं, वे भगवान् हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि भगवान केवल गुण अथवा गुणोंकी समष्टि ही नहीं हैं, बल्कि भगवानका एक स्वरूप है, जिसमें ये समस्त गुण स्वाभाविक रूपमें न्यस्त हैं। उक्त

छः गुणोंमेंसे ऐश्वर्य और श्री ये दोनों भगवत–स्वरूपके साथ मिलकर एक प्रतीत होते हैं। दूसरे चार गुण गुणके रूपमें प्रकाशमान होते हैं।

ऐश्वर्यात्मक स्वरूपमें आस्वादनका अंश बहुत ही थोड़ा होता है। सौन्दर्यात्मक स्वरूपमें आस्वादनका अंश अधिक होनेके कारण वह अधिक आकर्षक और प्रिय होता है। इसमें एकमात्र माधुर्यका प्रादुर्भाव लक्षित होता है। दूसरे पाँच गुण इसी स्वरूप (श्री) में गुणके रूपमें परिलक्षित होते हैं। माधुर्य और ऐश्वर्य इन दोनोंमें स्वभावतः एक विपर्यय दिखलायी पड़ता है। अर्थात् जहाँ ऐश्वर्यकी अधिकता होती है, वहाँ माधर्यकी कमी होती है। जिस परिमाणमें एककी अधिकता होती है, उसी परिमाणमें दूसरेकी कमी होती है।

माधुर्य–स्वरूपके सम्बन्ध में खूबी यह है कि उसमें आस्वादक और आस्वाद्य दोनोंकी ही स्वतंत्रता और समानता स्वीकृत होती है। ऐसी दशामें आस्वाद्य वस्तुकी ईश्वरता, ब्रह्मता और परमात्मताकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसका कारण यह है कि परमतत्त्व स्वयं अवस्थाशून्य होने पर भी आस्वादकोंके अधिकार भेदसे भिन्न–भिन्न स्वरूपोंमें प्रकाशित दीख पड़ते हैं। माधुर्यरसकदम्ब श्रीकृष्ण स्वरूप ही एकमात्र स्वाधीन भगवदनुशीलनका विषय हैं।

ऐश्वर्य आदि गुणोंसे रहित भगवदनुशीलनका कुछ फल होता है या नहीं ऐसा संदेह कर रासलीला वर्णनके प्रसङ्गमें महाराज परीक्षितने शुकदेव मुनिसे जिज्ञासा की थी—

*कृष्णे विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।*
*गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।।*

(श्रीमद्भा. १०.२९.१२)

उत्तमाधिकारमें पहुँची हुई रागात्मिका नित्यसिद्धाओंकी श्रीकृष्ण–रासकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। परन्तु कोमल श्रद्धावाले रागानुगजन तो अभी निर्गुणताको भी प्राप्त नहीं हैं; उनका ध्यान आदि साधन भी गुणके द्वारा विकारमय होता है। मायिक गुणोंसे परे होनेके लिये ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता होती है। ऐसी दशामें गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्णको केवल अपना प्रियतम ही मानती थीं; उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था। फिर ऐसी दृष्टि द्वारा उनके लिये गुणोंके प्रवाह रूप इस संसारकी निवृत्ति कैसे हुई—इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

*उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।*
*द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।।*
*नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।*
*अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।।*

(श्रीमद्भा. १०.२९.१३–१४)

शिशुपाल भगवान्के प्रति द्वेष भाव रखने पर भी अपने प्राकृत शरीरको छोड़कर सिद्धिको प्राप्त हुआ था, ऐसी स्थितिमें जो समस्त प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत भगवान् श्रीकृष्णकी प्रियतमा हैं और उनसे अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियाँ उन्हें प्राप्त हो जायँ—इसमें कौनसी आश्चर्यकी बात है। यदि कहो भगवानकी अव्ययता, अप्रमेयता, निर्गुणता और अप्राकृत गुणमयता—इन ऐश्वर्यगत भावोंकी आलोचना नहीं करनेसे नित्यमङ्गल होनेकी संभावना कहाँ हैं, तो मेरा कहना यह है कि भगवत् सत्ताके माधुर्यमय स्वरूपका व्यक्तित्व ही सबके लिये नितांत श्रेयोजनक है। ऐश्वर्य आदि षड्गुणोंमें 'श्री' अर्थात् भगवान्का सौन्दर्य ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है—श्रीशुकदेवजीके कथनका यही तात्पर्य है। अतएव जो इस रूप–सौन्दर्यका अवलम्बन करते हैं, वे चाहे उत्तम अधिकारी हों अथवा कोमल श्रद्धावाले कनिष्ठधिकारी ही क्यों न हों—सबका परम कल्याण हो जाता है। कोमल श्रद्धावाले साधनके प्रभावसे पाप और पुण्यरूप कर्मज–गुणमय सत्ताको छोड़कर उत्तम अधिकारी होकर श्रीकृष्णको

प्राप्त होते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी उद्दीपनकी उपलब्धिसे ही श्रीकृष्णके रासमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं। इसलिये श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें भक्तिका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।*
*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।*

(भ.र.सि. पूर्वलहरी १.९)

उत्तमा भक्तिका लक्षण है—'अनुशीलन'। किसका अनुशीलन? ब्रह्मका, परमात्माका अथवा नारायणका? नहीं—ब्रह्मका नहीं, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष चिन्ताका विषय है, भक्ति उसमें आश्रय नहीं पाती। परमात्मा भी नहीं, क्योंकि यह तत्त्व योगमार्गका विषय है, भक्तिमार्गका नहीं। नारायण भी सम्पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि भक्तिकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ नारायणमें तृप्त नहीं हो पातीं।

जीवका ब्रह्मज्ञान तथा उसकी ब्रह्मतृष्णा दूर होने पर, सबसे पहले भगवत्-ज्ञानके उदय होनेके समय, शान्त नामक एक रसका आविर्भाव होता है। यह रस नारायणके लिये उपयुक्त होता है। परन्तु इस रसमें उदासीनताका भाव रहता है। जब नारायणके प्रति ममता उदित होती है, उस समय जीव और उपास्य तत्त्वमें परस्पर स्वामी और सेवकका भाव उत्पन्न होता है जिससे दास्य नामक द्वितीय रस उदय होता है। नारायण तत्त्वमें दास्य-रस तक ही संभव है, उन्नत रसोंकी संभावना नहीं होती है। इसका कारण यह है कि नारायण स्वरूप सख्य, वात्सल्य और मधुर रसोंका आश्रय नहीं हो सकता है। ऐसा किसका साहस होगा कि नारायणके गलेमें बाहें डालकर कहे कि 'सखे! तेरे लिये कुछ उपहार लाया हूँ, तू उसे ले ले।' कौन जीव नारायणको गोदमें बैठाकर अपने पुत्रके समान उनका चुम्बन करनेमें समर्थ होगा? अथवा ऐसा कौन होगा जो नारायणसे ऐसा कहे कि 'प्रियतम! तुम मेरे प्राण-नाथ हो, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ?'

महाराज-राजेश्वर परमैश्वर्य-पति नारायण कितने गंभीर हैं एवं क्षुद्र जीव कितना दीन हीन है; उसके लिये नारायणके प्रति भय, संभ्रम और उपासनाका भाव छोड़ना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असंभव है। परन्तु उपास्य तत्त्व परम दयालु और विलास-परायण हैं। जब वे जीवोंमें उन्नत रसोंका उदय लक्ष्य करते हैं, तब कृपापूर्वक उपयुक्त उन्नत रसोंके विषय होकर जीवके साथ अप्राकृत लीलामें प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र ही भक्ति-प्रवृत्तिके पूर्णरूपसे विषय हैं।

अस्तु, कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्तिका पूर्ण लक्षण है। उस कृष्णानुशीलनकी अपनी उन्नतिके अतिरिक्त दूसरी कोई कामना नहीं होती। भोग और मोक्षकी कामना रहनेसे किसी भी प्रकारसे रसकी उन्नति नहीं होती। अनुशीलन, स्वभावतः काम और ज्ञानरूप होगा; परन्तु कर्मचर्चा और ज्ञानचर्चा उस परम चमत्कारमयी सूक्ष्म प्रवृत्तिको आच्छादित न करें—इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि ज्ञान उसे ढक लेगा, तो वह उसे ब्रह्मपरायण करके उसके स्वरूपको भी लोप कर डालेगा। और यदि कर्म उसे ढकता है, तब कर्म जीवके चित्तको साधारण स्मार्तोंकी भाँति कर्मजड़ कर अन्तमें श्रीकृष्ण तत्त्वसे उसे दूर हटा कर पाषण्ड कर्मोंकी ओर लगा देता है। क्रोध आदि चेष्टाएँ भी अनुशीलन हैं। उन चेष्टाओंके द्वारा कृष्णानुशीलन करने पर कंस आदिकी तरह वैरस्य भोग करना पड़ता है। अतएव उस अनुशीलनको ऐसा बनानेकी आवश्यकता है कि वह प्रतिकूल अनुशीलन न हो पड़े। अनुकूल अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है, जिसमें कर्म, ज्ञान और अन्याभिलाषाका बिल्कुल अभाव होता है। ❑

# ग्रन्थ-चक्रवर्ती-श्रीमद्भागवत

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिमयूख भागवत महाराज

जगतमें जितने शास्त्र हैं, श्रीमद्भागवत उनमें शास्त्र-शिरोमणि, शास्त्र-सम्राट या ग्रन्थ-चक्रवर्ती हैं। मदीश्वर ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरने कहा है—'श्रीमद्भागवत शास्त्र शिरोमणि हैं तथा वे निगम कल्पतरुके स्वयं गलित फल हैं। श्रीमद्भागवत ज्ञान-प्रदीप हैं। ये समस्त पुराणोंके अर्क-स्वरूप तथा हरि कथामयी मोहिनी हैं। इनका श्रवण करनेसे परमपुरुष अधोक्षज श्रीकृष्णके चरणोंमें शोक, मोह और भयको दूर करनेवाली सेवा-प्रवृत्तिका उदय होता है। जो श्रीमद्भागवतका सेवन करते हैं उनके सारे कर्मफल नष्ट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवानका स्वरूप है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दनका स्वरूप कहा है और इस महान ग्रन्थको ही समस्त प्रमाणोंमें श्रेष्ठ प्रमाण माना है। पण्डितोंमें प्रचलित कहावत है—'विद्या भागवतावधि'। इससे पता चलता है कि श्रीमद्भागवत वेदशास्त्रोंका अन्तर्निहित सार है। इस ग्रन्थका श्रद्धापूर्वक सेवन करनेसे जीव पंचम पुरुषार्थ—भगवत् प्रेमको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। भागवत्-सेवन से बढ़कर कोई भी उत्तम विद्या नहीं है। यह अन्याभिलाष, ज्ञान और कर्मके आवरणसे मुक्त, अनुकूल रूपसे कृष्ण-सेवारूप उत्तमाभक्तिका आश्रय है। श्रीमद्भागवतको पारमहंसी-संहिता, सात्त्वती-संहिता, वैयासिकी या शुकगीता, ब्रह्मसूत्रभाष्य या सात्त्वत-श्रुति भी कहते हैं। महाभारतके अंतर्गत जैसे भगवद्गीताको गीतोपनिषद् कहते हैं, वैसे ही श्रीमद्भागवतको भी भागवतोपनिषद् कहते हैं।

दधिमन्थनसे निकले हुए कोमल नवनीतकी तरह यह श्रीमद्भागवत वेद आदि शास्त्र-सागरका सार-संग्रह है। श्रीमद्भागवत अखिल श्रुतियोंका सार, अध्यात्म ज्ञानके लिए दीपक-स्वरूप और समस्त पुराणोंका रहस्य है। श्रीमद्भागवतके २/७/५१ श्लोकमें ब्रह्मजी नारदजीको कहते हैं—'इस श्रीमद्भागवतको साक्षात् भगवानने मुझे सुनाया है।' दूसरे दूसरे अंश या कलारूप शास्त्र-समूहोंका यह सार-संग्रह है। यह अंशी-शास्त्र है। साक्षात् भगवान ही इस शास्त्रके रूपमें स्वयं विराजमान हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अपनी टीकामें कहते हैं—न केवलमिदं शास्त्रत्वेनैव मन्तव्यम्, किन्तु विभूतीनाम् संग्रहः। श्रीमद्गीतादिषु विभूति शब्देन अंशकलावताराणामप्युक्तेः, साक्षाद् भगवानेवायं शास्त्रं स्वरूपेण विराजति।

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णके भुवनमंगल मूर्तिमान शाब्दिक अवतार हैं। जगद्गुरु विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवतके १२/१३/९ श्लोककी टीकामें लिखते हैं—यथैवावतारत्वादवतारमध्ये कृष्णं गणयित्वा पुनरेतेचांसकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति' कृष्णस्य पृथक् गणना। तथैव पुराणत्वात् पुराणमध्ये श्रीभागवतं गणयित्वा तत्राष्टदशसाहस्त्रं श्रीभागवतमिष्यते इति पुनर्गणना पुराणचक्रवर्तीत्व व्यञ्जिका।'

श्रीमद्भागवत्के १२/१३/३-८ श्लोकमें श्रीसूत गोस्वामी १८ पुराणोंके नाम उल्लेख किये हैं। जिनमें श्रीमद्भागवतका नाम भी उल्लिखित है। फिर अगले नवें श्लोकमें भी श्रीमद्भागवतका नाम पुनः उल्लेख किए हैं। यहाँ उनके द्वारा दो बार 'श्रीमद्भागवत' नामके उल्लेख किए जानेका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी पर अवतीर्ण होनेके कारण जैसे कृष्णकी

गणना अवतारोंके अन्तर्गत किए जाने पर भी उन्हें समस्त अवतारोंके अवतारी—अंशीस्वरूप स्वयं भगवान माना गया है, वैसे ही श्रीमद्भागवतमें पुराणोंके समस्त लक्षण देखकर सूतगोस्वामीने इसकी गणना पुराणोंके अन्तर्गत करके भी अन्तमें पुनः श्रीमद्भागवतका नाम पुनः उल्लेखकर उसका निरुपण पुराण-चक्रवर्तीके रूपमें ही किया है।

श्रीचक्रवर्ती टीका (श्रीमद्भा. १/१/१)—'यादःसु महामीन इव, मृगेषु यज्ञवराह इव, विहङ्गमेषु श्रीहंस इव, नृषु स्वयं भगवान श्रीकृष्ण इव, देवेषु उपेन्द्र इव, वेदेषु श्रीमद्भागवताख्यः शास्त्रचूड़ामणिः।'

वेदव्यासने भाद्रमासकी पूर्णिमा तिथिको श्रीमद्भागवतको सम्पूर्ण किया था। इसीलिए भाद्रमासकी पूर्णिमाके दिन स्वर्णनिर्मित सिंहासनके ऊपर श्रीमद्भागवतको रखकर दान करनेका श्रीमद्भागवत और मत्स्य-पुराणमें बडा महात्म्य बतलाया गया है। श्रीचक्रवर्ती ठाकुर भागवतके १२/१३/१३-१४ श्लोककी टीकामें लिखते हैं—'प्रौष्ठपद्यां भाद्रसम्बन्धिन्यामिति तद्दिन एव श्रीमन्मुनीन्द्रेण शास्त्रमेतत् समाप्तीकृतमिति पाद्मोत्तरखण्डगत भागवतमाहात्म्ये दृष्टं हेमसिंह-समन्वितमिति सर्वशास्त्रमहाराजस्य पुराणसूर्यस्यास्य साम्राज्यार्थं सिंहासनौचित्यात् सर्वग्रहराजस्यैतदुपमानस्य सूर्यस्यापि तदानीं सिंहराशिगतत्वेन सिंहासनाधिरुढ़ता दृष्टैव। अस्य सर्वशास्त्र महाराजत्वमेवाह—राजन्ते इति अन्यानि पुराणान्यपि प्रायस्तावत् शास्त्रराजानि यावन्नेति श्रीभागवतन्तु सम्राडेवातः शास्त्रमहाराजमिति भावः। यद्वा अस्य पुराणसूर्यत्वमाह राजन्ते दिप्यन्ते रात्रौ नक्षत्राणिवेति भावः। यावद्रात्रन्ते यावन्नेति सति सूर्यो न दृश्यते।'

जैसे कृष्णनाम कृष्णावतारके समान शक्तिशाली हैं, वैसे ही कृष्णसे अभिन्न श्रीमद्भागवत भी कृष्णकी तरह ही अचिन्त्य प्रभावसे युक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णके अप्रकट होनेपर कलिकालमें श्रीमद्भागवतरूप पुराण-सूर्यका उदय हुआ है।

*कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिः सह।*
*कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः।।*

(श्रीमद्भा. १/३/४३)

चक्रवर्ती टीका—एष पुराणार्क इति कृष्णसूर्येऽस्तमिते सति पुराणसूर्योऽयमुदित इति सूर्यस्य प्रतिमूर्तिः सूर्य एव भवेत् इति भावः।

अर्थात् धर्मसंस्थापक भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जब धर्म और तत्त्वज्ञान आदिके साथ अपने परमधामको पधार गये तब कलिकालमें इस समय भगवत्-धर्मके ज्ञानसे हीन और विवेकशून्य जीवोंको दिव्य ज्ञानरूपी आलोक प्रदान करनेके लिए भगवानके मूर्तिमान विग्रह श्रीमद्भागवत-रूप पुराण-सूर्यका उदय हुआ है।

पद्मपुराणमें भी हम इस बातकी पुष्टि पाते हैं—श्रीकृष्ण अपने परमधामको जानेकी बात जानकर परमभक्त श्रीउद्धवजी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने श्रीकृष्णके चरणोंमें निवेदन किया कि उनके (कृष्णके) अप्रकट होनेके पश्चात् घोर कलियुगमें धर्मकी रक्षा कैसे हो सकेगी। इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने उद्धवको बतलाया कि जीवोंके कल्याणके लिए वे अप्रकट होनेपर भी स्वयं श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकट रहेंगे। साधु-पुरुष उसी श्रीमद्भागवतका आश्रय कर सहज ही कलिके घोर पापोंसे बचे रहेंगे। यथा—

उद्धव उवाच—

*त्वं तु यास्यामि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च।*
*मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह।।*
*आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः।*
*तत्संगेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा।।*
*तदाभारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत्।*
*अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन।।*
*तद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले।*
*निर्गुणोपासने कष्टमतः किविद विचारय।।*

*इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः।*
*भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च।।*
*स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात्।*
*तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्।।*
*तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्त्तते हरेः।*
*सेवनात् श्रवणात् पाठाद् दर्शनात् पाशनाशिनी।।*

★ ★ ★ ★

*दारिद्र्य दुःखज्वरदाहितानां,*
*मायापिशाची परिमर्दितानाम्।*
*संसारसिन्धौ परिपातितानां,*
*क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति।।*

(पद्मपुराण)

गौर और कृष्णके नित्यसिद्ध पार्षद श्रील सनातन गोस्वामी प्रभुने लीलास्तव नामक ग्रन्थमें श्रीकृष्णके शाब्दिक अवतार श्रीमद्भागवतका यह स्तव लिखा है—

*सर्वशास्त्राब्धिपीयूष सर्ववेदैक सत्फल।*
*सर्व सिद्धान्तरत्नाढ्य सर्वलोकैकदृक्प्रद।।*
*सर्व भागवत–प्राण श्रीमद्भागवत प्रभो।*
*कलिध्वान्तोदितादित्य श्रीकृष्णपरिवर्तितः।।*
*परमानन्द पाठाय प्रेमवर्ष्यक्षराय ते।*
*सर्वदा सर्वसेव्याय श्रीकृष्णाय नमोऽस्तु मे।।*
*मदेकबन्धो मतसंगिन् मद्गुरो मन्महाधन।*
*मन्निस्तारक मद्भाग्य मदानन्द नमोऽस्तुते।*
*असाधु–साधुतादायिन्नतिनीचोच्चताकर।*
*हा न मुञ्च कदाचिन्मा प्रेम्ना हृत्कंठयोः स्फुर।।*

हे सर्वशास्त्ररूपी समुद्रसे निकलनेवाले श्रीमद्भागवत! तुम समस्त वेदोंके मुख्य और अत्यन्त उत्तम फल हो। तुम समस्त सिद्धान्तोंके आकर, दिव्य–ज्ञान प्रदान करनेवाले और भक्तोंके प्राण–प्रिय हो। हे प्रभो! कलियुग रूप अन्धकारका विनाश करनेके लिए तुम सूर्यके समान प्रकाशित हो। तुम कृष्णके प्रतिनिधि हो। तुम्हारा पाठ करनेसे परमानन्द लाभ होता है। तुम्हारा प्रत्येक अक्षर प्रेमसुधाकी वर्षा करता है। तुम सर्वदा सब लोगोंके सेव्य हो। हे श्रीमद्भागवतरूपी श्रीकृष्ण! तुम्हारे श्रीचरणकमलोंमें बारम्बार नमस्कार है। तुम्हीं हमारे एकमात्र बन्धु हो, गुरु हो, महाधन हो, उद्धारक हो, हमारे भाग्य हो और आनन्द हो! तुम्हे नमस्कार है। तुम असाधु व्यक्तियोंको साधुता प्रदान करते हो। अत्यन्त नीच व्यक्तियोंको भी श्रेष्ठ और उन्नत बना देते हो। हे प्रभो! मुझे कभी त्याग न करना। कृपाकर मेरे हृदयमें प्रेमसे पूर्ण होकर स्फुरित होओ।

श्रील जीव गोस्वामीने भी क्रम सन्दर्भकी टीकाके मंगलाचरणमें श्रीमद्भागवतको इस प्रकार प्रणाम किया है—

*श्रीमद्भागवतं नौमि यस्य कस्य प्रसादतः।*
*अज्ञातानपि जानाति सर्वः सर्वागमानपि।।*

जिस केवल एक ग्रन्थकी कृपासे ही कोई भी व्यक्ति समस्त वेदशास्त्रोंका तात्पर्य जाननेमें समर्थ हो सकता है, मैं उसी श्रीमद्भागवतको प्रणाम कर रहा हूँ।

श्रीजीव गोस्वामीने (श्रीमद्भागवत १/१/२ श्लोककी टीकामें) और भी कहा है—श्रीमद्भागवत श्रीमान् अर्थात् श्रीभगवानके नामादिकी तरह स्वाभाविक शक्तिशाली हैं। भगवानका प्रतिपादक ग्रन्थ होनेके कारण इनका नाम 'भागवत' पड़ा है। कहीं–कहीं 'श्रीमद्भागवत' के बदले 'भागवत' नामका जो उल्लेख देखा जाता है, वह सत्यभामाके 'भामा' नामकी तरह है। इसके रचयिता सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिए इनका इतना प्रभाव है। भगवान ही इसके प्रणेता हैं। भगवत् साक्षात्कार—पुरुषार्थ शिरोमणि है, जो इस ग्रन्थके द्वारा ही सुलभ है। 'भगवत्' नामके सम्बन्धमें चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवत २/१/८ श्लोककी टीकामें कहते हैं—'भागवतम् भगवन्तमधिकृत्य कृतं, भगवता प्रोक्तं वा, भगवत इदं इति वा।'

श्रीमद्भागवत समस्त उपनिषदोंके सारस्वरूप, अनादि सिद्ध और परब्रह्मके समान हैं। वे सम्पूर्ण अप्राकृत निधियोंसे परिपूर्ण हैं। ग्रन्थ-सम्राट श्रीमद्भागवत स्वयं अक्षर और अर्थ—दोनों रूपोंमें सब तरहसे सुन्दर और महापुराणोंमें श्रेष्ठ हैं। ये रसस्वरूप हैं। 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं' आदि वचनों तथा महापुरुषोंके साक्षात् अनुभवके अनुसार श्रीमद्भागवतमें कोई भी अंश हेय नहीं है।

श्रीहरिने पहले-पहल प्रणवको प्रकाशित किया और पीछे प्रणवका अर्थ प्रकाश करनेके लिए गायत्रीको प्रकट किया। वेदमाता गायत्रीसे चारोंवेदोंका तथा समस्त उपनिषदोंका आविर्भाव हुआ। श्रीव्यासदेवने चारों वेदों और उपनिषदोंकी समीक्षा कर उन सबका निचोड़ सूत्रोंके आकारमें ग्रन्थन किया। इसीका नाम ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र हो। भगवान श्रीव्यासदेवने पुराणोंको प्रकाशित किया, तथा ब्रह्मसूत्रकी रचना भी की, फिर भी उनके चित्तको शान्ति न मिली। तब उन्होंने समाधि लगाई। उसी समाधिमें उनको अपने रचित वेदान्तसूत्रके भाष्यरूपमें श्रीमद्भागवतकी प्राप्ति हुई। इसमें समस्त शास्त्रोंका अपूर्व समन्वय देखा जाता है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवतका मूलाधार वही गायत्री है, जिसमें समस्त वेदोंका तात्पर्य निहित है। वेद और उपनिषदोंके जो ऋक् या मन्त्र सूत्रोंमें कहे गये हैं, वे ही ऋक् या मन्त्र श्रीमद्भागवतमें श्लोकोंके रूपमें प्रकाशित हुए है। श्रीमद्भागवतमें कहीं-कहीं तो वेदों तथा उपनिषदोंके मन्त्र ज्यों-के-त्यों उद्धृत किए गए हैं। श्रीजीव गोस्वामी तत्त्वसन्दर्भमें लिखते हैं—

*गारुडे च— पूर्णः सोऽयमतिशयः।*
*अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।।*
*गायत्री-भाष्य रूपोऽसौ वेदार्थ-परिबृंहितः।*
*पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः।।*
*द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेद-संयुतः।*
*ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्त्रः श्रीमद्भागवताभिधाः।।*

इति ब्रह्मसूत्राणामर्थस्तेषामकृत्रिम भाष्यभूत इत्यर्थः। पूर्वं सूक्ष्मत्वेन मनस्यावभूतम। तदेव संक्षिप्य सूत्रत्वेन पुनः प्रकटितम्, पश्चाद्विस्तीर्णत्वेन साक्षात् श्रीमद्भागवतमिति। तस्मात्तद्भाष्यभूते स्वतःसिद्धि तस्मिन् सत्यर्वाचीन-मन्येषां स्वकपोलकल्पितं तदनुगतमेव आरणीयमिति गम्यते।'

गरुड़पुराण भी इसके साक्षी हैं—श्रीमद्भागवत परिपूर्ण वस्तु हैं। इसमें ब्रह्मसूत्रका अर्थ और महाभारतका तात्पर्य प्रधान रूपसे निर्णय किया गया है। यह गायत्रीका भाष्य है। इसमें वेदोंका निगूढ़ तात्पर्य सन्निवेशित है। वेदोंमें जैसे सामवेद श्रेष्ठ है, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत प्रधान है। इसके वक्ता साक्षात् भगवान हैं। इस ग्रन्थमें १८ स्कन्ध ३२५ अध्याय और १८,००० श्लोक हैं। यह ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्य है। श्रीमद्भागवत सबसे पहले समाधिस्थ व्यासदेवके विशुद्ध चित्तमें सूक्ष्म रूपसे उदित हुआ। उन्होंने उसे संक्षेपमें सूत्रोंके रूपमें प्रकाशित किया। पीछे उसीसे विस्तृत रूपमें साक्षात् श्रीमद्भागवतका आविर्भाव हुआ। इसलिए श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका स्वतःसिद्ध भाष्य है। इसके बाद दूसरे-दूसरे भाष्यकारोंने भी वेदान्त सूत्रके स्वकपोलकल्पित अनेक भाष्योंकी रचना की है। किन्तु ये भाष्य समूह श्रीमद्भागवतकी भावधाराके अनुकूल होनेपर ही आदरणीय हैं—अन्यथा नहीं।

(क्रमशः) ❑

*कुक्कुरस्य मुखाद्भ्रष्टं तदन्नं पतते यदि। ब्राह्मणेनापि भोक्तव्यं सर्वपापापनोदनम्।।*

महाप्रसाद सेवनसे समस्त पाप नष्ट होते हैं। वह यदि कुत्तेके मुखसे पृथ्वीपर गिर पड़े, तब भी वह ब्राह्मणोंके भोजनके योग्य है।।

# मनुष्यके कुकर्म भगवानकी लीला नहीं है

*—त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज*

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ४३ संख्या १० पृष्ठ २२८ से आगे]

वास्तवमें प्रत्येक जीवात्मा भगवानका ही एक एक विभिन्नांश (शक्तिपरिणत–तत्त्व) है। भगवानकी आनन्द–चिन्मय–रसमयी लीलाकी पुष्टिके लिये भगवानकी जीवशक्तिसे अनन्त कोटि जीवात्माओंका प्रकाश हुआ है।

मायावादी लोग मनुष्यके दुःख भोगको भगवानकी लीला कह कर साधारण जन–समूहको विपथगामी करते हैं। साथ ही मांस, मछली और अण्डा आदि भी खाते हैं। जब उनसे पूछा गया कि आप पूजा–पाठ करते हैं, फिर मांस–मछली और अण्डे आदि क्यों खाते है? तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि सब कुछ ब्रह्म है; मांस–मछली भी ब्रह्म है, और मांस खानेवाले भी ब्रह्म हैं। अतएव जब ब्रह्म ब्रह्म ही को खाता है, तो यह समझना चाहिए कि यह सब कुछ ब्रह्म ही की लीला है। पाप–पुण्य सभी माया हैं। वास्तवमें सब कुछ ब्रह्म है।' परन्तु यदि ऐसा ब्रह्मज्ञान (?) जगतमें प्रचारित हो, तो मनुष्य न जाने कहाँ तक पापाचार करने लगे और कुछ ही दिनोंमें जगत्का ध्वंस हो जाय। जीवात्मा और परमात्माको एक माननेवाले तथा प्राणियोंके सांसारिक दुःख–सुख–भोगको भगवानकी लीला बतलानेवाले अपना उक्त ब्रह्मवाद सुनाकर पापियोंको और भी अधिक पाप करनेके लिए उत्साहित करेंगे कि 'वे जो कुछ भी करते हैं, ठीक ही है, क्योंकि पाप–पुण्य सब–कुछ ब्रह्मकी लीला है। वास्तवमें सभी ब्रह्म हैं।'

जीवात्मा और परमात्मा किस विषयमें एक हैं, इस विषयको भी समझना है। जीवात्मा भगवानका अंश है। अतएव पदार्थ–तत्त्वकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। परन्तु अंश कभी भी पूर्ण अथवा पूर्णके बराबर नहीं हो सकता। पूर्णकी शक्ति पूर्ण है और अंशकी शक्ति आंशिक है। Part equal to the whole ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि अंश जीवात्मा समस्त विषयोंमें पूर्ण अर्थात् भगवानके सहित एक होता तो वह कभी भी मायाके वशमें नहीं होता। परन्तु जीवात्मा किसी विशेष परिस्थितिमें मायाके अधीन हो पड़ता है। दूसरी तरफ, भगवान मायाके अधीन कभी नहीं होते। भगवान मायाके पति हैं, माया भगवानके अधीन होती है। माया भगवानकी इच्छा से ही चराचर जगतको प्रसव करती है। यह श्रीभगवद्गीताका सिद्धान्त है।

अंशका स्वाभाविक धर्म अंशीकी सेवा करना है। यदि अंश अंशीकी सेवासे किसी कारणवश विमुख हो जाता है, तो वह उस समय मायाबद्ध हो जाता है। मायाबद्ध जीव (अंश) शोधनके योग्य होता है और शुद्ध हो जानेपर अंशीके साथ परस्पर परमानन्दका भोग करता है।

उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि हरेक प्रजा राज्यका अंश–स्वरूप है। राज्य और जाति आजकल पृथक नहीं हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक प्रजाको समष्टि जातिकी उन्नतिके लिए यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करनेमें प्रत्येक प्रजा (व्यक्ति) स्वतन्त्र है। यदि कोई कार्य उसकी इच्छाके अनुसार न भी हो, तो भी साधारणतः उसे राष्ट्रकी विधियोंको मानकर ही चलना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रकी विधियोंको अस्वीकार कर उनका उलंघन करता है, तब उसे कैदकर कारागारमें बन्द कर दिया जाता है। अतएव एक ही राज्यके प्रशासनमें दो प्रकारका जीवन दृष्टिगोचर होता है—एक जेलके अन्दर परतन्त्र जीवन, दूसरा जेलसे बाहर स्वच्छन्द

या स्वतन्त्र जीवन। यदि कोई इन दोनों प्रकारके जीवनोंको एक ही माने तो जिस प्रकार लोग उसे पागल समझते हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्द भगवानकी नित्यलीला ओर मायिक ब्रह्माण्डके त्रिताप-यंत्रनाओंसे पूर्ण बद्धजीवोंके कर्मफल भोगमय जीवन—इन दोनोंको एक समझनेवालोंको भी लोग विकृत मस्तिष्कवाले मायावादी मायिक कारागारके आभ्यान्तरिक जीवनकी तिक्तता अनुभव करके उससे बाहर स्वतन्त्र जीवनको निर्विशेष अवस्था, भगवान ओर जीवात्माको एक और मायिक कर्मफलभोगमय जीवनको भगवानकी लीला मानते हैं। इसलिए वे समाजमें हास्यास्पद होते हैं।

जैसे विद्रोही प्रजाके लिए राज्य सरकार द्वारा निर्मित कारागार मिथ्या नहीं है, उसी प्रकार विमुख जीवके लिए भगवानका रचा हुआ मायिक ब्रह्माण्ड भी मिथ्या नहीं है। तत्त्वविद् पण्डितोंने इसे तात्कालिक बतलाया है। परन्तु मायावादी इसके विपरीत मायिक ब्रह्माण्डको मिथ्या बतलाते है। वास्तवमें यह मायिक ब्रह्माण्ड भगवद्विमुख जीवोंको दण्ड देनेके क्षेत्रमें ही रचा गया है। जिस प्रकार राज्य सरकार यह नहीं चाहती कि उसकी प्रजाएँ जेलमें बन्द रहें, उसी प्रकार भगवान भी यह नहीं चाहते कि उनके अंश जीव मायाके कारागार जगत्में प्राकृत, स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें बँधा रहकर सदा दुःख भोग करे। जैसे विद्रोही प्रजा राज्य सरकारको कारागार बनानेके लिए बाध्य करती है, उसी प्रकार भगवद् विमुख जीव भगवानकी सेवासे विच्युत होकर मायिक क्लेशयुक्त संसारकी रचनाके कारण हैं। यदि राज्यमें दुष्ट या विद्रोही प्रजा न रहे तो जैसे कारागारकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार यदि भगवानकी नित्यलीलासे कोई जीव विमुख न हो, तो मायिक ब्रह्माण्डकी रचना भी सदाके लिए बन्द हो जाय। परन्तु ऐसा होना नहीं है। राज्यकी स्थापनाके साथ-ही-साथ कारागारका निर्माण आवश्यक होता है, उसी प्रकार अनादि बहिर्मुख जीवात्माओंके लिए मायिक ब्रह्माण्डकी रचना भी अनिवार्य है। यदि कोई मायिक ब्रह्माण्डसे निकलकर भगवानकी नित्यलीलामें प्रवेश करना चाहे, तो वह उधर जा सकता है और भगवानकी नित्यलीलामें भाग ले सकता है। परन्तु परतत्त्वको निर्विशेष माननेवाले मायावादियोंकी बुद्धि मायाद्वारा आच्छादित रहनेके कारण वे भगवानकी नित्यलीलाको समझ नहीं पाते। भगवान कृपा कर जब अपनी नित्यलीलाको इस भौम जगतमें प्रकट करते हैं, तब मायावादी उस चिन्मयी लीलाको भी मायिक समझते हैं, इतना ही नहीं वे उसे साधारण जीवोंके सांसारिक कर्मफल भोगके साथ समान समझते हैं। इसलिए वे जीवोंके दुःखमय कर्मफल भोगको भी भगवानकी लीला मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता सम्पूर्ण निराधार और भ्रामक है। उनके मतानुसार केवल चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्मज्योतिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। कारागारके बाहर कारागारका दुःखमय जीवन नहीं है—यह बात ठीक है, परन्तु यह कहना कि कारागारके बाहर किसी प्रकारका जीवन ही नहीं है, सब शून्य है—निरे पागलपनकी बात है। नित्य चिन्मयी सत्ताको अस्वीकार करनेके कारण अर्थात् चिन्मयी सत्ताका विनाश चाहनेवाले निर्विशेषवादी कहे गए हैं।

मायावादी कर्मफल द्वारा निर्मित दुःखमय जीवनको भगवानकी लीला बतलाकर किस हदतक अपनी अज्ञानताका परिचय देते हैं, इस विषयमें श्रीगीताका निर्णय देखिये—

*न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।*
*न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।।१४।।*
*नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।*
*अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।*

*ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।*
*तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।*

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्त्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफल संयोगकी ही रचना करते हैं, जीवका अविद्याकृत स्वभाव ही इनका कारण है। परमेश्वर जीवके पापकर्म और पुण्यकर्मको ग्रहन नहीं करते। अविद्याशक्ति (अज्ञान) द्वारा बद्ध हुआ जीव देहाभिमानरूप मोह प्राप्तकर अपनेको कर्मकर्त्ता अभिमान करता है। परन्तु जिनका यह प्राकृत ज्ञान (अज्ञान) अप्राकृत ज्ञानके द्वारा नष्ट हो जाता है, वे अप्राकृत परतत्त्वका दर्शन करते हैं।

अतएव जीवात्माको परमात्मा बतलाना बड़ी मूर्खता है। भगवान किसीको देवता और किसीको असुर, किसीको मनुष्य और किसीको विष्टाभोजी सूअर नहीं बनाते। वे किसीको पापकर्म और किसीको पुण्यकर्म करनेको नहीं कहते। परन्तु यह सब कुछ बद्धजीवके अविद्याद्वारा निर्मित स्वभावसे ही होता है। अर्थात् जीवका अज्ञानसे बना हुआ स्वभाव ही इनका कारण है। यह सब भगवानकी लीला कतई नहीं है, जैसा कि स्वामीजीने समझा था। भला भगवानको भी कभी अज्ञान ढक सकता है? भगवान तो सदा–सर्वदा पूर्णविज्ञ स्वराट वस्तु हैं। सौभाग्यसे किसीको जब सद्गुरुका संग प्राप्त होता है, तभी वह समझ सकता है कि भगवान प्रभु हैं, जीव दास है, भगवान पूर्ण हैं, वृहद् हैं, और जीव क्षुद्र है, भगवान मायापति हैं और जीव मायावश्य है। अणु या क्षुद्र जीवको विभु परमात्मा मानना या बतलाना बड़ा अपराध है। यथार्थ ज्ञान उदित होनेपर जीव भगवान् वासुदेवके चरणोंमें शरणागत हो जाता है और अपनी मूढ़ता छोड़कर गोविन्दकी सेवामें अपनेको नियुक्त कर देता है।

उपरोक्त श्लोकसे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्यका दुःख भोग भगवानकी लीला नहीं है, जैसा कि स्वामीजी ने कहा है। पाप और पुण्य कर्मोंसे उत्पन्न हुआ जीवका स्वभाव है। भगवान् किसीको पाप–पुण्य कर्मोंमें नहीं फँसाते। जीव स्वयं अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार करके इनमें फँसता है। जिस प्रकार प्रथम श्रेणीका कैदी और तृतीय श्रेणीका कैदी, दोनों ही जेलके अन्दर सजा भुगत रहे हैं; उसी प्रकार पापी और पुण्यवान दोनों ही भव–कारागारमें अपने–अपने कर्मफलका भोग कर रहे हैं, दोनों ही अविद्याके अधीन हैं। इसलिये भगवान यह चाहते हैं कि जीव भव–कारागारके इन दोनों प्रकारके जीवनोंको पार कर अपने शुद्ध स्वरूपसे भगवत् सेवारूप मेरी चिन्मयी लीलामें प्रवेश करें। परन्तु अज्ञानी मूढ़ जीव मायिक सुख–दुःखमय जीवनको ही भगवानकी लीला मानकर इसीमें फँसा रहकर वास्तविक जीवनसे वंचित रहता है।

जबतक मनुष्यमें भगवद्दर्शनकी तीव्र अभिलाषा पैदा न हो जाय, तबतक ऐसा समझना चाहिए कि वह अभी अज्ञानरूप अंधकारमें है। अज्ञान द्वारा मोहित कर्मी, ज्ञानी या अन्याभिलाषी व्यक्ति अपनेको चाहे जितना भी बड़ा क्यों न समझें, वे सभी परमेश्वरकी गुणमयी दुस्तरा मायाके वशीभूत हैं। ये लोग चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न उठ जायँ, भगवानकी सेवा ग्रहण किये बिना—भगवानके शरणागत हुए बिना कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। वे पुनः गिर पड़ते हैं।

*येऽन्येऽरविदाक्ष विमुक्तमानिन–*
*स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।*
*आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं ततः*
*पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।*

जहाँ भगवान ही एकमात्र भोक्ता हैं, वहीं पर भगवानकी लीला है और जहाँ जीवात्मा भोक्ता है, वहीं माया है। मायातीत भगवानकी लीलाको तुच्छ बुद्धिवाले लोग समझ नहीं पाते। वे लोग

अविद्या द्वारा बँधे हुए जीव (मनुष्य आदि) के कर्मफल भोगको भगवानकी लीला बतलाते हैं। भगवानकी लीला समझनेके लिए पहले ब्रह्मभूतकी अवस्था प्राप्त करनी होगी; पश्चात् भगवानकी पराभक्तिका अनुशीलन करना होगा। शुष्क और निर्विशेष ज्ञानके द्वारा भगवानकी अप्राकृत लीला करोंड़ो जन्मोंमें समझी नहीं जा सकती है। इस अप्राकृत लीलाको समझनेके लिए सम्बन्ध ज्ञानका होना अनिवार्य है। भगवत्तत्त्व, जीवतत्त्व और भगवत्शक्ति तत्त्वके यथार्थ ज्ञानको जाननेका नाम सम्बन्ध-ज्ञानको प्राप्त करना है। इसके विपरीत भगवानको मायाबद्ध मनुष्यादि मानना तथा मनुष्यके मायिक दुःख भोगको भगवानकी लीला कहना अपराध है, जिससे जीव जन्म-जन्मान्तर तक विभिन्न प्रकारकी नीच योनियोंमें भटकता हुआ दुःख भोग करता है और भगवद्दर्शनसे वंचित रह जाता है—

*मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।*
*राक्षसींआसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनी श्रिताः।।*

(गीता)

❑

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नामजप साधना

*—डॉ० सत्यपाल गोयल*

### *सेवा अपराध*

आगम शास्त्रोंमें तीस प्रकारके सेवा अपराध बताये गये हैं। सेवा अपराधसे तात्पर्य ऐसा आचरण और व्यवहारसे है जो भक्तिके विरुद्ध है। इन सेवा अपराधोंके रहते कभी भी भगवत्कृपा प्राप्त नहीं हो सकती है।

### *१. सूतकके समय भगवद् दर्शन करना*

सूतकसे तात्पर्य सूर्य और चन्द्र ग्रहण आदि अवस्थाओंसे है। जब सूर्य एवं चन्द्रग्रहण आदि लगा हो तो भगवानके श्रीविग्रहका दर्शन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार रजस्वला स्त्रीको भी अशुद्ध अवस्थामें मंदिर-सेवा, तुलसी-सेवा, गुरु-सेवा आदि नहीं करना चाहिए।

### *२. भगवदीय उत्सवोंकी उपेक्षा*

धार्मिक उत्सवों विशेष कर श्रीगुरुजीके आश्रयमें जो उत्सव आयोजित हों उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उनमें तन-मन और धनसे यथा सार्मथ्य अवश्य योगदान करना चाहिए। उन आयोजनोंकी उपेक्षा करनेसे या उनकी आलोचना करनेसे या सामर्थ्य रहने पर भी आर्थिक सहयोग न कर कृपणता करनेसे सेवा अपराध होता है।

### *३. उच्छिष्ट मुँहसे श्रीविग्रह दर्शन*

श्रीभगवानके श्रीविग्रहके समक्ष बैठकर कुछ भी (प्रसाद को छोड़कर) भोजन करना सेवा अपराधकी श्रेणीमें आता है। जन सामान्य जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है अथवा साधनामें भी लगे हुए हैं किन्तु उनको इस अपराधका बोध नहीं है वे ऐसा करते है। जो लोग श्रीविग्रहको साधारण प्रतिमाके रूपमें ही देखते हैं, वे ही इस प्रकारका अपराध करते हैं। तत्वतः जो लोग श्रीविग्रहको मात्र पाषाण या धातु निर्मित मूर्ति मानते हैं, वे घोर नास्तिक एवं मायावादी हैं। जितना भी कुछ पहले कहा जा चुका है एवं आगामी पृष्ठोंमें कहा जायेगा—वह केवल उन साधकोंके लिये ही है जो श्रीकृष्ण या राम, विष्णु, नृसिंह आदि भगवत अवतारोंकी आराधनाकी ओर आकृष्ट हैं। अतएव भगवानके श्रीविग्रहके समक्ष न तो भोजन ही करना चाहिए और न ही उच्छिष्ट मुंहसे उनके सामने जाना चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है तो उसका अर्थ है उसे भगवानके अस्तित्वमें विश्वास नहीं है। साधकोंको सभी प्रकारके भजन अपराधोंसे सावधानीपूर्वक बचना चाहिए।

### ४. श्रीविग्रहको प्रणाम न करना

नास्तिक, मायावादी एवं अनार्य लोग भगवानके श्रीविग्रहको प्रणाम नहीं करते हैं। यदि कोई साधक श्रीविग्रहको प्रणाम नहीं करता है तो वह सेवा अपराध की सीमामें आता है। जब भी श्रीविग्रहके सामनेसे निकले उनको प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करते समय प्रणाम करनेकी सामान्य विधियोंका पालन करना चाहिए। जैसे गुरु एवं श्रीविग्रहको एक हाथसे प्रणाम न करना, पुरुषोंको सिले हुए कपड़े (शरीरके ऊपरी भागमें) पहनकर लेटकर प्रणाम नहीं करना चाहिए—ऐसा करने पर प्राणी अगले सात जन्म तक श्वेत कुष्ठ रोगसे पीड़ित रहता है। महिलाएँ यदि लेटकर (साष्टांग) प्रणाम करती हैं तो वे भी सात जन्मतक कथित रोगसे पीड़ित रहेंगी। कभी भी गुरु तथा श्रीविग्रहोंको उनके बाएं नहीं करना चाहिए।

### ५. जूता पहनकर, कार आदिमें बैठकर दर्शन करने जाना

श्रीविग्रहके दर्शन करनेके लिये साधकको स्नान करके धुले हुए वस्त्र पहनकर बिना खड़ाऊं तथा जूते पहने पैदल दर्शन करने जाना चाहिए। श्रीगुरु तथा भगवानके समीप सहज भावसे अत्यन्त दैन्य भावसे जाना चाहिए।

### ६. पैर पर पैर रखकर बैठना

श्रीगुरु–वैष्णव एवं भगवानके श्रीविग्रहके समक्ष पैर पर पैर रखकर बैठना अनादरसूचक है। अतएव सेवा अपराधकी परिधिमें आता है। अनेक लोग इस प्रकार बैठनेमें ऐसा समझते हैं कि भगवान और गुरु तो निज जन हैं। अतः इस प्रकार बैठनेमें क्या दोष है? ऐसा सोचना भ्रम है। हमें सेव्य सेवक भाव रखना चाहिए। वे हमें शिष्यवत् या पुत्रवत् स्नेह करते हैं यह उनका कृपा भाव है तथा उनका अपना अधिकार क्षेत्र है। हमें उसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। पैर पर पैर रखकर बैठना तामसिक वृत्तिका अंग है।

### ७. पैर फैलाकर बैठना

जिस प्रकार पैर पर पैर रखकर बैठना तामसिक भावका अंश है, उसी प्रकार पैर फैलाकर बैठना भी तामसिक वृत्ति है। अतएव सेव्य भावमें कमी लाकर स्वामी या सेव्यके प्रति उपेक्षात्मक मनोवृत्तिका प्रकाश करता है। सिद्ध अवस्थामें विधि अंगोंके पालनमें यदा कदा शैथिल्य सा दीख पड़ता है, क्योंकि इस अवस्थामें बाह्यज्ञान नहीं रहता है। परन्तु सामान्य स्थितिमें कदापि विधि मार्गको नहीं छोड़ना चाहिए।

### ८. श्रीविग्रहके सामने खड़े होकर घूमकर परिक्रमा करना

अधिकांश लोगोंको खड़े होकर उसी स्थल पर घूमकर परिक्रमा करते देखा जाता है। ऐसा करना सेवा अपराध है। सम्भव है लोग समयकी बचतके लिये ऐसा करते हों। प्रायः मायावादी लोग स्वयंमें तथा विग्रहमें अभेद बुद्धिसे अर्थात् स्वयंको ब्रह्म मानकर ऐसा करते हैं। श्रीविग्रह साक्षात् श्रीहरिका स्वरूप है। श्रीविग्रह एवं भगवानमें कोई अन्तर नहीं है। अतएव परिक्रमा श्रीविग्रहकी ही करना चाहिए, अपनी नहीं। यही नहीं श्रीविग्रहकी उपस्थितिमें अपने मन्त्रदाता गुरुदेवके अतिरिक्त न तो किसी और की परिक्रमा करनी चाहिए और न ही प्रणाम करना चाहिए। श्रीगुरुदेव आश्रय विग्रह होनेसे उनकी परिक्रमा करना अपराधमूलक नहीं है।

### ९. श्रीविग्रहके सामने सोना

साधकोंको श्रीविग्रहकी ओर पैर करके अथवा अन्य किसी भी स्थितिमें सोना अपराध है। यदि पट बंद हैं तो नाट्यशाला (जगमोहन) में रात्रिके समय सोना दोषपूर्ण नहीं है, किन्तु श्रीविग्रहकी ओर पैर करके कदापि नहीं सोना चाहिए। सोना या नींद लेना, मस्तिष्कको आराम देनेकी एक प्रक्रिया है परन्तु तामसिक वृत्ति है। संक्षेपमें सभी प्रकारके तामसिक क्रियाकलाप श्रीविग्रहकी उपस्थितिमें सेवा अपराधके अंग हैं। अपने आराध्यके सामने सोना उनकी उपेक्षा करना तथा उनके अस्तित्व या

उपस्थितिको नकारना ही है।

### *१०. असत्य बोलना*

पारस्परिक विवादोंके अंतिम हलके लिये अनेक बार साधक लोग या सामान्य जन भगवानके श्रीविग्रहके समक्ष साक्ष्य कराते हैं। ये दोनों ही प्रकारके लोग सेवा अपराधी होते हैं। प्रथम तो इस प्रकारके विवादोंको परस्पर ही सुलझा लेना चाहिए। यदि भगवानके श्रीविग्रहके सामने ही साक्ष्य देना अपरिहार्य हो जाये तो दोनोंमें से किसी भी पक्षको असत्य नहीं बोलना चाहिए। भगवान तो सर्व अन्तर्यामी हैं उनसे कुछ भी छिपा सकना कदापि सम्भव नहीं है। अतएव श्रीविग्रहके सामने हास-परिहास-व्यंग एवं सहजरूपमें भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्ताको हास-परिहास और असत्य भाषणका केन्द्र नहीं बनाना चाहिये। ऐसा करना उनमें अविश्वासका ही प्रतीक है।

### *११. सांसारिक विषय वासनाओंकी वार्त्ता करना*

श्रीविग्रहके पट बंद हों या खुले हों, साधकों और सामान्य जनको उस स्थल पर सांसारिक विषय वासनाकी वार्त्ता करना सर्वथा वर्जित है। क्योंकि साधकोंको प्रजल्प तो करना ही नहीं है, उसमें भी जहाँ श्रीविग्रह विराजित हैं, वहाँपर विषय भोग करना या उससे सम्बन्धित वार्त्ता साधकके भक्ति भावको क्षीणकर अनर्थमें वृद्धिकर उसे साधनासे पतित कर देता है। विशेषकर वैरागी साधकोंको (गृही भक्त भी वैराग्यके अभावमें भक्ति-सीढ़ियोंपर नहीं चढ़ सकते परन्तु विषय भोग उनके लिये कुछ सीमा तक ग्राह्य है) तो विषय चर्चासे सदैव सावधान रहना चाहिए चाहिए तथा न तो स्वयं श्रीविग्रहके समक्ष सांसारिक विषय भोगोंकी चर्चा करनी चाहिए और न ही दूसरोंको करने देना चाहिए।

### *१२. सांसारिक दुःखोंको रोना*

इस भोग एवं कर्म प्रधान भूलोकमें प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मोंके फलस्वरूप दैविक, दैहिक तथा भौतिक दुःखोंको भोग रहे हैं। इनके लिये कोई और उत्तरदायी नहीं है बल्कि वह स्वयं है। भगवानके समीप दुःखोंका रोना रोनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके कर्मफल विधानमें आपका विश्वास नहीं है। सदैव सब स्थितियोंमें उनकी कृपाका अनुभव करते हुए प्रसन्न मनसे उनकी सेवा पूजा नामजप आदि तल्लीनतासे करते रहनेमें ही भक्तिके अंगोंका पालन सम्भव है। आप कितने दुःखी हैं और किस कर्मका फल आप भोग रहे हैं, यह सब वे जानते हैं। अतएव माननीया कुन्तीदेवीकी तरह सदैव दुःखोंकी प्रार्थना करनी चाहिए न कि दुःखोंका रोना रोना। श्रीविग्रहके सामने दुखोंका रोना रोनेसे भक्तिभावमें न्यूनता आती है तथा भगवानमें विश्वास गिरनेसे सेवा अपराध हो जाता है। अतः प्रत्येक स्थितिमें प्रसन्न रहकर कृष्ण नामका जप करना चाहिए।

### *१३. जोर-जोर से बोलना*

प्रायः देखा गया है कि कुछ साधक अपनी साधनाका घमण्ड रखते हैं एवं पुजारी वर्ग अपनेको उन्नत होनेकी भावनासे पीड़ित होनेके कारण दूसरों पर अनुशासन प्रदर्शित करने हुए श्रीविग्रहके सामने जोर-जोरसे बोलते हैं, जो कि सेवा अपराध है। यदि कोई व्यक्ति मन्दिरमें गंदगी कर रहा है, व्यर्थकी बातें कर रहा है अथवा किसी भी प्रकारका अनुचित कार्य करता है, तो भी उसे शान्तिपूर्वक समझाना चाहिए न कि डांट-फटकार अथवा अनुशासनात्मक वचनोंसे।

### *१४. दण्ड देना*

श्रीविग्रहके समक्ष किसी अपराधीको दण्ड देना शास्त्रीय सेवा अपराध है। श्रीविग्रह और विग्रही एक ही तत्व होनेसे किसीको भी किसी मनुष्य या जीवको उनके समक्ष दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। मन्त्रदाता गुरुदेव अपने शिष्यको दण्ड देनेमें समर्थ हैं। उनके लिये इस प्रकारका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अन्य संत वैष्णव व भक्तोंको किसी

मनुष्यको दण्ड देनेका अधिकार प्राप्त नहीं है। श्रीहरि ही एकमात्र अखिल कोटि ब्रह्माण्डोंके दण्डाधीश हैं। वे उस अपराधीको उचित समय पर स्वयं दण्डका विधान करेंगे। यदि श्रीविग्रहके समक्ष दण्ड देना आवश्यक हो तो अपराधीको श्रीविग्रहके समक्ष अनेक बार प्रणाम करने, दस से एक हजार माला तक 'हरे कृष्ण' महामन्त्रका जप करने सम्बन्धी दण्ड दिया जा सकता—शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण नाम जपसे तथा श्रीविग्रहको प्रणामसे अनेकों जन्मोंके अपराधोंका फल क्षय हो जाता है। वैसे भी नामजप व प्रणाम आदि साधन भक्तिके अंग हैं। साधकोंको चाहिए कि वे स्वयं भी अपराध घटित होनेपर स्वयंको उक्त विधिसे दण्डित करें।

### १५. *कठोर वचन बोलना*

किसी भी साधक भक्त या साधारण जनको श्रीविग्रह तथा श्रीगुरुदेवके सान्निध्यमें किसी अन्य मनुष्यको कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए। इससे एक प्रकारकी मानसिक हिंसा उत्पन्न होती है। साधक द्वेष एवं क्रोधके वशीभूत हो जाता है जिस कारण उसका चित्त भगवत् चिंतनसे हटकर बदलेकी भावनासे उद्विग्न रहने लगता है। सामान्य जीवनमें भी किसीके प्रति कलुष एवं कठोर वचन मान प्रतिष्ठामें कमी लाते हैं तथा विवाद ओर विपदाओंको खुला निमंत्रण देते हैं। श्रील रूप गोस्वामी पादने वाचो वेगंके द्वारा तथा अनेक प्रकारसे क्रोध नहीं करनेके लिये प्रचुर सावधान किया है।

### १६. *लड़ाई झगड़ा करना*

यह सेवा अपराध—कठोर बचन बोलनेका ही प्रतिरूप है। परन्तु इसमें द्विपक्षीय वाद प्रतिवाद चलता है। अतएव 'क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं" का पालन करनेके लिये सदैव लड़ाई-झगड़े, वाद-विवादमें समय नष्ट न करके शान्त रहकर श्रीकृष्ण नामका जप करनेसे सभी समस्याएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। विवादसे अशान्ति पैदा होती है तथा साधन भजनका समय विवादका हल खोजने या प्रतिपक्षसे बदला लेनेकी योजनाओंमें ही निकल जाता है। अनेक बार छोटा-सा विवाद विराट रूप धारण कर लेता है। अतएव साधकोंको सभी प्रकारके विवादोंसे बचना चाहिए। अनेक बार विवाद मात्र प्रतिष्ठाका विषय बनकर रह जाता है। जब हमने अपना सब कुछ श्रीगुरुदेव एवं श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया है एवं संसारके विषय सम्बन्धोंकी ओर जानेवाले पथको श्रीकृष्णकी ओर मोड़ दिया है फिर कौनसे स्वार्थ अपने लिये शेष बचे रहे।

### १७. *किसी पर कृपा करना*

थोड़ा सा भजन साधन करने पर या कुछ अज्ञानी लोगों द्वारा सम्मान देनेपर लोग अपनेको सिद्ध संत समझने लगते हैं अथवा किसीको आशीर्वाद देनेपर उसकी कार्यसिद्धि हो जानेपर ऐसा समझते हैं कि मैं सिद्ध हो गया हूँ। भगवानको मैंने पा लिया है, मैं किसीको भी वरदान दे सकता हूँ, किसी पर कृपा कर सकता हूँ—इस प्रकारकी भावना कुछ समयमें उसे साधनासे पतित कर देती है। अनेक साधु महात्माओं थोड़ीसी भिक्षाके बदलेमें सात पीढ़ियों तक फलने फूलनेका आशीर्वाद देते देखा जाता है। इस प्रकार वे अपने भजन बल तथा वाणीकी सत्यताको नष्ट करते हैं। कुछ समयके अंतराल पर केवल वेश और सिर पर कृपाका हाथ एवं उसके चारों ओर गत प्रतिष्ठाको बनाये रखनेके लिये आडम्बरों और ढ़ोंगोकी दीवार भर रह जाती है। यदि कहना ही है तो इतना कहो—श्रीश्यामसुन्दर आप पर कृपा करें कि आपकी प्रीति अहर्निश उनके श्रीचरणोंमें बढ़े—कोई सांसारिक उपलब्धियोंका प्रलाप न करें। श्रीविग्रहके सामने तो किसीको आशीर्वाद देना (मन्त्रदाता श्रीगुरुदेवको छोड़कर) ही भयंकर सेवापराध है।

### १८. *कम्बल ओढ़कर सेवा करना*

मन्दिरके पुजारियोंको गर्भ मन्दिरमें जाते समय शीतका प्रतिकार करनेके लिये कम्बल आदिका उपयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना सेवापराध

है। क्योंकि भोगमें अथवा अन्यान्य पूजाकी सामग्रियोंमें कम्बलके लोम गिरनेकी सम्भावना रहती है।

### १९. *श्रीविग्रहको नीरस भोग अर्पण करना*

सेवाके लिये पर्याप्त धन या अर्थ उपलब्ध रहनेकी तो बात ही क्या है, अभावकी स्थितिमें भी बासी, दुर्गन्धयुक्त, सड़ा गला, रसहीन, चिकनाई रहित, अति उष्ण, अधिक मिर्च मसाले, तुलसी दल रहित पदार्थोंका भोग श्रीविग्रहको अर्पण नहीं करना चाहिए। सामान्य जन भी जब इस प्रकारके भोज्य पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं तब श्रीहरिको अर्पण करना तो अपराध है। अभावकी स्थितिमें अल्प मात्रामें ही हो शुद्ध एवं सात्विक वस्तु ही भोगमें देनी चाहिए। किन्तु कथित श्रेणीके पदार्थ अर्पण नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त अभावकी स्थितिमें (क्षमता न रहने पर) मानसिक भोग भी अर्पण किया जा सकता है। यद्यपि श्रीगीताजीमें भगवान श्रीकृष्णने कहा है कि मेरा भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल अथवा केवल जल भी मुझे अर्पण करता है तो मैं उसे प्रेमसे ग्रहण करता हूँ। यह तो भगवानका औदार्य है।

### २०. *भगवानको अर्पण किये बिना खाना*

जो साधक भक्त हैं, जिन्होंने अपना सब कुछ श्रीहरिको समर्पित कर दिया है, उन्हें चाहिए कि वे भगवानको अर्पित किये बिना कोई भी पदार्थ ग्रहण न करें। शास्त्रोंमें उल्लेख है कि जो पदार्थ भगवानको अर्पित नहीं किया है उसे खाना, मलमूत्र भक्षणके समान है। साधक जब अपने आराध्यको अर्पणकर उनका प्रसाद ग्रहण करता है तो वह पदार्थ साधारण पदार्थ नहीं रहता है। भगवानके द्वारा ग्रहण किये जानेसे वह दिव्य हो जाता है। भगवान कृपाकर अपना उच्छिष्ट अपने सेवकको प्रदान करते हैं ताकि उसके संचित अनर्थोंकी निवृत्ति हो तथा उसका हृदय शुद्ध होकर उसमें उनकी शुद्धा भक्तिका उदय हो। साधारण लोग ऐसा समझते हैं कि हम जितना अर्पण करते हैं, उतना ही तो रहता है कम नहीं होता? स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है। परन्तु भगवान पूर्ण है उनकी क्रियाएँ भी पूर्ण है। कोटि-कोटि जीव उन्हींके अंश हैं, फिर भी वे पूर्ण हैं। संसारके क्षय होनेवाले पदार्थोंकी तरह वे नाशवान नहीं हैं। श्रीगीताजीमें स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, मूढ़ लोग मुझे जन्मने व मरनेवाला समझते हैं यथा—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*
*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।*

(गीता ४/९)

उक्त उदाहरणसे स्पष्ट होता है कि श्रीभगवानकी समस्त क्रियाएँ दिव्य हैं। उनकी मनुष्योंकी भांति नाशवान स्थिति नहीं है। वे कृपाकर भोज्य पदार्थको उतनाका उतना ही लौटा देते हैं। वे पूर्ण हैं उनकी क्रियाएँ भी पूर्ण है। अतएव श्रीकृष्ण भगवानको अर्पण किये बिना कुछ भी खाना सेवापराध है।

### २१. *सम्पूर्ण वस्तुमें से किसीको कुछ देकर शेषका भोग लगाना*

ऐसा भी देखनेमें आता है कि साधकवर्ग सेवाके लिये प्राप्त या सुलभकी गयी भोग्य वस्तुमें से कुछ भाग किसी अन्यको दे कर तथा शेषका भगवानको भोग लगा देते हैं, ऐसा करना सेवा अपराधका अंग है। भगवानको प्रथम तो सम्पूर्ण पदार्थ अर्पण करना चाहिए। यदि किन्हीं परिस्थितियोंमें ऐसा करना सम्भव न हो तो भी सम्पूर्णमेंसे कुछका भोग लगाने से पहले अन्यको भोजन हेतु नहीं देना चाहिए, अपितु भोग अर्पणके पश्चात् श्रीभगवानके ग्रहणके उपरान्त प्रसादको अनर्पित शेष सामग्रीमें मिला देना चाहिए। किन्तु किसी भी स्थितिमें बिना भोग अर्पित वस्तु अन्य किसीको नहीं देनी चाहिए।

### २२. *भगवानके श्रीविग्रहको सामान्य मानना*

अधिकांश लोग इस धारणाके शिकार हैं कि भगवान तो खाते नहीं हैं, उनके सामने नाममात्रको

रखना पड़ता है। इस प्रकारकी औपचारिकता ढोंग मात्र तथा समयकी बरवादी है। इस प्रकारकी धारणा नास्तिक, मायावादी तथा अनार्य लोगोंमें ही संभव है। जिनका यह दृढ़ विश्वास है कि श्रीहरि कण कणमें व्याप्त हैं, उनका यह भी विश्वास सुनिश्चित होना चाहिए कि जब वे कण कणमें हैं तो इस विग्रहमें भी हैं। श्रीनृसिंह भगवानके अवतार से इस धारणाकी पुष्टि होती है। जो अपने पिताको पिता न कहकर अपनी माताके चरित्र पर भी शंकाकर स्वयंकी उत्पत्तिको भी नाजायज समझते हैं, ऐसे पशुओंके लिये माता–पिता, शास्त्र, संत किसीका महत्व नहीं है। प्रत्येक भगवद् विश्वासीको श्रीविग्रह तथा विग्रहीमें भेद न मानकर प्रत्येक भोज्य, पेय, चुष्य और लेह्य पदार्थ (शाकाहारी) को भगवानको अर्पित कर ही ग्रहण करना चाहिए। संतों और शास्त्रोंकी यही आज्ञा है। श्रीविग्रहको श्रीहरिका ही स्वरूप मानना चाहिए।

### *२३. मौसमी फलों तथा सब्जियोंको अर्पित न करना*

सभी मौसमों (सर्दी गर्मी वर्षा) तथा छः ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाली सभी सब्जियों एवं फलोंको श्रीभगवानको अर्पित करना चाहिए ऐसा न करना उनके प्रति अपराध हैं। वे ही इस समस्त चराचर जगतके अधिकारी हैं। जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, वह सब उनके सत्य संकल्पका ही फल है। उनकी इच्छाके बिना कुछ भी उत्पन्न होना असंभव है। उसके स्वामीको अर्पित न कर स्वयं खाना एक प्रकारकी चोरी है। ❑

# *गिलहरीका सेतुबन्धन*

जिस समय श्रीरामचन्द्र सीताजीके उद्धारके लिए समुद्रके ऊपर सेतुबन्धन कर रहे थे, उस समय एक क्षुद्र गिलहरी भी यथाशक्ति उनके इस कार्यमें सहायता कर रही थी। गिलहरीकी यह सेवा अतिनराण्य होनेपर भी इससे आनुकूल्य सेवा होनेके कारण श्रीरामचन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट हुए थे।

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' इसके द्वारा शिक्षा देते कि जीव द्वारा सद्गुरु और शुद्धवैष्णवोंके अनुगत होकर निष्कपट होकर श्रीचैतन्य देवके नाम और प्रेम–प्रचार कार्यमें आत्मनियोगकर यथाशक्ति आचार और प्रचार करनेपर बाह्य दृष्टिसे अतिसामान्य प्रतीत होनेपर भी इससे श्रीमन्महाप्रभु और उनके भक्तोंका सन्तोष विधान होता है। सभी लोगोंकी समवेत क्षुद्र चेष्टाके द्वारा एक लोकहितकर महत्कार्य सम्पादित हो सकता है।

सेतुबन्धन कार्यमें पाषण्ड–दलन और शुद्ध भक्तिका उद्धार—ये दो कार्य दीख पड़ते हैं। रावणके आदर्शका पालन करते हुए भोगी और त्यागी सम्प्रदाय, निर्विशेषवादी सम्प्रदाय आदि शुद्ध भक्तिको हरण करनेकी चेष्टा करते हैं। वस्तुतः शुद्ध भक्तिका अपलाप करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। पाषण्डताका दलनकर शुद्ध भक्तिका प्रकृत स्वरूप जगतमें प्रकाश करना ही श्रीरामभक्तका कार्य है। हनुमान रामभक्तोंमें अग्रणी हैं। उनके आदर्शका अनुसरण कर गिलहरीने भी अतिसामन्य शक्ति द्वारा निष्कपट रूपसे सेतुबन्धनमें जी सहायताकी थी, उसे भी श्रीरामचन्द्रने सन्तोषपूर्वक स्वीकार किया था। जिस प्रकार रामभक्तोंमें अग्रणी, श्रेष्ठ और प्रियतम सेवक श्रीहनुमान हैं, उसी प्रकार श्रीचैतन्यदेवके सेवाकार्यमें जो अपनी शक्तिके अनुसार निष्कपट रूपसे जितनी भी सहायता करते हैं, अतिसामान्य होनेपर भी उसके द्वारा ही उनका मंगल होगा, जगतका मंगल होगा और भगवानका सन्तोष–विधान होगा। ❑

# शरणागति

दैन्य—दुःखात्मक (वाचिक)

[विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

*आकर इस संसार में भूला तुमको नाथ।*
*नानाविधि पाई व्यथा शोक–दुःख के साथ।।*
*आया हूँ तव श्रीचरण–सेवा में भगवान।*
*अपने दुःखों की कथा कहता हूँ धर ध्यान।।*
*मातृगर्भ में जब रहा बँधकर बन्धन पाश।*
*तब दर्शन तुमने दिया किया मोह का नाश।।*
*फिर वञ्चित उससे किया दीन दास को हाय।*
*मैंने सोचा, जन्म ले भजन करूँगा जाय।।*
*जन्म हुआ, तब मैं पड़ा माया के भ्रमजाल।*
*ज्ञान तुम्हारा लेश भी रहा नहीं उस काल।।*
*स्वजनों ने सादर किया लालन–पालन नाथ।*
*मैंने समय बिता दिया हँसी–खुशी के साथ।।*
*मातापिता के स्नेह में भूल गया तव भक्ति।*
*भला लगा संसार यह बढ़ी सतत अनुरक्ति।।*
*क्रम से बढ़कर बाल मैं बालकगण के सङ्ग।*
*लगा खेलने खेल बहु मन में बढ़ी उमङ्ग।।*
*बीते कुछ दिन और, तब ज्ञान हुआ उत्पन्न।*
*पढ़ने–लिखने में लगा, हुआ बहुत व्युत्पन्न।।*
*विद्या का गौरव लिये घूमा देश–विदेश।*
*किया उपार्जन द्रव्य का हो एकाग्र विशेष।।*
*स्वजनों का पालन किया, भूला तुमको नाथ।*
*अब पछताता हूँ प्रभो! बड़े दुःख के साथ।।*
*वृद्ध हुआ व्याकुल महा रोता भक्तिविनोद।*
*क्या करना था, क्या किया, महामूढ़ता मोद।।*
*भजन किया प्रभु का नहीं, आयु गई सब व्यर्थ।*
*अब क्या गति होगी अहो! हूँ सब विधि असमर्थ।।*

* * *

*श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।*
*अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।*
*इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।*
*क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।।*

जो स्वयं भगवान् श्रीविष्णुके प्रति आत्मसमर्पणपूर्वक ज्ञान, कर्म, योग आदि व्यवधानोंसे रहित होकर तद्विषयक श्रवण, उन्हींका कीर्त्तन, उनके नामरूप आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा–अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नौ प्रकारकी भक्ति करते हैं, उन्होंने ही उत्तमरूपसे शास्त्र अध्ययन किया है—ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उनका ही शास्त्रानुशीलन सार्थक हुआ है।।

*श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने*
*प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।*
*अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः*
*सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्।।*

राजा परीक्षित श्रीविष्णुकी कथा श्रवणसे, शुकदेव उनके कीर्त्तनसे, प्रह्लाद उनके स्मरणसे, लक्ष्मी पादसेवनसे, पृथु महाराज उनके पूजनसे, अक्रूर वन्दनासे, कपिपति हनुमान दास्यसे, अर्जुन उनके साथ सखा भावसे एवं बलि उनके चरणोंमें सर्वस्व दान और आत्मनिवेदन द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं।।

## वैष्णव व्रत तालिका

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ फाल्गुन | १४ फरवरी | सोमवार | श्रीमन्मध्वाचार्यजीका तिरोभाव। |
| ३ फाल्गुन | १६ फरवरी | बुधवार | भैमी एकादशी व्रत एवं वराह द्वादशी व्रत, अगले दिन श्रीवराहदेवके अर्चनके पश्चात् ९–५८ से पहले पारण। |
| ४ फाल्गुन | १७ फरवरी | बृहस्पतिवार | श्रीनित्यानन्द त्रयोदशी, अगले दिन ९–५८ से पहले पारण। |
| ६ फाल्गुन | १९ फरवरी | शनिवार | पूर्णिमा। |
| ९ फाल्गुन | २२ फरवरी | मंगलवार | *श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद् भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीकी १०२ तम आविर्भाव तिथिपूजा, श्रीव्यासपूजा।* |
| ११ फाल्गुन | २४ फरवरी | बृहस्पतिवार | *श्रील सरस्वती गोस्वामी ठाकुर प्रभुपादजीकी आविर्भाव तिथिपूजा।* |
| १८ फाल्गुन | २ मार्च | बृहस्पतिवार | व्यञ्जुलि महाद्वादशी व्रत, अगले दिन ७–४३ से पहले पारण। |
| २१ फाल्गुन | ५ मार्च | रविवार | श्रीशिवरात्रि व्रत, अगले दिन ९–५८ से पहले पारण। |
| २३ फाल्गुन | ७ मार्च | मंगलवार | श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज एवं श्रीलरसिकानन्द प्रभुका तिरोभाव। |
| १ चैत्र | १५ मार्च | बुधवार | श्रीनवद्वीप धाम परिक्रमाका प्रथम दिवस। |
| २ चैत्र | १६ मार्च | बृहस्पतिवार | आमलकी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–४६ से पहले पारण। |

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

# श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४३ } श्रीगौराब्द ५१३ वि. सं. २०५६ फाल्गुन मास, सन् २०००, २० फरवरी — २० मार्च { संख्या १२

# श्रीनवद्वीपाष्टकम्

*(श्रीरूप गोस्वामी विरचित)*

*श्रीगौडदेशे सुरदीर्घिकायास्तीरेऽतिरम्ये इह पुण्यमय्याः।*
*लसन्तमानन्दभरेण नित्यं, तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।१।।*

श्रीगौड़देशमें पुण्यतोया भगवती–भागीरथीके सुरम्य तटपर सदा–सर्वदा परमानन्दपूर्वक विराजमान श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य–निरन्तर स्मरण करता हूँ।।१।।

*यस्मै परव्योम वदन्ति केचित्, केचिच्च गोलोक इतीरयन्ति।*
*वदन्ति वृन्दावनमेव तज्ज्ञास्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।२।।*

जिनको कोई–कोई परव्योम–वैकुण्ठ, कोई–कोई गोलोक एवं तत्त्वज्ञजन श्रीवृन्दावनके रूपमें जानते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।२।।

*यः सर्व–दिक्षु स्फुरितैः सुशीतै–,*
*नानाद्रुमैः सूपवनैः परीतः।*
*श्रीगौर–मध्याह्न–विहार–पात्रै–,*
*स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।३।।*

जहाँ चतुर्दिक प्रकाशमान शीतल मन्द एवं सुगन्धित पवन प्रवाहित होता रहता है, जो धाम अपने नाना प्रकारके हरे–भरे पुष्पित वृक्षोंसे सुशोभित रहकर श्रीगौरसुन्दरके मध्याह्न विहारके लिए सुयोग दान करते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।३।।

*श्रीस्वर्णदी यत्र विहार–भूमिः,*
*सुवर्ण–सोपान–निबद्ध–तीरा।*
*व्याप्तोर्मिभिर्गौर–वगाह–रूपै–,*
*स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।४।।*

जहाँ भगवती–भागीरथी परमानन्दसे उल्लसित होकर अपनी तरंग–मालाओंसे विहार करती हैं, जिनका तटप्रदेश सुवर्ण–सोपानोंसे परिबद्ध है, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।४।।

*महान्त्यनन्तानि गृहाणि यत्र,*
*स्फुरन्ति हैमानि मनोहराणि।*
*प्रत्यालयं यं श्रयते सदा श्री–,*
*स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।५।।*

जहाँ सुवर्णमय अगणित देदीप्यमान सुन्दर–सुन्दर अट्टालिकाएँ विद्यमान हैं, जहाँ श्रीलक्ष्मीदेवी प्रत्येक गृहमें अधिष्ठित हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।५।।

*विद्या–दया क्षान्ति–मखैः समस्तैः,*
*सद्भिर्गुणैर्यत्र जनाः प्रपन्नाः।*
*संस्तूयमाना ऋषि–देव–सिद्धै–,*
*स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।६।।*

जहाँके सभी निवासी विद्या, दया, क्षमा, यज्ञ आदि सर्व सद्गुणोंसे विभूषित होते हैं, ऋषि–महर्षि, देवता और सिद्धगण भी जिनकी स्तुति करते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।६।।

*यस्यान्तरे मिश्र–पुरन्दरस्य,*
*स्वानन्द–साम्यैकपदं निवासः।*
*श्रीगौर–जन्मादिक–लीलयाढ्य–,*
*स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।७।।*

जिनके मध्यस्थलमें श्रीश्रीगौरसुन्दरकी जन्म–लीला सम्पन्न होती है और जहाँ एकमात्र स्वानन्दलभ्य श्रीजगन्नाथ मिश्रका भवन विद्यमान है, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।७।।

*गौरो भ्रमन् यत्र हरिः स्वभक्तैः,*
*सङ्कीर्तन–प्रेम–भरेण सर्वम्।*
*निमज्जयत्युज्वल–भाव–सिन्धौ,*
*तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।८।।*

जहाँ पर श्रीगौरहरिने भक्त–मण्डलीके साथ भ्रमण करते हुए प्रेममय उच्च संकीर्तनके माध्यमसे सबको उन्नतोज्ज्वल भाव–समुद्रमें निमग्न कर दिया था, मैं उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।८।।

*एतन्नवद्वीप–विचिन्तनाढ्यं,*
*पद्याष्टकं प्रीतमनाः पठेद् यः।*
*श्रीमच्छचीनन्दन–पादपद्मे,*
*सुदुर्लभं प्रेम समाप्नुयात् सः।।९।।*

जो लोग श्रीनवद्वीप धामके सुचिन्तापूर्ण इस पुनीत पद्याष्टकका प्रीतिपूर्वक पाठ करते हैं, वे श्रीशचीनन्दनके चरण–कमलोंमें सुदुर्लभ प्रेमरत्न लाभ करते हैं।।९।। ❑

# संत (सज्जन) के लक्षण

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

### कृष्णैकशरण—१२

वैष्णवोंके जो २६ गुण बतलाये गये हैं, उनमें कृष्णैकशरणके अतिरिक्त २५ गुण तटस्थरूपमें अवस्थित रहते हैं और कृष्णैकशरण ही स्वरूप अर्थात् मुख्य गुण है। जिनमें कृष्णैकशरण-गुणका अभाव है, उनमें दूसरे २५ गुण सम्भव नहीं हैं। अथवा दूसरे २५ गुण लक्षित होनेपर भी कृष्णैकशरण-गुणके अभावमें वे नित्य रूपमें अवस्थित नहीं रह सकते। परन्तु कृष्णैकशरण-गुण रहनेसे दूसरे-दूसरे २५ गुण उसके पीछे-पीछे स्वयं उदित हो पड़ते हैं।

### शरण कौन हैं?

सज्जन ही एकमात्र कृष्णैकशरण होते हैं। श्रीकृष्ण परमेश्वर-तत्त्वके मूल हैं; उनसे ही श्रीबलदेव प्रभु, वासुदेव, संकर्षण आदि चतुर्व्यूह, तीन पुरुषावतार और नैमित्तिक अवतार-समूह प्रकाशित हुए हैं। तीनों पुरुषावतारोंका तत्त्व जान लेने पर जीव मायिक संसारसे सम्पूर्णरूपसे छुटकारा पा लेता है एवं वैकुण्ठवस्तुकी मायासे अतीतताकी उपलब्धि कर नित्यदास्य ही उसका धर्म है—इसे समझ जाता है। सर्वाश्रय, सच्चिदानन्द-विग्रह अनादि, सर्वादि, सर्वकारण-कारण वे कृष्णचन्द्र ही जीवके एकमात्र शरण्य हैं। उनसे विच्छिन्न होनेपर जीवकी कोई दूसरी गति नहीं है।

### कृष्णैकशरण कौन हैं?

जो जीव कृष्णकी शरण छोड़कर मायावाद, कर्म-काण्ड और छल-भक्तिमें अपना समय गँवाते हैं, वे कृष्णैकशरण नहीं हो सकते। केवलमात्र मुँहसे कृष्णैकशरण कहनेसे ही कृष्ण-विमुखता दूर नहीं होती। अकिञ्चन जीव ही कृष्णैकशरण हैं। अकिञ्चन कहनेसे मायावादी अथवा कर्मकाण्डी संन्यासी या प्राकृत दरिद्रताका बोध नहीं होता। जो ऐसा समझते हैं, वे भ्रममें हैं।

शरणागत और अकिञ्चनका एकमात्र लक्षण है—कृष्णसेवा-तात्पर्यमय होना। कृष्णैकशरण होनेपर जीव समस्त प्रकारकी मायिक प्रतिष्ठाके प्रति उदासीन हो जाता है। उस प्रतिष्ठाको वरण करना तो दूर रहे वह उसके डरसे उस प्रतिष्ठाको छोड़कर भाग जाता है। जिनमें वर्णाश्रम धर्म प्रबल है, वे अकिञ्चन या शरणागत नहीं हो सकते। समस्त प्रकारके धर्मोंका परित्याग कर केवलमात्र कृष्णके शरणागत होनेपर ही कृष्णैकशरण कहा जा सकता है।

### शरणागतिके लक्षण

शरणागतिके छः लक्षण होते हैं—

(१) अनुकूलताका संकल्प,
(२) प्रतिकूलताका वर्जन,
(३) कृष्ण ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास।
(४) कृष्णको अपने पालकके रूपमें वरण करना।
(५) कृष्णको आत्म-समर्पण कर उनकी सेवाके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी चेष्टाओंसे रहित होना।
(६) समस्त प्रकारके जड़ीय अभिमानोंका परित्यागकर अपनेमें दीन-हीन बुद्धि।

इन छः लक्षणोंसे युक्त होकर सज्जन पुरुष कृष्णके निकट आत्म-समर्पण करते हैं।

### छल-भक्त कपट, हिंसक, मत्सर और परनिन्दुक होते हैं

कृष्णैकशरण सज्जनवृन्द कृष्णके अतिरिक्त

दूसरे किसीकी भी शरण नहीं लते। वे दूसरोंकी निन्दा नहीं करते, बेमतलब तीव्र प्रतिवाद नहीं करते, ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते। ये दुर्गुण-समूह दुर्जनोंकी ही सम्पत्ति हैं।

भगवान और भक्तजनोंके प्रति द्वेष करना ही असाधु व्यक्तिका स्वाभाविक धर्म है, यह कृष्णैकशरणता नहीं, प्रत्युत् कृष्णविमुखता है। सौभाग्यवश छलभक्त यदि कृष्णैकशरण हो पड़ते हैं तब उस समय वे हरि-गुरु-वैष्णवोंके प्रति द्रोहाचरणके कुफलकी उपलब्धि करते हैं और अवैष्णव-प्रवृत्तियोंका शीघ्र ही त्याग कर देते हैं। हरि-विमुख जीवोंके लिये कृष्णैकशरणता अति दुर्लभ होनेपर भी सत्संग द्वारा सुलभ हो सकती है। वे मत्सरता और कपटता छोड़कर सत्संगका सेवन करते-करते क्रमशः उन्नतिके पथ पर अग्रसर होते जाते हैं। ❑

# मर्कट वैरागी

*—ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर*

### *श्रीरघुनाथके लिए श्रीमहाप्रभुकी शिक्षा*

श्रीश्रीमन्महाप्रभु संन्यास लेकर जब शान्तिपुर पधारे थे, तब गोवर्धन मजुमदारके पुत्र श्रीरघुनाथदास वहाँ पर प्रभुके चरणोंमें उपस्थित हुए और पाँच-सात दिन प्रभुके चरणोंमें रहकर फिर आदेश लेकर घर लौट गए। परन्तु घरपर उनका मन न लगा। वे श्रीमन्महाप्रभुके विरहमें दिन-रात तड़पते। उनके हृदयमें श्रीपुरीधाममें महाप्रभुजीके निकट जानेकी तीव्र इच्छा हुई। परन्तु माता-पिताने उन्हें जाने नहीं दिया। फिरसे जब प्रभु शान्तिपुर आए, तब वे माता-पिताकी आज्ञा लेकर प्रभुके चरणोंमें पुनः उपस्थित हुए और संसार-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त करनेकी प्रार्थना करने लगे। प्रभुने तब उन्हें यह उपदेश दिया—

*स्थिर हञा घर जाओ, ना हओ बातुल।*
*क्रमे-क्रमे पाय लोक भवसिन्धुकूल।।*
*मर्कट-वैराग्य ना करो लोक देखाञा।*
*यथा योग्य विषय भुञ्जो अनासक्त हञा।।*
*अन्तरे निष्ठा कर बाह्ये लोक-व्यवहार।*
*अचिरात् कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार।।*

(चै. च. म. १६/२३७-२३९)

पागलपन न करो, अभी मनको स्थिर करके घर लौट जाओ, धीरे-धीरे ही लोग संसार सागरके पार उतरते हैं। लोगोंको दिखानेके लिए बन्दरोंकी तरह मर्कट-वैराग्यका आचरण न करो, आसक्ति-रहित होकर केवल शरीरकी रक्षाके लिए ही विषयोंको ग्रहण करो। हृदयके अन्दर निष्ठा रखो और लौकिक व्यवहार ठीक-ठीक निभाओ, शीघ्र ही कृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे।

### *श्रीरघुनाथका घर लौटना और विषयीकी तरह अपने भावको दिखाना*

पुनः चरितामृतके अन्त्य खण्ड छठे अध्यायमें लिखा है—

*प्रभुर शिक्षाते तेहों निज घरे जाय।*
*मर्कट-वैराग्य छाड़ि हैला 'विषयीप्राय'।।*
*भितरे वैराग्य बाहिरे करे सर्व कर्म।*
*देखिया त माता-पितार आनन्दित मन।।*

(चै. च. अ. ६/१४-१५)

—प्रभुकी शिक्षा पाकर वे अपने घर लौट गए और मर्कट वैराग्य (देखावटी वैराग्य) का त्यागकर साधारण लोगोंकी तरह व्यवहार करने लगे, रघुनाथदासकी वैसी दशा देखकर उनके माता-पिता बड़े आनन्दित हुए।

श्रीचरितामृत अन्तिम खन्डके दूसरे अध्यायमें

छोटे हरिदासके सम्बन्धमें लिखा है—

*प्रभु कहे–"वैरागी करे प्रकृति सम्भाषण।*
*देखिते ना पारो आमि ताहार वदन।।*
*दुर्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण।*
*दारु-प्रकृति हरे मुनेरपि मन।।*
*क्षुद्र जीव सब मर्कट वैराग्य करिया।*
*इन्द्रिया चराञा बुले 'प्रकृति-सम्भाषिया'।।*
*प्रभु कहे मोर वश नहे मोर मन।*
*प्रकृति सम्भाषी वैरागी ना करे स्पर्शन।।*

(चै. च. अ. १/१७-१८, १२०, ११४)

—प्रभु कहते हैं—वैराग्य-वेश लेकर जो (भोगबुद्धिसे) स्त्री सम्भाषण करते हैं, मैं उनका मुँह नहीं देख सकता। उनकी अंसयत इन्द्रियाँ सदा विषय-भोगकी ओर ही स्वाभाविक रूपसे छूटती रहती हैं। काठकी नारी-मूर्ति मुनियोंके मनका भी हरण कर लेती है। असंयतेन्द्रिय क्षुद्रजीव-समूह दिखावटी मर्कट-वैराग्यका अवलम्बन करते हैं और स्त्रियोंसे अवैध संभाषणकर अपनी इन्द्रियोंको विषय भोगोंकी ओर ही लगाते हैं। ऐसे स्त्री सम्भाषणकारी व्यक्तियोंको मेरा मन कदापि स्पर्श नहीं कर सकता है। मैं क्या करूँ, मेरा मन मेरे अधीन नहीं। मैं विवश होकर ऐसा कर रहा हूँ।

### *मर्कट-वैरागी अपराधी हैं, पतित हैं और श्रीमहाप्रभुकी कृपासे वंचित हैं*

इन पदोंमें मर्कट-वैरागी शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है इसका अनुसन्धान करना विशेष आवश्यक है। मर्कट वैरागी वेष धारणा करना एक भीषण अपराध है, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रीचैतन्य महाप्रभु उन्हें देखने व छूने तकके लिए भी तैयार नहीं हैं। इससे यह अच्छी तरह समझा जा सकता है, वे लोग कितने अपराधी हैं। पतितोंका उद्धार करनेके लिए ही जो दयालु प्रभु कलियुगमें अवतीर्ण हुए हैं, वे भी जिन जीवोंको मनसे भी स्पर्श करनेके लिए तैयार नहीं हैं, वे जीव कितने अधम हैं, कितने पतित हैं— बुद्धिमान सारग्रही व्यक्ति इसे भली प्रकार समझ सकते हैं। इसलिए जिनका वैष्णव धर्ममें विश्वास है, वे विशेष सावधानीके साथ मर्कट-वैरागी वेषधारीका संग छोड़ दें और अपने आप भी जिससे मर्कट-वैरागी न हो जायें, इस विषयमें सावधान हों।

### *मर्कट-वैरागी दो प्रकारके हैं-गृही और त्यागी*

जिन्होंने घर-बार छोड़कर संन्यास ग्रहण किया है। केवल उनमें ही मर्कट-वैरागी देखे जाते हैं, ऐसी बात नहीं, गृहस्थ आश्रममें भी अनेक मर्कट-वैरागी देखे जाते हैं। इसलिए मर्कट-वैरागी दो प्रकारके होते हैं—गृही मर्कट-वैरागी और त्यागी मर्कट-वैरागी। जिस समय दासगोस्वामी घरपर थे, उस समय महाप्रभुने उन्हें गृहस्थ मर्कट-वैराग्यकी ओर लक्ष्य करके उपदेश दिया था। और जब छोटे हरिदासको लक्ष्य करके उपदेश दिया था, उससमय भिक्षाके ऊपर जीवन धारण करनेवाले वैरागी वेषधारी त्यागियोंकी ओर ध्यान दिलाया था। अब हमें देखना है कि गृहस्थ आश्रममें रहनेवाले किनको मर्कट-वैरागी कह सकते हैं तथा गृह-त्यागियोंमें मर्कट-वैरागियोंके क्या लक्षण हैं?

### *गृहत्यागका अधिकार*

दिखावटी वैराग्य गृहस्थोंके लिए नितांत अहितकर होता है। बाहरसे यथोचित रूपमें विषयोंका अनासक्त होकर भोग करना तथा अन्तरमें वैराग्य-निष्ठा रखना ही गृहस्थका धर्म है। जब वैराग्य-निष्ठा पक्की हो जाती है, गृहत्यागका उपर्युक्त अधिकार और समय होता है। वे गृहस्थ व्यक्ति, जो कौपीन पहनते हैं, जटाजूट धारणा करते हैं—मर्कट-वैरागी कहे जा सकते हैं। जो विवाह कर स्त्रीके साथ रहते हैं वे गृहस्थ हैं। संन्यास किसे कहते हैं? धर्म और सज्जन पुरुषोंको साक्षी रखकर प्रतिज्ञा पूर्वक स्त्रीसंग परित्याग करनेका नाम ही संन्यास है। जब तक हृदयमें पूर्ण वैराग्यका

उदय न हो जाय, तब तक वह अधिकार नहीं होता। जब कृष्णकी लीला–कथाओंके प्रति इतनी दृढ़ आसक्ति हो जाती है कि विषय भोगोंकी ओर उसकी तनिक भी रुचि नहीं रह जाती, उसी समय गृहत्यागका अधिकार होता है।

### *भगवान कृष्णके प्रति आसक्ति ही अन्तः वैराग्यका लक्षण है*

कृष्णके प्रति आसक्ति होनेसे ही कृष्णेतर विषयोंके प्रति स्वाभाविक वैराग्य पैदा हो जाता है। ज्ञान व विचारसे भोगोंके प्रति जो अश्रद्धा पैदा होती है, वह स्थाई वैराग्य नहीं है। भगवानके चरणोंमें भक्ति होनेसे विषय–भागोंके प्रति जो उदासीनताका भाव आता है, उसे ही सहज (सच्चा) वैराग्य कहते हैं। शास्त्र विधिके अनुसार गृहस्थके स्त्री–संगको पाप–रहित कहा है।

### *असवर्ण–विवाहवाले या स्त्री–संगवाले गृहस्थ नहीं हैं*

असवर्ण–विवाहादि शास्त्र–सिद्ध नहीं हैं और उससे गृहस्थ धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। भ्रष्ट योगी अथवा अवैध स्त्री–संगीको गृहस्थ नहीं कहा जाता। गृहस्थ धर्म ही वर्णाश्रम धर्ममूलक है। असवर्ण या शास्त्र–विरुद्ध विवाहसे केवल कुछ हद तक कामना–वासनाको चरितार्थ किया जा सकता है। यदि गृहस्थ व्यक्ति वैष्णव होना चाहते हैं, तो उन्हें सावधानी पूर्वक मर्कट–वैरागका त्याग करना पड़ेगा

### *श्रीदास गोस्वामीजीके प्रति आदेश ही ग्रहण–योग्य है*

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीदास गोस्वामीजीको यथार्थ वैराग्यके उपदेश दिये थे, वे ठीक प्रभुके आदेशानुसार विषयी–प्राय व्यवहार करने लगे। अर्थात् बाहरमें पूर्ण पापरहित होकर विषय कर्म करने लगे और अन्तरमें वैराग्य भाव दृढ़ करने लगे। 'विषयी–प्राय'—शब्दका अर्थ है—विषयीकी तरह वेष, कर्म और व्यवहार ग्रहण करके भी हृदयसे अविषयी होना।

इनके पिताजीको महाप्रभु वैष्णव–प्राय कहते थे अर्थात् ऊपरसे वैष्णव वेष और सब सदाचार–शिक्षा, श्रीविग्रह अर्चन, व्रत, तीर्थ, यात्रा, अतिथि सेवा करते हुए भी उनकी संसारी विषयोंके प्रति आसक्ति थी। वैष्णव–प्राय होनेसे विषयी–प्राय होना अच्छा है। यदि वैष्णव–प्राय गृहस्थ साधुका संग करके अपनी उन्नति न करें, तो उन्हें भी मर्कट वैरागी कहा जा सकता है। वैष्णव चिह्नोंको धारण करके हम त्यागी वैष्णव हैं ऐसा जो अभिमान करते हैं, वे महाप्रभुके आदेशके विरुद्ध आचरण करते हैं। उपर्युक्त मर्कट–वैराग्यका जो लोग युक्ति–तर्क द्वारा अनुमोदन करते हैं, उनको भी महाप्रभुने मर्कट वैरागी ही माना है। गृहत्यागियोंके अन्दर कितने प्रकारके मर्कट वैरागी होते हैं, इस पर विचार करना है। भक्ति द्वारा स्वाभाविक वैराग्य जब तक हृदयमें पैदा नहीं होता, उससे पहले ही जो गृहस्थ गृहधर्म छोड़कर वैराग्य धारण करते हैं, उनकी मर्कट–वैरागी हो पड़नेकी सम्भावना अधिक होती है। किसी भी प्रकार स्त्री–प्रसंगमें पड़नेसे स्त्रियोंसे बातचीतकी वासना बढ़ती जाती है और उस वासनासे भक्तिमार्गमें बाधा पड़ जाती है। थोड़ी सी भक्ति रहने पर भी नारी–संगकी अभिलाषा दूर होते देर लगती है।

### *भक्ति–धर्म*

छोटे हरिदासको यह शरीर छूटनेपर गन्धर्वलोक प्राप्त हुआ था। भक्तिदेवीका यह स्वभाव है कि जिस हृदयमें भक्ति पैदा हो जाती है—उनके हृदयके किसी कोनेमें जरा भी अनर्थ हो, तो उस भक्तिके प्रभावसे वह मूल सहित दूर हो जाता है। साधकको पुण्य द्वारा जो भोग मिलते हैं, उन्हें भोग कराकर वैराग्य उत्पन्न करा देती है। भक्तिदेवीकी इस प्रकारकी विचित्र महिमा है।

हरिदासके सम्बन्धमें प्रभुने जो कुछ कहा है—वह

गृह-त्यागियोंके लिए मर्कट वैराग्य है। श्रीमन्महाप्रभुका कहना है—शास्त्र विधिद्वारा जिन्होंने संन्यास लिया है—वे किसी प्रकार भी स्त्री-सम्भाषणा नहीं कर सकते हैं। किसी न्यायकर्म या सत्कर्मका उद्देश्य रहने पर भी उनके लिए स्त्री-सम्भाषण शोभा नहीं देता, यहाँ तक कि त्यागियोंके स्थानोंमें, अखाड़ोंमें, बर्तन मांजने आदि सेवाके लिए स्त्रियोंका रखना भी मर्कट-वैराग्यके अन्तर्गत है। जो वैरागी होकर अपनी प्रतिष्ठा और संन्यास धर्मके विरुद्ध स्त्रियोंसे मिलते-जुलते हैं, उनका मुख महाप्रभु नहीं देख सकते अर्थात् सत् सम्प्रदायमें उनकी गणना नहीं करते हैं।

### *दृढ़ वैरागी भी सावधान रहें, कारण काठकी स्त्रीमूर्ति भी मुनियोंका मन हरण कर लेती है*

वैरागियोंको स्त्री-सङ्गसे सर्वदा सावधान रहना चाहिए। कितनी भी दृढ़ता रहे—उनके सम्पर्कसे अहित होनेकी पूरी सम्भावना होती है, इन्द्रियोंका स्वाभाविक धर्म विषयोंकी ओर जाना है। काठकी नारी मूर्ति भी मुनियोंके मनको हरणकर लेती है।

### *यात्रा-थियेटर दर्शनकारी भी मर्कट-वैरागी हैं*

त्यागी वेष लेकर जो यात्रा-थियेटर सिनेमामें स्त्रियोंके हावभाव दर्शन करते हैं, वे भी मर्कट-वैरागी हैं, इसमें सन्देह नहीं। दुर्बल जीव वैष्णव वेश धारण करके स्त्रियोंसे मिलते-जुलते हैं और इन्द्रियोंके भोगोंमें फँसे रहते हैं।

जो सब वैरागी भिक्षाका छल कर स्त्रियोंसे मिलते-जुलते हैं, वे कभी भी महाप्रभुके सम्प्रदायमें रहने और प्रतिष्ठा पानेके अधिकारी नहीं हैं। प्रभुके पास जब वैष्णवजनोंने छोटे हरिदास पर कृपा करनेके लिए निवेदन किया तब महाप्रभुने कहा—"मैं किसी प्रकार स्त्रीसम्भाषी वैरागीको अपने पास नहीं रख सकता, मेरा मन उसका स्पर्श करना नहीं चाहता, तुमलोग बार बार मुझे किसलिये अनुरोध कर रहे हो? मेरा मन मेरे वशमें नहीं है। मन चाहता है, मर्कट-वैरागीका दर्शन व शरीर स्पर्श न करूँ।"

### *मर्कट-वैरागीके प्रति उपदेश*

हाय! परम निर्मल महाप्रभुके शासन वाक्य कहाँ गए? इस निर्मल सम्प्रदायमें भी कलंकके रूपमें मर्कट-गृहस्थ व मर्कट-वैरागी वैष्णवोंकी उत्पत्ति होती जा रही है। कितने ही गृहस्थ-वैष्णव दिखावटी वैराग्य वेष लेकर अन्याय कार्यमें लगे हुए हैं। यदि सचमुच ही उनके हृदयमें वैराग्यका उदय हुआ हो तो उन्हें शास्त्रविधिके अनुसार संन्यास ग्रहण करके स्त्रीसम्भाषणसे दूर रहना चाहिये। यदि हृदयके किसी भी कोनेमें जरा भी स्त्रीसम्भाषणकी वासना हो, तो त्यागीवेश ग्रहण न करें, मर्कट-वैराग्यको दूर रखकर सदा कृष्णनाम आनन्द सहित करें, आत्मोन्नतिमें अग्रसर हों। कच्ची अवस्थामें जल्दीबाजीमें वैराग्यवेश धारणकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गृहस्थ और वैरागी दोनों कृष्णभक्तिके अधिकारी हैं। अपने अधिकारके अनुसार आश्रमवासकी आवश्यकता है। अधिक लोगोंका गृहस्थ आश्रममें अधिकार है। खूब थोड़े लोगोंका ही वैराग्य, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य आश्रममें अधिकार है। अधिकारका मूल क्या है? स्वाभाव या उम्र? केवल उम्रको अधिकारका मूल नहीं कह सकते। कारण, ऐसा, देखा जाता है कि बाल पक गए, मुखमें दाँत नहीं; परन्तु भोग करनेकी इच्छा प्रबल है। बाल सफेद हो गए हैं, फिर भी उन्हें रङ्गकर काले कर लिये, सोनेके दाँत बँधा लिए, जवान होनेकी कैसी प्रबल इच्छा! इस प्रकार वृद्ध गृहस्थ भी सांसारिक सुखोंमें लिप्त देखे जाते हैं। जब इन बूढ़ोंमें भी वैराग्य नहीं देखा जाता है, तब यह निश्चय हुआ कि, उम्र द्वारा अधिकारका निर्णय नहीं हो सकता। अस्तु स्वभाव ही वैराग्यका मूल है।

### *भक्तिकी आवश्यकता*

गृहस्थ आश्रमी हों या वैराग्य आश्रमी, भक्ति ही सबका धन है। जिनका जिस आश्रममें रहनेका स्वभाव है, अपने अपने आश्रममें रहकर अनुकूल

अवस्थाको पकड़कर कृष्ण-अनुशीलन करना ही कर्तव्य है। अधिकारको छोड़नेसे अनर्थकी उत्पत्ति होती है और भक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये मर्कट-वैराग्यको छोड़कर अपने-अपने अधिकारको भली-भाँति समझकर हृदयमें भक्तिदेवीका साम्राज्य स्थापितरूप परम मङ्गल लाभ करना ही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है। जीव भक्तिदेवीकी कृपासे वञ्चित होकर ४ प्रकारके अनर्थों द्वारा ग्रसित हैं; (१) स्वस्वरूप भ्रम (२) असततृष्णा (३) अपराध (४) हृदयदौर्बल्य। भजन करते करते भक्तिदेवीकी कृपासे ये चार प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा भजनमें निष्ठा हो जाती है। मर्कट-वैराग्य हृदयकी एक प्रधान दुर्बलता है। इसे यत्नके साथ दूर करने पर भजन शक्ति पैदा हो जाती है। कपटता, शठता, प्रतिष्ठाकी आशा इत्यादि शत्रु जो हमारे भजनमें बाधा उत्पन्न कर देते हैं, साधक इनपर विजय लाभकर लेता है। शुद्ध भक्तिकी कृपा लाभकर धन्यातिधन्य हो जाता है। ❑

# ग्रन्थ-चक्रवर्ती—श्रीमद्भागवत

*—त्रिडण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिमयूख भागवत महाराज*

अद्वय-वस्तु स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही जीवोंके सम्बन्ध हैं, कृष्णप्राप्तिके अद्वितीय उपाय-स्वरूप भगवद्भक्ति ही अभिधेय है और पंचम-पुरुषार्थरूप भगवत्प्रेम ही जीवोंके लिए एकमात्र प्रयोजन है। सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनकी बात श्रीमद्भागवतमें स्पष्टरूपसे विद्यमान है। इसके सम्बन्धमें कतिपय श्लोकोंको उद्धृत किया जा रहा है—

सम्बन्ध—

*वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।*
*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।१।।*

(श्रीमद्भा. १/२/११)

*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।*

(श्रीमद्भा. १/३/२८)

अभिधेय—

*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-*
*दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।*
*तन्मायया तो बुध आभजेत्तं-*
*भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।*

(श्रीमद्भा. ११/२/३७)

*एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसो धर्मः परः स्मृतः।*
*भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः।।*

(श्रीमद्भा. ६/३/२२)

प्रयोजन—

*एवं व्रतः स्वप्रियनाम कीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्तउच्चैः।*
*हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।*

(श्रीमद्भा. ११/२/४०)

*सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।*
*वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठ कैवल्यैक प्रयोजनम्।।*

(श्रीमद्भा. १२/१३/१८)

जो अद्वितीय तत्त्व समस्त वेद-वेदान्तका सार है, जो अद्वितीय होकर भी ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीनों प्रकारसे प्रकाशित है वही अद्वय-तत्त्व श्रीमद्भागवताका प्रतिपाद्य विषय है। श्रीमद्भागवत प्राकृत द्वैत या प्राकृत भेदवादका प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है। द्वितीय अर्थात् मायासे ही भय उत्पन्न होता है। अद्वितीय परतत्त्व ही भयको दूर करनेवाला अर्थात् संसारको नष्ट करनेवाला होता है।

निर्विशेषवादियोंका अद्वैतवाद श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय नहीं है। श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य और अन्तमें बारम्बार इसे स्पष्ट रूपसे दिखलाया गया है। श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीधर स्वामीने भी केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायके मतकी शुद्धिके लिए इस तथ्यको सुन्दररूपसे प्रदर्शित किया है। भगवानके नाम, रूप, गुण और लीलाकी नित्यता,

अतर्क्य सहस्त्र शक्तियोंसे युक्त परतत्त्वके स्वरूप शक्तिकी विचित्रताकी स्वाभाविकता और नित्यता, श्रीकृष्णका स्वयं रूपत्व अथवा परात्परत्व, मुक्त पुरुषोंके भजनका नित्यत्व, श्रीनाम और नामीका अभिन्नत्व, मुक्तिकी अपेक्षा विमुक्ति अर्थात् भगवत्-प्रेमका उत्कर्ष आदि सिद्धान्तोंको केवलाद्वैतवाद स्वीकार नहीं करता। किन्तु वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतमें ये सब सिद्धान्त सुस्पष्ट रूपमें सूर्यके समान प्रकाशित हैं।

श्रीमद्भागवत उस अद्वितीय वस्तु या सम्बन्ध तत्त्वके प्रतिपादक हैं, जो ब्रह्म, परमात्मा और भगवान—इन तीन प्रतीतियोंमें आविर्भूत हैं, उस भक्तियोग या अद्वितीय अभिधेयके प्रतिपादक हैं, जो अद्वितीय वस्तुमें प्रीति उत्पन्न कराता है और प्रतिपादक हैं उस प्रेम या अद्वितीय प्रयोजनके—जो परतत्त्व और उसकी शक्ति—दोनोंको परस्पर प्रीतिरूप सुख-सागरमें निमज्जित कर देता है।

आनन्द-स्वरूप और परम मधुर भगवानका नाम उपास्य और उपासना—साध्य और साधन दोनों है। समस्त साधनोंमें श्रीभगन्नामकीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। साधनोंमें शिरोमणि इस हरिनामका माहात्म्य श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य और अन्त—प्रत्येक स्कन्धोंमें सर्वत्र ही अत्यन्त स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है। इसलिए श्रीलसनातन गोस्वामी श्रीहरिभक्तिविलास १०/२८५ श्लोककी टीकामें कहते हैं—(श्रीमद्भागवत) नाम पुराणं नाम प्रधानं पुराणमिदमित्यर्थः। सर्वत्रैव विशेषतो भगवन्नाम-माहात्म्यप्रतिपादनात्।

श्रीमद्भागवतके प्रत्येक स्कन्धसे नाम माहात्म्य-सूचक कतिपय श्लोकोंको उद्धृत किया जा रहा है—

प्रथम स्कन्ध—

*आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।*
*ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्।।*

(श्रीमद्भा. १/१/१४)

द्वितीय स्कन्ध—

*एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतो भयम्।*
*योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।।*

(श्रीमद्भा. २/१/११)

तृतीय स्कन्ध—

*यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि*
*नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।*
*तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा*
*संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये।।*

(श्रीमद्भा. ३/९/१५)

चतुर्थ स्कन्ध—

*उत्तानपाद भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा*
*देवः क्षिणोत्ववनतार्त्तिहरो विपक्षान्।*
*यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा*
*लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्गमृत्युम्।।*

(श्रीमद्भा. ४/१०/३०)

पञ्चम स्कन्ध—

*यन्नामश्रुतमनुकीर्त्तयेदकस्मा—*
*दार्त्तो वा यदि पतितः प्रलंभनाद्वा।*
*हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यां*
*कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः।।*

(श्रीमद्भा. ५/२५/११)

षष्ठ स्कन्ध—

*म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।*
*अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्।।*

(श्रीमद्भा. ६/२/४९)

*स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।*
*स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे।।*
*सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।*
*नामव्यावहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः।।*

(श्रीमद्भा. ६/२/९-१०)

सप्तम स्कन्ध—

*श्रद्धया तत्कथायाञ्च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।*
*तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः।।*

(श्रीमद्भा. ७/७/३१)

अष्टम स्कन्ध–

*मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।*
*सर्वं करोति निश्छिद्रमनुसंकीर्त्तनं तव।।*

(श्रीमद्भा. ८/२३/१६)

नवम स्कन्ध–

*यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।*
*तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते।।*

(श्रीमद्भा. ९/५/१६)

दशम स्कन्ध–

*यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च।*
*सद्यः पुनाति किं भुयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते।।*

(श्रीमद्भा. १०/३४/१७)

एकादश स्कन्ध–

*शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे–*
*र्जन्मानि कर्म्माणि च यानि लोके।*
*गीतानि नामानि तदर्थकानि*
*गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः।।*

(श्रीमद्भा. ११/२/३९)

*कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।*
*यत्र संकीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते।।*

(श्रीमद्भा. ११/५/३६)

द्वादश स्कन्ध–

*कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।*
*कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्।।*

(श्रीमद्भा. १२/३/५१)

उपसंहार में–

*नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।*
*प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्।।*

(श्रीमद्भा. १२/१३/२२)

श्रीमद्भागवत भगवत् कथाओंका अगाध समुद्र है। इसमें भगवानके अवतार–समूहका और प्रधानतः निखिल अवतारोंके अवतारी स्वयं भगवान श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाकी कथाओंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। इसमें पदे–पदे श्रीहरि कीर्त्तित हुए हैं। श्रीमद्भागवतका कहना है–

*कलिमलसंहति कालनोऽखिलेशो*
*हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।*
*इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्ति*
*परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः।।*

(श्रीमद्भा. १२/१२/६६)

कलिके पाप–राशिको ध्वंश करनेवाले श्रीहरिका गुणगान अन्यान्य शास्त्रोंमें कम हुआ है अर्थात् निरन्तर और सर्वत्र नहीं हुआ है। परन्तु श्रीमद्भागवतमें प्रसंगवसतः पद पद पर अनंत–विग्रह श्रीहरिकी कथाओंका वर्णन किया गया है।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' (कठोपनिषद् २/२३), 'भक्तिरस्य भजनम्' (गोपलतापनी) इत्यादि वचनोंसे वेदोंमें तथा 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ७/२२) 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः, मन्मना भव मद्भक्तः' (गीता १८/६४–६५) आदि श्लोकों द्वारा गीतोपनिषद्में भगवत्प्राप्तिके लिए जस अद्वितीय उपाय स्वरूप निर्मल भक्तिका निर्देश सूत्रके रूपमें है उसी अहैतुकी और निष्काम भक्तिका निरूपण श्रीमद्भागवतमें प्राञ्जल और स्पष्ट भाषामें विस्तारके साथ किया है। भक्तिका स्वरूप लक्षण, तटस्थ लक्षण और उसकी प्राप्तिका उपाय एकमात्र श्रीमद्भागवतमें ही निश्चित रूपमें व्यक्त है। श्रीमद्भागवतमें 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव वर्जितं' (भा. १०/६/१२), 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव' (भा. १/५/१२),'श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भा. १०/१४/४), 'येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः' (भा. १०/२/३२), आदि अनेक श्लोकोंसे यह स्पष्ट सिद्धान्त किया गया है कि भक्ति–हीन कर्म, ज्ञान आदि साधन नितान्त उपेक्षणीय हैं। कर्म और ज्ञान भक्तिकी सहायतासे ही फल उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। अन्यथा वे निरर्थक हैं। किन्तु भक्ति पूर्ण निरपेक्ष है। वह अन्य साधनोंकी सहायताके बिना ही सब तरहके फलोंको देनेमें समर्थ हैं। "न साधयति मां योगो न सांख्यं, नालंद्विजत्वं" आदि

श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आनन्दमय भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त करनेके लिए एक और बस एक ही उपाय है—भक्ति।

कलियुगको पवित्र करनेवाले, जीवोंके दुःखसे दुःखी श्रीमद्‌भागवत वज्र-गम्भीर स्वरसे निरन्तर यह घोषणा कर रहे हैं—

हे अमृतके संतान जीवो! तुम लोग सुखकी खोज करते करते मुक्ति-सुखको ही श्रेष्ठ प्रयोजन मान रहे हो, किन्तु वह मुक्ति भगवत्प्राप्तिरूप विमुक्तिके सामने अत्यन्त नगण्य वस्तु है। छान्दोग्य श्रुति 'नाल्पे सुखस्ति, भूमा वै सुखं यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' आदि मंत्रोंमें जिसे निर्देश करती है, उसे लाभ कर सब प्रकारकी आकांक्षाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं। और किसी प्रकारकी आकांक्षा अपूर्ण नहीं रहती, वही अनन्त असीम नित्य नए नए रूपमें अनुभवकी जानेवाली विमुक्ति अथवा भगवत्प्रेमानन्द ही जीवोंके लिए सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। यही सर्वश्रेष्ठ सुख है। मुक्त पुरुष भी भक्तोंके संगके प्रभावसे भक्ति-सुखको पानेके लोभसे भगवान्‌का भजन किया करते हैं, जैसे—

*आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे।*
*कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।।*

शुकदेव गोस्वामी और सनत्कुमार आदि चारों कुमार इसके ज्वलंत दृष्टान्त हैं। हे जीवो! तुमलोग उसी सुखके नित्य अधिकारी हो और उस सुखको प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त सहज और निश्चित मार्ग है—भक्तोंकी कृपासे प्राप्तकी हुई भगवान्‌की भक्ति। तुमलोग उसी भक्तिको पानेकी चेष्टा करो।

'भक्तिस्तु भगवद्‌भक्तसंगेन परिजायते' अर्थात् भक्ति भगवद्‌भक्तोंका सङ्ग करनेसे पाई जाती है। सत्सङ्ग ही भक्तिकी मूल है। साधु-सङ्गके अतिरिक्त भक्तिलाभ करनेका कोई दूसरा तरीका नहीं है—यह श्रीमद्‌भागवतका स्पष्ट विचार है। सत्सङ्गमें कितनी आश्चर्यजनक शक्ति निहित है, उसकी कितनी विचित्र महिमा है, उसमें भगवान्‌को वशमें करनेकी कैसी अद्‌भुत क्षमता है—श्रीमद्‌भागवतने स्वयं वर्णन किया है। श्रीमद्‌भागवतके 'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्‌घ्रिं' (भा० ७/५/३२), 'सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदः' (भा० ३/२५/२५), 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' (भा० १०/१४/३), 'तुलयाम लवेनापि' (भा० १/१८/१३), 'न रोधयति मां योगः' (भा० ११/१२/१-२) आदि श्लोकों द्वारा भक्तिलाभ करनेके लिये साधुसङ्गकी अपूर्व महिमाका वर्णन किया गया है।

जीवोंके सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन तथा उसकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त सहज पथको बतलाने वाले, केवल बतलानेवाले ही नहीं उसे प्रदान करने वाले ग्रन्थ-चक्रवर्ती श्रीमद्‌भागवत ही हमारे एकमात्र आश्रय हों। श्रीमद्‌भागवतके अत्यन्त रहस्य-पूर्ण शास्त्र होनेके कारण ही व्यासदेवजीने अपने अन्य शिष्योंको तो दूसरे-दूसरे पुराणोंका अध्ययन कराया, परन्तु अपने प्रिय और योग्य पुत्र शुकदेवको ही श्रीमद्‌भागवत पढ़ाया था। श्रीजीवगोस्वामीने कृष्ण-सन्दर्भमें लिखा है—

'श्रीभागवतस्य सर्वशास्त्रचक्रवर्त्तित्वं प्रथमसन्दर्भे प्रघट्टकेनैव दर्शितम्। पूर्णज्ञान-प्रादुर्भावानन्तरमेव श्रीवेदव्यासेन तत्प्रकाशितमिति च तत्रैव प्रसिद्धम्। -----। नवमेऽप्युक्तम्-हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् वादरायणः।। मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ। (भा० ९/२२/२२-२३) इति। तदेवं सर्वशास्त्रोपरिचरत्वं सिद्धम्।'

पूर्णज्ञानके आविर्भाव होनेपर ही व्यासदेवने श्रीमद्‌भागवतको प्रकाशित किया। यह बात श्रीमद्‌भागवतमें ही लिखी गई है। श्रीमद्‌भागवतका सिद्धान्त अत्यन्त निगूढ़ है तथा उसीमें श्रीव्यासदेवका मुख्य अभिप्राय व्यक्त हुआ है। नवें स्कन्धमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यह पुराण परम गोपनीय और अत्यन्त रहस्यमय है। इसीलिए मेरे पिता भगवान् व्यासदेवने अपने पैल आदि शिष्योंको

इसका अध्ययन नहीं कराया, मुझे ही शान्त आदि गुणोंसे युक्त और योग्य समझकर इसका अध्ययन कराया था। श्रीजीव गोस्वामी उक्त ग्रन्थमें और भी कहते हैं—

'श्रीमद्गीता–गोपालतापन्यादि–शास्त्रगण–सहायस्य निखिलेतर शास्त्रशतप्रणतचरणस्य श्रीभागवतस्याभिप्रायेण श्रीकृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वं करतल इव दर्शितम्। श्रीभागवतस्य च स एव प्रतिपाद्यम् इति पुराणान्तरेणैव च स्वयं व्याख्यातम्। यथा ब्रह्माण्डपुराणे श्रीकृष्णाष्टोत्तरशत–नामामृतस्तोत्रे श्रीकृष्णस्य नाम–विशेष एव शुकवागमृताब्धीन्दुरिति।

श्रीमद्भगवद्गीता और गोपालतापनी आदि शास्त्र जिसके सहायक हैं और दूसरे–दूसरे समस्त शास्त्र जिसके चरणोंमें सेवककी तरह नतमस्तक हैं उसी शास्त्रका नाम है श्रीमद्भागवत। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी स्वयं–भगवत्ता करतलगत मणिकी तरह प्रत्यक्ष है। श्रीकृष्ण ही भागवतके प्रतिपाद्य विषय हैं—इसका दूसरे पुराणोंमें भी निर्देश दिया गया है। जैसे ब्रह्माण्ड पुराणमें श्रीकृष्णके अष्टोत्तर नामामृत स्तोत्रमें 'शुकवागमृताब्धीन्दु' कहकर श्रीकृष्णके एक नाम–विशेषका उल्लेख किया गया है। शुकके वचनरूप अमृतके सागर हैं—श्रीमद्भागवत, उसी सागरके चन्द्र अर्थात् प्रतिपाद्य हैं—भगवान् श्रीकृष्ण। जो लोग 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', इस आगम वाणीको अपने जीवनमें प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, उन्हें महाजनोंके आनुगत्यमें अखिल–रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णके भुवनमङ्गलावतार श्रीमद्भागवतका श्रवण, पठन और मनन करना आवश्यक है। उनके सेवनसे ही मनुष्य वेदके सुपरिपक्व और अत्यन्त उत्तम रसमय फल श्रीमद्भागवतका रसास्वादन कर परमानन्दको प्राप्तकर सकते हैं। ❑

# तत्त्व–परिचय

मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभ और अस्थिर है। किस दिन मृत्यु आ जायेगी कुछ कहा नहीं जा सकता है।

बालकपनमें ईश्वरका साधन नहीं हो सकता, इस प्रकार सोचना अनुचित है। हम लोग इतिहासमें देखते हैं कि ध्रुव, प्रह्लादने अत्यन्त शैशवावस्थामें ही ईश्वरकी कृपा प्राप्त की थी। जब एक मनुष्य कोई काम कर सकता है तो इसमें सन्देह नहीं है कि मानव–जाति भी उस कामको कर सकती है। विशेषतः जिस कामके करनेका अभ्यास शुरू ही से किया जाता है वह स्वभावरूप हो जाता है। परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए अवस्था भेदसे जो यत्न करते हैं उसके चार कारण देखे जाते हैं—भय, आशा, कर्त्तव्य–बुद्धि और राग।

नरकभय, अर्थाभाव, पीड़ा और मृत्युभयसे जो परमेश्वरका भजन करता है, वह भय द्वारा उत्तेजित होकर ईश्वर आराधना करता है। जो संसारमें उन्नति लाभके लिये और विषय–सुखका प्रार्थी होकर ईश्वर भजन करता है, वह आशा द्वारा उत्तेजित होकर ईश्वर भजन करता है। किन्तु ईश्वर–साधनामें इतना पवित्र सुख है कि शुरूमें भय और आशासे भी किया हुआ साधन अन्तमें अनेक भय, आशा से छुड़ाकर शुद्ध–भजनमें अनुरक्त करा लेता है।

जो सृष्टिकर्त्ताके प्रति कृतज्ञताके कारण उसकी उपासना करते हैं, वे कर्त्तव्य–बुद्धि द्वारा चालित होकर उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। परन्तु जो लोग भय, आशा और कर्त्तव्य–बुद्धि द्वारा चालित नहीं होकर स्वभावसे ही ईश्वर साधनमें प्रेम करते हैं वे लोग राग द्वारा साधनमें प्रवृत होते हैं।

किसी एक विषयको देखनेके लिए ही जब चित्त उसके प्रति प्रवृत्ति द्वारा बिना विचार किये दौड़ता है, तो उसीको राग कहते हैं। यही प्रवृत्ति जब परमेश्वरकी चिन्ता करने मात्रसे ही किसीके चित्तमें उत्पन्न होती है, तब वह राग द्वारा

ईश्वर-भजन करता है।

भय, आशा और कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा जो उपासक भजनमें प्रवृत होते हैं, उनका भजन विशुद्ध नहीं है। रागमार्ग द्वारा जो ईश्वर भजनमें प्रवृत होते हैं, वे ही यथार्थ साधक हैं।

जीव और ईश्वरमें एक निगूढ़ सम्बन्ध है। रागका उदय होनेसे उसके सम्बन्धका परिचय मिलता है। वही सम्बन्ध नित्य है, किन्तु जड़ बद्ध जीवके लिये यह गुप्तरूपसे रहता है। सुविधा पाकर ही यह प्रकाशित हो जाता है; दियासलाई घिसनेसे अथवा चकमकी झाड़नेसे जैसे अग्निका प्रकाश होता है, उसी तरह साधन करनेसे यह सम्बन्ध प्रकाशित हो जाता है।

भय, आशा और कर्त्तव्य-बुद्धिसे भजन करते-करते बहुतोंको यह सम्बन्ध प्रकाशित हो गया है। ध्रुवने पहले राज्य प्राप्तिकी आशासे ही हरिभजन किया था, किन्तु साधनके द्वारा हृदयमें पवित्र-सम्बन्धजनित रागका उदय हो जानेसे उसने सांसारिक सुख-जनक वरदान ग्रहण नहीं किया।

भय और आशा नितान्त हेय हैं। साधककी जब अच्छी बुद्धि होती है, उस समय वह भय और आशाका परित्याग करता है और कर्त्तव्य-बुद्धि ही उसका एकमात्र आश्रय हो जाता है। परमेश्वरके प्रति रागका जबतक उदय नहीं होता है, तबतक कर्त्तव्य-बुद्धिका परित्याग नहीं करना चाहिये। कर्त्तव्य-बुद्धिसे विधिका सम्मान और अविधिका परित्याग इन्हीं दोनों विचारोंका उदय होता है।

पूर्व-पूर्व महापुरुषोंने परमेश्वरके निमित्त साधन करनेके लिए जिन सब पद्धतियोंको विचार कर संस्थापित किया है और शास्त्रोंमें लिपिबद्ध किया है, उन्हीं सबका नाम विधि है। कर्त्तव्यबुद्धिके होनेसे ही शास्त्रका शासन और विधिका आदर हो जाता है।

देश-देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तरके मनुष्योंके इतिहास और वृत्तान्तोंकी आलोचना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि ईश्वरमें विश्वास मनुष्यका साधारण धर्म है। असभ्य लोग वनके रहनेवाले पशुओंका मांस खाकर समय बिताते हैं, तथापि सूर्य, चन्द्र और बड़े-बड़े पर्वतों, बड़ी-बड़ी नदियों एवं बडे-बड़े वृक्षोंको दण्डवत् प्रणाम करते हैं और उनको दाता-नियंता कहकर उनकी पूजा करते हैं, इसका कारण क्या है?

जीव नितान्त बद्ध होकर भी जहाँ तक उसका चेतन आच्छादित नहीं होता है, वहाँ तक चेतन धर्मके परिचय स्वरूप कुछ-कुछ ईश्वर विश्वास अवश्य ही प्रकाशित करता है।

सभ्यावस्था प्राप्त करके जब वह नाना प्रकारकी विद्याओंकी आलोचना करता है उस समय कुतर्कोंके द्वारा इस ईश्वर विश्वासको दबाकर नास्तिकता एवं अभेदवादके अन्तर्गत निर्वाणवादको मनमें स्थान देता है।

यह कुत्सित विश्वास जीवकी अस्वस्थताका लक्षण है, ऐसा ही समझना चाहिए। नितान्त असभ्य अवस्था और ईश्वर विश्वासकी उपयोगी अवस्थाओंके बीच मानव जीवनकी तीन अवस्थाएँ आवान्तर रूपमें लक्षित होती हैं।

इन तीन अवस्थाओंसे ही नास्तिक्यवाद, जड़वाद, सन्देहवाद और निर्वाणवादरूप पीड़ाएँ जीवकी उन्नतिके प्रतबन्धक रूपसे बहुतोंको दुर्गतिकी ओर ले जाती हैं।

ऐसी बात नहीं कि सभी मनुष्य इन अवस्थाओंमें उपरोक्त रोगोंसे रोगी हो जाते हैं, बल्कि बात यह है कि जो लोग इन सब रोगोंसे अक्रान्त हैं वे उन्हीं अवस्थाओंमें बँधे रहकर उच्च जीवनके अधिकारसे वञ्चित रह जाते हैं।

असभ्य मानव सभ्यता, नीति और विद्यानैपुण्यके बलसे अति शीघ्र ही वर्णाश्रमरूप धर्मका अवलम्बन करके ईश्वर भक्तिके साध्योपयोगी भक्त जीवन लाभ कर लेते हैं। यही मानव जातिकी नैसर्गिक अवस्था है।

मनुष्योंने भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें रहकर भिन्न-भिन्न प्रकृतिका अवलम्बन किया है। परन्तु मनुष्योंकी मुख्य प्रकृति सब जगह एक ही है। गौण प्रकृति

अवश्य ही भिन्न–भिन्न है। मनुष्यकी मुख्य–प्रकृति एक होनेपर भी जगतमें एक प्रकारके ऐसे दो व्यक्ति नहीं पाये जाते जिनमें गौण प्रकृति एक–सी हो।

जब एक गर्भसे जन्म ग्रहण करके दो भाइयोंकी आकृति–प्रकृति एक प्रकारकी नहीं होती है, तो किस प्रकार भिन्न देशकी जलवायुमें पैदा हुए मनुष्य एक प्रकारके हो सकते हैं। भिन्न–भिन्न देशकी जलवायु, पर्वत, वनादि, खान–पान, वेश–भूषा, आहारादि भिन्न–भिन्न प्रकारके हैं। इसी कारणसे उन देशोंके रहनेवाले मनुष्योंकी आकृति, वर्ण, व्यवहार, पहिरावा, भोजन निःसर्गवश भिन्न–भिन्न होते हैं। देश विशेषका मनोभाव भी पृथक् होता है और उनके अन्तर्गत ईश्वर भाव मुख्यांशमें एक प्रकारका होनेपर भी गौणांशमें भिन्न–भिन्न प्रकारका होता है।

इस प्रकार देश–विदेशमें जिस समय असभ्य अवस्था लांघकर मनुष्योंको क्रमशः सभ्य अवस्था, वैज्ञानिक अवस्था, नैतिक अवस्था और भक्तावस्था प्राप्त होती है उसी समय क्रमशः भाषाभेद, परिच्छदभेद, भोज्यभेद और मनोभावभेदसे ईश्वर भजनकी प्रणाली भी भिन्न भिन्न हो जाती है।

निरपेक्ष होकर विचारनेसे मालूम होगा कि इस प्रकारके गौण भेद–समूहसे कोई नुकसान नहीं है। मुख्य भजन विषयमें ऐक्य रहनेसे फलके समय कोई दोष नहीं होता। अतएव श्रीमन्महाप्रभुकी विशेष आज्ञा है कि विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवानका भजन करो, किन्तु सामान्य भजन–प्रणालीकी निन्दा नहीं करो।

उपरोक्त कारणोंसे भिन्न–भिन्न देशोंके लोगोंके चलाए हुए धर्मोंके नीचे लिखे हुए पाँच भेद हैं:—

[१] आचार्य भेद।
[२] उपासनाकी मनोवृत्ति और भजन अनुभव भेद।
[३] उपासनाकी प्रणाली भेद।
[४] उपास्य–तत्त्वके सम्बन्धमें भाव और वाक्यादि भेद।
[५] भाषा भेदके अनुसार नाम और वाक्यादि भेद।

आचार्य भेदसे किसी देशमें ऋषि लोगोंका, किसी–किसी देशमें मोहम्मद साहब जैसे प्रचारक लोगोंका; किसी देशमें क्राईस्ट जैसे धर्मात्माओंका और देश–विदेशोंमें बहुत–से विद्वानोंका विशेष सम्मान होते देखा जाता है।

इन आचार्योंको यथायोग्य सम्मान करना उनके देशवासियोंका कर्त्तव्य है, परन्तु अपने देशके आचार्योंकी शिक्षाको निष्ठाके कारण दूसरोंसे श्रेष्ठ समझने पर भी दूसरे देशमें इस प्रकारके विवादजनक प्रतिष्ठाका प्रचार करना उचित नहीं है। ऐसा करनेसे जगतका कुछ भी मङ्गल नहीं होगा।

उपासकोंकी मनोवृत्ति और भजन अनुभव भेद द्वारा किसी देशमें आसन पर बैठकर न्यास प्राणायाम इत्यादि प्रक्रियायोंके द्वारा भजन किया जाता है। कहीं पर लोग मुक्त कच्छ होकर अपने मुख्य मन्दिरकी ओर मुख करके खड़े होकर गिरकर दिन–रातमें पाँच बार उपासना करते हैं। कहीं पर लोग हाथ जोड़कर दीनता प्रकाशकर ईश्वरका यशोगान करके भजन मन्दिरमें वा अपने घरमें ही पूजा करते हैं। इस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रकारके वस्त्र व भोग व्यवहारोंके द्वारा शुद्धता और अशुद्धताके साथ पूजा करनेकी स्थानीय विधि देखी जाती है। भिन्न–भिन्न धर्मोंकी उपासना देखनेसे उपासना–प्रणालीके भेद देखे जाते हैं।

भिन्न–भिन्न धर्मोंमें उपास्यतत्त्वके सम्बन्धमें भाव और क्रिया भेद देखे जाते हैं। कोई–कोई चित्तमें भक्तिपरिप्लुत होकर आत्मामें मन और जगतमें परमेश्वरकी प्रति–छविरूप श्रीमूर्तिका संस्थापन करते हैं और उससे तदाम्य बोध द्वारा पूजा करते हैं। किसी–किसी धर्ममें लोग अधिकतर तर्क द्वारा मन ही मन एक ईश्वर भावका गठन कर उसीके द्वारा उपासना करते हैं। प्रतिमूर्तिको स्वीकार नहीं करते। किन्तु वास्तवमें यदि देखा जाय तो सभी प्रतिमूर्ति है।

भाषा भेदके अनुसार कोई–कोई किसी–किसी विशेष नामसे ईश्वरको पुकारते हैं। धर्मोंका भिन्न–भिन्न नाम दिया हुआ है। भजनके समय

भिन्न-भिन्न वाक्य बोले जाते हैं। इन भेदोंके कारण जगतमें भिन्न-भिन्न धर्म-समूह आपसमें एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् हो गये हैं, यह बात नैसर्गिक है, किन्तु इन पार्थक्योंके कारण परस्पर विवाद करना नितान्त अन्याय और हानिकारक है। दूसरोंके भजनके समय उनके भजन मन्दिरमें उपस्थित रहने पर ऐसा व्यवहार करना चाहिये और इस दृष्टिकोणसे देखना चाहिये कि हमारे उपास्यदेवकी एक भिन्न प्रकारसे पूजाकी जा रही है। हम अपने अभ्यासवश इस प्रस्तुत प्रणालीके द्वारा पूजा करनेमें असमर्थ हैं, किन्तु इसके देखनेसे अपनी भजन प्रणालीमें अधिकतर भावोदय हो रहा है।

स्मरण रहे, परमतत्त्व एक ही है, दो नहीं। यहाँ पर जो ईश्वर चिह्न देख रहा हूँ वह मेरे ही ईश्वरका है और इस प्रकार प्रार्थना करना चाहिये कि हे मेरे आराध्यदेव! मेरा प्रेम आप बढ़ाइये।

जो इस प्रकार व्यवहार नहीं करके भिन्न प्रणालियोंके प्रति द्वेष, हिंसा असूया वा निन्दा करते हैं, वे नितान्त असार और हतबुद्धि हैं। वे अपने परम प्रयोजनकी उतनी परवाह नहीं करते जितना दूसरेसे विवाद करनेकी।

इसमें केवल एक बात विचारणीय है। भजन प्रणालीभेदकी निन्दा करना असारता है, किन्तु यदि उसमें कोई प्रकृतदोष देखा जाय तो उसका आदर नहीं करना चाहिये बल्कि जहाँ तक हो सदुपायसे उसको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए इससे जीवका मंगल होगा। यही कारण था कि महाप्रभु ने बौद्ध, जैन, और निर्विशेषवादियोंके साथ विचार करके उन लोगोंको सत्पथ पर लानेका उद्योग किया था। प्रभुका समस्त चरित्र प्रभु भक्तोंके लिए आदर्श स्वरूप होना ही उचित है।

जिस धर्ममें नास्तिकवाद; सन्देहवाद, स्वभाववाद, आत्मवाद, और निर्विशेषवाद आदि अनर्थ हैं, भक्त लोग उन धर्मोंको धर्म नहीं कहते। बल्कि उनको विधर्म, छलधर्म, धर्माभास वा अधर्म मानते हैं। जहाँ तक हो सके इन सबोंसे जीवकी रक्षा करनी चाहिए।

विमल प्रेम ही जीवका नित्यधर्म है। उपरोक्त पाँच प्रकारके भेद देखे जानेपर भी धर्मका असली उद्देश्य विमल प्रेम ही है। वही धर्म धर्म है। बाह्य भेद लेकर वितर्क करना अनुचित है। धर्मका उद्देश्य यदि विमल है तो सब कुछ सद्लक्षण युक्त है। नास्तिकवाद, सन्देहवाद, बहुईश्वरवाद, जड़वाद, अनात्मवाद अर्थात् कर्मवाद, स्वभाववाद और निर्विशेषवाद स्वभावतः प्रेमके विरोधी हैं।

कृष्ण प्रेम ही विमल प्रेम है। प्रेमका धर्म ही है कि वह किसी एक तत्त्वका आश्रय लेकर ही रहता है एवं किसी एक तत्त्वको विषय कहकर वरण करता है। विषय और आश्रयको छोड़ देनेसे प्रेमका परिचय नहीं रहता। जीवका हृदय ही प्रेमका आश्रय है और एकमात्र कृष्ण ही प्रेमके विषय हैं। पूर्ण विमल प्रेम उदित होनेसे ही उपास्य वस्तुका ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व, नारायणत्व श्रीकृष्ण स्वरूपमें लीन हो जाते हैं।

कृष्ण नाम सुनते ही जो नाम पर विवाद आरम्भ करते हैं, वे यथार्थ तत्त्वसे वञ्चित हैं। नामका विवाद निरर्थक है। नाम जिस विषयका उद्देश्य करता है वही जीवके प्राप्त करनेकी वस्तु है।

सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतमें जो श्रीकृष्णचरितामृत वर्णित है, वह विद्वद्वर श्रीव्यासदेवका साक्षात् समाधि-लब्ध तत्त्व है। नारदके उपदेशसे व्यासदेवने जब भक्तिरूप सहज समाधिका अवलम्वन किया, तब श्रीकृष्ण स्वरूपका दर्शन करके जिस प्रकारसे उस परम पुरुष कृष्णमें जीवको शोक, मोह, भय नाशिनी अर्थात् उपाधि रहिता भक्ति [प्रेम] प्राप्त हो, ऐसे चरितामृतका वर्णन किया है। श्रीकृष्णचरितामृतका पाठ व श्रवण करनेके अधिकार भेदसे जीवको दो प्रकारकी प्रतीति होती है। एकका नाम है विद्वत्प्रतीति और दूसरेका अविद्वत्प्रतीति।

विद्वत्प्रतीति और अविद्वत्प्रतीति समझनेकी इच्छा रखनेवालोंको षट्सन्दर्भ, भागवतामृत, वा कृष्ण संहिताका अच्छी तरह पाठ और उपयुक्त

व्यक्तिके निकट आलोचना कर लेनी चाहिए। संक्षेपमें समझ लेना चाहिए कि विद्या–शक्तिके द्वारा जो प्रतीति उदित होती है वह विद्वत्प्रतीति और अविद्याका आश्रय लेनेसे जो प्रतीति उदित होती है, वह अविद्वत्प्रतीति है।

श्रीकृष्णचरितामृतमें अविद्वत्प्रतीतिसे अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं। परन्तु विद्वत्प्रतीतिमें कोई विवाद नहीं है। जिनको सर्वार्थ लाभकी वासना है वे शीघ्र ही विद्वत्प्रतीति प्राप्त कर लेते हैं। अविद्वत्प्रतीति लेकर विवाद करके अपने असली स्वार्थकी हानि क्यों की जाय?

विद्वत्प्रतीतिका थोड़ासा दिग्दर्शन यहाँ पर कराया जाता है। जो लोग जड़ चिन्ताको अतिक्रम करके चित्तत्त्वको पानेके योग्य हैं उन्हींके लिए विद्वत्प्रतीति सम्भव है। वे ही चित्–चक्षुओंके द्वारा कृष्ण–रूपका दर्शन करते हैं। वे ही चित्–कर्णके द्वारा कृष्णलीला श्रवण करते हैं और चिद्रस द्वारा वे ही कृष्णको सर्वतोभावसे आस्वादन करते हैं। सारी कृष्णलीला अप्राकृत और जड़ातीत है। कृष्णकी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा वे जड़ चक्षुओंके विषय हो सकते हैं। किन्तु स्वभावतः चक्षु पभृति सभी जड़ेन्द्रियाँ उनका साक्षात् दर्शन नहीं कर सकतीं।

श्रीकृष्णके प्रकट समयमें जो समस्त भगवत् लीलायें इन्द्रियोंके द्वारा गोचर होती हैं वे भी विद्वत्प्रतीतिके बिना वस्तु साक्षात्काररूप फल देनेवाले नहीं होते। अतएव साधारणतः अविद्वत्प्रतीति ही प्राप्त होती है। इस प्रतीतिके कारण बहुतोंको कृष्णतत्त्व अनित्य ही मालूम होता है। ये लोग कृष्णके शरीरका जन्म, वृद्धि, क्षय आदिकी कल्पना करते हैं। अविद्वत् प्रतीतिके द्वारा निर्विशेष अवस्था सत्य और सविशेष अवस्था प्रापञ्चिक बोध होता है और कृष्णतत्त्वका विशेषत्व भी प्रापञ्चिक सिद्धान्तित होता है।

परम–तत्त्व क्या वस्तु है, इसका निर्णय करना बुद्धिका काम नहीं है। अपरिमेय पदार्थमें ससीम नरयुक्ति क्या कर सकती है? अतएव जीवकी भक्तिवृतिके द्वारा ही परमतत्त्वका आस्वादन किया जा सकता है।

जिसको विमल प्रेम कहते हैं, उसीकी प्राथमिक अवस्थाका नाम भक्ति है। कृष्ण–कृपाके बिना विद्वत्–प्रतीतिका उदय नहीं होता। क्योंकि कृष्ण–कृपा से विद्याशक्ति जीवको सहायता करती है।

परमतत्त्वके जितने प्रकारके भाव जगतमें देखे जाते हैं, उन सबोंसे कृष्णस्वरूप भाव ही विमल प्रेमके लिए एकमात्र अति उपयोगी भाव है। मुसलमान शास्त्रमें जो अल्लाह भाव स्थापित है उसमें विमल–प्रेम नियुक्त नहीं हो सकता है।

अति प्रिय बन्धु पैगम्बर भी उसके स्वरूपका साक्षात् नहीं कर सके, क्योंकि उपास्यतत्त्व सख्यगत होने पर भी ऐश्वर्य्यके कारण उपासकसे अत्यन्त दूरगत तत्त्व रहा है। ब्रह्मकी तो बात ही अलग रहे नारायण भी जीवके सहज प्रेमके पात्र नहीं है। कृष्ण ही एकमात्र विमल–प्रेमके साक्षात् विषय हैं और वे स्वरूपतः चिन्मय ब्रजधाममें नित्य ही विराजमान रहते हैं।

कृष्णका धाम आनन्दमय है। वहाँ ऐश्वर्यके पूर्णरूपसे रहनेपर भी उसका प्रभाव नहीं रहता, वहाँ सभी माधुर्यमय और नित्यानन्द–स्वरूप हैं। फल–मूल, किशलय ही वहाँ की सम्पत्ति, गो–धन समूह ही प्रजा, राखालगण ही सखा, गोपियाँ ही संगिनी, नवनीत, दधि, और दुग्ध ही खाद्य–द्रव्य और कानन–उपवन कृष्ण–प्रेममय हैं। यमुना नदी कृष्णसेवामें लगी हुई है। समस्त प्रकृति कृष्णकी परिचारिका है।

जो दूसरी जगह ब्रह्मरूपमें सबकी पूजा और सम्मान लेता है, वही इस धामका एकमात्र प्राणधन, कभी उपासकके तुल्य कभी उनकी अपेक्षा हीन रूपमें देखा जाता है, ऐसा नहीं होनेसे क्या क्षुद्रजीव परमतत्त्वके साथ प्रेम कर सकता है? जो परमतत्व परमलीलामय, स्वेच्छामय और स्वाभावतः जीवके विमल–प्रेम लिप्सु है वह क्या मनुष्योंकी तरह पूजाकी लालसा करता है? क्या वह पूजा द्वारा सन्तुष्ट होकर स्वयं सुख प्राप्त करता है? अपने ऐश्वर्यको माधुर्य

द्वारा ढक करके परम चमत्कार लीलारसके आधार स्वरूप होकर वह कृष्ण अप्राकृत वृन्दावनमें रसके अधिकारी जीवोंके साथ समता और हीनता स्वीकार करके आनन्द लाभ करता है।

जो विमल और पूर्ण प्रेमको एकमात्र प्रयोजन मानते हैं, वे क्या कृष्णको छोड़कर और किसी दूसरेको उस प्रेमका विषय मानकर वरण कर सकते हैं? यदि भाषाभेदसे कृष्ण, वृन्दावन, गोप-गोपी, गो-धन, यमुना, कदम्ब प्रभृति शब्द कहीं पर नहीं भी देखे जाते तो भी विशुद्ध प्रेमके साधकोंके लिए उन लक्षणोंसे लक्षित नाम, धाम, उपकरण, रूप और लीला-समूहको प्रकारान्तर या वाक्यान्तरसे अवश्य ही स्वीकार करना होगा। अतएव कृष्णको छोड़कर और कहीं भी विशुद्ध प्रेम नहीं है।

# कलियुगमें श्रीकृष्ण नामजप साधन

*—डॉ० सत्यपाल गोयल*

### *२४. परनिन्दा करना*

परनिन्दा करनेसे साधकोंकी साधनाका बल क्षीण हो जाता है। जिसकी निन्दाकी जाती है उसका बल बढ़ता है। श्रीविग्रहके सामने और परोक्ष दोनों ही स्थितियोंमें निन्दा नहीं करना चाहिए। निन्दा स्वार्थकी पूर्तिके अभावमें ही होती है या किसीके पाप कृत्योंकी आलोचना कर। स्वार्थकी पूर्तिके अभावमें निन्दाकर्म द्वेष और हिंसाको जन्म देता है। इससे साधक द्वेषकी आगमें जलता रहता है। बदलेकी भावना उसे घृणित कर्म करनेके लिये प्रेरित करती रहती है। यही कारण है कि उसके संचित भक्ति बल क्षीण होने लगते हैं। इस संबन्धमें महाभारतकी एक लघु कथा इस प्रकार है—

वन मार्गसे गुजरते समय श्रीकृष्णकी उत्तंक ऋषि से भेंट हुई। उन्होंने महाभारत युद्धमें भीषण रक्तपातके लिये, द्रोपदीके चीर हरण आदिके लिये श्रीकृष्णको दोषी ठहरते हुए उनकी निन्दा की तथा शाप देनेको उद्यत हुए। श्रीकृष्ण बोले, मुनिवर मैं तो सर्वथा अचिन्त्य तत्त्व हूँ। आपकी निन्दा और श्राप मुझे स्पर्श तक नहीं कर सकते। किन्तु निन्दा और श्राप देनेके फलस्वरूप आपका तपोबल क्षीण हो जायेगा।

अतएव साधकोंको किसी भी स्थितिमें पर निन्दाके मिश्रीसे भी अधिक मधुर स्वादसे बचकर उसके भयंकर फलसे बचना चाहिए। इस संसारमें सभी लोग समान चिंतन और बुद्धिके नहीं हो सकते और न ही सब हमारे अनुकूल व्यवहार व आचरण वाले हो सकते हैं। ऐसी स्थितिमें स्वयं साधना करते हुए परदोषदृष्टिका त्याग करना ही मंगलमय है।

### *२५. परस्तुति करना*

जिस प्रकार परनिन्दा करना अमंगलको जन्म देता है उसी प्रकार परस्तुति करना भी स्वार्थको जन्म देता है। प्रकारान्तरसे स्वार्थ लोभको जन्म देता है। लोभके वशीभूत होकर निश्चित ही हम जिससे स्वार्थ सिद्धि होती है उसमें राग रखने लगते हैं तथा जिससे स्वार्थ नहीं सधता उसके प्रति ईर्ष्यालु हो पड़ते हैं। यूँ तो किसी भी स्थितिमें परस्तुति नहीं करना चाहिए परन्तु श्रीविग्रह तथा अपने मंत्रदाता गुरुके समक्ष किसी अन्यकी स्तुति या प्रशंसा करना, भगवान तथा गुरुदेवका अवमूल्यन करना होता है, जो सेवा अपराध माना गया है।

### *२६. अपान वायु त्यागना*

अपानवायुसे तात्पर्य अधोवायुसे है। श्रीविग्रहके सामने, मंत्रदाता श्रीगुरुके निकट, हवन वेदीपर, दीक्षा मंत्रके जपके समय, संकीर्तनमें, संत वैष्णवजनों से वार्तालापके समय अपान वायुका त्याग अशोभनीय, होता है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि श्रीविग्रह पर आधोवायुका क्या प्रभाव होना है, वे क्या सूंघते हैं?

एक बार श्रीवृन्दावनके परम सिद्ध संत श्रीलाला बाबूका भाव जागरित हुआ कि क्या श्रीविग्रह श्वांस भी लेते हैं? यह जाननेके लिये उन्होंने सेवामें नियुक्त पुजारीसे कहा कि जरा श्रीमुरलीचन्द्रकी नासिकाके आगे रुईका फोआ रखकर देखना, ये श्वांस लेते हैं क्या? निर्देशानुसार पुजारी ने ऐसा ही किया। देखते क्या हैं—रुईका फोआ जोर जोरसे श्वांस प्रश्वांसके साथ हिलने लगा। अतएव विग्रह जाग्रत होते हैं। उनके समक्ष अधोवायु छोड़ने जैसी घृणित क्रियाएँ नहीं करना चाहिए। जिन सेवकोंको कब्जका रोग हो उन्हें ठाकुर सेवा किसी अन्य सेवकको दे देनी चाहिए।

### *२७. अश्लील वार्तालाप करना*

साधन भजनमें स्त्रैण लोगोंसे सम्बन्ध रखना निषिद्ध है। जैसा कि पूर्वमें जन संग आदिके वर्णनमें उल्लेख किया गया है। जो लोग स्त्री संग करते हैं उनका संग सदैवके लिये छोड़ देना ही हितकर है। भजनमें धन तथा स्त्री संग दोनों परम वाधक हैं। श्रीविग्रहके सामने हास परिहास, अश्लील वार्तालाप, ग्राम्य कथा, सांसारिक कथा वार्ता आदि करना सेवा अपराध है। ऐसे लोगोंको मूक पशुके रूपमें जन्म धारण करना पड़ता है।

### *२८. अन्य देवी देवताओंकी निन्दा करना*

यद्यपि वैष्णवोंको पंचोपासक नहीं होना चाहिए फिर भी अन्य देवी देवताओंकी निन्दा नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेसे साधकका भजन भाव कम हो जाता है क्योंकि देवी–देवता भी भगवानके सेवक हैं। साधकको भगवानमें निष्ठावान होकर निरन्तर कृष्ण नामका जप करना चाहिए तथा दूसरे देवी–देवताओंके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। किन्तु भगवान श्रीकृष्णके विग्रहके समक्ष श्रीगुरुदेवको छोड़कर अन्य किसी भी देवी–देवता संत, वैष्णव और व्यक्तिको प्रणाम या प्रशंसा आदि नहीं करनी चाहिए और न निन्दा करनी चाहिए।

### *२९. अपनी प्रशंसा करना*

साधकोंको यदि भजन राज्यमें उन्नति करना है तो उन्हें अपनी प्रशंसासे बचना चाहिए। अपनी प्रशंसा स्वयं करना तो दूर, दूसरोंसे भी अपनी प्रशंसा सुननेकी इच्छा नहीं रखना चाहिए। यह प्रशंसाकी इच्छा श्वपच रमणीकी तरह हृदयमें अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें रहती है। संसारमें व्यक्ति सब कुछ त्याग सकता है परन्तु अपनी प्रशंसा करना या सुनना छोड़ना कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। त्याग करके व्यक्ति अपनेको बड़ा त्यागी और ऊँचा साधु कहलाने, कहलवाने तथा करनेकी इच्छा का त्याग नहीं कर पाता है। उसे बहुत यत्नके साथ अपनी प्रशंसा करने सुनने की इच्छा पर नियंत्रण रखनेके लिये अपने साधनको गुप्त रखकर निरन्तर साधनको अत्यन्त दैन्य होकर बढ़ाते रहना चाहिए।

### *३०. महान संत पुरुषोंके पीछे बैठना*

संतोंके पास हम स्वयंको किसीको दिखानेके लिये नहीं जाते हैं कि हम पीछे बैठें। हमारा उद्देश्य उनका दर्शन कर कृपा लाभ करना होता है। उनकी पवित्र वाणीको सुनना ताकि हमारा भजन मार्गमें उत्कर्ष हो। महान संतोंके पीछे बैठनेसे सेवा भाव कम होता है। मन ही मनमें ऐसा विचार रहता है कि लोग मुझे संतजीका बड़ा सेवक समझें। अतएव सदा उनके सामने ही बैठकर उनकी कृपा दृष्टिमें रहना चाहिए। अपराधीकी भांति दृष्टिको भूमि पर रखना चाहिए ताकि अहं भावका शमन हो सके। यदि वे किसीसे वार्ता कर रहे हों तो अनावश्यक बीचमें नहीं बोलना चाहिए। उनकी छायाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। उनके समतल न बैठकर उनको उच्चासन देना चाहिए।

श्रीवराह पुराणमें इनके अतिरिक्त और भी सेवा अपराधोंका उल्लेख किया गया जिनका क्रमशः विवरण निम्न प्रकार है—

१. कुत्ता बन्दर आदि द्वारा उच्छिष्ट पदार्थोंका श्रीभगवान एवं गुरुदेवकी सेवाके लिये संग्रह करना। २. राज अन्नका भोजन, ३. निर्धारित समयसे भिन्न समयमें श्रीविग्रहका दर्शन, ४. सेवाके समय

वार्तालाप करना, ५. अंधकारमें श्रीविग्रहका स्पर्शन, ६. बिना घंटा नादके गर्भ मंदिरका दरवाजा खोलना, ७. मुख एवं दंत प्रक्षालन बिना पूजा करना, ८. माल्यार्पणसे पहले धूप दान, ९. धतूरा, लाल पुष्प आदिसे पूजा करना, १०. मैथुन कर्मके पश्चात् अपवित्र अवस्थामें पूजा करना, ११. रजस्वला स्त्रीका स्पर्श कर सेवा करना १२. शवका स्पर्श कर, १३. शवको देखकर, १४. अपान वायु छोड़कर, १५. श्मशानसे लौटनेके पश्चात्, १६. लाल रंगका वस्त्र पहन कर, १७. तेल मालिश कर सेवा करना, १८. पूजाके समय थूंकना, १९. पसीना युक्त शरीरसे पूजा, २०. पूजाको अधूरा छोड़ मल मूत्र त्यागके लिये उठ जाना, २१. दीपकको स्पर्शकर, २२. क्रोधके उपरान्त, २३. भोजन अपचनकी स्थितिमें, २४. गांजा पीकर,

२५. अफीम या भांगका उपयोग कर पूजा करना, २६. आसुरी कालमें पूजा, २७. अवैष्णव प्रदत्त वस्तुका भोग लगाना, २८. श्रीविग्रहके समक्ष पान या अन्य वस्तुओंका चर्वण करना, २९. भगवानके नामकी शपथ लेना, ३०. अवैष्णवोंके सामने पूजा करना, ३१. वैष्णव शास्त्रोंकी उपेक्षाकर अन्यान्य शास्त्रोंका अध्ययन, ३२. श्रीविग्रहको भूमि या लकड़ी पर रखकर सेवा करना, ३३. हाथ डुबोये हुए जल से श्रीविग्रहको स्नान कराना, ३४. बिना हाथ पैर धोकर मंदिरमें प्रवेश, ३५. एरण्डके पत्तों पर रखे पुष्पोंसे पूजा करना। ❑ (क्रमशः)

# नदी सूखने पर पार होऊँगा

एक व्यक्ति अत्यन्त 'घर-पागल' था। वह घर छोड़कर कभी भी किसी भी तरह कहीं जाना नहीं चाहता था। एक दिन उसके मित्रने कहा—"कामिनीमोहन! चलो, आज हम दोनों जरा साधुका दर्शन कर आएँ। श्रीधाम मायापुरमें एक महापुरुष आये हैं। वे परम मंगलके विषयमें उपदेश देते हैं। उनका नाम है श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराज। उनका उपदेश श्रवणकर हमलोगोंका मानवजीवन सार्थक होगा।"

कामिनीमोहन किसी भी प्रकार साधुका उपदेश श्रवण करने हेतु घरका आराम त्याग करनेके लिए तैयार नहीं हुआ। उस समय उसके मित्रने प्रलोभन देते हुए कहा—"कुलियामें आज खूब बड़ा मेला लगा है और वहाँ खूब आमोद-प्रमोद हो रहा है। अगर मायापुर नहीं जाओगे तो उसे ही देखकर आ जाना। चलो, थोड़ा घूम आएँ।"

कामिनीमोहन मेला देखनेके लोभसे मित्रके साथ कुलिया जानेके लिए तैयार हुआ। किन्तु मित्रका उद्देश्य था कामिनीमोहनको यदि छल-बलसे कुलिया ले जाया जाय तो फिर वहींसे गंगा पार कर श्रीधाम मायापुर ले जा पाऊँगा।

कामिनीमोहन कुलिया आकर कुछ समय तक नाना रंग-बिरंगे खेल-तमाशे देखता रहा। उसके बाद उसका मित्र उसे गंगाके तटपर ले गया और बोला—"नदी पार करनेके साथ ही मायापुर है, चलो एक बार श्रीधामका दर्शन कर आएँ। वहाँ श्रीमन्महाप्रभुका जन्मस्थान है, अनेक महापुरुष हैं, चाँदकाजीकी समाधि है, बल्लालसेनका भग्न राजप्रासाद है, बल्लालदीघि आदि अनेक दर्शनीय स्थान है।"

कामिनीमोहनने देखा कि मेरे मित्रने जिस प्रकार मुझे पकड़ा है, उससे निस्तारका तो कोई उपाय ही नहीं है। उसने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"भाई! नदी पार करनेमें मुझे बहुत भय लगता है। नावमें तो मैं चढ़ ही नहीं सकता। चढ़नेके साथ ही सिरमें चक्कर आने लगता है, लगता है उल्टी अब हुई-तब हुई। किस क्षण जलमें डूबकर प्राणसे हाथ धोने पड़ेंगे, यह विचार मनमें आते ही छाती धक-धक करने लगती है। अभी बरसातका मौसम है। जाड़ेके समय जब नदी सूख जायेगी, तब तो नावमें चढ़नेकी

जरुरत ही नहीं, पैदल ही पार होकर मायापुर जा पाऊँगा। उस समय तुम्हें ही साथ लेकर आऊँगा और मायापुरमें सभी स्थानोंका दर्शन करूँगा।"

कामिनीमोहनकी यह बात सुनकर उसके मित्रने कहा—"मित्र! तुम जो यह कह रहे हो कि नदीके सूखनेपर पार होऊँगा, यह तुम्हारी कपटता है। न तो कभी नदी सूखेगी, न ही तुम कभी पार होओगे।"

श्रील प्रभुपाद इस उपाख्यानके द्वारा गृहारामी और आत्ममंगलकी चिन्तासे रहित लोगोंको सतर्क करते। हमलोग प्रायः यह सोचते हैं कि सांसारिक अभाव, असुविधा, विघ्न, विपत्ति, दैहिक असुख, पुत्र–कन्याकी शिक्षा और विवाह, परिवारके लोगोंका भरण–पोषण—इन सभी कार्योंको ठीक प्रकारसे कर लेनेके बाद साधुकी कथा सुनने जाएँगे। किन्तु ये बाधा, विपत्तियाँ, असुख, अभाव आदि कभी भी समाप्त नहीं होंगे, इसलिए ऐसे लोगोंका कभी भजन भी नहीं हो पायेगा। जागतिक अभाव, असुविधा आदि त्रितापके अन्तर्गत तापविशेष हैं। इनको दूरकर भजन करनेका विचार रखनेवालोंमेंसे कोई भजन नहीं कर सकता है। जो यह कल्पना करते हैं कि हम सांसारिक अभाव, असुविधा दूर होनेके बाद हरिभजन करेंगे, उनके हृदयमें कपटता है। नदी कब सूखेगी, इस प्रतीक्षामें बैठा रहना आत्मवञ्चना है अर्थात् नदी पार नहीं होनेकी ही अभिसन्धि है। अभाव, असुविधा आदि दूर होनेपर भजन करनेकी इच्छा हरिभजन नहीं करनेका ही कपटतापूर्ण संकल्पविशेष है। यद्यपि मायामें मुग्ध होनेके कारण अनेक समय हम यह नहीं समझ पाते हैं, किन्तु ऐसे विचारके अन्तर्गत हरिभजन नहीं कर निश्चिन्त होकर जीवन–यापन करनेकी पिपासा ही छिपी रहती है। वृद्धवयसमें हरिभजन करूँगा—इस विचारमें भी इसी प्रकारका चिन्ताम्रोत प्रवाहित होता है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने गाया है—

जीवन समाप्ति– काले करिब भजन,
एबे करि गृहसुख।
कखन ए–कथा नाहि बले विज्ञजन,
ए–देह प्रतनोन्मुख।।
आजि वा शतेक वर्षे अवश्य मरण,
निश्चिन्त न थाक भाई।
यत शीघ्र पार, भज श्रीकृष्णचरण,
जीवनेर ठिक नाई।।
संसार निर्वाह करि' या'व आमि वृन्दावन।
ऋणत्रय शोधिबारे करितेछि सुयतन।।
ए–आशाय नाहि प्रयोजन
एमन दुराशा–वशे या'बे प्राण अवशेषे,
न हइबे दीनबन्धु–चरण–सेवन।।
यदि सुमंगल चाओ, सदा कृष्ण नाम गाओ,
*गृहे थाक, वने थाक, इथे तर्क अकारण।।*

❑

# श्रीव्यासपूजा महोत्सव

'भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः' (भा. १/४/२४) भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्विमुख जीवोंके प्रति दयाद्रचित्त होकर व्यासके रूपमें समस्त शास्त्रोंका प्रकाश किया और दूसरी ओर गुरुके रूपमें कृपण व्यक्तियोंके लिए उस शास्त्रवाणीका प्रचार किया। इसीलिए व्यास और गुरु दोनों ही श्रीकृष्णके प्रकाश विग्रह हैं, दोनों ही मायामुग्ध जीवोंके अज्ञानान्धकारको विनाश करनेवाले सूर्यस्वरूप हैं। पूर्ण व्यासानुगत्यके बिना गुरुतत्त्वका उदय नहीं होता है। इसीलिए गुरुको व्यासाभिन्न कहा जाता है। कर्मीगण केवल अपने इन्द्रियतर्पणके अनुकूल जो वेदानुशीलन करते हैं, वह अनुशीलन अपरा विद्याके ही अन्तर्गत है। ये लोग व्यासदेवका आनुगत्य करनेमें अक्षम हैं। ज्ञानी लोग निवृत्तिमार्गका अनुसरण करते हैं, तथापि ब्रह्मके भी आश्रयस्वरूप भगवत्तत्त्वको जाननेमें असमर्थ होनेके कारण ये भी व्यासदेवका पूर्ण आनुगत्य करनमें असमर्थ हैं। दूसरी ओर केवलाद्वैतवादी लोगोंने श्रीव्यासदेवको भ्रान्त बताकर

उनके आनुगत्यका परित्याग किया है। अतएव ऐसे लोगोंकी गुरु पूजा व्यासपूजा नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीमाधवेद्रपुरीपादकी आविर्भाव तिथिमें श्रीव्यासपूजाका आयोजन कर यह घोषणा की है कि श्रीगुरुपूजा ही व्यासपूजा है।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता जगद्गुरु परमहंसकुलचूड़ामणि श्रीश्रीलभक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीकी आज्ञा "आमार आज्ञाय गुरु हइया ता' एइ देश।" शिरोधार्यकर जो श्रीसमितिके सभापति-आचार्य पदपर अधिष्ठित हैं, बाल्यकालमें ही जड़-मुग्धताका स्वतः ही परिवर्जनकर भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीके पद-नख-सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट होकर जिन्होंने उनके स्वाभाविक गुरुत्वका प्रकाश किया है, जो सारस्वतश्रेष्ठ श्रीविनोदबिहारी 'कृतिरत्न' प्रभुके निकट आबाल्य सर्वतोभावेन लालित-पालित हुए हैं और उक्त 'कृतिरत्न' प्रभुने संन्यास ग्रहण कर जगद्गुरु रूपमें आत्मप्रकाश करनेके पूर्व ही सर्वप्रथम मन्त्ररूप अनुग्रह द्वारा अपने साथ जिनका नित्यसम्बन्ध बताया है, उन 'केशव-धृत वामन-रूप'—श्रीकेशवाभिन्न ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजके ७९ तम शुभाविर्भाव-तिथिके उपलक्ष्यमें श्रीसमितिके सेवकगणने स्वतः अनुप्राणित होकर समितिके मूलमठ श्रीधाम नवद्वीपस्थ श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठमें विपुल समारोहपूर्वक श्रीव्यासपूजाका आयोजन किया। पौष मासकी ठंठकी उपेक्षाकर चारों ओरसे उनके आश्रितजन और गुणमुग्धगणके ज्वारसे समग्र मठ प्रांगन प्लावित हो गया था। श्रीपूजाके आयोजकों ने ऐसे जनसमावेशकी धारणा भी नहीं की थी। इस व्यसपूजाकी अनुष्ठानसुची बहुत प्रचारित 'आनन्द बाजार पत्रिका', 'वर्तमान', और 'आजकाल' पत्रिकामें प्रकाशित हुई थी। 'सर्वामपीमां प्रथिवीं स शिष्यात्'—इनके जगद्गुरुत्वके आलोकमें कितने जार लोग उद्भासित हुए हैं। यह उस समय लक्ष्य किया गया। किसी लब्धप्रतिष्ठ मन्त्री, नायक, क्रीड़क, नर्तकका आकर्षण नहीं था; भगवान् और भगवद्भक्तके आकर्षणमें विज्ञापनकी अपेक्षा नहीं कर ही यह विपुल जनसमागम था।

श्रीव्यासपूजा-महोत्सवके अधिवास-दिवस १४ पौष, बृहस्पतिवार, अपराह्णमें समितिके सेवकगण, आश्रितगण, आहुत, वराहुत सभी लोगोंने मिलकर संकीर्तन ध्वनिके द्वारा समग्र नगर निनादित कर धामवासियोंको महोत्सवका सन्देश पहुँचाया। दूसरे दिन १५ पौष, शुक्रवार (३१/१२/१९९९ई.) प्रातःकालसे ही संकीर्तनके माध्यमसे अनुष्ठित उपास्य पञ्चक अर्थात् कृष्णपञ्चक, व्यासपञ्चक, मध्वादिपञ्चक, आचार्यपञ्चक, सनकादि-पञ्चक, गुरुपञ्चक और तत्त्वपञ्चककी पूजा और यज्ञका धूम्र-घ्राण स्वाहा रवके साथ सभी ओर मुखरित हो रहा था। यज्ञकी समाप्ति होनेपर संकीर्तन-मण्डलीने आवहन कर श्रीश्रील आचार्यदेवको उनकी भजनकुटीसे नाट्यमन्दिरमें लाया। श्रील आचार्यदेवने अपने परमाध्यतम श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-राधाविनोदविहारी और कोलद्वीपेश्वर श्रीलक्ष्मीवराहदेवको पुष्पाञ्जलि प्रदान की। तदुपरान्त जब वे व्यासानपर अधिष्ठित हुए तो भक्तोंने परमोल्लासपूर्वक उनकी पूजा आरम्भ की। पूजाके अन्तमें आबालवृवनिता सभी भक्तोंने एक-एककर अपने परमाध्यतमके श्रीचरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान कर स्वयंको परम कृतार्थ माना।

अनन्तर सभाका कार्य आरम्भ हुआ। अन्तर्द्वीप मायापुरके विभिन्न मठोंसे संन्यासी और ब्रह्मचारीवृन्दने भी जिस प्रकार परमोत्साहपूर्वक इस अनुष्ठानमें योगदान देकर इसे सार्थकमण्डित किया, इससे उनके प्रति यथार्थ भावसे कृतज्ञता प्रकाश करनेकी भाषा भी अप्रतुल बोध हो रही है। प्रधान अतिथि श्रीमन्नयनानन्द दास बाबाजी महाराजकी सदय उपस्थितिमें और परम पूज्यपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराजकी सभापतित्वमें उपस्थित संन्यासीवृन्दने 'श्रीगुरु और श्रीव्यासतत्त्व'की शास्त्रीय व्याख्या द्वारा सबको परिप्लुत कर दिया।

श्रीमद्भक्तिचकोर श्रौती महाराज, श्रीमद्भक्तिवैभव सागर महाराज, श्रीमद्भक्तिविचार भारती महाराज, श्रीमद्भक्तिविचार विष्णु महाराज, श्रीमद्भक्तिप्रदीप सागर महाराज, श्रीमद्भक्तिअमल परमहंस महाराज, श्रीमद्भक्तिविचार परिव्राजक महाराज प्रमुख विभिन्न गौड़ीय मठोंके संन्यासीवृन्द अपना अमूल्य वक्तव्य देकर विशेष प्रशंसाभाजन हुए।

सभाके अन्तमें श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–राधाविनोद विहारीकी माध्याह्निक भोगारात्रिक अनुष्ठित हुई और उसके बाद सबको विचित्र महाप्रसाद वितरण किया गया। जनसमागम धारणातीत होनेपर भी कोई भी महाप्रसादसे वञ्चित नहीं हुआ।

सन्ध्यामें स्वयं श्रील गुरु–महाराजकी उपस्थितिमें सभाकार्य आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने हरिकथा परिवेषण किया, जिससे सभी भक्तोंका हृदय परिपूर्ण हो गया। अतःपर एक एक कर श्रीमद्भक्तिवेदान्त वैष्णव महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त आचार्य महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त यति महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त बोधायन महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त गोविन्द महाराज प्रमुख वक्ताओंने श्रील गुरु–महाराजके सम्बन्धमें अपनी अपनी अनुभूतिका तत्त्वके साथ वर्णन कर श्रोतागणकी श्रुतिको सार्थक किया।

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'—जगद्गुरुका श्रीकृष्णका जगद्गुरुत्व कृष्णभक्तमें स्वाभाविक रूपसे सञ्चारित होती है—"कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे।" साधारण बुद्धिसे 'जगद्गुरु' के द्वारा जो यह धारणा होती है कि वे समग्र जगतके गुरु हैं और समग्र जगद्वासी उनके साक्षात् शिष्य हैं, ठीक नहीं है। "केह माने केह ना माने सब ताँर दास"—किसीके मानने या नहीं मानने पर कृष्णका जगद्गुरुत्व निर्भर नहीं करता है। उसी प्रकार कृष्णभक्तका भी जगद्गुरुत्व किसीके स्वीकार–अस्वीकारकी अपेक्षा नहीं रखता है। तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, वायु, अग्नि, जल, शिशु, वनिता आदि सभी वस्तुओंमें जो अपने परमाध्यातम आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेवका प्रतिफलन दर्शन करनेके कारण समग्र जगतको अन्वय–व्यतिरेक रूपमें गुरुके रूपमें उपलब्ध करते हैं, वे ही जगद्गुरु हैं। जिस प्रकार भगवान भक्तके निकट पराजय स्वीकार कर वे प्रकारान्तरसे शिष्यत्वके रूपमें ही स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्णका जगद्गुरुत्व एवं महान्तगुरुका जगद्गुरुत्व दोनों ही भक्तसाधकके निकट प्रयोजनीय होनेपर भी महान्त गुरुका जगद्गुरुत्व दोनों ही अधिक महिमामय है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीताकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतकी अधिक उत्कर्षता है। क्योंकि देखा जाता है कि गीतामें श्रीकृष्णने स्वयंका प्रकाश जिस प्रकार कोटिगुण अधिक किया है। अन्तमें एक छोटे उदाहरण द्वारा महान्तगुरुकी अधिक महिमा बताते हुए व्यासपूजा संवाद समाप्त कर रहा हूँ—

भगवान वामनदेवने अपने शरणागत बलिमहाराजको ब्रह्माण्डके अन्तर्गत 'सुतल' लोकमें स्थान प्रदान कर स्वर्गकी अपेक्षा भी अधिक उपभोगकी व्यवस्था की। दूसरी ओर महान्तगुरु श्रीवामनदेवने अपने शरणागतोंको ब्रह्माण्डसे अतीत और सर्वलोकोपरि श्रीगोलोक–वृन्दावन–श्वेतद्वीपमें श्रीगौर–राधा–विनोद विहारीकी नित्यसेवामें नियुक्त किया है। जय जगद्गुरु श्रीश्रीभक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजकी जय! तदीय शुभाविर्भाव तिथिवरा की जय!! श्रीव्यासपूजा–महामहोत्सवकी जय!!!

—निजस्व संवाद
(गौड़ीय–पत्रिकासे)